।। पत्रावलम्बनम् ।।

(विविधटीकोपेतम्)

महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितम्

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः। लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते यथा॥
लोके शब्दार्थसम्बन्धयो रूपं तेषां च यादृशं। न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तथा भवेत्॥
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद्। वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः॥
ये धातुशब्दाः यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः। तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्॥
काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिरुच्यते। वाक्यत्रयं तथा वेदेऽनारभ्योक्तमेव हि॥
एकार्थता तु सर्वत्र विशेषोऽप्युच्यते स्फुटः। स्वाध्याय शब्दो वेदे हि रूढो योगेऽपि वर्तते॥
सुष्ठ्वासमन्तादध्येयः शोभनं नियमैर्युतः। देशे काले गुरौ स्वस्मिन् अपेक्ष्यन्ते गुणा इह॥
आ सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते। शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाध्येयो हि वैदिकैः॥
अपर्णताधपहतपाप्मादिसकलैः गुणैः। प्रजापतिमुखैः वेदो यथा हि पठितः पुरा॥
तादृग्गुणविशिष्टोऽत्र वेदः स्वाध्याय उच्यते। तव्यस्त्वावश्यके प्रोक्तो न विधिः ज्ञातृबोधनात्॥
स्वाध्याय पदतो ज्ञेयं [illegible] द्वितीयं वाक्यमीर्यते॥
वसुरुद्रादित्यवर्षैः त्रयो वर्णाः क्रमाद् द्विजाः। अध्याप्या इति तस्यापि नियोगः श्रुतिचोदितः॥
पराधीनतया बाले न विधिः श्रुतिचोदितः। तथाध्यापनसिद्ध्यर्थं तृतीयं वाक्यमीर्यते॥
साङ्गेऽधीते तथा ज्ञाते स्वाध्याय[illegible]प्रयुक्तं हि प्रथमं लिङ्प्रयोगतः॥
आत्मनेपदतः स्वस्य स्यातां वृत्तिश्च सेत्स्यति। स्वातन्त्र्ये वयसा जाते तस्यावश्यकमीर्यते॥
मर्यादाभङ्गतः केचित् कृत्ये विध्यर्थतां जगुः। शब्दार्थमनपेक्ष्यैव निर्णयं च स्वबुद्धितः॥
अध्यापनप्रयुक्तं हि तस्मादध्ययनं मतम्। एतर्ह्यपि तथैवैतन्न कार्या कल्पना ततः॥
तत्र संशयमापन्ना बुद्धिर्वाक्यार्थनिर्णये। एकवाक्यत्वसन्देहाद् ऐकार्थ्याभावतः स्फुटम्॥
स एकोऽर्थोऽत्र वक्तव्यो यच्छरीरप्रवेशतः। एकार्थतां श्रुतिर्याति तदभावे तु निष्फला॥
कुण्ठितैव भवेन्नूनं वेदाध्ययनबोधने। वेदोऽखिलो धर्ममूलं धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥
एवं पूर्वीर्विभिः प्रोक्तं जैमिनिः प्रथमं स्वयं। निश्चित्य लोकशिक्षार्थम् अर्थप्राधान्यतस्तथा॥
धर्मं विचारयामास प्रामाण्यादिपुरस्सरम्। सन्देहस्तु पुनर्जातो वेदान्तेषु यथा पुरा॥
एकवाक्यत्वमेषां हि धर्मकाण्डे कथं भवेद्। धर्मः पञ्चविधो द्वेधा षड्भिः सम्पद्यते तु सः॥
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-विभेदतः। सर्वो वेदस्तेषु लीनो वेदान्तेषु विचार्यते॥
यदेव विद्ययेत्याह ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठएव च। तज्ज्ञानं तेषु हि प्रोक्तं कर्तृशेषास्ततस्तु ते॥
ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानीति यथा तथा। फलश्रुत्या पूर्वकाण्डसमाप्त्या चावगम्यते॥
ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति परं वाप्नोति कुत्रचिद्। वेदमनूच्य आचार्य इत्युक्तोपनिषद्वचः॥
शास्त्रान्तरेऽप्येवमेव वै[illegible] तथा चेन्नैकवाक्यता॥
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् इत्यादिश्च विरुद्ध्यते। वैदिकानामभिध्यानं स्वरादिनियमैर्युतम्॥
वेदाएव नचान्यार्था वाच्या बुद्धिमता क्वचिद्। अतः कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम्॥
अनारभ्याधीतगार्हस्मार्ता इव भवेद् यदि। प्रक्रिया महतां वृत्तिः स्वातन्त्र्यं चात्र तेन न॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं श्रेयः स्मार्तं न वैदिकम्। पुरुषेक्षावशेनैते साध्यसाधनतां गताः॥
अलौकिको हि वेदार्थः प्रमाणान्तरगो नहि। परमात्मविचारेण ते चत्वारो ह्यलौकिकाः॥
धर्मे ब्रह्मणि च प्रोक्ताः फलत्वेन तथैव ते। श्रीकृष्णस्य प्रसादेन मायावादो निराकृतः॥
अवैदिको, महादेवः तत्र साक्षी न संशयः। ये वैदिकाः महात्मानः तेषां चानुमतिस्तथा॥
अवेदविद् न मनुते मया चोपेक्षितः पुनः। स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः॥
काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु। कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा॥
न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः। डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि॥
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः॥

पत्रावलम्बनम्

।। पत्रावलम्बनम् ।।

(त्रिविधटीकोपेतम्)

महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितम्

महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं

।। पत्रावलम्बनम् ।।

विविधटीकोपेतम्

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट.
वैभव को-ऑपरेटिव्ह सोसायटी,
पुना बेंगलोर रोड, कोल्हापुरर,
महाराष्ट्र.

प्रथम संस्करण : वि.स.१९६७. द्वितीय संस्करण : वि.सं.१९८२.
तृतीय संस्करण : वि.सं.२०१७.

चतुर्थ संस्करण : वि.सं.२०५२. श्रीवल्लभाब्द : ५१७.

प्रति : १०००.

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक :
अजन्ता प्रिन्ट आर्ट्स,
सुभाषरोड,
विलेपार्ले (पूर्व),
मुंबई ४०० ०५७.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सम्पादकीय

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें लघुकाय प्रकरणग्रन्थके रूपमें प्रस्तुत 'पत्रावलम्बन' ग्रन्थका एक अपना ही वैशिष्ट्य है. महाप्रभुविरचित उपदेशात्मक प्रकरणग्रन्थ तो अनेक हैं परन्तु वादात्मक प्रकरणग्रन्थ तो यही एकमात्र है. महर्षि जैमिनिने तथा महर्षि बादरायणने वेदके पूर्वोत्तरकाण्डस्थ वाक्यार्थोंकी मीमांसाके रूपमें सूत्र लिखे हैं. इन सूत्रोंके आधारपर वेदके दोनों काण्डोंमें किसी तरहकी एकवाक्यता सम्भव है या नहीं? अर्थात् इन दोनों सूत्रोंके कारण वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंके बीच केवल श्रुतिरूप शब्द होने भरकी एकता रह गयी है; अथवा अधिकार्यैक्य विषयैक्य सम्बन्धैक्य या प्रयोजनैक्य का कोई समान अनुबन्ध सिद्ध हो सकता है या नहीं? इस प्रश्नका समाधान खोजना ही पत्रावलम्बन ग्रन्थका उद्देश्य एवं प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है.

गूढ़ अर्थगम्भीर तथा सूत्रात्मक भाषाशैलीमें लिखा गया यह ग्रन्थ सम्भवतः प्रथम तो कारिकाओंके रूपमें ही लिखा गया होगा. स्वयं महाप्रभुने ही, बादमें कभी, जैसे 'सेवाफल' ग्रन्थपर स्वोपज्ञ विवरण लिखा है, उसी तरह इसपर भी स्वोपज्ञ टिप्पणी लिखी होगी ऐसा अनुमान होता है. एक अनुश्रुतिके अनुसार जब यह ग्रन्थ एक पत्रिकाके रूपमें काशीस्थ श्रीविश्वनाथजीके मन्दिरके द्वारपर चौंटाया गया था, तब कुछ मात्सर्यग्रस्त व्यक्तिओंने इसे फाड़ दिया था. इसी कारणवश, या पठन-पाठनमें अधिक उपयोग न लिये जानेके कारण; अथवा अन्य किन्हीं ऐतिहासिक हेतुओंके कारण आज यह ग्रन्थ समग्र रूपमें उपलब्ध भी होता है या नहीं? यह भी आज विचारणीय विषय बन गया है.

इस ग्रन्थपर 'विवरण' व्याख्याके लेखक श्रीपुरुषोत्तमजी

(तृतीय/२गृह-सुरत)के अभिप्रायके अनुसार यह ग्रन्थ त्रुटित ही है. निर्णयार्णवकार श्रीलालुभट्टजीके अनुसार : महाप्रभुके निजहस्ताक्षरोंमें, इस ग्रन्थके कुछ त्रुटित पत्र श्रीपुरुषोत्तमजीको कहींसे प्राप्त हुवे थे, वे श्रीपुरुषोत्तमजीके द्वारा बादमें पत्रावलम्बनमें जोड़े गये हैं(द्र. : निर्ण.पृ.१४-१५). वैसे सम्भवतः स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजीने, जोड़े गये अंशके निःसंदिग्धतया पत्रावलम्बनके त्रुटित अंश होनेकी दृढ़ धारणाके कारण, इस बारेमें कुछ भी उल्लेख करना अनावश्यक ही माना है. इस अंशको जोड़नेके बाद भी श्रीपुरुषोत्तमजी इस ग्रन्थको पूर्ण हुवा तो मानते नहीं हैं; तथा क्या-क्या विषय इसमें छूट गये हैं, इस बारेमें भी आनुमानिक सूचना भी देते ही हैं(द्र. : पत्रा.विव.पृ.४४-४५). श्रीपुरुषोत्तमजीकेद्वारा जोड़े गये अंशको मान्य रखनेपर भी श्रीलालुभट्टजीको अभिमत पाठकी वाक्यानुपूर्वी और श्रीपुरुषोत्तमजीको अभिमत पाठकी वाक्यानुपूर्वी परस्पर भिन्न-भिन्न ही हैं(तुलनीय : पृ.१२-१६ तथा पृ.३५-४५).

प्राचीनतम व्याख्या इस ग्रन्थपर प्रभुचरणके प्रथमात्मज श्रीगिरिधरजीकी कही जाती है. उसमें यह जोड़ा हुवा अंश जैसे उपलब्ध नहीं होता है, ऐसे ही अन्य भी कुछ अंश उपलब्ध नहीं होते हैं. यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि पत्रावलम्बनकी कारिकाओंमें कुछ थोड़ा-बहुत पाठभेद स्वीकारनेके बावजूद इन कारिकाओंकी आनुपूर्वीके बारेमें श्रीगिरिधरजी श्रीहरिरायजी या श्रीपुरुषोत्तमजी की व्याख्याओंमें प्रायः कोई उल्लेखनीय अन्तर दिखलायी नहीं देता. श्रीलालुभट्टजीद्वारा निरूपित आनुपूर्वीमें जो थोड़ा-बहुत अन्तर दिखलायी देता है, वह स्वयं उन्हें उपलब्ध आनुपूर्वीमें आन्तरिक सङ्गति बैठती न होनेसे योजित आनुपूर्वी है, वे स्वयमेव ऐसा स्वीकार करते हैं.

इससे हमारे इस अनुमानकी पुष्टि ही होती है कि मूलतः पत्रावलम्बन ग्रन्थ कारिकात्मक ही लिखा गया होगा; और बादमें कभी ग्रन्थगत क्लिष्टताके निवारणार्थ स्वयं महाप्रभुने अलगसे इन

कारिकाओंपर टिप्पणी लिखी होगी. यह टिप्पणीभाग, बादमें कभी, कारिकाभागके साथ एकग्रन्थतया प्रचलित हो गया होना चाहिये. अतएव इस विचारदिशामें अग्रसर हो कर कारिकाभाग और गद्यभाग को अलग-अलग पढ़नेपर ग्रन्थाशयकी दुरूहता थोड़ी कम होती सी लगती तो है. प्रस्तुत संस्करणमें, अतएव, मूल पत्रावलम्बनके पाठको पुनःसंयोजित करनेका मैंने भी कुछ दुःसाहस किया है. ऐसा करनेसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणको वस्तुतः अभिप्रेत पाठकी वाक्यानुपूर्वीमें कुछ अन्यथाभाव हो रहा हो तो वे महाकारुणिक अपना मूढ़ बालक जानकर मुझे अवश्य क्षमा करेंगे ही. साथ ही साथ सभी विचारक-पाठकगण भी इसे क्षन्तव्य मानेंगे. इस ग्रन्थमें अनेकविध वाक्यानुपूर्विओंको देखनेपर एक और वाक्यानुपूर्वी मुझे भी सहज सम्भव लग रही है. बस इस सम्भावनाको केवल अपने विचारोंतक् सीमित न रख कर, सभी विचारशील अध्येताओंकी इसमें आपसी साझेदारीकी अपेक्षासे ही, इसे मैं भी प्रकाशित कर रहा हूं.

वैसे इस पुनःसंयोजित पाठरूपको अन्य किसी व्याख्याकारपर जबरन थोपनेकी कुचेष्टा तो सर्वथा अवांछनीय तथा अप्रामाणिक होनेसे, जिस टीकाकारने जो वाक्यानुपूर्वी स्वीकार कर व्याख्या लिखी है, उस व्याख्याके साथ मूल पत्रावलम्बन ग्रन्थको उसी वाक्यानुपूर्वीमें यथावत् सम्पादित किया गया है. इस स्पष्टीकरणको ध्यानमें लानेपर इस संस्करणमें मूल पत्रावलम्बन ग्रन्थमें, विशेषतः इसके गद्यभागमें, चार तरहकी वाक्यानुपूर्वी देख कर पाठकोंको धीरज नहीं खो देनी चाहिये. महाप्रभुके मूलहस्ताक्षरोंमें जबतक इस ग्रन्थके दर्शन न मिल पायें तबतक इदमित्थतया वास्तविक वाक्यानुपूर्वीका निर्धार अशक्य न भी हो परन्तु दुःशक तो लगता ही है.

वैसे वि.सं.१९७९में प्रकाशित 'वेणुनाद' नामकी पत्रिकाके द्वितीय वर्षके १०-११-१२वें संयुक्ताङ्कके १६वें पृष्ठपर श्रीमूलचन्द

तेलीवाला लिखते हैं:—

> आ ग्रन्थ उपर त्रण टीका प्राप्य छे: १.श्रीपुरुषोत्तमजी, २.श्रीगिरिधरजी, ३.तापीशभट्ट नी. श्रीहरिरायजीनी पण आ ग्रन्थ उपर टीका छे. तथापि अमारी जोवामां आवेली प्रतो त्रुटित हती. श्रीगिरिधरजी ते श्रीगुसांईजीना ज्येष्ठ पुत्र के कांकरोलीमा थई गयेला श्रीगिरिधरजी ते हजु निर्णय थयो नथी.

इस विषयमें मेरा अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत पत्रावलम्बन ग्रन्थपर तत्त्वविवेकके कर्ता श्रीगिरिधरजीको यदि कांकरोलीवाले मानना हो तो 'गिरिधरजी' नामवाले प्राचीन दो गोस्वामिओंका उल्लेख वंशवृक्षमें मिलता है:—

१.श्रीद्वारकेशात्मज गिरिधरजी(जन्म: वि.सं.१६६२).
२.श्रीव्रजभूषणात्मज गिरिधरजी(जन्म: वि.सं.१७४५).

इस वंशवृक्षमें परवर्ती भी 'गिरिधरजी' नामवाले किसी भी व्यक्तिके विट्ठलेशात्मज गिरिधरजी होनेका उल्लेख मिलता नहीं है. जबकि तत्त्वविवेक टीकाकी इतिश्रीमें लेखकके विट्ठलेशात्मज होनेका स्पष्ट उल्लेख मिल रहा है. अत: कांकरोलीवाले किसी गिरिधरजीद्वारा इस टीकाके लिखे होनेकी सम्भावना क्षीण ही लगती है. साथ ही साथ श्रीपुरुषोत्तमजी(तृतीय/२गृह सुरत. जन्म: वि.सं.१७२४)से परवर्ती किसी भी लेखकद्वारा तत्त्वविवेकको लिखा हुवा माननेपर, श्रीपुरुषोत्तमजीके पाठसे भिन्न पाठको न स्वीकारनेकी बात तो समझमें आ सकती है; परन्तु उस पाठभेदके अनुल्लेखके तथ्यपर सहसा विश्वास नहीं हो पाता है. क्योंकि श्रीलालुभट्टजी तो श्रीपुरुषोत्तमजीसे ज्येष्ठ समकालिक होनेपर भी इसका उल्लेख अपरिहार्य मान कर चले हैं, जबकि श्रीपुरुषोत्तमजीवाले पाठकी किसी भी तरहकी सम्भावनाको भी सूचित किये बिना श्रीगिरिधरजी मूलग्रन्थके व्याख्यानमें प्रवृत्त हुवे हैं. यह तत्त्वविवेककारके श्रीपुरुषोत्तमजीसे प्राचीन होनेके प्रमाणतया स्वीकारा जा सकता

है. अतः बहुत सम्भव है कि तत्त्वविवेककार प्रभुचरणात्मज श्रीगिरिधरजी ही हैं.

इन टीकाओंमें श्रीतापीशभट्टकी टीकाकी जो प्रति मुझे मिली, वह तो मानों पत्रावलम्बन ग्रन्थके आधारपर किसी बालकको समासचक्र पढ़ानेको लिखी गयी हो, ऐसी लगती होनेसे इस संस्करणमें उसे प्रकाशित करना मैंने आवश्यक नहीं समझा. अलबत्ता श्रीहरिरायजी तथा श्रीगिरिधरजी की टीकायें वि.सं.२०१७में सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध विद्वान् प्राध्यापक श्रीगोविन्दलाल हरगोविन्द भट्टने अतीव परिश्रमपूर्वक सम्पादित करके पुष्टिमार्गीय युवक परिषद्के अध्यक्ष गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराजकी प्रेरणानुसार उक्त परिषद्द्वारा प्रकाशित करवायी थी. मूलतः इसी संस्करणपर सर्वाधिक निर्भर होते हुवे प्रस्तुत संस्करणमें श्रीलालुभट्टजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीगिरिधरजी तथा श्रीहरिरायजी यों सभीके व्याख्यानोंके साथ यथोपलब्ध सर्वाङ्गपूर्ण इस पत्रावलम्बन ग्रन्थका अब पुनःप्रकाशन हो रहा है.

यह ग्रन्थ, सबसे पहले, श्रीरणछोड़दास वृन्दावनदास पटवारी(मुख्य कारभारी राज्य-पालनपुर)ने वि.सं.१९६७में श्रीमोहनलाल काशीराम शास्त्रीद्वारा सम्पादित श्रीपुरुषोत्तमजीके मूलविवरण और उसके गुजराती अनुवादके साथ प्रकाशित किया था. प्रस्तुत संस्करणमें पाठभेदनिर्धारणार्थ उसे ‘मो.’ पाठके रूपमें सङ्केतित किया गया है.

श्रीपुरुषोत्तमजीके विवरणके सहित पत्रावलम्बन ग्रन्थका द्वितीय संस्करण वि.सं.१९८२में श्रीरणछोड़दास वरजीवनदास श्रौफने श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवालाद्वारा सम्पादित करवा कर प्रकाशित किया था. इस द्वितीय संस्करणमें मूल पत्रावलम्बनको तीन हस्तलिखित तथा दो मुद्रित प्रतियोंके आधारपर संशोधित किया था. श्रीपुरुषोत्तमजीके विवरणके संशोधनमें दो हस्तलिखित प्रतियोंको तथा एक ‘मो’ पाठको आधार बनाया गया था. प्रस्तुत संस्करणमें पाठभेदनिर्धारणार्थ इसे ‘ते.’ पाठके रूपमें सङ्केतित किया गया है.

पत्रावलम्बनका उल्लिखित तृतीय संस्करण, जो वि.सं.२०१७

वर्षमें श्रीगोविन्दलालद्वारा सम्पादित किया गया था, उसमें पत्रावलम्बनके मूलपाठको एक हस्तलिखित प्रति तथा पूर्वोक्त दो 'मो.' एवं 'ते.' मुद्रित पाठोंके आधारपर संशोधित किया गया था. श्रीपुरुषोत्तमजीके विवरणके पाठनिर्धारणमें पूर्वोक्त दो मुद्रित प्रतियोंके अलावा दो हस्तलिखित प्रतियोंका भी आधार बनाया गया था. श्रीगिरिधरजीके तत्त्वविवेक तथा श्रीहरिरायजीके विवरण के पाठनिर्धारणार्थ श्रीगोविन्दलालको केवल एक-एक ही हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हो पायी थी. इसे 'गो.' पाठके रूपमें इस संस्करणमें सङ्केतित किया गया है. इस 'गो.' संस्करणमें प्रदत्त आधारभूत प्रतियोंके सम्पूर्ण विवरणको प्रस्तुत चतुर्थ संस्करणमें परिशिष्टतया प्रदत्त श्रीगोविन्दलाल भट्टके INTRODUCTION अर्थात् आठ पृष्ठोंके सम्पादकीयमें देखा जा सकता है. इसके साथ-साथ श्रीभट्टद्वारा अखिल भारतीय विद्वद्गोष्ठिमें प्रस्तुत किये गये निबन्ध 'Vallabhācārya and Pūrvamīmāmsā' by G. H. Bhatt: An essay read at the 15th Session of the All India Oriental Conference को भी यहां परिशिष्टतया पुनःप्रकाशित किया जा रहा है, अपनी हार्दिक कृतज्ञताके विज्ञापनके साथ.

इन तीन मुद्रित संस्करणोंके अलावा प्रस्तुत चतुर्थ संस्करणमें श्रीपुरुषोत्तमजीके विवरणके पाठभेदोंके निर्धारणमें गोस्वामी श्रीकिशोरचन्द्रजी महाराज (जूनागढ़) द्वारा उदारतापूर्वक प्रदत्त एक विवरणकी हस्तलिखित प्रतिसे भी मुद्राप्यमाण विवरणको संवादित किया गया है. इसे 'जूनागढ़' पाठके रूपमें सङ्केतित किया गया है. मुझे लगता है कि यह प्रति श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा लिखित विवरणका प्रथम प्रारूप है, क्योंकि इसमेंके कई पाठोंको बादकी प्रतियोंमें उचिततया संशोधित-परिवर्धित किया गया है. यहां यह भी उल्लेखनीय हो जाता है कि 'मो.' पाठ और 'जूनागढ़' पाठ के बीच काफी समानता दृष्टिगोचर होती है. यद्यपि इस प्रतिके लिपिकारके हस्ताक्षरोंमें श्रीपुरुषोत्तमजीके हस्ताक्षरोंके साथ, निगाहमें

उड़ कर सामने आये ऐसी, समानता भी है तथापि स्वयं यह प्रति श्रीपुरुषोत्तमजीके हस्ताक्षरोंमें न होकर उनके साक्षात् हस्तलेखनकी अनुलिपि तो लगती ही है. क्योंकि इसके लेखनमें श्रीपुरुषोत्तमजीद्वारा अपनायी गयी अल्पविराम, पूर्णविराम, अनुच्छेदविराम आदिके यथावत् अनुकरणके अलावा, प्राय: निरपवादतया 'नैयायिक' शब्दको 'नैयायक' ही लिखनेकी श्रीपुरुषोत्तमजीकी आदतका भी इसमें अनुकरण किया गया है.

महाप्रभुकृत पूर्वमीमांसाकारिका, मूलपत्रावलम्बन तथा श्रीपुरुषोत्तमजीके विवरण की एक-एक हस्तलिखित प्रति मुंबई-विद्यापीठके ग्रन्थागारसे भी प्राप्त हुयी हैं. इन प्रतियोंमें मूलत: सौ-सवासौ वर्ष पूर्व काशीके नेत श्रीरामकृष्ण भट्टके संग्रहकी प्रतियां होनेका उल्लेख ग्रन्थोंके आदिम और अन्तिम पृष्ठोंपर मिलता है. ये ग्रन्थ वर्तमानमें मुंबई-विद्यापीठके ग्रन्थागारको '"गुजराती" पत्रनी लायब्रेरी'द्वारा भेंटस्वरूप दिये गये संग्रहके रूपमें उपलब्ध हैं. इसे 'मुं.' पाठके रूपमें सङ्केतित किया है. इनकी ज़ेरोक्स प्रति हमें प्रदान करनेके हेतु उक्त ग्रन्थागारके अधिकारी श्रीमान् एस.आर.गनपुलेके भी हम हृदयसे आभारी हैं.

इसके अलावा यहां दो और ग्रन्थ महाप्रभुद्वारा विरचित समाविष्ट किये जा रहे हैं:—

१.पूर्वमीमांसाकारिका
२.जैमिनिसूत्रभावार्थपादभाष्य

इन दोनों ही ग्रन्थोंपर भी श्रीपुरुषोत्तमजीके ही विवरण लिखे हुवे मिलते हैं. इनमेंसे २.जैमिनिसूत्रभावार्थपादभाष्यविवरण को ग्रन्थकारने अपने पितामह श्रीयदुपतिजीको समर्पित करनेकी भावनासे इतिश्री उनके नामपर लिखी हैं.

इनमें पूर्वमीमांसाकारिका, विवरणसहित, का प्रथम प्रकाशन वि.सं.१९७१में 'पुष्टिभक्तिसुधा' नामकी पत्रिकाके ५वें वर्षके २रे अङ्कमें हुवा था. इसके बाद वि.सं.१९७३में इसी पत्रिकाके ७वें

वर्षके २-३-४ संयुक्ताङ्कमें मूल भावार्थपादभाष्य प्रकाशित हुवा था; और विवरण इसी ७वें वर्षके ५-६, ७-८ और ९ यों कुल तीन अङ्कोंमें क्रमशः प्रकाशित हुवा था. इस मुद्रित संस्करणके अलावा नि.ली.गोस्वामी श्रीरणछोड़ाचार्य 'प्रथमेश' महाराजश्रीने पूर्ण उदारताके साथ अपने संग्रहमेंसे पूर्वमीमांसाकारिका और उसपर विवरण के हस्तलिखित प्रतिकी ज़ेरोक्सप्रति मुझे प्रदान की थी. इस 'प्र.' पाठतया निर्दिष्ट हस्तलिखित प्रतिके साथ मुद्रित प्रतिको संवादित करनेसे पाठभेदोंके निर्धारणमें कुछ तो सौकर्य हुवा ही है, तदर्थ कृतज्ञतापूर्वक उनका स्मरण करना मेरेलिये आवश्यक कर्तव्य हो जाता है. भावार्थपादभाष्यविवरणकी एक हस्तलिखित प्रतिकी ज़ेरोक्सप्रति गोस्वामी श्रीकिशोरचन्द्रजी महाराज (जूनागढ़)द्वारा प्राप्त हुयी. यह प्रति पर्याप्त प्राचीन है; और प्राचीन किन्हीं श्रीद्वारकेशजीके संग्रहकी होनेका उल्लेख भी इसके आद्यपृष्ठपर उपलब्ध होता है. पाठभेदनिर्धारणार्थ यह हस्तलिखित प्रति भी बहोत उपकारक हुयी, एतदर्थ श्रीकिशोरचन्द्रजीके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं.

शास्त्रार्थप्रकरणकी पांचवी कारिकाके प्रकाशमें, जो-जो ग्रन्थ आपश्री लिखना चाहते हैं, उसकी योजनाका उल्लेख करते हुवे महाप्रभु कहते हैं:—

> शास्त्रार्थं सर्वनिर्णयं श्रीभागवतरूपं च त्रयं वच्मि...'च'कारात् मीमांसाद्वयभाष्यं प्रकरणानि भागवत-टीका च गृहीता...

अतः यह माननेका कोई कारण दिखलायी नहीं देता कि इस अपनी योजनाके अन्तर्गत आपने जैमिनिसूत्रके प्रथमसूत्रपर कुछ कारिकायें लिख कर मध्यपाती सभी अधिकरण-पाद-सूत्रोंकी उपेक्षा करते हुवे सहसा केवल भावार्थपादका ही चयन भाष्यलेखनार्थ किया होगा! दूसरी समस्या यह सामने आती है कि प्रथमसूत्रपर यदि कारिकात्मक भाष्य लिखना प्रारम्भ किया तो भावार्थपादमें

सहसा गद्यात्मक भाषा क्यों अपना ली ? सम्भवतः इन्हीं समस्याओंके कारण मीमांसाकारिका और भावार्थपादभाष्य दो स्वतन्त्र ग्रन्थोंके रूपमें मान्य किये जाते लगते हैं.

वैसे पूर्वमीमांसाकारिकाके और भावार्थपादपादभाष्यके विवरणोंके प्रारम्भमें श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं :—

> [१]श्रीमदाचार्याचरणाः पूर्वमीमांसाभाष्यं चिकीर्षन्तः तत्र विस्तरेण प्रतिपिपादयिषितं जिज्ञासासूत्रार्थं सङ्क्षेपेण कारिकाभिः सञ्जिघृक्षन्तः...व्युत्पादयन्ति...
>
> [२]अथ द्वितीयाध्यायार्थं व्याचिख्यासवः प्रकृतस्य पूर्वेण सह उपजीवकत्वरूपां सङ्गतिं बोधयितुं...

इन दो विधानोंके कारण जिज्ञासासूत्रकारिका और भावार्थपादभाष्य के एक ही ग्रन्थ होनेकी सम्भावनापर बरबस ध्यान आकृष्ट हो ही ज़ाता है.

कभी ऐसा भी लगता है कि कारिकात्मक श्लोकवार्तिक और गद्यात्मक तन्त्रवार्तिक की श्रीकुमारिल भट्टवाली शैली ही कहीं महाप्रभुने भी अपनानी तो नहीं चाही थी!

अन्यथा एक तीसरी सम्भावना यह भी कौंधती है कि जैसे महाप्रभुने ब्रह्मसूत्रके शास्त्राध्यायपादों और भागवतके शास्त्रस्कन्धप्रकरणाध्यायों पर कारिकात्मक व्याख्यान; और दोनों शास्त्रोंके वाक्यपदाक्षरोंपर गद्यात्मक व्याख्यान श्रीमध्वाचार्यवाली शैलीमें लिखना चाहा था, उसी तरह जैमिनिसूत्रोंपर भी लिखना चाहा हो. और इसी कारणसे आज यह भिन्नरूपता प्रकट हो रही हो! हम जानते हैं कि भागवतपर तो आपके उभयविध व्याख्यान त्रुटित ही सही परन्तु उपलब्ध तो होते ही हैं. ब्रह्मसूत्रोंपर उभयविध व्याख्यान अब उपलब्ध नहीं होते हैं. क्योंकि महाप्रभुविरचित भाष्यकारिकायें, जो प्रभुचरणको उपलब्ध हुयी थी, उन्हें प्रभुचरणने गद्यांशके साथ समायोजित कर ली थी. इस विषयका स्पष्टीकरण अणुभाष्यके चतुर्थ भागके मेरे प्रकाशकीयमें हो ही चुका है.

इस सन्दर्भमें वास्तविक ऐतिह्य क्या है इसे जानना हो तो तत्त्वान्वेणमें रुचि रखनेवाले सभी जनोंके संयुक्त प्रयासद्वारा गहरी खोजबीन करनी आवश्यक है.

सम्प्रदायके दुर्भाग्यवश प्रायः आधुनिक आचार्यवंशज ऐसी कोई खोजबीन करनेके बजाय महायज्ञोंके रूपमें छप्पनभोग-कुंडवाराकी वक़ालत करनेमें और तदर्थ धनदाता सेठियाओंकी खोजबीनमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान बैठे हैं. अतः वाल्लभ सम्प्रदायके नामपर चलती गतिविधियां आज एक करुणान्तिकासे अधिक किसी रूपमें प्रकट नहीं हो पा रही हैं! कुछ आचार्यवंशजोंके अभिप्रायके अनुसार आचार्यचरणविरचित ग्रन्थोंका अध्ययनानाध्यापन तो पंक्ति लगानेका कोरा पाखंड ही होता है. दूसरे कुछ आचार्यवंशज इसे पाण्डित्यका ऐसा अजीर्ण मानते हैं कि जिसे भावी पीढ़ी कभी क्षमा ही नहीं कर पायेगी. महाप्रभुके सिद्धान्तोंसे विपरीत ही आचरण करनेके दुराग्रही कुछ महाप्रभुके अन्ववाय होनेपर भी महाबकके अनुगामी हो कर सरेआम विधान करने लगे हैं कि पुष्टिमार्ग तो केवल प्रमेयबलसे प्रकट होनेवाला, प.भ.वैष्णवोंके द्रव्यका भगवद्विनियोग करानेकी भाव-भावनावाला परम्परासिद्ध मार्ग ही है; अतः इस मार्गमें सिद्धान्तग्रन्थोंके अनुसार चलनेकी दुर्मनोवृत्ति रासमें शंखचूड़दैत्यकी बाधाके समान विघ्नकारिणी ही होगी! ग्रन्थोक्त वचन तो हमें पुष्टिप्रभुके प्रति गोपीभावसे विरहित ही बनानेवाले होनेसे, आवश्यकता इन उपायोंकी नहीं; परन्तु मंगलभोग राजभोग फुलमंडली छप्पनभोग-कुंडवारा अर्थात् मठड़ी-मोहनथाल-लड्डु-पूड़ीको बेच कर (प्रसादग्रहण करनेवालोंके भीतर डायाबीटिज़ और ब्लडकोलॅस्टरोल बढ़ाकर!) सच्ची जनसेवा करनेकी ही है!

इन क्षुद्रस्वार्थप्रेरित अभिप्रायोंकी मनोमीमांसा करनेपर हम आधुनिक पुष्टिमार्गियोंके बारेमें भगवान्‌की तो अधोनिनीषा ही बलीयसी लगती है!!

अस्तु, सन् साठके दशकसे ले कर अभीतक करीब आठेक बार विभिन्न विद्यार्थिओंको मुझे पत्रावलम्बन ग्रन्थ पढ़ानेका सौभाग्य प्राप्त हुवा है. अतएव इस ग्रन्थके साथ मेरा कुछ सविशेष ही लगाव रहा है. इस अध्यापनोपयोगी निरन्तर चिन्तनके कारण यह ग्रन्थ मुझे जिस तरह समझमें आया है वह मेरी समझ मैंने ग्रन्थान्तमें ''ब्रह्मवादकी भूमिकाके रूपमें पत्रावलम्बन ग्रन्थके कथ्य और महत्त्व का अध्ययन'' निबन्धके रूपमें प्रस्तुत की है. इस निबन्धमें पुनःसंयोजित मूल पत्रावलम्बनके भावानुवादके अलावा, प्रस्तुत ग्रन्थगत विधानोंके जो ऐतिहासिक या वैचारिक पूर्वपक्षीय वाचनिकसन्दर्भ हैं उन्हें भी भावानुवादके साथ प्रस्तुत करनेका प्रयास मैंने किया है. पत्रावलम्बन ग्रन्थके अध्ययनकी इस शैलीके औचित्यानौचित्यका अथवा साफल्य-वैफल्यका निर्धारण तो मनीषी पाठकोंके निजी·नीरक्षीरविवेकपर ही छोड़ देना चाहूंगा!

प्रस्तुत संस्करणमें कुछ नूतन सम्पादनशैलीको अपनानेका भी प्रयास या दुःसाहस किया गया है. मुझे विश्वास है कि यह नूतनता विद्वत्स्वभाववाले नयनोंमें कुछ आंखकी किरकिरी जैसी भले ही लगे परन्तु विविदिषु ग्रन्थाध्येताओंके नयनोंको ग्रन्थस्थ क्लिष्ट पंक्तियोंके तात्पर्यावगाहनमें निश्चय ही सहायक बनेगी!

उदाहरणतया :—

श्लोकोंके पूर्णविराम, खड़ी रेखाके रूपमें निभाते हुवे भी, गद्यात्मक वाक्योंके पूर्णविरामोंको बिन्दु(.)के रूपमें दिया गया है. ''संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः नित्या समासे वाक्येतु सा विवक्षामपेक्षते'' नीतिका अनुसरण करते हुवे जहां संहिताको नित्यविहित माना गया है, वहां तो सन्धिविच्छेद नहीं किया गया है अन्यथा वाक्य सर्वत्र सन्धिविच्छेदपूर्वक ही दिये गये हैं. फिर भी इस नियमके अपवादतया 'एव', 'अपि' 'तु' आदि निपात जुड़े हुवे ही रखे गये हैं. 'च' यदि अवधारणार्थक हो

तो पूर्वगामी पदसे जुड़ा हुवा ही रखा गया है, अन्यथा समुच्चय अन्वाचय आदि अर्थवाले 'च' को पृथक् ही रखा गया है. संयुक्त-निपातों—'अपितु' 'किन्तु' 'परन्तु' 'किञ्च' 'अथच' 'अथवा' 'प्रत्युत' सदृश निपातोंको संयुक्त ही रखा गया है.

शङ्कासमाधानार्थक वचन जो प्रायः इन रूपोंमें दिये जाते हैं. :—

"ननु...इति चेत्, न, यस्मात्..."

अथवा

"नच ...... वाच्यं, यस्मात् ......"

इन शङ्कासमाधानार्थक वाक्योंके ऋजु अर्थात् एकोद्देश्यविधेयभाव-घटित होनेपर तो कोई समस्या नहीं उठती; परन्तु अनेक अवान्तरवाक्योंसे घटित होनेपर "ननु-इति-चेत्-न" या "नच-वाच्यम्" एकदूसरेसे इतनी दूर पहुंच जाते हैं कि उनका परस्परान्वय परिश्रमपूर्वक खोजनेपर ही कहीं मिल पाता है. इस क्लिष्टताको दूर करनेकेलिये साधारणतया लम्बे होनेपर :—

"ननु–...इति–चेत्, न, यस्मात्..."

अथवा

"नच – ... – वाच्यं, यस्मात्..."

यों दो डेशोंका प्रयोग किया गया है. कभी कोई शङ्कासमाधानार्थक वाक्य कई अवान्तर, उपावान्तर; अथवा शास्त्रवचनोंके उद्धरणोंसे अतीव जटिल रूप धारण कर लेता हो तब :—

"ननु * ...इति * चेत्, न, यस्मात्"

अथवा

"नच * ... * वाच्यं, यस्मात्..."

यों आद्यन्तपदोंके अन्वयद्योतक दो *...* चिह्नोंके उपयोगद्वारा अन्वयान्वेषणपरिश्रमके वारणका प्रयास किया है. प्रत्येक प्रतिज्ञावाक्यके बाद आते हेतुवाक्यसे पूर्व अल्पविराम(,)के विन्यासका प्रयास

किया गया है. इसी तरह कई पदों या वाक्यों के अनुक्रमशः आनेपर बीच-बीचमें विराम अल्पविरामके प्रयोगद्वारा वाक्यांशों या पदांशों को पृथक्-पृथक् निहारा जा सके, इस तरह प्रयोग किया गया है : "..., ...; ...च".

इसी तरह 'इति' निपात यदि हेत्वर्थक हो तो उसे जुड़ा हुवा रखा गया है. अन्यथा पदवाक्योद्धरणार्थक 'इति', प्रकारार्थक 'इति'; अथवा समाप्तिद्योतक 'इति' पदोंकी सन्धियोंको तोड़ कर उनकी अन्यतमार्थकता दरसानेका प्रयास किया गया है. पदोंके उद्धरण एकल '...' उद्धरणचिन्होंके रूपमें दिये गये हैं, जबकि वाक्योंके उद्धरण युगल "..." उद्धरणचिन्होंके रूपमें दिये गये हैं. उद्धरणान्तर्गत किसी वाक्यांश या पद के अवान्तरोद्धरणतया दिये गये होनेपर उनके अंशांशिभावको ऐसे दरसाया गया है : " '...'........" .

सम्पूर्ण पदको कहीं उद्धृत करनेके बजाय पदके आरम्भिक अंशको, उदाहरणतया, 'ज्ञानजननप्रकारनिरूपणम्' ऐसे सम्पूर्ण समस्तपदको उद्धृत करनेके बजाय व्याख्याकार प्रायः 'ज्ञानेति' या 'ज्ञानजननेति' प्रतीकोपन्यासद्वारा उद्धृत करते हैं. ऐसी स्थितिमें 'इति' पद उद्धरणार्थक ही प्रायः होता है परन्तु सन्धि तोड़नेपर निर्विभक्तिक पदप्रयोगका दोष उत्पन्न हो जाता होनेसे उसे इस प्रकार दिया गया है : 'ज्ञानजनन...' इति.

मूलवाक्यमें कुछ त्रुटित या अध्याहार्य अथवा ऊह्य उल्लेखनीय लगता हो तो उसे कोष्ठक[...!]में दिया गया है. पाठभेदोंके सङ्केत प्रायः पादटिप्पणीके रूपमें देने चाहे हैं. मूलवाक्यगत किसी पदके सन्दिग्ध होनेपर [!/?] द्वारा प्रयोगकी सन्दिग्धता प्रकट की गयी है. इसी तरह सुबोध बनानेको शीर्षकोपशीर्षकोंके अलावा [क] [ख] [ग], [१] [२] [३]; अथवा क/ख/ग... १/२/३... यों वर्णों या अङ्कों के विन्यासद्वारा अनुच्छेदांशोंको विभक्त किया गया है. उद्धरणोंके आकरस्थल जो भी मिले उनके तो ग्रन्थनाम तथा काण्ड-अध्याय-सूत्र-कारिकादिकी सङ्ख्या तो ऐसे दी गयी

है: "......." (क.ख.१।२।३). जिन उद्धरणोंके, किन्तु, आकरस्थल मेरे सीमित शास्त्रीय ज्ञानके कारण मैं खोज नहीं पाया उन उद्धरणोंको इस तरह छोड़ दिया है: "......." ( ).

सम्पादनकी इस प्रक्रियाको अपनानेके कारण कहीं ग्रन्थाशयमें किसी तरहका अन्यथात्व हुवा हो, जो मानवसुलभ बुद्धिप्रमाद या दृष्टिप्रमाद के कारण सहज ही सम्भव है, उसे; और इसी तरह प्रतिज्ञात होनेपर भी प्रमादवश यह प्रक्रिया कहीं अपनायी न जा सकी हो; अथवा अप्रसक्त होनेपर भी कहीं इस प्रक्रियाका प्रयोग प्रमादवश हो गया हो तो उसे भी, महाकारुणिक ग्रन्थकार तथा सहृदय ग्रन्थाध्येता क्षन्तव्य मानेंगे—"नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वपोद्यते"की औदार्यपूर्ण मनोवृत्तिको रखते हुवे!

इस ग्रन्थके सम्पादनमें अनेकानेक व्यक्तिओंका अथक सहयोग मुझे महाप्रभुके अनुग्रहवश प्राप्त हुवा. मूलप्रतियोंसे यथानिर्देश अनुलिपि करना, उद्धरणोंके सन्दर्भ खोजना, उनकी तालिका बनानी, मुद्रणाशुद्धियोंको खोजना; और कम्प्युटरमें फीड करना आदि अनेक कार्योंमें श्रीशरद् गोस्वामी, श्रीपीयूष गोस्वामी, श्रीयोगेश गोस्वामी, श्रीमनिष बाराई, श्रीविपुल बाराई, श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीमती नीपा और श्रीअसित शाह; एवं श्रीराणे आदि अनेक नाम मुझे सहयोग प्रदान करनेवालोंके गिनाये जा सकते हैं.

अकेले तो, अन्यथा, मुझसे यह कार्य सम्पन्न होना अतीव दुष्कर ही था. इन सभीके आत्मीय उत्साहके साथ स्वमार्गीय ग्रन्थोंकी सेवामें जुटे रहनेकी निष्ठाको पुष्टिप्रभु, महाप्रभु एवं प्रभुचरण की बरसती कृपावृष्टिके कारण ही उपजनेवाली उपलब्धि मैं मानता हूं. किमधिकम्...

श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणोत्सव
वि.सं.२०५१.

गोस्वामी श्याम मनोहर
पार्ले(मुंबई)-किशनगढ़.

विषयानुक्रमणिका

विषयः पृष्ठानि

(१) महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं मूलपत्रावलम्बनम् (स्वोपज्ञटिप्पण्युपेतम्) १-९
- १. उपक्रमः १
- २. वेदाध्ययनविधित्रय(क-ख-ग)विचारः २-३
- ३. वाक्यत्रयनिष्कर्षः ३
- ४. परमतं तन्निराकरणं च ३
- ५. वेदार्थस्वरूपविचारः ४
- ६. वेदवेदान्तयोरभेदो भेदो वेति शङ्कासमाधाने ४-५
- ७. तत्र प्रत्यक्षसिद्धे जगति ब्रह्मत्वारोपोपदेशाद् वेदान्तत्व-निरुक्तिः ५-६
- ८. तत्र भेदवादविमर्शः ६
- ९. तत्र भेदाभेदवादविमर्शः ६
- १०. धर्मधर्मिभेदविशिष्टधर्म्यभेदवादविमर्शः ७
- ११. ब्रह्मपरत्वेपि वेदान्तानां न वेदत्वमिति पुनः शङ्कोत्थापनेन अन्यथानयनम् ७-८
- १२. तत्र समाधानम् ८-९
- १३. उपसंहारः ९

(२) श्रीबालकृष्ण(लालु)भट्टविरचितनिर्णयार्णवोपेतं पत्रावलम्बनम् १०-१७
- १. कारिकाः १-७ १०
- २. कारिकाः ८-१७ ११
- ३. कारिकाः १८-२९ १२

४. कारिकाः ३०-३३ १३
५. पत्रावलम्बनगद्यभागः १३-१६
६. कारिकाः ३४-३८½ १६
७. निर्णयार्णवोपसंहारः १७

(३) गोस्वामिश्रीमत्पुरुषोत्तमकृतं पत्रावलम्बनविवरणम् **१८-५४**
१. वादकरणरीतिनिर्देशेनोपक्रमः(कारि.१-४) १८-२०
२. विवादविषयीभूतवेदाध्ययनविधिविचारः(कारि.४½-१५) २०-२६
३. भाट्टमतविमर्शः(कारि.१५½-१७) २६-३०
४. वेदार्थस्वरूपविचारः(कारि.१७½-२३½) ३१-३२
५. वेदवेदान्तयोः भाट्टैकदेश्यभिप्रेतायाः एकवाक्यतायाः प्रकारः (कारि.२४-२५) ३३
६. तद्दूषणम्(कारि.२५½-२९½) ३३-४१
७. तत्र भास्करीयभेदाभेदवादस्य विमर्शः ४१-४२
८. तत्र अन्योन्याभावात्मको भेदः इति पक्षस्य निरासः (कारि.३०-३३½) ४२-४७
९. वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्ये वेदान्ताध्ययनं संन्यासे इति पक्षस्य विमर्शः ४८-५२
१०. ग्रन्थोपसंहारः(कारि.३४-३८½) ५२-५४

(४) पत्रावलम्बने श्रीगिरिधराणां तत्त्वविवेकः श्रीहरिरायाणां विवरणं च **५५-८६**
१. उपक्रमः(कारि.१-४) ५५-५८
२. वेदाध्ययनविधित्रयविचारः(कारि.५-१५) ५९-७०
३. मतान्तरसमीक्षा(कारि.१६-१७) ७०-७१
४. वेदवेदान्तयोः एकवाक्यताविचारः(कारि.१८-२९) ७२-७४
५. वेदान्तत्वनिरुक्तिः ७५
६. लोकदृष्ट्या शब्दार्थस्वरूपविचारः ७६-७७

७. वेदान्तवाक्यार्थमीमांसासार्थक्यविचारः(कारि.३०-३३) ७७-७९
८. वेदवेदान्तयोः पार्थक्यविचारः ७९-८१
९. उपसंहारः(कारि.३४-३८$\frac{१}{२}$) ८१-८६

(५) पूर्व-मीमांसा-भाष्य-कारिकाः(श्रीमत्पुरुषोत्तमानां विवरणेन संवलिताः) ८७-१०१
१. लौकिकवैदिकमार्गयोः भेदव्युत्पादनम्(कारि.१) ८७
२. लोकरीत्या वैदिकार्थनिर्णयकरणे मिथो विरुद्धता (कारि.२ -३) ८७-८८
३. निर्णयप्रकारस्य सपरिकरनिरूपणं(कारि.४) ८८
४. धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थस्वरूपनिरूपणं(कारि.४-१०) ८८-९०
५. तस्माद् द्विजैः धर्मजिज्ञासा अवश्यंकरणीयेति निरूपणं(कारि.११) ९०-९१
६. धर्मजिज्ञासायाः स्वातन्त्र्यमिति पक्षस्य विमर्शः (कारि.१२-१३) ९१-९२
७. एतस्मिन्पक्षेऽनिष्टप्रसञ्जनपूर्वकं समाधानं(कारि.१४-१५) ९२
८. शिक्षाकल्पाद्यङ्गानामिव धर्मजिज्ञासायाअप्यङ्गत्वं तुल्यं न वेति विचारः(कारि१५-१६) ९२-९३
९. एतत्पक्षस्य समाधानं(कारि.१७-२०) ९३-९४
१०. प्रतिज्ञातार्थस्फुटीकरणं(कारि.२१-२३) ९४
११. ऐकशास्त्र्यवादिमतनिरूपणं(कारि.२३-२४) ९४
१२. प्रथमसूत्रार्थविवेचनं(कारि.२५-२७) ९५-९६
१३. वेदाध्ययनोत्तरं धर्मविचाराङ्गीकारे स्नानस्मृतिबाधशङ्का-निरासः(कारि.२८-३१) ९६-९७
१४. तत्र मतान्तरविमर्शः(कारि.३२-३६) ९८
१५. मतान्तरनिरसनपूर्वकं प्राचां मतस्य स्थिरीकरणं(कारि.३७) ९९
१६. धर्मजिज्ञासायाः फलं ब्रह्मज्ञानं सम्भवति न वेति विचारः (कारि.३८-४२) १००-१०१

(६) श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं श्रीजैमिनिसूत्रभाष्यं श्रीपीताम्बरसुत-श्रीयदुपतिविरचित-भाष्यविवरणोपेतम् (भावार्थपादपरिमितोपलब्धम्) १०२-१५९

१. अपूर्वस्याख्यातप्रतिपाद्यत्वाधिकरणम् १०२-१२२
२. कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाधिकरणम् १२३-१२५
३. सम्मार्जनादीनामप्रधानताधिकरणम् १२५-१२७
४. स्तोत्रादिप्राधान्याधिकरणम् १२८-१३८
५. मन्त्राविधायकत्वाधिकरणम् १३८-१४०
६. मन्त्रनिर्वचनाधिकरणम् १४०
७. ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम् १४१
८. प्रवरोहाद्यमन्त्रताधिकरणम् १४१-१४२
९. ऋग्लक्षणाधिकरणम् १४३
१०. सामलक्षणाधिकरणम् १४४
११. यजुर्लक्षणाधिकरणम् १४५
१२. निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणम् १४६-१५०
१३. एकवाक्यत्वलक्षणाधिकरणम् १५०-१५३
१४. वाक्यभेदाधिकरणम् १५४-१५५
१५. अनुषङ्गाधिकरणम् १५६-१५७
१६. व्यवेताननुषङ्गाधिकरणम् १५७-१५९

(७) ब्रह्मवादकी भूमिकाके रूपमें पत्रावलम्बन ग्रन्थके कथ्य और महत्त्व का अध्ययन १६०-४६७

१. उपक्रम १६०
२. ब्रह्मवाद १६१-१७१
३. ब्रह्मवादानुसारिणी सृष्टिप्रक्रिया १७१-१७६
४. रूप-कर्मसृष्टिका नामसृष्टिके साथ सम्बन्ध १७६-१८२
५. शाब्दानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति की तुलना १८२-१९१

६. 'ब्रह्मवाद'=पद-पदार्थ एवं वाक्य-वाक्यार्थ का सत्-तादात्म्यवाद १९१-१९७
७. वेद=साध्यसिद्धोभयरूपमहावाक्य तथा श्रीहरि=महावाक्यार्थ १९७-१९९
८. साध्यविधायक पूर्वकाण्ड — सिद्धाभिधायक उत्तरकाण्ड १९९-२०२
९. कबन्धमीमांसा या राहुवेदान्त का द्वन्द्व और उसका समाधान २०२-२२७
१०. शास्त्रैक्यस्वरूपनिष्कर्ष २२७-२३६
११. वेद और वेदान्त का भेद अभेद या तादात्म्य २३६-२३७
१२. विध्यर्थमीमांसा २३७-२४७
१३. वाल्लभवेदान्तानुसारिणी विध्यर्थमीमांसा २४७-२५५
१४. लीलाहेतुक और विध्याधीन्यहेतुक कर्मोंका विभेद २५५-२६१
१५. अध्यापनविधि या/और अध्ययनविधि २६१-२९०
१६. शाङ्कर दृष्टिकोण और उसका विमर्श २९०-३००
१७. अध्यापनाध्ययनबोधक तीनों वचनोंकी वाल्लभमीमांसा ३००-३०४
१८. समग्र वेदकी एकवाक्यताका तुलनात्मक स्वरूप ३०४-३२८
१९. वाल्लभवेदान्ताभिमत निष्कर्ष ३२८-३४९
२०. विभिन्न वेदान्तोंका तुलनात्मक विमर्श ३४९-३९७
२१. स्वबुद्धिकल्पित तात्पर्यबाधशङ्कामूलक श्रुत्यर्थनिरूपण या अबाधितवाच्यार्थमूलक श्रुतितात्पर्यनिरूपण ३९७-४०६
२२. लौकिक एवं वैदिक वाक्योंका प्रामाण्यतारतम्य ४०६-४२७
२३. वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंमें प्रतिपाद्य चतुर्विध पुरुषार्थोंका स्वरूप ४२७-४४९
२४. उपसंहारः ४४९-४५०
२५. ग्रन्थैतिह्य ४५०-४६३
२६. उद्धृतग्रन्थसङ्केततालिका ४६४-४६७

(८) परिशिष्ट ४६८-४८०

१. पत्रावलम्बनके तृतीय संस्करणके सम्पादकका आंग्लभाषामें INTRODUCTION ४६८-४७३
२. Vallabhācārya And Pūrvamīmāmsā
By:G.H.BHATT ४७४-४८०

(९) उद्धरणतालिका ४८१-५०३

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं

।। पत्रावलम्बनम् ।।

(स्वोपज्ञटिप्पण्युपेतम्)[1]

(उपक्रमः)

लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः ।
लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते यथा ।।१।।
लोके शब्दार्थसम्बन्धो रूपं तेषां च यादृशम् ।
न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तथा भवेत् ।।२।।
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित् ।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः ।।३।।

---

[1] श्रीमदाचार्यचरणविरचितस्य कारिकात्मकस्य पत्रावलम्बनस्य विरचनकालएव पश्चाद् वा सेवाफल-विवरणमिव पृथगेव स्वोपज्ञा टिप्पण्यपि तैः विरचिता — एतयोः एकग्रन्थतया प्रसिद्धिः उत्तरकाले जाता इति सम्भाव्यते. तस्यैतस्य गद्यात्मकस्य ग्रन्थभागस्य कश्चन अंशः पृथक्त्वादेव ग्रन्थाद् विभक्तः पुनश्च ''श्रीपुरुषोत्तमगोस्वामिभिः श्रीमदाचार्यहस्ताक्षरपत्रात् कुतश्चिद् लब्धाद् आनीतोऽस्ती''ति श्रीपुरुषोत्तमचरणसमकालिकाः श्रीलालुभट्टचरणाः उल्लिखन्ति. तत्र गद्यभागानां कारिकान्तःश्लिष्टतया पठने ग्रन्थकर्तुः अभिप्रायः प्रायशो दुरूहो भवतीति पादटिप्पणीतया योजनपूर्वकं तत्पठनेनतु कारिकाः गद्यभागाश्च सुगमाभिप्रायाः भवन्ति इति मे मनःप्रत्ययः. यस्मात् श्रीलालुभट्टचरणाअपि उल्लिखन्ति यत् ''पत्रावलम्बनग्रन्थे कतिचन फक्किकाः स्वपूर्वोत्तरफक्किकाभिः न संयुज्यन्ते; यतो अन्यत्र स्थिताः फक्किकाः कस्यचिद् लेखकादेः दोषवशाद् अन्यत्र पतिताः'' इति; तस्मात् पुनः तासां यथावस्थित-संयोजनप्रयासो मया विहितः. एवंकरणेन कश्चन अन्यथाभावः श्रीमदाचार्यचरणवचनेषु सञ्जातः चेत्, मूढोऽपि बालकोऽयं नैजः इति विभाव्य क्षमन्तु ते परमकारुणिकाः इति प्रार्थये. तत्र **'कारिकाभागः'**इति अक्षराकृत्या **'टिप्पणीभागः'**इति अक्षराकृत्या च योजितोऽस्ति इति सुधिभिराकलनीयम्.

ये धातुशब्दाः यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्॥४॥

(वेदाध्ययनविधिविचारः)

काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिरुच्यते।
वाक्यत्रयं तथा वेदे......................।
(क)''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः''(तै.आ.२।१५)
(ख)''अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत'' (१)
(ग)''साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'' (२) इति.
................अनारभ्योक्तमेव हि॥५॥
एकार्थता तु सर्वत्र विशेषोऽप्युच्यते स्फुटः।

(क)

'स्वाध्याय' शब्दो वेदे हि रूढो योगेऽपि वर्तते॥६॥
सुष्ठ्वासमन्तादध्येयः शोभनं नियमैर्युतः।
देशे काले गुरौ स्वस्मिन् अपेक्ष्यन्ते गुणा इह॥७॥
'आ' सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते।
शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाध्येयो हि वैदिकैः॥८॥
अपर्णताद्यपहतपाप्मादिसकलैः गुणैः।
प्रजापतिमुखैः वेदो यथा हि पठितः पुरा॥९॥
तादृग्गुणविशिष्टोऽत्र वेदः 'स्वाध्याय' उच्यते।
'तव्य'स्त्वावश्यके प्रोक्तो न विधिर्ज्ञातृबोधनात्॥१०॥

---

१. ''गायत्रो वै ब्राह्मणो अष्टाक्षरा वै गायत्री; तस्माद् अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत''इति या.स्मृ.(१।२।१४)-बालक्रीडायाम्. २. ''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयः-''इति (१।१।१)पातञ्जलमहाभाष्ये च सन्दर्भोल्लेखरहितागमवचनतया पाठान्तरेण च उदाहृते कुत्रत्ये वचने इमे इति तत्रापि न ज्ञातुं शक्यते.

‘स्वाध्याय’ पदतो ज्ञेयं तन्माहात्म्यं फलं तथा।

(ख)

ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै द्वितीयं वाक्यमीर्यते।।११।।
वसुरुद्रादित्यवर्षैः त्रयो वर्णाः क्रमाद् द्विजाः।
अध्याप्या इति तस्यापि नियोगः श्रुतिचोदितः।।१२।।
पराधीनतया बाले न विधिः श्रुतिचोदितः।

(ग)

तथाध्यापनसिद्ध्यर्थं तृतीयं वाक्यमीर्यते।।१३।।
साङ्गेऽधीते तथा ज्ञाते स्वाध्यायस्तस्य सिध्यति।

(वाक्यत्रयनिष्कर्षः)

अध्यापनप्रयुक्तं हि प्रथमं ‘लिङ्’प्रयोगतः।।१४।।
आत्मनेपदतः स्वस्य स्यातां वृत्तिश्च सेत्स्यति।

> “उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
> सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥”(म.स्मृ.२।१४०)
> “आचार्यवान् पुरुषो वेद” (छा.उ.६।१४।२)
> “आचार्यं मां विजानीयात् (भाग.११।१७।२७)
> “गच्छेदाचार्यसंसदि” (   ) इति.

स्वातन्त्र्ये वयसा जाते तस्यावश्यकमीर्यते।।१५।।

(परमतं तन्निराकरणं च)

मर्यादाभङ्गतः केचित् कृत्ये विध्यर्थतां जगुः।
शब्दार्थमनपेक्ष्यैव निर्णयं च स्वबुद्धितः।।१६।।

अध्यापनप्रयुक्तं हि तस्मादध्ययनं मतम्।
एतर्ह्यपि तथैवैतन्न कार्या कल्पना ततः ॥१७॥

(वेदार्थस्वरूपविचारः)

तत्र संशयमापन्ना बुद्धिर्वाक्यार्थनिर्णये।
एकवाक्यत्वसन्देहाद् ऐकार्थ्याभावतः स्फुटम् ॥१८॥
स एकोऽर्थोऽत्र वक्तव्यो यच्छरीरप्रवेशतः।
एकार्थतां श्रुतिर्याति तदभावे तु निष्फला ॥१९॥
कुण्ठितैव भवेन्नूनं वेदाध्ययनबोधने।
"वेदोऽखिलो धर्ममूलं" (म.स्मृ.२।६),
"धर्मो यस्यां मदात्मकः" (भाग. ११।१४।३) ॥२०॥
एवं पूर्वर्षिभिः प्रोक्तं जैमिनिः प्रथमं स्वयम्।
निश्चित्य लोकशिक्षार्थम् अर्थप्राधान्यतस्तथा ॥२१॥
धर्मं विचारयामास प्रामाण्यादिपुरस्सरम्।

(वेदवेदान्तयोरभेदो भेदो वेति शङ्कासमाधाने)

सन्देहस्तु पुनर्जातो वेदान्तेषु यथा पुरा ॥२२॥
एकवाक्यत्वमेषां हि धर्मकाण्डे कथं भवेत्।
धर्मः पञ्चविधो द्वेधा षड्भिः सम्पद्यते तु सः ॥२३॥
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-विभेदतः।
सर्वो वेदस्तेषु लीनो वेदान्तेषु विचार्यते ॥२४॥
"यदेव विद्यये" (छा.उ.१।१।१०)त्याह
"ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ"(ऐ.आ.३।१।६-आप.श्रौ.सू.३।१८।१)एव च।
तज्ज्ञानं तेषु हि प्रोक्तं कर्तृशेषास्ततस्तु ते ॥२५॥
"ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानी"(भाग. ७।१५।२)

.......................ति यथा तथा।
फलश्रुत्या पूर्वकाण्डसमाप्त्या चावगम्यते ।।२६।।
“‘ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति’’(मु.उ.३।२।९),
“‘परं वाप्नोति’’(द्र. : तै.उ.२।१।१) कुत्रचिद्।
“‘वेदमनूच्य आचार्य’’ (तै.उ.१।११।१)
.... इत्युक्तोपनिषद्वचः ।।२७।।
शास्त्रान्तरेऽप्येवमेव वैदिकानां मतं तथा।
अतः स्वतन्त्रता वाच्या तथा चेन्नैकवाक्यता ।।२८।।
“‘वेदोऽखिलो धर्ममूलम्’’ इत्यादिश्च विरुद्ध्यते।
वैदिकानामभिध्यानं स्वरादिनियमैर्युतम् ।।२९।।
वेदाएव नचान्यार्था वाच्या बुद्धिमता क्वचित्।

(तत्र प्रत्यक्षसिद्धे जगति ब्रह्मत्वारोपापवादोपदेशाद् ‘वेदान्तत्व’निरुक्तिः)

ननु वेदान्तत्वं कथम्? तच्च एवं—लोकसिद्धस्य जगतो लोकप्रतीतिं बाधित्वा ब्रह्मत्वेन अलौकिकत्वं सम्पाद्यतइति अर्धजरतीयन्यायात् तदन्तत्वम्.

ननु लोकनिपुणाः कथं मन्यन्ते! शब्दार्थविचारेण इति ब्रूमः. कथम्? शब्दानाम् अर्थे विचार्यमाणे ब्रह्मैव सर्वं भवति.

‘घटपटा’दिशब्दाः धर्मवाचकाएव भवितुम् अर्हन्ति, घटत्वादिविशिष्टवाचकाः हि एते इति लोकप्रसिद्धिः. ‘घटत्वम्’ इति घटगतो धर्मः कश्चिद् यत्सद्भावाद् ‘घट’पदवाच्यता धर्मिणः. “तस्य भावः त्वतलौ” (पा.सू.५।१।११९) इति त्वो भावप्रत्ययः. ‘भावः’ इति ‘भू’धातोः घञि रूपम्. ‘भू’धातुः सत्तायां व्याप्तौ वा. उभयथापि व्यापकस्य सतो वा धर्मस्य[=व्यापकवस्तुवृत्तिघटत्वरूपधर्मस्य सदुपादानकघटसत्तारूपस्य वा] वाचको भवति. ‘घञ्’च स्वार्थे, अन्यथा अनवस्था स्यात्. तथाच घटत्वं नाम सतः व्यापकस्य वा धर्मः इति उक्तं भवति. एवं पटत्वादिष्वपि. तथाच प्रकृत्यर्थः, सन् व्यापको वा यदा भवति,

तदैव प्रत्ययार्थेन सह एकवाक्यता भवति. ततश्च सर्वेषाम् एकार्थता स्यात्. अतः आकृतिविशेषव्यञ्ज्याः धर्माः ते भिन्नाएव, शक्तिसङ्कोचेन, व्यवहारसिद्ध्यर्थं अङ्गीकर्तव्याः. तथाच 'घटा'दिशब्दाः 'अरुणा'दिशब्दवद् धर्मवाचकाः.

(तत्र भेदवादविमर्शः)

नच स्वरूपतः सतो भिन्नाः प्रत्यक्षतः स्वीकर्तव्याः इति वाच्यं, कारणीभूतस्य सतः एकत्वात् कार्ये कुतो भेदः समायाति ?

मृद इव अंशभेदाद् इति चेद्, अस्तु !
तर्हि अंशेन भेदो अस्ति !
कः सन्देहः ?
कार्यकारणयोः भेदः !

इति चेत्, न, कार्ये समवेतत्वात् कारणमपि अस्ति इति मन्तव्यम्. तथाच कार्ये द्विगुणगुरुत्वापत्तिः; नवा भेदः प्रतीयते—"पिण्डावस्था गता घटावस्था जाता" इत्येव प्रतीतिः. तथाच आकृतिरेव भिन्नेति धर्मभेदएव जातः इति वक्तव्यम्. सतोऽपि अंशेन धर्मभेदएव जगद् जातमिति सद् एकमेव. नच अंशांशिनो भेदः सिध्यति, पूर्ववदेव द्विगुणभारापत्तेः.

(तत्र भेदाभेदवादविमर्शः)

अंशानाम् इव परस्परं भेदो नाम नानात्वं चेद् ? 'ओम् !' इति केचिद्, "बहुस्याम्" (छा.उ.६।२।३) इति श्रुतेः. वस्तुतस्तु "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" (ई.उ. : शान्तिपाठः) इति श्रुतेः न अंशेन नानात्वं, कार्यावस्थायां व्यापकत्वस्य तिरोभावएव.

(तत्र धर्मधर्मिभेदविशिष्टधर्म्यभेदवादविमर्शः)

अथ अन्योन्याभावः. सच 'प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद'लक्षणः. तथाच "घटत्वं पटत्वं च एकत्र नास्ति" इति उक्तं भवति.

न एतत् सारं, सति द्रव्ये पार्थिवे च द्वयोः विद्यमानत्वात्. सर्वगुणप्रसिद्ध्यै तथा प्रकटस्य धर्मवैलक्षण्यनिबन्धना प्रतीतिः[1] — नटस्य इव नानारूपेण प्रकटस्य रूपद्वये भेदप्रतीतिवत् — श्रुतिस्मृतिविद्वत्प्रतीत्या वस्तुनः एकत्वे सिद्धे प्रतीतिः तन्निबन्धनैव.

तर्हि धर्माः स्वतो धर्मिणश्च भिन्नाः इति सिद्धम्!

न एतदपि अस्ति, तस्यैव प्रथमं धर्मरूपेण आविर्भावात्, न अब्रह्मैव अर्थः प्रतीयते. अतो वेदान्तवाक्यान्याप्रसिद्धिः[2], वैदिकानामपि तथैव प्रसिद्धेः इति चेद्.

(ब्रह्मपरत्वेपि वेदान्तानां न वेदेन सह एकवाक्यता इति पुनः शङ्कोत्थापनेन अन्यथानयनम्)

अथ वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्ये वेदान्ताध्ययनं च संन्यासे इति तद्विचारः पृथगेव. समाप्तिश्च श्रूयते शिक्षायां — "वेदमनूच्याचार्यो अन्तेवासिनम् अनुशास्ति" (तै.उ.१।११।१) इत्यादिना; उपनिषद् अनन्तरं पठिता. आचार्यान्तरेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन पूर्वकाण्डाध्ययनमेव ब्रह्मचर्ये, न उत्तरकाण्डस्य. सौकर्यार्थमेव पाठान्तरम् इदानीम्. विचारस्तु पश्चादेवेति न एकवाक्यता. अतएव विचारोऽपि पृथगेव. "साङ्गोपनिषदः" (   ) इति पृथक् पुराणेषु निर्देशः इति.

अथवा कुत्रापि आश्रमे विचारो अस्तु, न एकवाक्यता. न वेदत्वम् उपनिषदाम्. स्वरादिनियमः तदन्तानामपि आचारपरम्परया. वाक्येन तु उपयोगः "यदेव विद्यया करोति" (छा.उ.१।१।१०) इति. तथापि कथम् उपयोगः

---

[1] इह "नटस्य...भेदप्रतीतिवत्" इति फक्किकानिवेशः मुं-वि.पाठानुसारेण.

[2] "वेदान्तवाक्येषु ब्रह्मणो अन्यस्य अप्रसिद्धेः" इति यथाश्रुताशयः. अथवा 'अन्याप्रसिद्धेः' इत्यत्र 'अन्यार्थत्वाप्रसिद्धेः' 'अन्यत्वाप्रसिद्धेः' वा इति पाठान्तरोपि सम्भाव्यते.

इति चेद्, उच्यते—लौकिकेषु पदार्थेषु साङ्गो यज्ञो अध्यस्यते, वैदिके तत्र अर्थे वैदिकता सम्पद्यतइति; ब्रह्मवादेन सर्वस्यापि ब्रह्मत्वे अवगते ब्रह्मण्येव यज्ञः प्रतिष्ठितोऽपि भवति, अयज्ञकालेऽपि ब्रह्मात्मत्वं सिध्यति.

(तत्र समाधानम्)

अतः कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम् ।।३०।।
अनारभ्याधीतगार्ह्यस्मार्ता इव भवेद् यदि ।
प्रक्रिया महतां वृत्तिः स्वातन्त्र्यं चात्र तेन न ।।३१।।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं श्रेयः स्मार्तं न वैदिकम् ।
पुरुषेक्षावशेनैते साध्यसाधनतां गताः ।।३२।।
अलौकिको हि वेदार्थः प्रमाणान्तरगो नहि ।
परमात्मविचारेण ते चत्वारो ह्यलौकिकाः ।।३३।।
धर्मे ब्रह्मणि च प्रोक्ताः फलत्वेन तथैव ते ।

"विराजमभिसम्पद्यते"[१] (तै.सं.७।१।१।१)
"वसीयान् भवति" (तै.सं.३।१।७।४)
"कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति" (तै.सं.६।१।६।६)
"प्रजापतेरेव सायुज्यमुपैति" (श.ब्रा.१२।१।३।२)

---

१. गोस्वामिश्रीगिरिधराणां 'तत्त्वविवेक' विवृतौ एतेषु श्रुतिवचनेषु नैकमपि वचनमुपलभ्यते. श्रीपुरुषोत्तमानां 'विवरणे'तु— "तत्र काण्डद्वयस्थाः श्रुतीः दर्शयन्ति 'विराजम्' इत्यादि. अत्र 'विराजम्' इत्यादयः पूर्वकाण्डस्थाः 'न सः पुरावर्तते' इति छान्दोग्योपनिषत्स्थं, 'य एवं वेद प्रतितिष्ठति' इति भृगूपनिषत्स्थम्. तथाच पूर्वकाण्डवद् उत्तरकाण्डेऽपि चतुर्णां फलानां श्रावणाद् ऊषरत्वम् असङ्गतम् इति" इत्येतद्व्याख्यानानुरोधेन मुद्रितपाठानुसारिश्रुतिवचनक्रमस्थाने मया उट्टङ्किता श्रुतिवाक्य-क्रमयोजनेयम्. मुद्रितेषुतु मो.ते.गो.मुं-वि.पाठेषु वाक्यक्रमः पाठभेदश्चैवमुपलभ्यते : १.-विराजमभिपद्यते (मो. पाठः) विराजमभिसम्पद्यते (ते.गो.मुं-वि. पाठः) २.अमृतीभवति(-मो.ते.गो.मुं-वि. पाठः) ३.प्रजापतेरेव सायुज्यमुपैति ४.इदं सर्वं प्रजापतिः ५.न सः पुनरावर्तते ६.वशीयान् भवति (मो.पाठे नास्ति) ७.सनिमेषान् कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति (मो.पाठे नास्ति) ८.य एवं वेद प्रतितिष्ठति... ब्रह्मवर्चसेन".

"न स पुनरावर्तते"(छा.उ.८।१५।१)
"य एवं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन"(तै.उ.३।६) इत्यादि.

(उपसंहारः)

श्रीकृष्णस्य[१] प्रसादेन मायावादो निराकृतः ।।३४।।
अवैदिको, महादेवः तत्र साक्षी न संशयः।
ये वैदिकाः महात्मानः तेषां चानुमतिस्तथा ।।३५।।
अवेदविद् न मनुते मया चोपेक्षितः पुनः।
स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः ।।३६।।
काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु।
कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा ।।३७।।
न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः।
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि ।।३८।।
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं पत्रावलम्बनं सम्पूर्णम्

* * *

---

[१] "ननु वेदान्तत्वं कथं? तच्च कृष्णप्रसादेन मायावादो...''' इति मो.ते. गो.पाठः. "तच्च श्रीकृष्णप्रसादेन..."इति मुं-वि.पाठः. "श्रीकृष्णस्य प्रसादेन" इति पाठस्तु श्रीगदाधरदासकृत-सम्प्रदायप्रदीपानुसारेण गृहीतः. " 'ननु तच्च वेदान्तत्वं कथं?' इति प्रश्नः...एतावता परमतं दूषितम्. श्रीकृष्णप्रसादेन..." इति वदतां श्रीगिरिधराणां पाठोऽपि अयमेव सम्भाव्यते. मयातु अनिर्णायकान् पाठभेदान् एतान् विलोक्य गद्यभागारम्भएव "ननु वेदान्तत्वं कथं? तच्च एवं लोकसिद्धस्य..."इत्यत्र योजितः.

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

महाप्रभुश्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं

।। पत्रावलम्बनम् ।।

श्रीवालकृष्णभट्टविरचितनिर्णयार्णवोपेतम्

पत्रावलम्बनग्रन्थे कतिचन फक्किकाः स्वपूर्वोत्तरफक्किकाभिः न संयुज्यन्ते. यतो अन्यत्र स्थिताः फक्किकाः कस्यचिद् लेखकादेः दोपवशाद् अन्यत्र पतिताः. अतो अस्मिन् ग्रन्थे सर्वत्र सर्वाः फक्किकाः यथा स्वपूर्वोत्तरफक्किकाभिः संयुज्येरन् तथा प्रकारः शिष्टपरम्पराप्राप्तो लिख्यते.

तथाहि —

“लौकिको” इत्यारभ्य —

लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः।
लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते यथा ।।१।।
लोके शब्दार्थसम्बन्धो रूपं तेषां च यादृशम्।
न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तथा भवेत् ।।२।।
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित्।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः ।।३।।
काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिरुच्यते।
वाक्यत्रयं तथा वेदेऽनारभ्योक्तमेव हि ।।५।।
(क) “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” (तै.आ.२।१५)
(ख) “अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत” (   )
(ग) “साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च” (   ) इति.
एकार्थता तु सर्वत्र विशेषोऽप्युच्यते स्फुटः।
‘स्वाध्याय’ शब्दो वेदे हि रूढो योगेऽपि वर्तते ।।६।।
सुष्ठ्वासमन्तादध्येयः शोभनं नियमैर्युतः।
देशे काले गुरौ स्वस्मिन् अपेक्ष्यन्ते गुणा इह ।।७।।

‘आ’ सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते।
शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाध्येयो हि वैदिकैः॥८॥
अपर्णताद्यपहतपाप्मादिसकलैः गुणैः।
प्रजापतिमुखैः वेदो यथा हि पठितः पुरा॥९॥
तादृग्गुणविशिष्टोऽत्र वेदः ‘स्वाध्याय’ उच्यते।
‘तव्य’ स्त्वावश्यके प्रोक्तो न विधिः ज्ञातृबोधनात्॥१०॥
‘स्वाध्याय’ पदतो ज्ञेयं तन्माहात्म्यं फलं तथा।
ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै द्वितीयं वाक्यमीर्यते॥११॥
वसुरुद्रादित्यवर्षैः त्रयो वर्णाः क्रमाद् द्विजाः।
अध्याप्या इति तस्यापि नियोगः श्रुतिचोदितः॥१२॥
पराधीनतया बाले न विधिः श्रुतिचोदितः।
तथाध्यापनसिद्ध्यर्थं तृतीयं वाक्यमीर्यते॥१३॥
साङ्गेऽधीते तथा ज्ञाते स्वाध्यायस्तस्य सिध्यति।
अध्यापनप्रयुक्तं हि प्रथमं ‘लिङ्’प्रयोगतः॥१४॥
आत्मनेपदतः स्वस्य स्यातां वृत्तिश्च सेत्स्यति।
“उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥”(म.स्मृ.२।१४०)
“आचार्यवान् पुरुषो वेद” (छा.उ.६।१४।२)
“आचार्यं मां विजानीयात् (भा.११।१७।२७)
“गच्छेदाचार्यसंसदि” (   ) इति.
स्वातन्त्र्ये वयसा जाते तस्यावश्यकमीर्यते॥१५॥
मर्यादाभङ्गतः केचित् कृत्ये विध्यर्थतां जगुः।
शब्दार्थमनपेक्ष्यैव निर्णयं च स्वबुद्धितः॥१६॥
अध्यापनप्रयुक्तं हि तस्मादध्ययनं मतम्।
एतर्ह्यपि तथैवैतन्न कार्या कल्पना ततः॥१७॥
तत्र संशयमापन्ना बुद्धिर्वाक्यार्थनिर्णये।

एकवाक्यत्वसन्देहाद् ऐकार्थ्याभावतः स्फुटम् ।।१८।।
स एकोऽर्थोऽत्र वक्तव्यो यच्छरीरप्रवेशतः ।
एकार्थतां श्रुतिर्याति तदभावे तु निष्फला ।।१९।।
कुण्ठितैव भवेन्नूनं वेदाध्ययनबोधने ।
''वेदोऽखिलो धर्ममूलं'', ''धर्मो यस्यां मदात्मकः'' ।।२०।।
एवं पूर्वर्षिभिः प्रोक्तं जैमिनिः प्रथमं स्वयम् ।
निश्चित्य लोकशिक्षार्थम् अर्थप्राधान्यतस्तथा ।।२१।।
धर्मं विचारयामास प्रामाण्यादिपुरस्सरम् ।
सन्देहस्तु पुनर्जातो वेदान्तेषु यथा पुरा ।।२२।।
एकवाक्यत्वमेषां हि धर्मकाण्डे कथं भवेत् ।
धर्मः पञ्चविधो द्वेधा षड्भिः सम्पद्यते तु सः ।।२३।।
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-विभेदतः ।
सर्वो वेदस्तेषु लीनो वेदान्तेषु विचार्यते ।।२४।।
''यदेव विद्यये''त्याह ''ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ'' एव च ।
तज्ज्ञानं तेषु हि प्रोक्तं कर्तृशेषास्ततस्तु ते ।।२५।।
''ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानी''ति यथा तथा ।
फलश्रुत्या पूर्वकाण्डसमाप्त्या चावगम्यते ।।२६।।
''ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति'', ''परं वाप्नोति'' कुत्रचिद् ।
''वेदमनूच्य आचार्यः'' इत्युक्तोपनिषद्वचः ।।२७।।
शास्त्रान्तरेऽप्येवमेव वैदिकानां मतं तथा ।
अतः स्वतन्त्रता वाच्या तथा चेन्नैकवाक्यता ।।२८।।
''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''इत्यादिश्च विरुद्ध्यते ।
वैदिकानामभिध्यानं स्वरादिनियमैर्युतम् ।।२९।।
वेदाएव नचान्यार्था वाच्या बुद्धिमता क्वचित् ।

अतः वेदान्तवाक्यान्याप्रसिद्धिः. वैदिकानामपि तथैव प्रसिद्धेः इति चेत्.

''वैदिकानां तथैव प्रसिद्धेः इति चेद्'' इति फक्किकानन्तरं

"अत: कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम्" इति कारिका: लेख्या:. तदग्रे "अनारभ्याधीतग्रार्ह्यस्मार्ता इव भवेद्" इत्यारभ्य—

अत: कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम्।।३०।।
अनारभ्याधीतगार्ह्यस्मार्ता इव भवेद् यदि।
प्रक्रिया महतां वृत्ति: स्वातन्त्र्यं चात्र तेन न।।३१।।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं श्रेय: स्मार्तं न वैदिकम्।
पुरुषेक्षावशेनैते साध्यसाधनतां गता:।।३२।।
अलौकिको हि वेदार्थ: प्रमाणान्तरगो नहि।
परमात्मविचारेण ते चत्वारो ह्यलौकिका:।।३३।।
धर्मे ब्रह्मणि च प्रोक्ता: फलत्वेन तथैव ते।

"विराजमभिसम्पद्यते", "अमृतीभवति", "प्रजापतेरेव सायुज्यमुपैति", "इदं सर्वं प्रजापति:", "न स पुनरावर्तते", "वसीयान् भवति", "कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति", "य एवं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन" इत्यादि.

अथ वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्ये वेदान्ताध्ययनं च संन्यासइति तद्विचार: पृथगेव. समाप्तिश्च श्रूयते शिक्षायां "वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति" इत्यादिना; उपनिषद् अनन्तरं पठिता. आचार्यान्तरेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन पूर्वकाण्डाध्ययनमेव ब्रह्मचर्ये, न उत्तरकाण्डस्य. सौकर्यार्थमेव पाठान्तरम् इदानीम्. विचारस्तु पश्चादेवेति न एकवाक्यता. अतएव विचारोऽपि पृथगेव, "साङ्गोपनिषद:" इति पृथक् पुराणेषु निर्देश-इति.

अथवा कुत्रापि आश्रमे विचारो अस्तु—न एकवाक्यता, न वेदत्वम् उपनिषदां, स्वरादिनियम: तदन्तानामपि आचारपरम्परया; वाक्येनतु उपयोगो "यदेव विद्यया करोति" इति. तथापि कथम् उपयोग:? इति

> चेद्, उच्यते — लौकिकेषु पदार्थेषु साङ्गो यज्ञो अध्यस्यते, वैदिके तत्र अर्थे वैदिकता सम्पद्यतइति. ब्रह्मवादेन सर्वस्यापि ब्रह्मत्वे अवगते ब्रह्मण्येव यज्ञः प्रतिष्ठितोऽपि भवति, अयज्ञकालेऽपि ब्रह्मात्मत्वं सिद्ध्यति.

“अयज्ञकालेऽपि ब्रह्मात्मत्वं सिद्ध्यति” इत्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः. अग्रे “एवं पटत्वादिष्वपि” इत्यन्तो ग्रन्थो बोध्यः —

> एवं — लोकसिद्धस्य जगतो लोकप्रतीतिं बाधित्वा ब्रह्मत्वेन अलौकिकत्वं सम्पाद्यतइति अर्धजरतीयन्यायात् तदन्तत्वम्.
>
> ननु लोकनिपुणाः कथं मन्यन्ते? शब्दार्थविचारेण इति ब्रूमः. कथम्? शब्दानाम् अर्थे विचार्यमाणे ब्रह्मैव सर्वं भवति. ‘घटपटा’दिशब्दाः धर्मवाचकाएव भवितुम् अर्हन्ति. घटत्वादिविशिष्टवाचकाः हि एते इति लोकप्रसिद्धिः. ‘घटत्वम्’ इति घटगतो धर्मः कश्चिद् यत्सद्भावाद् ‘घट’पदवाच्यता धर्मिणः. “तस्य भावः त्वतलौ” इति त्वो भावप्रत्ययः. ‘भावः’ इति ‘भू’धातोः घञि रूपम्. ‘भू’धातुः सत्तायां व्याप्तौ वा. उभयथापि व्यापकस्य सतो वा धर्मस्य वाचको भवति. ‘घञ्’च स्वार्थे, अन्यथा अनवस्था स्यात्. तथाच ‘घटत्वं’ नाम सतो व्यापकस्य वा धर्मः इति उक्तं भवति. एवं ‘पटत्वा’दिष्वपि.

तदग्रेतु “**तथाच प्रकृत्यर्थः**” इत्यन्तएव ग्रन्थः पूर्वफक्किकाभिः संलग्नः सर्वपुस्तकेषु स्थितो; अधुनातु श्रीमदाचार्यहस्ताक्षरपत्रात् कुतश्चित् लब्धात् श्रीपुरुषोत्तमगोस्वामिभिः तदुत्तरग्रन्थः[*—* चिह्नाङ्कितो भागः] आनीतो अस्ति. सच विमर्शेऽपि “**तथाच प्रकृत्यर्थः**” इत्यनेन फक्किकावयवेन

संयुज्यतएव. अतः "तथाच प्रकृत्यर्थः" इत्यस्य अग्रे "सन् व्यापको वा यदा भवति तदैव प्रत्ययार्थेन एकवाक्यता भवति" इत्यारभ्य—

> तथाच प्रकृत्यर्थः * सन् व्यापको वा यदा भवति तदैव प्रत्ययार्थेन सह एकवाक्यता भवति. ततश्च सर्वेषाम् एकार्थता स्यात्. अतः आकृतिविशेषव्यङ्ग्याः धर्माः ते भिन्नाएव, शक्तिसङ्कोचेन, व्यवहारसिद्ध्यर्थं अङ्गीकर्तव्याः. तथाच 'घटा'दिशब्दाः 'अरुणा'दिशब्दवद् धर्मवाचकाः.
>
> नच स्वरूपतः सतो भिन्नाः प्रत्यक्षतः स्वीकर्तव्याः इति वाच्यं, कारणीभूतस्य सतः एकत्वात् कार्ये कुतो भेदः समायाति ?
>
> मृद इव अंशभेदाद्!
> इति चेद्, अस्तु!
> तर्हि अंशेन भेदो अस्ति!
> कः सन्देहः ?
> कार्यकारणयोः भेदः!
>
> इति चेत्, न. कार्ये, समवेतत्वात्, कारणमपि अस्ति इति मन्तव्यम्. तथाच कार्ये द्विगुणगुरुत्वापत्तिः; नवा भेदः प्रतीयते— "पिण्डावस्था गता घटावस्था जाता" इत्येव प्रतीतिः. तथाच सतोऽपि अंशेन धर्मभेदएव जगद् जातमिति सद् एकमेव. नच अंशांशिनो भेदः सिध्यति, पूर्ववदेव द्विगुणभारापत्तेः.
>
> अंशानाम् इव परस्परं भेदो नाम नानात्वं चेद्? 'ओम्!' इति केचिद्, "बहुस्याम्" इति श्रुतेः. वस्तुतस्तु "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" इति श्रुतेः न अंशेन नानात्वं— कार्यावस्थायां व्यापकत्वस्य तिरोभावएव.
>
> अथ अन्योन्याभावः. सच 'प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद'लक्षणः. तथाच "घटत्वं पटत्वं च एकत्र नास्ति"

इति उक्तं भवति. न एतत् सारं! सति द्रव्ये पार्थिवे च द्वयोः विद्यमानत्वात्. सर्वगुणप्रसिद्ध्यै तथा प्रकटस्य धर्मवैलक्षण्यनिबन्धना प्रतीतिः. श्रुतिस्मृतिविद्वत्प्रतीत्या वस्तुनः एकत्वे सिद्धे प्रतीतिः तन्निबन्धनैव.

तर्हि धर्माः स्वतो धर्मिणश्च भिन्नाः इति सिद्धम्! न एतदपि अस्ति, तस्यैव प्रथमं धर्मरूपेण आविर्भावात् - * [एतदग्रिमा 'नटे'त्यारभ्य 'प्रतीयते'इत्यन्ता फक्किका श्रीलालुभट्टानाम् पाठे विद्यते न वा इति ज्ञातुं न शक्यते. : सम्पा.]— नटस्य इव नानारूपेण प्रकटस्य रूपद्वये भेदप्रतीतिवत् — न अब्रह्मैव अर्थः प्रतीयते. ननु वेदान्तत्वं कथम्?

"न एतदपि अस्ति, तस्यैव प्रथमं धर्मरूपेण आविर्भावाद्" इत्यन्तो ग्रन्थो गोस्वामिपुरुषोत्तमानीतो लेख्यः. तदग्रे "तच्च कृष्णप्रसादेन मायावादो निराकृतः" इत्यादिकारिकापञ्चकं लेख्यम् —

तच्च कृष्णप्रसादेन मायावादो निराकृतः ।।३४।।
अवैदिको महादेवस्तत्र साक्षी न संशयः ।
ये वैदिकाः महात्मानः तेषां चानुमतिस्तथा ।।३५।।
अवेदविद् न मनुते मया चोपेक्षितः पुनः ।
स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः ।।३६।।
काशीपतिः त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु ।
कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा ।।३७।।
न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः ।
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि ।।३८।।
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः ।

।। इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं पत्रावलम्बनं सम्पूर्णम् ।।

अनेन प्रकारेण पत्रावलम्बनग्रन्थो अस्तीति सर्वत्रापि ग्रन्थे समीचीनैव सङ्गतिः इति वैष्णवविद्वद्भिः विभावनीयम्.

“**तच्च कृष्णप्रसादेन मायावादो निराकृतो अवैदिको, महादेवः तत्र साक्षी न संशयः**” इति श्लोके — ‘**तत्**’-तस्माद् हेतोः, “**मायावादो निराकृतो**” ‘**मया**’ इति शेषः. ननु मायावादस्य बहुभिः आदृतत्वेन निराकरणानर्हत्वात् कथं निराकरणम्? इति आशङ्क्य हेतुगर्भं मायावादस्य विशेषणम् आहुः ‘**अवैदिकः**’ इति. तथा सति वेदविरुद्धत्वात् मायावादस्य निराकरणं युक्तमेव. बहुभिः आदरणन्तु न उपादेयत्वे प्रयोजकं, “शतमपि अन्धानां न पश्यति” इति न्यायात्.

इति श्रीलालुभट्टोपनामकेन श्रीबालकृष्णभट्टेन विरचिते निर्णयार्णवे
पत्रावलम्बनसङ्गतिविमर्शः
सम्पूर्णः

* * *

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

गोस्वामिश्रीमत्पुरुषोत्तमकृतम्

।। पत्रावलम्बनविवरणम् ।।

श्रीमदाचार्यचरणैः चरणाद्रौ वसद्भिः *उत्तरमीमांसाभाष्येण ब्रह्मवादे; ज्ञानकर्मसमुच्चयोपयोगितया पूर्वमीमांसाभाष्येण धर्मस्थैर्यादिके च, विचारिते यदा मायावादभाट्टमतस्थाः पण्डिताः विवदिषया काशीतः चरणाद्रौ समायान्ति, तदा तैः सह विचारे क्रियमाणे भगवत्सेवायां प्रतिबन्धो भवतीति तन्निवृत्तये* स्वयं चरणाद्रितः काश्याम् आगत्य विश्वेशदेवालयद्वारि पत्रावलम्बनं कृत्वा कञ्चित् कालं स्थितं तदा यत् पत्रे लिखित्वा तत्र स्थापितं तत् 'पत्रावलम्बनम्' इति उच्यते. तद् अत्र व्याकुर्मः.

(वादकरणरीतिनिर्देशेनोपक्रमः)

तत्र तत्त्वनिर्णयफलिका स्थापनाप्रतिस्थापनावती कथा वादः. स वेदार्थे वेदान्तार्थे च कर्तव्यः इति बोधयितुं लौकिकवैदिकव्यवहारयोः भेदं, लौकिकार्थस्य वैदिकोपकारकत्वं, लौकिकस्य अविचार्यत्वं च प्रथमं द्वाभ्यां तदुपोद्घाततया आहुः —

लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः।
लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते तथा ।।१।।
लोके शब्दार्थसम्बन्धो रूपं तेषाञ्च यादृशम्।
न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तथा भवेत् ।।२।।

लौकिको इत्यादि. तत्र व्यवहारो नाम मनोमात्रेन्द्रियप्राणानां व्यापारो "व्यवहारः संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः" (भाग.११।२।५६) इति एकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात्. स स्वाभाविको गुणसंनिपातरूपः, अहम्ममाभिमा-

नजन्यत्वात्. अभिमानस्य संनिपातत्वं तत्रैव भगवता उक्तं— “संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः” (भाग.११।२५।६) इति. अतः स जघन्यः. वैदिकस्तु ततो विलक्षणो, विधिनियतत्वाद्, “य एवास्मि स सन् यज”(तै.ब्रा.३।७।४-५) इत्यादिश्रुत्या स्वभावं न्यक्कृत्य प्रवृत्तत्वात् च. अतः संनिपातकार्यत्वाद्यभावात् प्रामाणिकः. तेन **व्यवहारो द्विधा मतः**. एवं द्वयोः भेदेऽपि इदानीं वैदिकः सहसा न हृदयम् आरोहतीत्यतः **लोकसिद्धं** पुरस्कृत्य **वैदिकः** तत्सादृश्येन **बोध्यत**-इति बोधने उपकारकः. अतो **लोके** शब्दार्थयोः यः **सम्बन्धः** साङ्केतिकः **च** पुनः **तेषां यादृशं रूपं तत्र विवादो न कार्यो,** यतः तत्र विवादे क्रियमाणे **लोकोच्छित्तिः** भवेद्, “युक्तयः सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा[1], नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा, एवं विवदतां हेतुः शक्तयो मे दुरत्ययाः” (भाग.११।२२।४-५) इति भगवदुक्तन्यायस्य तत्रापि तुल्यत्वात्. अतः सिद्धरूपस्य लौकिकस्य उपकारकत्वमात्रं ग्राह्यं नतु तेन कश्चित् तत्त्वनिश्चयइति. तत्र विवादो व्यर्थत्वात् न अस्माभिः कार्यः इति अर्थः॥ १-२॥

तर्हि ब्रह्मवादे न कार्यः इत्यतः आहुः—

ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित्।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः॥३॥

ब्रह्म... इत्यादि. तथाच अखण्डब्रह्मवादेनापि वैदिकव्यवहारासिद्धेः तेनापि न कार्यः किन्तु सखण्डब्रह्मवादे लोकस्य ‘प्रजायेय’ (तै.उ.२।६।१) इति इच्छया सिद्धत्वात् तत्सिद्धेन शास्त्रसम्मतेन लोकेन कार्यः इति अर्थः॥३॥

तत्र प्रकारम् आहुः—

ये धातुशब्दाः यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।

---

[1] इह ‘इति’पदमधिकं दृश्यते तत्तु, ‘युक्तं च सन्ति’इति पाठभेदानुरोधेन ग्रन्थकृदितरस्य कस्यापि प्रमादकल्पितं स्यादिति निष्कासितम्.

तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्।।४।।

ये इत्यादि।।४।।

(विवादविषयीभूतवेदाध्ययनविधिविचारः)

एवं वादकरणप्रकारं चतुर्भिः उक्त्वा विवादविषयम् आहुः —

काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिरुच्यते।
वाक्यत्रयं तथा वेदेऽनारभ्योक्तमेव हि।।५।।
एकार्थतातु सर्वत्र विशेषोऽप्युच्यते स्फुटः।
(क)"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (तै.आ.२।१५)
(ख)"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत" ( )
(ग)"साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" ( )

काण्ड... इत्यादि. **अर्थसिद्ध्यर्थम्** इति प्रयोजनसिद्ध्यर्थं, नहि अवैधप्रकारेण अधीते वेदे धर्मः तज्जन्यं फलं वा सिध्यतीति तदर्थं **स्वाध्यायविधिः** स्वाध्यायप्रकारः **उच्यते** वेदे निरूप्यते इति अर्थः. तत्र गमकम् आहुः **वाक्य...**इत्यादि. **तथा** इति प्रकारबोधकम्. आद्यं वाक्यं तैत्तिरीयब्राह्मणस्थम्, अन्यद् द्वयं शाखान्तरीयम्. तत्र केचिद् 'अध्यापयीत' इत्यत्र 'अध्यापयेद्' इति (प्र.वि. : प्रयुक्तिनिर्णयप्रकरणम्) पठन्ति. तृतीयञ्च "ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"(पातं.महा.भा.१।१।१) इति पठन्ति. एतेषां सर्वसाधारणत्वाय आहुः **अनारभ्योक्तमेव** इति. तथाच एकतरनियामकाभावात् सर्वशाखिसाधारणम् इति अर्थः. अन्यथा एतदुक्तप्रकारेण न सर्वे पाठयेयुः पठेयुः च इति. तर्हि वाक्यत्रयस्य किं प्रयोजनम्? इत्यतः आहुः **एकार्थता** इत्यादि. **तुः** उक्तशङ्कानिरासे. **सर्वत्र** त्रिष्वपि वाक्येषु, स्वाध्यायप्रकारबोधनेन यद्यपि **एकार्थता** एकवाक्यत्वं, तथापि **विशेषः स्फुटः उच्यते,** अतः सएव प्रयोजनम् इति अर्थः।।५।।

(क)

कथं तस्य प्रयोजनत्वम् इति आकाङ्क्षायां प्रथमं पूर्ववाक्यगतं विशेषं पञ्चभिः विवृण्वन्ति —

‘स्वाध्याय’ शब्दो वेदे हि रूढो योगेऽपि वर्तते॥६॥
‘सुष्ठ्वा’समन्तादध्येयः शोभनं नियमैर्युतः।
देशे काले गुरौ स्वस्मिन् अपेक्ष्यन्ते गुणा इह॥७॥
‘आ’ सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते।
शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाध्येयो हि वैदिकैः॥८॥
अपर्णताद्यपहतपाप्मादिसकलैः गुणैः।
प्रजापतिमुखैः वेदो यथा हि पठितः पुरा॥९॥
तादृग्गुणविशिष्टोऽत्र वेदः ‘स्वाध्याय’ उच्यते।
‘तव्य’ स्त्वावश्यके प्रोक्तो न विधिः ज्ञातृबोधनात्॥१०॥
‘स्वाध्याय’ पदतो ज्ञेयं तन्माहात्म्यं फलं तथा।

स्वाध्याय...इत्यादि. तथाच “सुष्ठु आसमन्ताद् यथा स्यात् तथा यो अधीयते सः स्वाध्यायः” इति अयं योगः इति अर्थः. सु इत्यस्य अर्थः **शोभनम्** इत्यादि, तच्च अध्ययने अपेक्षित-देशकालगुरुशिष्यगत-गुणविशिष्टत्वम्. आङो अर्थस्तु **पुनस्तत्र** इत्यादिना उच्यते. हिः सर्वत्र निश्चयार्थः. तथाच शब्दार्थानुष्ठानेषु शङ्काराहित्यम् ‘आङ्’-अर्थः. तेन ‘स्वाङ्’द्योतितार्थपूर्वकं यो अधीयते वेदः स स्वाध्यायः इति अर्थः. एवम् अध्ययनेन यो अतिशयो अध्येतरि यश्च वेदे आधीयते तम् आहुः **अपर्णता** इत्यादि. “जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिः ऋणवा जायते—ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजाभिः पितृभ्यः, एष वा अनृणो” (तै.सं.६।३।१०) इति श्रुत्या “ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृणां प्रभो, यज्ञाध्ययनदानैस्ताननतिस्तीर्य त्यजन् पतेत्” (   ) इत्यादिस्मृतिभिः च ब्रह्मचर्यपूर्वकाध्ययनेन अपर्णता. आदि-पदोक्तो वेदोक्त-साधनकरण-तत्फलाप्त्योः स्वरूपयोग्यता-

रूपो अधिकारश्च अध्येतुः भवति. "अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रम्" (तै.आ.२।१५) इति श्रुत्युक्तम् 'अपहतपाप्मत्वम्' आदि-पदोक्तम् अयातयामत्वं तत्पठिते वेदे भवतीति, उभाभ्याम् अध्येतृधर्म-वेदधर्माभ्यां साक्षात् परम्परया च वेदस्य संस्कारेण स्वाध्यायत्वं तस्य भवति. अन्यथातु "छन्दांस्येनं प्रजहन्ति काले नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः" (म. भा.५।३५।३५) इति न्यायः स्याद् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः प्रजापति...इत्यादि. स्वाध्याये अधिकारिणं बोधयितुम् 'अध्येतव्यः' इति 'तव्य'स्य अर्थम् आहुः **तव्यः** इत्यादि.

स्वाध्यायब्राह्मणे "यत् स्वाध्यायम् अधीयीत एकामपि ऋचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः सन्तिष्ठते" (तै.आ.२।१०) इति ब्रह्मयज्ञं लक्षयित्वा तत्फलं तस्य यज्ञत्वसम्पत्तिप्रकारं च उक्त्वा, अग्रिमानुवाके कानिचित् तस्य पूर्वाङ्गानि विधाय तेषां फलं च उक्त्वा "प्राङासीनः स्वाध्यायमधीयीत" (तै.आ.२।११) इति विधाय, अग्रे चतुर्भिः अनुवाकै तत्प्रकारं वदन्, स्वाध्यायस्य अपहतपाप्मत्वं "अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रम्" (तै.आ.२।१५) तदध्ययनं विना वाचि अभागं स्वर्गाभावं च प्रतिपाद्य, पश्चाद् आह "तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यो यं-यं क्रतुमधीते तेन-तेन अस्य इष्टं भवति" (तै.आ.२।१५) इत्यादि. तेन ज्ञानपूर्वकस्य अध्ययनस्य अत्र उक्तत्वात् न विधिः.

यदि तद् वाक्यं भिन्नमेव उपेयते तदापि अनेन उपसंहारात् न विधित्वम्. नच–'तव्य'स्य आवश्यकत्वार्थाङ्गीकारे "अनधीयानाः व्रात्याः भवन्ति" ( )इति–वाक्यवैयर्थ्यापत्तिः, 'तव्य'स्य भावकर्मविध्यनुवादप्राप्तकालावश्यकाद्यर्थेषु विधानदर्शनाद्, अत्र तदर्थनिश्चायकत्वेन अस्य अवैयर्थ्याद्, अतः पूर्वोक्तएव अर्थः इति अर्थः. नच–"स्वाध्याय..."-वाक्यासंनिहितस्य "अनधीयान..."-वाक्यस्य कथं तदर्थनिर्णायकत्वम् इति–शङ्क्यं, बाधलक्षणे "अपितु वाक्यशेषः स्याद् अन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधीनाम् एकदेशः स्याद्" (जै.सू.१०।८।४) इत्यत्र जैमिनिनैव दूरस्थस्यापि "यजतिषु 'ये-यजामहं' करोति"( ) "नानुयाजेषु..." (आप.श्रौ.सू.२-

४।१३।६) इत्यस्य ''एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्त'' (तै.सं.१।६।११) इति वाक्यशेषतायाः तदर्थनिश्चायकत्वेन अङ्गीकाराद्; भट्टवार्तिकेऽपि ''येन यस्यार्थसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन सः अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्'' (   ) इति कथनात् च इति दिक्. एतदेव निगमयितुं 'स्वाध्याय'पद-यौगिकार्थज्ञानस्य आवश्यकत्वं च ज्ञापयितुम् आहुः स्वाध्याय...इत्यादि. तथाच यथा 'दर्शा'दिपदैः समुदायैक्यज्ञापनम् एवं 'स्वाध्याय'पदेन तन्माहात्म्यज्ञापनम्. तस्मिन् ज्ञाते फलं भवति न अन्यथेत्यतः योगादरः आवश्यकः इति अर्थः. यत् पुनः सायणीये ''स्वस्य असाधारणत्वेन पितृपितामहादिपरम्पराप्राप्ता शाखा स्वाध्यायः'' (तै.आ.सा.भा.२।१०) इति योगान्तरम् उक्तं, तत्रापि श्रुतिस्मृत्याद्युक्तानाम् अध्ययननियमानां वेदार्थादि-सन्देह-निरासस्य च आवश्यकत्वाद् उक्तो योगो निर्बाधइति स योग इदानीन्तनानां मन्दबुद्धिनां तावता सङ्कोचेनापि फलाप्तये फलति इति बोध्यम्।।६-१०।।

(ख)

एवं तादृशाध्ययनस्य माणवकाधिकारत्वं निवार्य अध्ययनविध्यभावे माणवकस्य अध्ययनार्था प्रवृत्तिः न स्याद् इति शङ्कां वारयितुं द्वितीयवाक्यस्थं विशेषं स्फुटीकुर्वन्ति द्वाभ्यां —

ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै द्वितीयं वाक्यमीर्यते।।११।।
वसुरुद्रादित्यवर्षैः त्रयो वर्णाः क्रमाद् द्विजाः।
अध्याप्या इति तस्यापि नियोगः श्रुतिचोदितः।।१२।।
पराधीनतया बाले न विधिः श्रुतिचोदितः।

ज्ञातृ...इत्यादि, **ज्ञातुः** आचार्यस्य **ज्ञापनतासिद्ध्यै**, नन्द्यादित्वाद् 'ल्युः'(द्रष्टव्यं : पाणि.सू.३।१।१३४) वैदिकशब्दादि-ज्ञापकत्वसिद्ध्यर्थम् ''अष्टवर्ष...''-वाक्यम् ईर्यते. तच्च न ब्राह्मणमात्रपरं किन्तु अग्रे राजन्यवैश्ययोरपि उपनयनस्य तत्तद्वर्षे कथनात् तादृशस्मृतेः च त्रयोऽपि वर्णाः द्विजत्वाद्

अध्याप्या-इति एतदर्थं **तस्य** आचार्यस्यापि **नियोग:** अध्यापनात्मके कार्ये प्रवर्तनरूपः, **श्रुतिचोदित:** "सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः" (पाणि.सू.१।३।३६) इत्यनेन आचार्यकरणे विहितस्य आत्मनेपदस्य श्रुत्या 'अध्यापयीत' इति 'लिङ्'श्रुत्या च चोदितः. अतः स्वस्य आचार्यत्वाय ज्ञात्रा ते अध्याप्याः. अतो माणवकाध्ययनम् अध्यापनविधिप्रयुक्तमिति न माणवकस्य अध्ययने प्रवृत्तिविघातः इति अर्थः. अत्र 'नियोग' पदोक्त्या प्राभाकरमतस्य अस्मिन् स्थले साधुत्वं बोधितम्. ननु किम् अनेन निर्बन्धेन, अध्ययनविधिनैव माणवकप्रवृत्तौ किं बाधकम्? अतः आहुः पराधीन...इत्यादि. यतः तत्र तथा अङ्गीकारे विधिव्यापारः कुण्ठो भवति इत्यतो न आद्रियते इति अर्थः. एवं द्वितीयवाक्यगतो विशेषो विशदीकृतः ॥११-१२॥

(ग)

एवम् अध्यापनविधिना माणवकस्य अध्ययनप्रवृत्तौ साधितायामपि गुरुमुखाद् अक्षरग्रहणमात्रम् आयास्यति, "उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः" (या.स्मृ.२।३३) इति याज्ञवल्क्योक्तात् तल्लक्षणात्, नतु अध्ययनस्य अर्थज्ञानपर्यन्तत्वम्. तथासति अनर्थकः 'स्वाध्याय' पदयोगादरः इति आकाङ्क्षायां तृतीयवाक्यगतं विशेषं व्याकुर्वन्ति प्रमाणोपन्यासपुरःसराभ्यां सार्धाभ्याम्—

तथाध्यापनसिद्ध्यर्थं तृतीयं वाक्यमीर्यते ॥१३॥
साङ्गेऽधीते तथा ज्ञाते स्वाध्यायस्तस्य सिध्यति।
अध्यापनप्रयुक्तं हि प्रथमं 'लिङ्'प्रयोगतः ॥१४॥
आत्मनेपदतः स्वस्य स्यातां वृत्तिश्च सेत्स्यति।
(१)"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥"(म.स्मृ.२।१४०)
(२)"आचार्यवान् पुरुषो वेद:"(छा.उ.६।१४।२)
(३)"आचार्यं मां विजानीयात्"(भा.११।१७।२७)
(४)"गच्छेदाचार्यसंसदि"(   )
स्वातन्त्र्ये वयसा जाते तस्यावश्यकमीर्यते ॥१५॥

तथा इत्यादि, साङ्गस्य वेदस्य अर्थज्ञापनपूर्वकाध्यापनसिद्ध्यर्थं तृतीयं

वाक्यम् ईर्यते, यतः स्वयं गुरुणा **साङ्गे अधीते ज्ञाते** वेदे **तथा** तेन प्रकारेण स्वाध्यायः सम्यक् प्रकारकम् आसमन्ताद् अध्ययनं **तस्य** शिष्यस्य सिध्यति, हि यतो हेतोः, **प्रथमम्** अध्ययनम् **अध्यापनप्रयुक्तं** विध्यर्थक 'लिङ्'**प्रयोगतः** साधितं तस्मात्. नच अस्य वाक्यस्य कथम् अध्यापनार्थत्वम् ? इति शङ्क्यम्, अध्यापनवाक्ये 'उपनयीत' इति **आत्मनेपदतः** स्वस्य अध्यापकस्य साङ्गाध्ययनज्ञाने **स्यातां**, ञितो धातोः कर्तृगामिन्येव क्रियाफले आत्मनेपदाऽनुशासनात्, तस्यच अत्र 'आचार्यकरण'रूपार्थत्वात्, तस्य च "उपनीय तु यः" (म.स्मृ.२।१४०) इति स्मृत्युक्तलक्षणकत्वात्.

(१)लक्षणवाक्येच अध्याप्यस्य "सकल्पं सरहस्यं" (म.स्मृ.२।१४०) इति विशेषणबलेन तादृशाध्ययनस्य पूर्वं प्राप्तेः अध्ययनार्थज्ञाने भवतः. **वृत्तिः** जीवननिर्वाहः, **च** ततएव, **सेत्स्यति** अंतः [१]एतत् त्रयम् **आत्मनेपदात्** लभ्यते.

(२)किञ्च "आचार्यवान्" (छा.उ.६।१४।२) इति श्रुत्या आचार्यवतो ब्रह्मज्ञानम् उक्तं तदपि अध्यापनद्वारकमेव, गुरोः ज्ञाने तेन च ज्ञापनएव तद्दर्शनात्.

(३)किञ्च पुराणेऽपि "द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः" (भाग.११।१७।२२) इत्यादिना उपनीतम् उपक्रम्य, "आचार्यं मां विजानीयाद्" (भाग.११।१७।२७) इति तस्य आचार्ये भगवद्बुद्धिकरणं विधत्ते.

(४)स्मृत्यन्तरेच आचार्यसभायां गमनम्.

तद् उभयमपि तस्य अवश्यकृत्यम्, अन्यथा विद्यायाः असिद्धेः. तच्च वयसा **स्वातन्त्र्ये जात**एव भवति नतु आहत्य बाल्ये, क्रीडनासक्तत्वात्. तस्मात् श्रुतिचोदितो अध्ययनज्ञानयोः विधिः न माणवकाधिकारकः किन्तु अध्यापनविधिप्रयुक्तमेव तद् उभयं बालस्य. तदेवच **स्वातन्त्र्ये तस्य आवश्यकं**

---

[१] "अतएव तद्द्येयम्" इति ते.गो.पाठशोधनिका.

तदैव वेदस्य स्वाध्यायत्वसिद्धिरिति एवं तस्य विशेषस्य प्रयोजनत्वम् इति अर्थः.

एवञ्च याज्ञवल्क्यवाक्येऽपि[1] सरहस्यस्य साङ्गस्य वेदस्य [2]दानम् अङ्गीकर्तव्यमिति अविरोधः ॥१३-१५॥

(भाट्टमतविमर्शः)

एवं वाक्यत्रयगतं विशेषं व्याख्याय भाट्टमतम् अस्मिन् विषये आहुः —

मर्यादाभङ्गतः केचित् कृत्ये विध्यर्थतां जगुः ।
शब्दार्थमनपेक्ष्यैव निर्णयं च स्वबुद्धितः ॥१६॥
अध्यापनप्रयुक्तं हि तस्मादध्यापनं मतम् ।
एतर्ह्यपि तथैवैतत् न कार्या कल्पना ततः ॥१७॥

मर्यादा...इत्यादि. **केचिद्** भाट्टाः **कृत्ये** 'अध्येतव्यः' इत्यादौ प्रत्यये **विध्यर्थतां जगुः**, "प्रैषातिसर्ग[3]प्राप्तकालेषु कृत्याश्च" (पाणि. सू.३।३।१६३)इति सूत्रेण तेषां विधौ विधानाद् उक्तवन्तः, पूर्वोक्तरूपं **शब्दार्थम् अनपेक्ष्य** अविवक्षितत्वेन अभिसन्धाय **स्वबुद्धितः निर्णयं च** उक्तवन्तः. तत्र हेतुः **मर्यादाभङ्गतः** इति, यदिहि अध्ययने विधिः न अङ्गीक्रियेत तदाहि —" अग्निहोत्रादिषु अधीतवेदानां त्रैवर्णिकानामेव अधिकारो न अनधीतवेदानां शूद्राणाम्" इति नियमात्मिका मर्यादा भज्येत. असति अध्ययनविधौ विद्वांसम् अधिकृत्य प्रवर्तमानानि अग्निहोत्रादिशास्त्राणि विद्यां विना अनुष्ठानासम्भवाद् विद्याम् आक्षिपन्ति अविशेषात् चतुरोऽपि वर्णान् अधिकुर्युः. सतिच अध्ययनविधौ "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत" (आप.ध.सू.१।१-।२०) इत्यादिवाक्येषु द्वितीयानिर्देशाद् उपनयनसंस्कृताः त्रैवर्णिकाः "किम् अस्माभिः कर्तव्यम्?" इति अपेक्षन्ते; तत्संनिधौ च अनिर्दिष्टकर्तृकम् अध्ययनं कर्तारम् अपेक्षत-इति अपेक्षासंनिधियोग्यत्वैः

१.'याज्ञवल्क्येपि' इति मो.ते.गो. पाठः २.'ज्ञानम्' इति ते.गो.पाठयोः शोधिनिका ३.'प्रैषानुवाद'इति पौरुषोत्तमो मुद्रितः पाठः

एवं ज्ञायते यत् त्रैवर्णिकैः उपनीतैः अध्ययनेन अक्षरग्रहणपरम्परया अर्थज्ञानं कर्तव्यम् इति.

एवम् उपनयनाध्ययनविध्योः एकवाक्यत्वे त्रैवर्णिकानां यज्ञाद्यधिकारार्थो अयं[1] नियमविधिः.

एतेन *"विमतं वेदाध्ययनं अर्थज्ञानहेतुः, अध्ययनत्वात्, भारताध्ययनवद्" इति अनुमानेन अर्थज्ञानस्य प्राप्तत्वात् तदर्थं न अपूर्वविधिः. अनारभ्याधीतत्वात् श्रुत्याद्यभावात् च न क्रत्वर्थं नियमविधिः, अतो अदृष्टार्थमेव स्वाध्यायाध्यनविधिरिति अक्षरमात्रग्रहणं कृत्वां समावर्तितव्यं; नतु अर्थज्ञानाय गुरुगृहे स्थित्वा "वेदमधीत्य स्नायाद्" (द्र.:म.स्मृ.३।१-४) इति स्मृतिः बाधनीया इति* पूर्वपक्षोऽपि निरस्तो, दृष्टस्य फलस्य लाभे अदृष्टकल्पनायाः अनुचितत्वात्.

नच *अध्ययने विधेः कल्पने तत्र नियोज्यकल्पनापत्तिः, अध्यापनविधिना तत्प्राप्त्यङ्गीकारेतु उपनीतस्य अध्यापने अधिकारात्, ततएव अध्ययनप्राप्तेः न तत्कल्पनमिति लाघवम् इति* वाच्यम्, 'उपनयति'कर्मत्वेन विवक्षिते माणवके 'ब्राह्मणम्' इत्यादिकया द्वितीयया प्राधान्यबोधनाद् उपनयनस्य माणवकसंस्कारतया [2]प्रधानकर्मत्वाभावेन अध्यापनार्थतायाः अयुक्तत्वाद् अध्ययनार्थतैव अन्तरङ्गत्वाद् वक्तव्या. तथा सति अध्ययनविधौ उपनीतस्य विश्वजिदादिवत् नियोज्यत्वकल्पनम् आवश्यकमिति गुरुभूतस्यापि तस्य प्रामाणिकत्वेन अदुष्टत्वाद्, अध्ययनविध्यानर्थक्यस्य च उक्तनियमेनैव वारितत्वात्.

अतो अध्ययने विध्यनङ्गीकारे उपनयनविधौ (१)अदृष्टकल्पना (२)संनिधिवैयर्थ्यम् (३)अधिकारिनियमभङ्गः च इति दोषत्रयम्. तत्र तदङ्गीकारेतु—(१)उपनयनस्य फलं दृष्टम् अध्ययनं (२)तस्यच अर्थज्ञानं (३)तस्यापि अनुष्ठानम्—इति न क्वापि अदृष्टकल्पना नापि संनिधिवैयर्थ्यम् नापि अधिकारिनियमभङ्ग-इति विध्यर्थएव कृत्यः इति अर्थः.

एवं तन्मतम् अनूद्य तस्य शैथिल्यं बोधयन्ति **अध्यापन...**इत्यादि. **हि** यतो हेतोः अध्ययनं **अध्यापनप्रयुक्तं तस्माद् अध्यापनमेव**

---

१. "'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति अयं नियमविधिः"इति ते. पाठे पादटिप्पणी.

२. "'प्रधानकर्म क्रियाकर्मभावना' इति पाठः"इति ते. शोधनम्.

पूर्वोक्तदोषनिवारकं गुणजनकं च **मतम्**. "अध्ययनं मतम्" इति पाठेतु—यस्मात् केचित् शब्दार्थम् अनपेक्ष्य तथा जगुः, तस्माद् हि निश्चयेन **अध्ययनम् अध्यापनप्रयुक्तं मतम्**—इति 'यत्'-'तदोः' नित्यसम्बन्धेन 'यस्माद्' इति अध्याहृत्य योजनीयम्. **एतर्हि** इदानीम् अपि तथैव अध्ययनम्. **ततो** दृष्टानुरोधाद् उक्तरीत्या कल्पनं न कार्यम्.

अयम् अर्थः. यद् उक्तं—"त्रैवर्णिकाः कर्तव्यम् अपेक्षन्ते, अध्ययनं च कर्तारम् अपेक्षत-इति अस्ति परस्पराकाङ्क्षा"—इति, तत् तथैव. परन्तु एतद् विचारणीयं: किम् अध्ययनं विद्वत्तायोग्यं कर्तारम् अपेक्षते तदयोग्यं वा? इति. न अन्त्यः, तादृशे फलानिष्पत्तेः. आद्यः चेत्, तदा "माणवकं न अपेक्षते" इत्येव वक्तव्यं, फलोपधायिकायाः योग्यतायाः तत्र अभावात्. नच त्रैवर्णिकाधिकार-नियम-व्याहतिः, "अष्टवर्ष..."- वाक्ये उपनयनाध्यापनयोः संनिधानाद्; अध्ययनं विना च अध्यापनासिद्धेः, तदाक्षिप्तेनैव अध्ययनेन उक्ताधिकार-नियम-सिद्धेः. अतो अध्ययने पुनः विधिकल्पनं व्यर्थम्. नच अध्ययनवाक्यवैयर्थ्यं, वेदस्य स्वाध्यायत्वाय तदावश्यकताबोधनेन अर्थवत्त्वाद् इति उक्तम्. नच आवश्यकार्थे अनुशासनाभावः शङ्क्यः, "आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः" (पाणि.सू.३।३।१७०) इत्येतदनन्तरं पठितेन "कृत्याश्च" (पाणि.सू.३।३।१७१) इति सूत्रेण तत्र अनुशासनात्. नच *अध्यापननियोगे [1]नियोज्याभावाद् अध्यापनसमभिव्याहृतेन 'उपनयीत' इति आत्मनेपदेन आचार्यकरणलाभे तत्कामिना नियोज्याकाङ्क्षा पूरणीया, तथा सति अध्यापनस्य आचार्यत्वसिद्धिरेव प्रयोजनं नतु अर्थज्ञापनम्. ततश्च सिद्धे आचार्यत्वे तस्य अर्थज्ञापनावश्यकत्वाभावात् माणवकस्य अविद्वत्तायां यज्ञाद्यनधिकारतादवस्थ्यम् इति* वाच्यम्, आचार्यलक्षणस्मृतिस्थस्य 'सरहस्यम्' इत्यादिविशेषणस्य बलेन आचार्यत्वशरीरएव अर्थज्ञापनस्य प्रविष्टतया तस्य ज्ञापनावश्यकत्वे शिष्यस्य सुखेन विद्वत्त्वसम्भवात्.

नच सकृद् उच्चारितस्य 'लिङ्'प्रत्ययस्य विध्यर्थत्वम् अर्थज्ञापनार्थत्वं च इति साध्यद्वयापत्त्या वैरूप्यम् इति शङ्क्यम्, अर्थज्ञापनस्य आचार्यत्वरूपाद् अर्थादेवं प्राप्त्या विधेः तादर्थ्यस्य अकल्पनात्. नच—एवं

---

[1] "'विधिनियोज्यस्याध्यापकस्याभावाद्' इत्यर्थः"इति ते.पाठे पादटिप्पणी.

वैरूप्याभावेऽपि अध्यापनाक्षिप्तम् अध्ययनं किम् अर्थज्ञानार्थम् उत आचार्यत्वार्थम्? आद्ये अध्ययनस्य स्वाध्यायसंस्कारत्वाद् गुणकर्मत्वं द्वितीयेतु नियोगार्थत्वात् प्रधानकर्मत्वम् इति वैरूप्यापत्तिः इति–वाच्यं, व्यक्तिभेदेन अदोषाद्, आद्यस्य प्रधानकर्मतायाः अनन्तराणां गुणकर्मतायाः सुखेन वक्तुं शक्यत्वात्.

ननु *"अष्टवर्ष..."-वाक्योक्ते विधिद्वये नियोज्यानुक्तावपि, 'उपनयीत' इत्यस्य समभिव्याहाराद्, आचार्यत्वकामिनएव उभयत्रापि नियोज्यता उच्यते. कर्मतातु आद्ये त्रैवर्णिकमाणवकस्य — द्वितीयेतु तस्यैव उपनयनसंस्कृतस्य इति एतावान् विशेषः. प्रतीयतेच उपनयनाध्यापनयोः उभयोरपि माणवकप्राधान्यबोधिकया द्वितीयया[१] माणवकसंस्कारत्वाद् गुणकर्मत्वं, नियोज्यविचारेतु उभयोरपि आचार्यत्वसिद्ध्यर्थत्वात् प्रधानकर्मत्वमिति * वैरूप्यन्तु दुर्वारम् इति चेत्, न, द्वितीयायाः प्राधान्यबोधकत्वस्य अनियतत्वाद् "विप्राय गां ददाति" इत्यादौ व्यभिचारात्. अतो न द्वितीयया संस्कारकर्मत्वनिश्चयः किन्तु उपनयनस्य संस्कारेषु स्मरणात् संस्कारकर्मत्वं, तस्य च माणवकसमवेतत्वेन अन्तरङ्गत्वाद् अध्ययनाङ्गत्वेऽपि 'तम्' इति द्वितीयान्तेन संस्कारविशिष्ट-माणवकपरामर्शात्, तस्य च "वत्समालभेत" (तै.सं.२।१।४।७) इत्यत्र वत्सस्य आलभनाङ्गत्ववद् अध्यापनाङ्गत्वे सिद्धे, तद्विशेषणस्य उपनयनस्यापि परम्परया अध्यापनाङ्गत्वं निर्बाधम्. तथापि न साक्षाद् आचार्यताहेतुत्वं तावन्मात्रेण तदसम्भवात्. अतः आत्मनेपदेनापि परम्परया अङ्गता बोध्यते नतु साक्षाद् अङ्गता. अध्यापनस्यतु साक्षादेव आचार्यताहेतुत्वं, तद्विना तदभावात्. अतः तस्य प्रधानकर्मत्वमिति साक्षात्परम्पराविभागे न कोऽपि वैरूप्यलेशः. एवञ्च आत्मनेपदस्य विशेषविधानमपि सार्थकं भवति, उपनयनफलस्य अध्ययनस्य कर्त्रगामित्वात्. उपनयनस्य [२]आचार्यताहेतुत्वेतु ञित्वादेव 'नयतेः' आत्मनेपदसिद्धेः विशेषविधानवैयर्थ्यमेव स्यात्. नच *"अग्नीनादधीत"[३] ( ) इत्यत्र यथा आधानफलस्य आहवनीयत्वादेः अग्निसमवेत

---

[१] "माणवकसंस्कारे हेतुः"इति ते. पादटिप्पणी. [२] 'हेतुत्वेन'इति ते. पादटिप्पणी. [३] "अग्नीऽआदधीत"इति पाठान्तरेण (श.ब्रा.२।१।३।४).

त्वेऽपि न तादर्थ्यम् इति आत्मनेपदबलाद् अध्यवसीयते, तथा अत्रापि उपनयनफलस्य संस्कारस्य माणवकसमवेतत्वेऽपि न तादर्थ्यम् अपितु आचार्यार्थत्वमेवेति विशेषविधानवैयर्थ्यम् * आशङ्कनीयं, साक्षाद् आचार्यार्थत्वाभावस्य उक्तत्वात् परम्परया तादर्थस्य च अप्रयोजकत्वात्. विधिद्वयसमभिव्याहारेण तादर्थ्यपरम्परायाः अध्यापनाङ्गतायामेव पर्यवसानात्. परम्परयापि न अध्यापनाङ्गत्वम् इति न वक्तुं शक्यं, 'तम्' इत्येतेन पूर्वपरामर्शस्य विरोधापत्तेः. एतेनैव *यथा "त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुम् उपाकरोति" (आप.श्रौ.सू.१२।१८।१२) इति यूपपरिव्याणं यूपार्थं नतु उपाकरणार्थं; तथा 'उपनीय'-इति स्मृत्युक्तम् उपनयनं माणवकसंस्कारार्थं नतु अध्यापनार्थम् इति * अपि प्रत्युक्तं, 'तम्' इति श्रौतेन पदेन प्रमितायाः परम्पराङ्गतायाः दृष्टान्तमात्रेण बाधितुम् अशक्यत्वात्.

यत्तु—उपनीतव्यापारापेक्षायाम् उपनयनं प्रक्रम्य विहितस्य अध्ययनस्य अध्यापनोपकारकत्वे तच्छेषत्वाद् अर्थज्ञानार्थता न स्यात्, साध्यद्वयस्य एकत्र असम्भवाद् इति—उक्तं, तदपि शिथिलम्, एकस्मिन्नेव भोजने प्रतिकवलं तुष्टि-पुष्टि-क्षुदपायानां दर्शनाद्; एकेनैव वाहनकरणकेन गमनेन सुखविशेषस्य उद्देश्येदेशप्राप्तेः च दर्शनाद् इति. यदपि *अध्यापनस्य अध्ययनम् अन्तरेण असम्भवात् पदार्थस्वभावाक्षिप्तम् अध्ययनं लौकिकमेव अङ्गीकार्यं, तावतापि अध्यापनसम्भवाद्, विहितस्यापि ततएव अङ्गीकारेतु ततो न अपूर्वं सिध्येद्, उद्देशाभावाद् इति * उक्तं, तदपि तथा, लौकिकस्य तस्य अङ्गीकारे आचार्यत्वासिद्धेः, वेदाध्यापनेनैव तत्स्मरणात्. नच अपूर्वासिद्ध्यापत्तिः, आचार्यकृतोद्देशेनापि तत्सम्भवाद् जातेष्टौ पितृकृतोद्देशवदिति.

किञ्च, "वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं[1] वेदाध्ययनसामान्याद् अधुनाध्ययनं यथा" (श्लो.वा. : वाक्याधि.३६६) इति आधुनिकाध्ययनं दृष्टान्तयद्भिः अध्ययनस्य अध्यापनप्रयुक्तत्वेऽपि स दृष्टान्तः अङ्गीकार्यः. तस्माद् अध्ययने अधिकारनियमस्य अध्यापनविधिनैव सिद्धेः कृत्ये विध्यर्थत्वकल्पनं वृथैव, उक्तप्रकारं विना तावन्मात्रेण वेदस्य स्वाध्यायत्वासिद्ध्या ततः फलासिद्धेः इति॥१६-१७॥

---

[1] "गुर्वध्यापन..." इति ते.-गो. पाठः, मो. पाठस्तु 'गुर्वध्ययनपूर्वकम्' इत्येव.

(वेदार्थस्वरूपविचारः)

एवं प्रकारबोधनपूर्वकं मतान्तरनिराकरणेन वेदस्य यथा स्वाध्यायत्वसिद्धिः तत् साधितम्. तन्मध्ये शब्दार्थानुष्ठानेषु शङ्काराहित्यं प्रविष्टं, तत्र शब्दे तद्राहित्यस्य गुरुपरम्परया सिद्धेः पदार्थे अनुष्टाने च तद्राहित्यस्यापि अङ्गविचारादिभिरेव सिद्धेः वाक्यार्थे सन्देहो अवतिष्ठते तद् आहुः —

तत्र संशयमापन्ना बुद्धिर्वाक्यार्थनिर्णये।
एकवाक्यत्वसन्देहाद् ऐकार्थ्याभावतः स्फुटम्॥१८॥

तत्र इत्यादि. ऐकार्थ्याभावतः इति, यागदानादिरूपाणां नानार्थानां तत्र नानाफलानां च प्रतिपादनेन तथात्वात्॥१८॥

तथा सति को दोषः इति आकाङ्क्षायां सार्धेन तन्निराकृतेः आवश्यकत्वाय आहुः —

स एकोऽर्थोऽत्र वक्तव्यो यच्छरीरप्रवेशतः।
एकार्थतां श्रुतिर्याति तदभावे तु निष्फला॥१९॥
कुण्ठितैव भवेन्नूनं वेदाध्ययनबोधने।

सः इत्यादि. तथाच तदभावे वेदाध्ययन-बोधक-वाक्यत्रय-वैयर्थ्यमेव दोषइति तदभावाय वेदस्य ऐकार्थ्यम् अवश्यमेव विचारणीयं; तत् च अङ्गैः न सिध्यति इति अर्थः॥१९॥

तर्हि तत्र का गतिः! इति आकाङ्क्षायां मीमांसैव गतिः इति आहुः वेदोऽखिलो इत्यादि द्वाभ्यां —

“वेदोऽखिलो धर्ममूलं”, “धर्मो यस्यां मदात्मकः”॥२०॥
एवं पूर्वर्षिभिः प्रोक्तं जैमिनिः प्रथमं स्वयम्।

निश्चित्य लोकशिक्षार्थम् अर्थप्राधान्यतस्तथा ॥२१॥
धर्मं विचारयामास प्रामाण्यादिपुरस्सरम् ।

अत्र प्रथमं वाक्यं मानवं (म.स्मृ.२।६) द्वितीयम् एकादशस्कन्धीयं भागवतम् (भाग.११।१४।३). तत् सर्वं पूर्वप्रोक्तं जैमिनिः प्रथमं स्वयं **निश्चित्य** पश्चात् **लोकशिक्षार्थम् अर्थप्राधान्यम्** अङ्गीकृत्य **प्रामाण्यादिपुरस्सरं** को धर्मः, कथं तस्य धर्मत्वं, कथं च वेदस्य तत्प्रमितिजनकत्वं, कथं च वेदस्य निर्दुष्टत्वं येन प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तदुक्तमेव आदर्तव्यम् इत्यादिसर्वविचारपूर्वकं **धर्ममेव तथा** सर्ववेदार्थत्वेन **विचारयामास** इति अर्थः ॥२१-२२॥

तर्हि किम् अवशिष्टं येन अयम् उद्यमः इत्यतः आहुः —

सन्देहस्तु पुनर्जातो वेदान्तेषु यथा पुरा ॥२२॥
एकवाक्यत्वमेषां हि धर्मकाण्डे कथं भवेत् ।

सन्देहस्तु पुनः इत्यादि. **यथा पुरा** इति ऐकार्थ्याभावतः. **हि** निश्चयेन. ब्रह्मबोधकानाम् **एषां** वेदान्तानां **धर्मकाण्डे एकवाक्यत्वं कथं भवेद्** इति तदर्थम् अयम् उद्यमः इति अर्थः ॥२२॥

कथम् ऐकार्थ्याभावः! इति आकाङ्क्षायां सन्देहबीजं व्युत्पादयन्ति **धर्मः** इत्यादिना सपादेन —

धर्मः पञ्चविधो द्वेधा षड्भिः सम्पद्यते तु सः ॥२३॥
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-विभेदतः ।
सर्वो वेदस्तेषु लीनो.................॥

अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य पशु सोम भेदेन **धर्मो** यज्ञात्मकः **पञ्चविधः**. सएव प्रकृतिविकृति-भेदेन **द्विधा**. देशादीनि षट् तत्साधनानि इति तैः **षड्भिः सम्पद्यते** इति सिध्यति, अतः, **सर्वो वेदः** पूर्वकाण्डरूपः **तेषु** सर्वेषु **लीनो** धर्मं धर्मसाधनानि च बोधयन् ऐकार्थ्यं प्राप्य समाप्तः, निराकाङ्क्षताम् आपन्नो, वेदान्तान् न संगृह्णाति इत्येतत् सन्देहबीजम् इति अर्थः ॥२३॥

(वेदवेदान्तयोः भाट्टैकदेश्यभिप्रेतायाः एकवाक्यतायाः प्रकारः)

ननु यथा एकार्थत्वम् एकवाक्यतानियामकं तथा विभागे-साकाङ्क्षत्वमपि नियामकान्तरम्. तथा भट्टकारिकापि–“स्वार्थबोधे समाप्तानाम् अङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया. वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते” (तं.वा.१।४।२८) इति, तद् अभिप्रेत्य मतान्तरम् आहुः **वेदान्तेषु** इत्यादि सपादेन—

................वेदान्तेषु विचार्यते।।२४।।
“यदेव विद्यये” त्याह “ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ” एव च।
तज्ज्ञानं तेषु हि प्रोक्तं कर्तृशेषास्ततस्तु ते।।२५।।

विचार्यते इति पूर्वमीमांसकैः विचार्यते. आह इति, “यदेव विद्यया करोति तत्तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवति” (छा.उ.१।१।१०) इति, “ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीते” (आप.श्रौ.सू. ३।१८।१) इति क्रमेण वेदान्तश्रुतिः कल्पश्रुतिः च आहः. तथाच वेदान्तार्थस्य ज्ञानस्य अङ्गीभूतकर्मापेक्षा; वेदार्थस्य धर्मस्य च अङ्गभूतज्ञानापेक्षा, अतः तादृशज्ञानवत्कृतत्वेन तेषां **कर्तृशेषत्वाद्** अस्त्येव एकवाक्यता.

किञ्च “इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या. दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन” (श्लो.वा.१।१।५।१४८) इति भट्टः प्रकारान्तरमपि एकवाक्यतायाम् आहेति कुतः सन्देहः आपाद्यते इति अर्थः।।२४-२५।।

(तद्दूषणम्)

एतम् एकवाक्यताप्रकारं दूषयन्ति **ज्ञाननिष्ठाय** इत्यादिभिः सार्धैः त्रिभिः—

“ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानी” ति यथा तथा।

फलश्रुत्या पूर्वकाण्डसमाप्त्या चावगम्यते ॥२६॥
"ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति", "परं वाप्नोति" कुत्रचिद्।
"वेदमनूच्य आचार्य" इत्युक्तोपनिषद्वचः ॥२७॥
शास्त्रान्तरेऽप्येवमेव वैदिकानां मतं तथा।
अतः स्वतन्त्रता वाच्या तथा चेन्नैकवाक्यता ॥२८॥
"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इत्यादिश्च विरुद्ध्यते।

इदं वाक्यं सप्तम [भाग.७।१५।२] स्कन्धीयम्. तत्र यथा पितृणां तृप्त्यानन्त्याय ज्ञाननिष्ठाय कव्यदानम् उक्तं, तावता न ज्ञानस्य श्राद्धशेपत्वं[१] * सिध्यति, दानफलानन्त्येन कर्त्रनुग्रहार्थं सम्प्रदानतायाः अनुमतिमात्रत्वात्. अन्यथा "ज्ञाननिष्ठः कव्यानि भुञ्जीत" इत्येव विदध्यात्. एवं ब्रह्मिष्ठवाक्येऽपि अनुमतिरेव क्रियते, ब्रह्मदृष्ट्या कर्मवैपम्यनिवृत्त्या तदनुग्रहार्थम्. वस्तुतस्तु तत्र 'ब्रह्म'शब्दः वेदपरइति न तेन वेदान्तस्य कर्तृशेपत्वसिद्धिः; नापि "यदेव..." (छा.उ.१।१।१०) इति श्रुत्या तस्याः उद्गीथप्रकरणावरुद्धत्वेन विद्यान्तरासङ्ग्राहकत्वात् उद्गीथविद्यायाः कर्माङ्गत्वेऽपि अक्षतेः. अतो अनुमतस्य प्रासङ्गिकत्वेन ग्रामं गच्छतः तृणस्पर्शवद् भिक्षां चरतः तस्य कव्याशनस्य प्रासङ्गिकत्वात् न तेन शेपत्वसिद्धिः. भट्टकारिकोक्तप्रकारस्तु भाष्यप्रकाशे दूषितइति न अत्र दूष्यते. तथाच * पारार्थ्यमेव जैमिनीये मते शेपलक्षणं तत् च श्रुत्यादिभिः अवगम्यते. तथा सति "कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वाद्" (जै.सू.३।१।४) इति सूत्रे कर्मणः फलशेपत्वं पूर्वकाण्डे प्रतिपाद्यतइति न तस्य ज्ञानशेपत्वम्. तथा ज्ञानस्यापि फलशेपत्वम् उत्तरकाण्डे प्रतिपाद्यते, "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु.उ.३।२।९) इति, "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै.उ.२।१।१) इति. अन्येऽपि देशकालादयो ये

---

१. जूनागढ़पाठे इतः आरभ्य–"इति अवगम्यते. उपकारमात्रेण शेपतायाः असम्भवात्. गर्भदासोपरि कोणिस्वामिनि तस्य लक्षणस्य व्यभिचारात्. तथा ज्ञानस्य धर्मशेषत्वमपि न इति फलश्रुति-पूर्वकाण्डसमाप्तिभ्याम् अवगम्यते यतः पारार्थ्यमेव जेमिनीये मते..." इत्येतावती भिन्नैव फक्किका उपलभ्यते. मो.ते.गो.पाठेषु स्थितः *...* चिह्नांकितो भागश्च नोपलभ्यते.

उच्यन्ते “विविक्तदेशे च सुखासनस्थः” (कैव.उ.५) इत्यादौ तेपि तत्साधनभूताइति सर्वे वेदान्ताः, ज्ञानमेव सफलं बोधयन्तो निराकाङ्क्षताम् आपद्यमानाः, न शेषित्वेन कर्म अपेक्षन्ते; नापि वेदो ज्ञानं शेषत्वेन अपेक्षते. ‘ब्रह्म’ शब्दस्य शब्दब्रह्मण्यपि वृत्तेः ‘ब्रह्मिष्ठ’शब्देनापि वेदार्थनिष्णातस्य ग्रहीतुं शक्यत्वात्. तस्मात् न कर्तृशेषत्वं; नापि विविक्तात्मस्वरूपबोधकत्वेन, वैराग्यापत्त्या कर्मानधिकारापादकत्वात्. देहविशिष्टस्तु न तत्र बोध्यतइति कथमपि वेदान्तानां न वेदशेषता.

किञ्च “वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति” (तै.उ.१।११।१) इति शिक्षोपनिषदि तैत्तिरीयाणां श्रूयते. तत्रच ‘अनूच्य’ इति वेदपाठनसमाप्तिबोधनादपि शेषत्वं न युक्तम् इति अर्थः. किञ्च शास्त्रान्तरेऽपि एवमेव फलभेदेन समाप्तिभेदेन च शास्त्रभेदो अवगम्यते. **तथा वैदिकानामपि** एवमेव भेदो अवान्तरकाण्डानां मतः. **अतो** भेदकानां बहूनां सत्त्वात्; संहर्तुः हेतोः च अभावात्, **स्वतन्त्रता** उपनिषदां **वाच्या** — भिन्नशास्त्रत्वमेव आस्थेयम्. **तथा चेद्** युक्तिभिः प्रमाणैः च तथा निश्चितं चेत्, तदा **न एकवाक्यता** घटते. अतः तदुक्तः प्रकारो न युक्तः इति अर्थः.

किञ्च शास्त्रभेदानङ्गीकारे पूर्वोक्तस्मृतिविरोधोऽपि इति आहुः **वेदः** इत्यादि. अत्र स्मृतौ ‘अखिल’पदाद्; धर्मस्य च क्रियारूपत्वाद्, ज्ञानप्रतिपादकवेदान्तसङ्ग्रहे तस्य बाधाद्, द्वितीयवाक्ये ‘धर्म’पदाच्च विरुद्ध्यते इति अर्थः।। ।।२६-२८।।

अत्र पुनः मतान्तरम् उपक्षिप्य दूषयन्ति —

वैदिकानामभिध्यानं स्वरादिनियमैर्युतम्।।२९।।
वेदाएव नचान्यार्था वाच्या बुद्धिमता क्वचित्।

अतो वेदान्तवाक्यान्याप्रसिद्धिः. वैदिकानामपि तथैव प्रसिद्धेः इति चेद्. एवं लोकसिद्धस्य जगतो लोकप्रतीतिं बाधित्वा ब्रह्मत्वेन अलौकिकत्वं सम्पाद्यतइति अर्धजरतीयन्यायात् तदन्तत्वम्.

वैदिक...इत्यादि. यतो वैदिकाः स्वरपूर्वकम् अनध्यायादि-त्यागनियम-पूर्वकं वेदान्तान् पठन्ति पाठयन्ति चेति **वैदिकानां** वेदान्तेषु 'वेद' इति **अभिध्यानं, स्वरादिनियमैः युतं** वर्तते, अतो वेदाएव. क्वचित् वेदान्तभागे **अन्यार्थाः** धर्मव्यतिरिक्तब्रह्मार्थाः, **बुद्धिमता नच वाच्याः** नैव वाच्याः. अतः इदं मतम् अप्रयोजकम्. तत्र हेतुः अतः इत्यादि. **अतो** 'वेदः'इति प्रसिद्धेः सकाशाद्, **वेदान्तवाक्यानाम् अन्याप्रसिद्धेः**. शिष्टाः हि वेदान्तवाक्यानि उपन्यस्य "इति श्रुतेः"—"इति श्रावणाद्" इत्येव वदन्ति. यदिहि वेदान्तवाक्यानि अन्यार्थानि स्युः तदा 'वेदः'इति प्रसिद्धिं न लभेयुः, 'वेदः'इति प्रसिद्धेः धर्मार्थतामूलकत्वात्. अतो वैदिकाभिध्यानात् वेदान्तेषु यदि वेदत्वम् अङ्गीकार्यं, तदा अन्यार्थता त्याज्या. यदि अन्यार्थता अङ्गीक्रियते, तदा वैदिकाभिध्यानं न आदर्तव्यं, शास्त्रभेदस्य श्रुतिस्मृतिरूप-प्रबलप्रमाण-प्रमित्वाद्; अभिधानस्य च सदाचारे प्रवेशेन ततो नैर्बल्यात्. पूर्वोत्तर-वाक्यद्वय-संहर्तुः अर्थैक्यस्य अभावे 'वेदः' इति प्रसिद्धिमात्रेण तयोः एकवाक्यतायाः असिद्धेः इति अर्थः.

ननु सत्यम् अभिध्यानस्य श्रुत्याद्यपेक्षया निर्बलत्वं तथापि अनादिप्रसिद्धिबीजं तु वक्तव्यम् इति आशयेन पर्यनुयुङ्क्ते **वैदिकानाम्** इत्यादि, वैदिकानामपि **तथैव** 'वेदः'इतिवत् 'वेदान्तः'इत्येव प्रसिद्धिः. तथाच वेदान्तेषु वेदत्वानङ्गीकारे प्रसिद्धिवैयर्थ्यम् आपद्यमानं तस्य बलिष्ठत्वं कल्पयिष्यति, "आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलाबलम्"[1] इति न्यायात्, "वैतानं प्रक्षिपेदप्सु [आवसथ्यं चतुष्पथे पात्राणि तु दहेदग्नौ साग्निके पापकर्मणि]" (भवि.पुरा.) इति स्मृत्या "आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति [यज्ञपात्रैश्च]" (द्र. : मी.को. : पृ.१०२१) इति श्रुतिबाधदर्शनात् च. अतो वैदिकप्रसिद्ध्या अपौरुषेयशब्दत्वेन च वेदान्तेषु वेदत्वम् अवश्यं वक्तव्यम्. ततश्च मीमांसकोक्तरीत्या एकवाक्यत्वाभावेऽपि "तमेतं वेदानुवचनेन" (बृ.उ.४।४।२२) इति वेदान्तश्रुत्या वेदान्तानामेव वेदापेक्षा वक्तव्या. तथा सति अपेक्षया सिद्धे एकवाक्यत्वे "वेदस्य अन्तो यत्र" इति योगेन वेदोत्तरभागत्वाद् 'वेदान्तः' इति प्रसिद्धिरपि सेत्स्यतीति, न कश्चिद् दोषः

---

[1] "आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतम्" इति प्रसिद्धपाठः. द्र. : लौ.न्या.सा.७४४.

इति चेत्.

[1]एवं पर्यनुयोगे 'वेदान्तः' इति प्रसिद्धिम् अन्यथा वक्तुं प्रकारान्तरं प्रतिजानन्ति— **एवम्** इत्यादि, वक्ष्यमाणप्रकारेण इति अर्थः. तम् आहुः **लोक...** इत्यादि [2] तथाच यथा **लोकसिद्धस्य** व्रीह्यादेः **लोकप्रतीतिं** बाधयित्वा प्रोक्षणादिना **अलौकिकत्वं सम्पाद्यते;** तथा वेदान्तेषु उक्तरीत्या **जगतो ब्रह्मत्वं सम्पाद्यते.** साधनन्तु प्रोक्षणवत् तदर्थं न उच्यते **इति** अतः **अर्धजरतीयन्यायात्, तथेति[!]** एतेन प्रकारेण प्रसिद्धिः सम्भवतीति 'वेदान्तः' इति प्रसिद्धेः प्रकारान्तरेण सम्भवे ताम् आदाय श्रुतिस्मृतिविरुद्धो अन्यार्थताङ्गीकारः न युक्तः. 'तमेतं...' (बृ.उ.४।४।२२) इति वाक्ये यज्ञादीनां विविदिषापर्यन्तत्वश्रावणेन विविदिषामात्रस्य च ब्रह्मज्ञानजनकत्वाभावेन तयापि संनहनस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् एकवाक्यता दुर्घटा इति अर्थः॥२९॥

एवं प्रसिद्धिप्रकारम् अनुपपन्नं मन्यमानः पुनः शङ्कते—

ननु लोकनिपुणाः कथं मन्यन्ते? "शब्दार्थविचारेण-" इति ब्रूमः. कथम्? शब्दानाम् अर्थे विचार्यमाणे ब्रह्मैव सर्वं भवति. 'घटपटा'दिशब्दाः धर्मवाचकाएव भवितुम् अर्हन्ति. घटत्वादिविशिष्टवाचकाःहि एते इति लोकप्रसिद्धिः. घटत्वम् इति घटगतो धर्मः कश्चिद्, यत्सद्भावाद् 'घट'पदवाच्यता धर्मिणः. "तस्य भावः त्वतलौ" (पाणि.सू.५।१।११९) इति त्वो भावप्रत्ययः. 'भावः' इति 'भू'धातोः घञि रूपम्. 'भू'धातुः सत्तायां व्याप्तौ वा. उभयथापि व्यापकस्य सतो वा धर्मवाचको भवति. 'घञ्' च स्वार्थे, अन्यथा अनवस्था स्यात्. तथाच घटत्वं नाम सतः व्यापकस्य वा

---

[1] इह जूनागढ़पाठे भिन्नैव उत्थानिका— "तत्र बीजं वक्तुं प्रकारप्रतिज्ञां कुर्वन्ति एवमिति" इति. [2] इह जूनागढ़पाठे—"न्यायस्तु अग्रे व्युत्पाद्यः. तथाच एतेन प्रकारेण प्रसिद्धिः सम्भवति इति अर्थः. एतं प्रसिद्धिप्रकारम् असङ्गतं मन्वानः पर्यनुयुङ्क्ते ननु इत्यादि. लोकनिपुणा इति." इत्येतावानंशो भिन्नः उपलभ्यते.

> **धर्मः इति उक्तं भवति. एवं पटत्वादिष्वपि. तथाच प्रकृत्यर्थः सन् व्यापको वा यदा भवति तदैव प्रत्ययार्थेन सह एकवाक्यता भवति.**

ननु लोक... इत्यादि, मीमांसका: नैयाय[यि!]काद्याः च ते प्रतीतिबाधितं कथम् अङ्गीकरिष्यन्ति? तथाच परप्रतिपत्त्यर्थो हि अयं यत्नः सतु तदनङ्गीकाराद् व्यर्थः इति अर्थः.

तत्र तादृग् अनुकूलमेव उत्तरम् आहुः **शब्द...** इत्यादि, तथाच आप्तवाक्यप्रामाण्यस्य तैः सर्वैरेव उपगमात् तदर्थविचारेण उपगन्तव्यम्. अतो न यत्नवैयर्थ्यम्.

पुनः पृच्छति **कथम्** इत्यादि. तत्र उत्तरं व्युत्पादयन्तः आहुः **घट...** इत्यादि. अत्र **धर्मवाचकाः** इति घटाद्यवच्छेदको नित्यो यो धर्मः तद्वाचकाः इति आकृत्यधिकरण(जै.सू.१।३।१०।३०-३५)सिद्धः मीमांसकसिद्धान्तः **लोकप्रसिद्धिः** इति नैयाय[यि!]कादीनां प्रसिद्धिः. एवं तत्तन्मतीयः शब्दार्थः उक्तः. एवं मतद्वयेऽपि धर्मस्यैव मुख्यतया तत्तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वम् इति आहुः **घटत्वम्** इत्यादि. अतः परं तद्विचारेण सर्वस्य ब्रह्मत्वप्रकारं व्युत्पादयन्ति **तस्य** इत्यादि **एकवाक्यता भवति** इत्यन्तम्. **घञ् च स्वार्थे** इति विधीयमानो यो भावः तस्मिन्नेव नतु भावान्तरे; **अन्यथा अनवस्था स्याद्** इति, यदि भावान्तरे अङ्गीक्रियते तदा, 'त्व'शब्दो भावे, 'भाव'शब्दः च 'घञा' निष्पन्नो भावान्तरे, 'घञ्'(पाणि.सू.३।३।११-१८)सूत्रस्थो 'भाव'शब्दः च भावान्तर-इति एवम् अनवस्था स्यात्. यदिच तत्र अगत्या स्वार्थे अङ्गीक्रियते तदा प्रथमएव तथा अस्तु. आत्माश्रयस्तु न आशङ्कनीयः पूर्वपक्षवादेऽपि तौल्यात्, व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् च. तदेतत् प्रागेव उक्तं **लोके शब्दार्थसम्बन्धः** इति कारिकया. एवं स्वार्थे अङ्गीकाराद् यत् सिध्यति, तद् आहुः **तथाच** इत्यादि, अत्र **तदैव** इति **'एव'**कारेण पदार्थानां सद्भिन्नत्वाङ्गीकारे 'त्वतला'दिप्रत्ययोक्तः [1]'सद्धर्मो, अन्यधर्मत्वाद् यथा घटत्वं न पटावच्छेदकं,

---

[1] मो.-मुं.वि.- जूना.-पाठानुसारेण, ते.-गो.पाठस्तु "स धर्मः" इति.

तथा घटाद्यवच्छेदको न स्यात्; ततश्च व्यवहारः सर्वोऽपि प्रतिरुद्ध्येत इति बोध्यते. अतः पदप्रवृत्तिनिवृत्ति-निमित्तानुरोधेन सर्वेषां 'व्यापक'/'सत्' पदार्थाभिन्नत्वम् अवश्यम् अङ्गीकार्यम्. ततश्च शब्दार्थविचारेण सर्वं ब्रह्मैव भवति इति अर्थः.

अत्र पुनः पर्यनुयुङ्क्ते —

> **ततश्च सर्वेषाम् एकार्थता स्याद्! अतः आकृतिविशेषव्यङ्ग्याः धर्माः ते भिन्नाएव, शक्तिसङ्कोचेन, व्यवहारसिद्ध्यर्थं अङ्गीकर्तव्याः. तथाच 'घटा'दिशब्दाः 'अरुणा'दिशब्दवद् धर्मवाचकाः. नच स्वरूपतः सतो भिन्नाः प्रत्यक्षतः स्वीकर्तव्याः इति वाच्यं, कारणीभूतस्य सतः एकत्वात् कार्ये कुतो भेदः समायाति!**

ततः इत्यादि, तथाच यदि 'त्व'-'तला'द्युक्ताः भावाः सद्धर्माइति सर्वं सदेव, तदा **सर्वेषां** पदानां 'घट'-'कलशा'दिपदवद् **एकार्थतायां** व्यवहारप्रतिरोधः तुल्यइति व्यर्थः सर्वः प्रयासः इति अर्थः.

अत्र समादधते **अतः** इत्यादि. **अतः** पदप्रवृत्ति-निमित्तभूत-धर्मस्वरूपानुरोधेन सर्वेषां सद्धर्मवाचकतायाः लोकयात्रानिर्वाहाय व्यवहारसिद्धेः च आवश्यकत्वाद्, **आकृतिविशेषव्यङ्ग्याः** कम्बुग्रीवाद्यातानवितानादि-सास्नादिमदाकृति-विशेषप्रकाश्याः, सतो **धर्माः ते** घट-पट-गवाद्याः **भिन्नाः** सतः सकाशाद् व्युच्चरणेन विलक्षणप्रतीतिविषयाः [1]**एव शक्तिसङ्कोचेन** "अयं शब्दः एतदाकारकमेव सद्धर्मं बोधयतु न अन्याकारकम्" इति एवम्प्रकारेण ईश्वरकृतेन वाचकशक्तेः नियमनेन, **व्यवहारसिद्ध्यर्थम् अङ्गीकर्तव्याः. तथाच "'घटा'दिशब्दाः 'अरुणा'दिशब्दवद् धर्मवाचकाः"** इति अङ्गीकारे सर्वेषां ब्रह्मत्वस्य ऐकार्थ्येऽपि

---

[1] ते.-गो.पाठस्तु 'एवम्' इति. वस्तुतस्तु मूलपत्रावलम्बनप्रतीकोऽयम्.

व्यवहाराप्रतिरोधस्य च सिद्धेः न प्रयासवैयर्थ्यम् इति अर्थः.

ननु शब्दः प्रत्यक्षं च इति उभयमपि प्रमाणं, तयोः शब्दापेक्षया प्रत्यक्षमेव प्रबलं, शब्दोपजीव्यत्वात् सर्वसम्मतत्वात् च. अतः **प्रत्यक्षतः प्रतीयमानं स्वरूपतो** भेदेन सत्त्वं भेदं च न्यक्कृत्य शब्दार्थविचारेण सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वसाधनम् अप्रयोजकम् इति आशङ्कायां तत् निषेधन्ति **नच** इत्यादि. तत्र हेतुः **कारणी...** इत्यादि.

अयम् अर्थः—सत्यं प्रत्यक्षं प्रबलं तथापि न अस्य प्रामाण्यं सार्वत्रिकं, देहात्मनोः भेदेऽपि अभेदस्य, घटाकाश-मठाकाशयोः अभेदेऽपि भेदस्य, प्रत्यायनात्. अतः तन्निश्चयार्थं प्रमाणान्तरम् आश्रयणीयम्. तत्र—"प्रत्यक्षविषयाः अर्थाः पृथक् सन्तः सतो भिन्नाः, भिन्नकारणकत्वात्, घटपटस्तम्भादिवद्" इतितु न युक्तम्, "एते सदभिन्नाः, सदेककारणकत्वात्, सौवर्णकटककुण्डलादिवद्" इति प्रतिसाधनेन बाधात्. कारणताग्राहकस्य सदन्वयस्य अत्र अनुकूलतर्कत्वेन अस्य प्रबलत्वात्. नच सतो नानात्वं, मानाभावात्. नच एवं 'सत्ता'ख्यजातिमत्त्वस्यैव सिद्धिः न सत्कारणकत्वस्य इति वाच्यं, सत्तायाः जातित्वाभावात्, सामान्यादिष्वपि वर्तमानत्वात्. नच सा प्रतीतिः भ्रमः इति वाच्यं, नियामकाभावात्. तस्याः जातित्वाभिमानस्यैव अभ्युपगमैकशरणत्वेन भ्रमत्वस्य युक्तत्वात्. अतः सद्धर्मएव सत्ता. सा चेत् सर्वत्र, तदा "सर्वं सदेव"–इति उपपादनम् अन्तरेणैव सिद्धम्. वस्तुतस्तु सत्तायां सत्तान्तराभावात्, "सदेव सत्ता"–इति, तद्योगादेव सर्वत्र 'सद्' इति प्रत्ययः; सदेव च कारणम्, असतः कारणत्वायोगात्. **अतः कारणीभूतस्य सतः, एकत्वात्,** तस्मिन् भेदाभावे **कार्ये कुतो भेदः समायाति!** कारणगुणानामेव कार्यगुणारम्भकत्वाद् इति.

एवं सर्वस्य सदभेदे साधितेऽपि भेदं विना भिन्नार्थक्रियाकारित्वासम्भवात् तदुपपादनाय कारणएव कुतश्चन भेदो अभ्युपेयः इति आशयेन आह—

मृदः इव अंशभेदाद्, इति चेद्, अस्तु! तर्हि
अंशेन भेदो अस्ति! कः सन्देहः? कार्यकारणयोः
भेदः! इति चेत् न! "कार्ये, समवेतत्वात्, कारणमपि

अस्ति'' इति मन्तव्यं – तथाच कार्ये द्विगुणगुरुत्वापत्तिः.

नवा भेदः प्रतीयते — ''पिण्डावस्था गता घटावस्था जाता'' इत्येव प्रतीतिः. तथाच सतोऽपि अंशेन धर्मभेदएव जगद् जातमिति सद् एकमेव.

नच अंशांशिनोः भेदः सिध्यति , पूर्ववदेव द्विगुणभारापत्तेः.

मृदः इव इत्यादि. तत्र इष्टम् अभ्युपगच्छन्ति **अस्तु** इति. ततः प्रत्यवतिष्ठते **तर्हि** इत्यादि. **अंशेन भेदः** इति अंशेन कृतो भेदः. तथाच कार्यस्य कारणीयांशजन्यत्वाद् अंशांशिनोः भेदे अभ्युपगते **कार्यकारणयोः भेदोऽपि** अर्थादेव सिद्धइति भेददूषणं व्यर्थमेव इति अर्थः. तत् निषेधन्ति **न** इत्यादि. **तथाच** इति, कारणगुणानां कार्यगुणारम्भकत्वात् तथाच तदभावात् न भेदः इति अर्थः. ननु अयं न नियमो यत् — कारणगुणैः सर्वैरेव कार्ये गुणाः आरम्भणीयाः — इति, अतः कारणगुरुत्वस्य गुरुत्वान्तरानारम्भकत्वात् न कार्ये द्विगुणं गुरुत्वम्, अतः तदभावो न अभेदसाधकः इत्यतः आहुः **नवा** इत्यादि **एकमेव** इत्यन्तम्. **तथाच** इति, प्रतीतेः प्रामाण्याङ्गीकारेऽपि. **तथाच** इति, प्रतीतिबलादपि. तथाच सज्जगतोः धर्मभेदकृतैव भेदप्रतीतिः न स्वरूपभेदकृता; अतः प्रतीतिबलेनापि विचारे **सद् एकमेव** इति अर्थः.

ननु अंशानां भेदस्य उपगतत्वात् कुतो न स्वरूपभेदकृता ? इत्यतः आहुः **नच** इत्यादि. तथाच **अंशांशिनोः** स्वरूपभेदे सति तयोः गुरुत्वस्य भिन्नत्वाद् — अंशे अंशिनो अंशिनि च अंशस्य प्रत्ययेन सत्वाद् — गुरुत्वारम्भाभावेऽपि स्वरूपगुरुत्वादेव **द्विगुणभारापत्तिः**. अतः तयोरपि न स्वरूपभेदाद् भेदः किन्तु अल्पत्व/महत्वादि-धर्मभेदादेव भेद-इति, तदुभयमपि स्वरूपतः एकमेव इति अर्थः. अतएव सुवर्णजिघृक्षुः तच्छकलमपि गृह्णाति इति युज्यते.

(तत्र भास्करीयभेदाभेदवादस्य विमर्शः)

एवं स्वरूपतः सर्वस्य सदात्मकत्वे साधितेऽपि अंशानां परस्परं

भेददर्शनिन पुनः प्रत्यवस्थानाभावाय भेदस्वरूपं निश्चेतुं विकल्पयन्ति—

> **अंशानाम् इव परस्परं भेदो नाम नानात्वं चेत्?**
> **ओम्! इति केचित्, ''बहुस्याम्...'' (छा.उ.६।२।३) इति श्रुतेः.**
>
> **वस्तुतस्तु ''पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'' (ई.उ. - बृ.उ. : - शान्तिपाठः) इति श्रुतेः न अंशेन नानात्वम्. कार्यावस्थायां व्यापकत्वस्य तिरोभावएव.**

अंशानाम् इत्यादि. केचिद् इति भास्कराचार्याः.

ततोऽपि कञ्चिद् विशेषम् आहुः वस्तुतः इत्यादि उदच्यते इति उद्गच्छति. '' 'अञ्चु' गतिपूजनयोः(धा.पा. : भ्वा.ग.१८८)–'अचु' इति एके'' इति धातुपाठात्. तथाच अत्र श्रुतौ उद्गमनेपि पूर्णत्वश्रावणात् न अंशेन कृतं नानात्वं किन्तु ''बहु स्याम्'' (छा.उ.६।२।३) इति इच्छया कार्यावस्थायां व्यापकत्वे तिरोभाविते नानात्वम् उद्गतं भवति, भगवतः सर्वत्र सर्वरूपत्वात्. अन्यथा असत्कार्यवादापत्तेः. तद्दूषणन्तु विद्वन्मण्डनटीकायाम् आविर्भावतिरोभाववादे प्रपञ्चितं मयेति न अत्र उच्यते. तस्मात् न आगन्तुकं नानात्वं किन्तु एकत्वाविरोधि, तच्च इच्छया प्रकटीभवतीति न स्वरूपैकत्वबाधकम्. नच युक्तिविरोधाद् अयुक्तत्वं शङ्क्यं, तद्विरोधस्य अत्र भूषणत्वात्, ''तदेजति तन्नैजति'' (ई.उ.५) ''आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः'' (क.उ.२।२१) इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्, ''नहि विरोध उभयं भगवति'' (भाग.६।९।३६) इत्यादिस्मृतिसिद्धात्वात् च. तस्माद् एकत्वाविरोधि श्रौतं नानात्वं न भेदः इति अर्थः.

(तत्र अन्योन्याभावात्मको भेदः इति पक्षस्य निरासः)

''तर्हि अन्योन्याभावएव भेदो अस्तु!''इति विकल्पम् अनुवदन्ति—

> **अथ अन्योन्याभावः. सच ''प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद''-लक्षणः. तथाच ''घटत्वं पटत्वं च एकत्र नास्ति'' इति उक्तं भवति.**

न एतत् सारं, सति द्रव्ये पार्थिवे च, द्वयोः विद्यमानत्वात्. सर्वगुणप्रसिद्ध्यै तथा प्रकटस्य धर्मवैलक्षण्यनिबन्धना प्रतीतिः. श्रुतिस्मृतिविद्वत्प्रतीत्या वस्तुनः एकत्वे सिद्धे प्रतीतिः तन्निबन्धनैव.

अथ इत्यादि. [1]☆इदं प्राचां लक्षणं, नव्यास्तु– “तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको अभावः” इति आहुः. तत्र तादात्म्यं यदि भेदसहिष्णुः अभेदः तदा घटादिषु तादृशाभेदसम्बन्धस्य अभावाद् लक्षणे असम्भवदोषः; तथा भेदस्य तत्र प्रवेशेन ज्ञप्तौ आत्माश्रयदोषः च. अतः “सच असौ आत्मा तदात्मा, तस्य भावः तादात्म्यम्” इत्येव वाच्यं, तथा सति स्वरूपसम्बन्धाद् अनतिरेकः. ततश्च प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवादएव पर्यवस्यतीति तथा उक्तम्.

एवं तद् अनूद्य☆ तद्[!] दूषयन्ति **न एतत् सारम्** इत्यादि. **द्वयोः** इति विरुद्धयोः धर्मयोः. नच *घटस्वरूपं पटस्वरूपं न भवतीति “स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाववत्त्वम्”-एव तल्लक्षणम् अस्तु इति* वाच्यं, सर्वस्य सद्रूपत्वेन सदात्मकत्वेन च तत्सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगितायाः वक्तुम् अशक्यतया तल्लक्षणकस्य तत्स्वरूपस्यैव असिद्धेः. नच अभावएव सद्भिन्नः इति वाच्यं, तथा सति “घटाभावोऽस्ति”- “घटभेदोऽस्ति” इत्यादि प्रतीतिबाधापत्तेः. नच व्यवहारे तस्याः भ्रमत्वं शङ्क्यं, व्यावहारिकदोषाजन्यत्वात्. तर्हि कुतः इयं भेदप्रतीतिः ? इति आकाङ्क्षायां तद्धेतुम् आहुः **सर्व...** इत्यादि. **तथा प्रकटस्य** इति, तेन-तेन रूपेण प्रकटस्य. ननु धर्मवैलक्षण्यनिबन्धनैव इयं प्रतीतिः न अन्योन्याभावनिबन्धना इत्यत्र किं गमकम् अतः आहुः **श्रुति...** इत्यादि, “सदेव सोम्येदम्” (छा.उ.६।२।१) “सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः” (छा.उ.६।८।४) “पुरुष एवेदं सर्वम्” (ऋक्.सं.१०।९०।२, श्वेता.उ.३।१५) इत्यादिश्रुत्या, “भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च, नद्यः समुद्राश्च सएव विष्णुर्यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य!” (वि.पु.२।१२।३८) “विश्वं वै ब्रह्म

---

[1] इतः आरभ्य ☆...☆ चिह्नांकितो भागो जूनागढ़पाठे नोपलभ्यते.

तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया'' (भाग.३।१०।१२) इत्यादिस्मृत्या, वामदेव-शुकादीनां सर्वत्र एकरूपत्वप्रतीत्या च, वस्तुनः एकत्वे सिद्धे, या अन्येषाम् अभ्रान्ता भेदप्रतीतिः सा धर्मवैलक्षण्यनिबन्धनैव. श्रुत्यादौ वस्त्वैक्यस्य वैलक्षण्यस्य च बोधनात् तदेव नियामकम् इति अर्थः.

अत्र पुनः शङ्कते—

तर्हि धर्माः स्वतो धर्मिणः च भिन्नाः इति सिद्धम्!
न एतदपि अस्ति, तस्यैव प्रथमं धर्मरूपेण
आविर्भावात्—नटस्य इव नानारूपेण प्रकटस्य रूपद्वये
भेदप्रतीतिवत्—...न अब्रह्मैव अर्थः प्रतीयते.
अतः कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम्॥३०॥

तर्हि इत्यादि. सिद्धम् इति, तैरेव प्रमाणैः सिद्धम्. तथाच वृथैव अयं भेददूषणाडम्बरः इति अर्थः.

तद् दूषयन्ति न एतद् इत्यादि, ''सोऽकामयत...स तपोऽतप्यत'' (तै.उ.३।२।६) इत्याद्युक्तं स्वबहुभवनस्य उक्तत्वात् स्वयमेव धर्मरूपेण आविर्भवतीति धर्माः न धर्मिणः सकाशाद् भिन्नाः; नापि स्वतो भिन्नाः, [१]☆स्वरूपैकस्य उपपादितत्वात्. किन्तु भगवतएव तथा प्राकट्येन परस्परविलक्षणत्वाद् नटरूपवद् भिन्नाः☆ प्रतीयन्ते. अतो न भेददूषणं व्यर्थम् इति अर्थः.

अत्र यद्यपि एतावतैव निर्वाहो भवति, तथापि उपसंहारे ''मायावादो निराकृतः''(पत्रा.कारि.: ३४) इति कथनाद् अत्रच 'प्रथम'पदाद् इतो अग्रे एतावती त्रुटिरिति प्रतिभाति—

''प्रथमं धर्मरूपेण आविर्भावाद्'' इति उक्ते प्राथम्यस्य कालकृतत्वात् तेन भेदम् आपादयेत्. ततः तन्निरासाय ''सदेव सौम्येदमग्र आसीद्'' (छा.उ.६।२।१) इत्यत्र उक्तस्य कालस्य बोधनार्थत्वप्रतिपादनेन भिन्नतानिराक

---

१. इतः आरभ्य ☆... ☆ चिह्नांकितो भागो जूनागढ़पाठे नोपलभ्यते.

रणं, तत्प्रसङ्गेन ‘एक’पदस्य मुख्यार्थतानिराकरणम्. ततः “अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्, आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपम् द्वयं मायिकमुच्यते” (सि.ले.सं.२।१।७) इति मतं जगतो अब्रह्मत्वाय उपक्षिप्य, तयोः मायिकत्वनिराकरणम् इति.

एवं भेदवादे मायावादे च निराकृते तदग्रे अयं ग्रन्थः **न अब्रह्मैव अर्थः प्रतीयते** इति. एवं प्रपञ्चस्य ब्रह्मभिन्नत्वे मायिकत्वे च निराकृते सति अब्रह्मैव अर्थः प्रतीयते इति न.

तथाच लोकनिपुणाः मायावादिनः च एवं मानयितुं शक्याः. अतो अर्धजरतीयन्यायाद् वैदिकानां वेदान्तत्वप्रसिद्धिः नतु भवदुक्तप्रकारकाद् एकवाक्यत्वाद् इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. यतो भवदुक्तरीत्या वेदवेदान्तयोः एकवाक्यतायाः वक्तुम् अशक्यतया वेदान्तेषु वेदत्वस्य असिद्धत्वाद् जैमिनिकृता **धर्मजिज्ञासा** वेदान्तान् असङ्गृह्णाना तदंशे **ध्रुवं** निश्चयेन **कुण्ठितैव भवेत्**, स्वाध्यायाध्ययनविधिना तदध्ययनस्य अप्राप्तेः. ततश्च वैदिकाभिध्यानेन कृतमपि तेषां वेदत्वसमर्थनं वृथैव इति अर्थः।।३०।।

ननु वेदान्तानाम् अनारभ्याधीतत्वाद् तदुक्ताः आत्मज्ञानादयो धर्माः गार्ह्यस्मार्ताः इवेति स्मृतिपादे स्मृतिविचारेणैव तेऽपि विचारिताएवेति न धर्मजिज्ञासायाः कुण्ठितत्वम् इत्येवं समर्थने तदपि दूषयन्ति—

अनारभ्याधीतगार्ह्यस्मार्ता इव भवेद् यदि।
प्रक्रिया महतां वृत्तिः स्वातन्त्र्यं चात्र तेन न।।३१।।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं श्रेयः स्मार्तं न वैदिकम्।
पुरुषेक्षावशेनैते साध्यसाधनतां गताः।।३२।।
अलौकिको हि वेदार्थः प्रमाणान्तरगो नहि।
परमात्मविचारेण ते चत्वारो ह्यलौकिकाः।।३३।।
धर्मे ब्रह्मणि च प्रोक्ताः फलत्वेन तथैव ते।

अनारभ्य इत्यादि, वेदान्ताः अनारभ्याधीताः गार्ह्यस्मार्ताः इव यदि

भवेयुः, तदा **महतां** गृह्यकृतां स्मृतिकृतां च या **प्रक्रिया** प्रकारः वृत्तिः वर्तनं व्यवहारः सच्च तथा भवेत् तेषां **स्वातन्त्र्यं** वेदभिन्नत्वं च भवेत्. गृह्यकाराः यत्र धर्मान् विचारयन्ति तत्र “अथ कर्माण्याचारादीनि गृह्यन्ते” (आप.गृ.सू.१।१।१) “अथ गार्ह्याणि वक्ष्यामः” (   ) “अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म” (   ) इत्येवं प्रतिज्ञाय तत्तत्कर्मकालादिकं वदन्ति. स्मृतिकाराश्च यत्र वदन्ति तत्र महतीषु स्मृतिषु “अथातः सामयिकाचार्यकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः” (   ) “योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन्” (याज्ञ.स्मृ.१।१।१) “अथातो हिमशैलाग्रे देवदानवसंकुले[1] व्यासमेकाग्रमासीनम्” (   ) इत्येवं धर्मकथनं प्रतिज्ञाय स्थानविशेषे तत्तत्प्रश्नेन वदन्ति इति प्रकारो दृश्यते, ‘अमुकगृह्यसूत्रम्’-‘अमुकस्मृतिः’ इति कर्तृनामपूर्वको व्यवहारः च दृश्यते, तेषां वेदभिन्नत्वं च दृश्यते, तत् सर्वं वेदान्तेष्वपि भवेत्. येन तत् न वेदान्तेषु दृश्यते, तेन एते गार्ह्यस्मार्ताः इव न. तथाच स्मृतिविचारेण तद्विचारसिद्ध्यभावाद् जिज्ञासाकौण्ठ्यं दुर्वारमेव इति अर्थः. कासुचित् स्मृतिषु प्रकारादर्शनात्, “यद्वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम्” (तै.सं.२।२।१०।२) इति श्रुतावपि मन्वादरदर्शनात् च. प्रकारादिः अप्रयोजकः इति आशङ्कायां युक्त्यन्तरम् आहुः **धर्म...** इत्यादि. प्रकारादर्शनेऽपि क्वचिद् आदरेऽपि **स्मार्तं** धर्मादिकं **श्रेयो वैदिकं न.** तत्र हेतुः—‘जीवविचारितत्वम्’. यतः **एते** स्मार्ताः धर्मादयः **पुरुषेक्षावशेन** पुरुषाणां ऋषीणां स्मरणपूर्वक-विचारवशेन **साध्यसाधन**भावं प्राप्ताः, अतः प्रकाराभावेऽपि श्रुतौ क्वचिद् आदरेऽपि न सर्वे वैदिकाः. वेदान्तानान्तु अपौरुषेयत्वात् तदुक्तो **वेदार्थः** स [हि!]यतो हेतोः **अलौकिकः** अतो हेतोः **प्रमाणान्तरगो** योगादिप्रमाणगम्यो **न** . अतः तद्विचारस्य आवश्यकत्वेऽपि यस्मात् न विचारः तस्मात् सा तदंशे कुण्ठितैव इति अर्थः.

ननु फलंहि यज्ञैः वेदे प्रतिपाद्यते वेदान्तेषु तु यज्ञाप्रतिपादनात् फलाभावेन तेषां वेदोषरत्वम्. अतः किं तद्विचारेण इत्यतः तदविचारेऽपि न धर्मजिज्ञासायाः कुण्ठितत्वम्! अतः आहुः **परमात्म...** इत्यादि, **धर्मे**

---

[1] “देवदारुवनाश्रमे”इति पाठभेदेन,बृह.परा.संहि.१।२ .

ब्रह्मणि च इति धर्मकाण्डे ब्रह्मकाण्डे च ॥३१-३३॥

तत्र काण्डद्वयस्थाः श्रुतीः दर्शयन्ति—

(१)"विराजमभिसम्पद्यते" (तै.सं.७।१।१।१)
(२)"वसीयान् भवति"(तै.सं.३।१।७।४)
(३)"कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति"(तै.सं.६।१।६।६)
(४)"प्रजापतेरेव सायुज्यमुपैति"(श.ब्रा.१२।१।३।२).
(५)"न स पुनरावर्तते"(छा.उ.८।१५।१)
(६)"य एवं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति. प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन"(तै.उ.३।६) इत्यादि.

'विराजम्' इत्यादि. अत्र "विराजम्..."इत्यादयः पूर्वकाण्डस्थाः. "न स पुनरावर्तते" इति छान्दोग्योपनिषत्स्थम्. "य एवं वेद प्रतितिष्ठति" इति भृगूपनिषत्स्थम्. तथाच पूर्वकाण्डवद् उत्तरकाण्डेऽपि चतुर्णां फलानां श्रावणाद् ऊषरत्वम् असङ्गतम् इति मीमांसकमते धर्मजिज्ञासाकौण्ठ्यम् अपरिहार्यमेव इति अर्थः. एवम् अत्र जिज्ञासायाः कुण्ठितत्वसाधने धर्मो न सर्वस्य वेदस्य अर्थः किन्तु पूर्वकाण्डस्यैव अर्थः इति सिध्यति. तथा सति वेदान्तेषु वेदत्वम्[1] अपौरुषेयशब्दत्वाद् वा परमात्मवाक्यत्वाद् वा वक्तव्यं, तदापि एकार्थत्वाभावाद् विभागे साकाङ्क्षत्वाभावात् च तयोः एकवाक्यत्वाभावेन भिन्नशास्त्रत्वमेवेति कथं द्वयोः एकवाक्यत्वम् इति तान् प्रति आक्षेपः पर्यवस्यति. तत्र यदि "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते, एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता" इति सायणीये ऐतरेयब्राह्मण(ऐत.ब्रा.१।१)भाष्ये सम्मतित्वेन उपन्यस्तात् श्लोकात् प्रत्यक्षाद्य-गम्य-श्रेयःसाधनस्यैव सर्ववेदार्थत्वम् उपगम्यते, तदापि "अथातो अलौकिकोपायजिज्ञासा" इति अकथनाद् जिज्ञाज्ञायाः कुण्ठितत्वं दुर्वारमेव इति सिध्यति.

---

[1] वेदत्व पूर्वत्वम् इति गो. पाठः

(वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्ये वेदान्ताध्ययनं संन्यासे इति पक्षस्य विमर्शः)

तत्र व्यवहारे भट्टनयम् अङ्गीकुर्वन् मायावादी वा जैमिनिप्रणीत[?]सङ्कर्षणकाण्डाभिमानी वा कुण्ठतां समाधत्ते तद् अनुवदन्ति —

> **अथ वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्ये वेदान्ताध्ययनं च संन्यास–इति तद्विचारः पृथगेव.**
>
> **समाप्तिश्च श्रूयते शिक्षायां “वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति” (तै.उ.१।११।१) इत्यादिना. उपनिषद् अनन्तरं पठिता. आचार्यान्तरेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन पूर्वकाण्डाध्ययनमेव ब्रह्मचर्ये, न उत्तरकाण्डस्य. सौकर्यार्थमेव पाठान्तरम् इदानीम्. विचारस्तु पश्चादेवेति न एकवाक्यता. अतएव विचारोऽपि पृथगेव. “साङ्गोपनिषदः” (   ) इति पृथक् पुराणेषु निर्देशः इति.**
>
> **अथवा कुत्रापि आश्रमे विचारः अस्तु, न एकवाक्यता, न वेदत्वम् उपनिषदां — स्वरादिनियमः तदन्तानामपि आचारपरम्परया — वाक्येनतु उपयोगः “यदेव विद्यया करोति” (छा.उ.१।१।१०) इति. तथापि कथम् उपयोगः?**
>
> **इति चेद्, उच्यते — लौकिकेषु पदार्थेषु साङ्गो यज्ञो अध्यस्यते, वैदिके तत्र अर्थे वैदिकता सम्पद्यतइति; ब्रह्मवादेन सर्वस्यापि ब्रह्मत्वे अवगते ब्रह्मण्येव यज्ञः प्रतिष्ठितोऽपि भवति. अयज्ञकालेऽपि वैदिकत्वं सिध्यति. ननु वेदान्तत्वं कथम्?**

अथ इत्यादि. न अत्र वेदान्तार्थविचाराभावेन कुण्ठता, वेदाध्ययनस्य उपनयनानन्तरं अध्ययनादिविधिना प्राप्तत्वात्; तस्य च अर्थज्ञानार्थत्वाद्

अर्थज्ञानस्य च विचारमन्तरेण असम्भवात्. तत्र विचारः पूर्वकाण्डस्यैव अध्ययनादिविधिना आक्षिप्यतइति तदर्थस्य धर्मस्यैव अत्र जिज्ञासा प्रतिज्ञाता न वेदान्तार्थस्यापि. वेदान्ताध्ययनंतु तैत्तिरीये भार्गव्यां विद्यायां "भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति, तस्मा एतत्प्रोवाच" (तै.उ.३।१) इति, छान्दोग्ये "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि" (छा.उ.७।१।१) इति अध्यापनाध्ययनलिङ्गात् **संन्यास-इति,** पूर्वं तदधिकाराभावात् पश्चात् मुमुक्षुत्वादि-साधनचतुष्टय-सम्पत्तिरूपे वा; सङ्कर्षणकाण्डोक्ते अन्यस्मिन् वा, अधिकारे सम्पन्ने, तदर्थं व्यासेन जैमिनिना च **तद्विचारः पृथगेव** कृतः-इति विषयभेदात् न धर्मजिज्ञासायाः कुण्ठता; नापि पृथग्विचाराद् एकवाक्यत्वस्य वेदत्वस्य वा हानिः. "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण यज्ञेन तपसा श्रद्धयाऽनाशकेन" (बृ.उ.४।४।२२) इति वाक्येन वेदानां वेदान्तशेषतया एकवाक्यत्वस्य, वेदान्तेषु च मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वेन वा अपौरुषेयशब्दत्वेन वा परमात्मवाक्यत्वेन वा वेदत्वस्य च सत्त्वाद् इति अर्थः.

एवं मतान्तरेण प्रतिज्ञान्तरम् आलम्ब्य दोषे परिहृते तन्मतीयम् एकवाक्यत्वप्रकारं दूषयितुं पूर्वोक्तं स्मारयन्ति **समाप्तिश्च** इत्यादि. **अनन्तरं पठिता** इति, "एतदनुशासनम्..." उक्त्वा समाप्तौ "सैषा वेदोपनिषद्" (तै.उ.१।११।४) इति वाक्येन पठिता. तथाच यदि भवदुक्तरीत्या एकवाक्यत्वम् अभिप्रेतं स्याद्, वेदसमाप्तिम् अनन्तरभागस्य उपनिषत्त्वं च न वदेद्, अतो न तथा एकवाक्यत्वम् इति अर्थः.

ननु * शिक्षायां "वेदमनूच्य" (तै.उ.१।११।१) इति 'क्त्वा' प्रत्ययेन वेदाध्यापनोपनिषदध्यापनयोः एककर्तृकता वेदाध्यापनस्य पूर्वकालिकता च लभ्यते, 'क्त्वः' तत्रैव अनुशासनात्, नतु शास्त्रसमाप्तिरपि. अतो यत्र एकाचार्यकता, तत्र उपनिषदां पश्चात् पाठो अर्थप्राप्तो[1] अनूद्यत–इति न तयोः शास्त्रभेदकत्वम्, आचार्यान्तरेण तत्पाठने तदभावात्. अतः * कथम् एकवाक्यत्वाभावः? इत्यतः आहुः **आचार्यान्तरेऽपि** इत्यादि,

---

[1] १. 'अर्धप्राप्तो' इति गो. पाठः.

आचार्यान्तरे यद् अध्ययनम् आपाद्यते, तत् किं—

(१)ब्रह्मचर्ये उत (२)संन्यासे ?

(१)तत्र यदि आद्यः पक्षः, तदातु **गुणोपसंहारन्यायेन पूर्वकाण्डाध्ययनमेव ब्रह्मचर्ये**, ब्रह्मचर्ये विहितं यत्, पूर्वकाण्डाध्ययनं ब्रह्मचारिणः तदध्यापनं वा, तद्गुणभूतस्य आचार्यान्तरस्य समानविषयएव अध्ययने अध्यापने [च!] उपसंहारप्राप्तेः, ‘‘उपसंहारोऽर्थाभेदात्’’ (ब्र.सू.३।३।५) इति सूत्रे तथैव सिद्धत्वात्—**न उत्तरकाण्डस्य**, समानविषयत्वाभावात्. अतः आचार्यान्तरेऽपि तदध्ययनानन्तरं ‘‘वेदमधीत्य स्नायात्’’ (द्र. : म.स्मृ.३।२-४) इति समावर्तनस्य [१]प्राप्तेः न तस्य शास्त्रसमाप्तिबाधकत्वं नवा उपनिषदानन्तर्यबाधकत्वम्. अतः शास्त्रभेदो निराबाधः.

(२)अथ संन्यासे, तदातु तन्मते केवलज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वाङ्गीकाराद् ‘‘...विविदिषन्ति’’ (बृ.उ.४।४।२२) इति श्रुत्या विविदिषायामेव वेदोक्तसाधनानाम् उपक्षयाङ्गीकारेण ज्ञानशेषतायाअपि वेदेषु अभावात् न तथापि एकवाक्यत्वम्. इच्छायाः अपुरुषार्थत्वे वेदानां अपुरुषार्थपर्यवसायित्वं वेदप्रयोगाभावापत्तिः चेति अधिकं दोषद्वयम् इति अर्थः.

ननु यदि न एकवाक्यत्वं, तदा इदानीं कुतः एकस्माद् आचार्याद् आचार्यान्तराद् वा ब्रह्मचर्यएव पठन्ति, तदैव शिष्टाः पाठयन्ति च इत्यतः आहुः **सौकर्य...** इत्यादि. **पश्चादेव** इति साधनचतुष्टयसम्पत्त्यानन्तर्यादिः भवद्भिः अङ्गीकारात् तथा इति अर्थः. ननु तर्हि ‘‘विचारपश्चात्त्वम् अधिकारभेदकृतं न शास्त्रभेदकृतम्’’ इति यद् उक्तं, तदपि आद्रियताम् इत्यतः आहुः **अतएव** इत्यादि, **अतएव** इति शास्त्रभेदादेव. तत्र हेतुः ‘‘**साङ्ग...**’’ इत्यादि, तथाच स्वकल्पितयुक्त्यपेक्षया उपबृंहणसिद्धस्य बलिष्ठत्वाद् वाक्यभेदपक्षएव युक्त–इति तत् न आद्रियते इति अर्थः. ननु *तर्हि यन्मते ‘‘आश्रमान्तरेऽपि विचारः’’इति अङ्गीक्रियते, अलौकिकोपायवेदकत्वरूपं वेदत्वम् आदाय, तन्मतेन एकवाक्यत्वम् अस्तु! इति* चेत्, तत्र आहुः **अथवा** इत्यादि. **न वेदत्वम्** इत्यादि, तन्मतेऽपि तादृशं वेदत्वं उपनिषदां न. यदि तथा जैमिन्यभिप्रेतं

---

[१] ‘प्राप्तेन’ इति गो पाठः.

स्यात् तदा जैमिनिः पूर्वं धर्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय तदवान्तरविचारत्वेन ''अथातः शेषलक्षणम्'' (जै.सू.३।१।१) ''अथातः कृत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा'' (जै.सू.४।१।१) इति यथा मध्ये उक्तवान्; तथा पूर्वम् 'अथातोऽलौकिकोपाय-जिज्ञासा' इति प्रतिज्ञाय पश्चादेव तद्विशेषविचारत्वेन धर्मजिज्ञासाम् उपासनाजिज्ञासां च प्रतिजानीयात्. तथातु नास्तीति तादृशोपायविशेषावेदकत्वरूपं वेदत्वं तस्य न अभिप्रेतम् उपनिषदाम्. अतो न तद्रीत्यापि वेदैकवाक्यत्वं वेदान्तानाम् इति अर्थः.

एवं सर्वं तन्मतं दूषयित्वा वैदिकाभिध्यानाद् यत् तेन प्रत्यवस्थितं तस्य शैथिल्येन तदुत्तरस्य पूर्वम् अनुक्तत्वाद् इदानीं तत् स्मृत्वा कदाचित् पुनः प्रत्यवतिष्ठेद् इत्यतः तत्स्वरूपं आहुः **स्वरादि**...इत्यादि. **अपि** गर्हायां— ''मूर्खः प्रत्यवस्थाता!''इति. इदन्तु प्रागेव विवृतमिति न पुनः उच्यते. तथाच तस्य शैथिल्यात् न तेन प्रत्यवस्थानं युक्तम् इति अर्थः. ''यदेव...''(छा.उ.१।१।१०) इति वाक्योत्तरस्य पूर्वं सम्यगप्राप्तत्वात् तेन प्रत्यवतिष्ठासन्तं प्रति आहुः **वाक्येन** इत्यादि. अनेन **वाक्येनतु उपयोग**मात्रम् उच्यते, नतु शेषता नियन्तुं शक्यते. तथा सति फलश्रुति-काण्डासमाप्त्योः विरोधापत्तेः इतः प्रागेव उक्तमिति न तेनापि प्रत्यवस्थानावकाशः इति अर्थः. ननु श्राद्धे ज्ञानोपयोगः आनन्त्यार्थः ''ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता'' (भाग.७।१५।२) इति कथनात्; सोऽपि सम्प्रदानपुरुषद्वारा, अत्रतु वाक्ये कर्ममात्रपौष्कल्यं फलत्वेन उच्यते, तत्र द्वारं चेत् न वक्तुं शक्ष्यन्ति तदा पराजेष्यन्ति(!) इति आशयेन आह **तथापि** इत्यादि. तत्र उत्तरत्वेन सोपपत्तिकं प्रकारम् आहुः **उच्यते** इत्यादि. लौकिकैः पदार्थैः यज्ञो न सिध्यतीति गुणकर्मबोधकैः ''व्रीहीन् प्रोक्षति'' (आप.श्रौ.सू.१।१९।१) इत्यादिवाक्यैः **साङ्गो यज्ञो लौकिकेषु पदार्थेषु** आरोप्यते, **वैदिके** कर्मणि तदुपकरणभूतस्य पदार्थस्य मूर्तेः देवतासंनिधानेन देवतात्ववत् **वैदिकता सम्पपद्यते इति** एतदर्थम्. एतत् पूर्वकाण्डे सिद्धम्. उत्तरकाण्डे ''सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः'' (छा.उ.६।८।४) 'इदं सर्वं यदयमात्मा'' (बृ.उ.२।४।६)इत्यादिवाक्यश्रावितेन **ब्रह्मवादेन सर्वस्य** प्रपञ्चस्य प्रापञ्चिकस्य च **वस्तुनो ब्रह्मत्वे अवगते यज्ञो**ऽपि सद्रूपत्वाद् ब्रह्मात्मकएव भवति.

किञ्च यजमानस्य अपराभावाय प्रतिष्ठितोऽपि भवति. तद् उक्तं तैत्तिरीयसंहितायां ''वासिष्ठो ह सात्यहव्यो देवभागं पप्रच्छ यत् सृञ्जयान् बहुयाजिनोऽयीयजो यज्ञे यज्ञं प्रत्यतिष्ठिपा यज्ञपताविति स होवाच यज्ञपताविति सत्याद् वै सृञ्जयाः पराबभूवुरिति होवाच यज्ञे वाव यज्ञः प्रतिष्ठाप्य आसीद् यजमानस्यापराभावायेति'' (तै.सं.६।६।२।६) इति. किञ्च **अयज्ञकालेऽपि** पदार्थानां ब्रह्मात्मत्वावगतौ तेषां **वैदिकत्वं** सिध्यति. तथाच अत्र अपराभा(भ!)वादिफलार्थं ब्रह्मवादेन सर्वस्य ब्रह्मात्मावगतिः द्वारम् इति अर्थः. एवम् उत्तरदानेन वैदिके मते वेदान्तानां पूर्वोक्तार्धजरतीन्यायात् वेदान्तत्वं उपसंहृतं तेन काण्डद्वयस्यापि ''सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'' (क.उ.१।२।१५) '''ॐ' इत्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्'' (मा.उ.१) इत्यादि श्रुतिभिः, ''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'' (भ.गी.१५।१५) ''वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे, परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्'' (भाग.११।२१।३५) इत्यादिस्मृतिभिः च ब्रह्मविषयत्वेन, ''फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयोरोचनं परं श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्.'' (भाग.११।२१।२३) इत्यादिभिः मोक्षैकप्रयोजनत्वेनच एकवाक्यत्वम्, न अन्यथा. तत् चेत् न अङ्गीक्रियते, तदा कथमपि न एकवाक्यत्वमिति तन्मते उत्तरकाण्डस्य वेदान्तत्वं न कथमपि सिध्यतीति तान् पर्यनुयुञ्जते ननु वेदान्तत्वं कथम् इति. कर्ममीमांसक-मायावादिनोः मतम् आलम्ब्य मां पर्यनुयुञ्जानैः उत्तरकाण्डस्य वेदान्तत्वं स्वस्वमतेन समर्थनीयम् इति अर्थः.

(ग्रन्थोपसंहारः)

तच्च कृष्णप्रसादेन मायावादो निराकृतः।।३४।।
आवैदिको महादेवः तत्र साक्षी न संशयः।
ये वैदिकाः महात्मानः तेषां चानुमतिस्तथा।।३५।।
अवेदविद् न मनुते मया चोपेक्षितः पुनः।
स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः।।३६।।
काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु।
कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा।।३७।।

न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः।
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि॥३८॥
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः।

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं पत्रावलम्बनं सम्पूर्णम्॥

एवं पर्यनुयुज्य पत्रावलम्बनम् उपसंहरन्ति **तच्च** इत्यादि, **तद्** एकवाक्यतापादकं मीमांसकादिमतं मायावादः **च कृष्णप्रसादेन निराकृतो**, नतु युक्तिमात्रेण, कृष्णप्रसादबीजन्तु अत्र भगवन्मतब्रह्मवादस्थापनम्. “एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रहः” (भाग.११।२९।२३) इति उद्धवं प्रति एकादशे भगवद्वाक्यात्. ब्रह्मवादस्वरूपन्तु “सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति” (क.उ.१।२।१५) “इदं सर्वं यदयमात्मा” (बृ.उ.२।४।६) “वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः” (भ.गी.१५।१५) “वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे” (भाग.११।२१।३५) “अहमेवासमेवाग्रे” (भाग.२।९।३२) इत्यादि श्रुतिस्मृति-प्रतिपादितं बोध्यम्. अत्र मानम् आहुः **आवैदिकः** इत्यादि, महादेवस्य आसमन्ताद् वैदिकत्वन्तु “वेदः शिवः शिवो वेदः” (पु.) “वेदाध्यायी सदाशिवः” (पु.) इति शिवपुराणवाक्याद् बोध्यम्. **अनुमतिः तथा** इति. ‘साक्षिणि’ इति शेषः. ननु यत् शब्दार्थविचारेण उक्तं तत् मीमांसकादिभिः वैदिकैः मन्तव्यं नतु नैयायिकाद्यैः, अतो न एतावता निर्वाहः इत्यतः आहुः **अवेदविद्** इति. तथाच “एतेन शिष्टापरिग्रहाः व्याख्याताः” (ब्र.सू.२।१।१२) इति सूत्रे तेषां तथात्वबोधनात् ते अप्रयोजका-इति तदनादरेऽपि अक्षतिः इति अर्थः. ननु महादेवादेः साक्षित्वं कुतो हेतोः ? इत्यतः आहुः **स्थापितः** इत्यादि, तथाच तोषादेव साक्षित्वं करिष्यति इत्यतः उच्यते इति अर्थः. ननु शिवतोषार्थम् इदं चेद् एवं पत्रावलम्बनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **कस्यचिद्** इत्यादि, प्रतिवादिनः सन्देहनिराकरणम् एतत्प्रयोजनम् इति अर्थः. वादे जयपराजयसम्भवात् तत्कृतं भयं न कर्तव्यम् इति अर्थः. तत्र हेतुः **ब्राह्मणानामियं गतिः** इति. पूर्वं याज्ञवल्क्यादिभिः तथैव करणात् तत्र न दोषः इति अर्थः. **डिण्डिस्तु** इति, एतद्वादस्य अप्रच्छन्नत्वाद् इति अर्थः. एवं करणप्रयोजनम् आहुः

विद्वद्भिः इति, तथाच सन्मार्गरक्षणम् एतत्करणप्रयोजनम् इति अर्थः ॥३४-३९॥

एष पुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे।
निवेदितो मया तेन चापलं मे क्षमन्त्विति॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतान-पीताम्बरात्मज-पुरुषोत्तमेन
विरचितं पत्रावलम्बनविवरणं सम्पूर्णम्

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। पत्रावलम्बनम् ।।

श्रीमद्विट्ठलेशचरणात्मजश्रीगिरिधराणां तत्त्वविवेकः

श्रीहरिरायमहानुभावानां
विवरणम्

इति व्याख्याद्वयोपेतम्

(उपक्रमः]

लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः।
लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते यथा ।।१।।

• तत्त्वविवेकः •

तं नत्वा वल्लभाधीशं तथा श्रीविट्ठलं प्रभुम्।
पत्रावलम्बनव्याख्यां कुर्वे विद्वन्मनोरमाम् ।।१।।
जयन्ति यत्पद-द्वन्द्व-नख-चन्द्र-मरीचयः।
पापध्वान्तविनिर्ध्वंसात् सत्प्रकाशपटीयसः ।।२।।
तं वेद्यं परमं कृष्णं परं ब्रह्म जगद्गुरुम्।
नत्वा विविच्यते श्रीमद्गूढपत्रावलम्बनम् ।।३।।
तं नत्वा परमानन्दं श्रीकृष्णास्यं जगद्गुरुम्।
विविच्यते निगूढार्थं मया पत्रावलम्बनम् ।।४।।

अत्र तावत् प्रथमं स्वयं तं ब्रह्मवादं व्याचिख्यासवः *तत्र "'सर्वं-ब्रह्म' इत्यत्र च वेदसिद्ध-जगत्कर्तृत्वादि-धर्म-पुरस्कारेण ब्रह्मज्ञानं भवति. तत्रच पूर्वकाण्डीयधर्मत्वे[न!] वेदोक्तो दध्यादिरूपः तत्तत्कर्मसाधनीभूतोहि लौकिकपदार्थ-दध्यादि-पुरस्कारेणैव ज्ञातुं शक्यः, वैदिकपदार्थानाम् अलौकिकत्वेन लौकिकचक्षुरयोग्यत्वाद् वैदिकः सर्वोऽपि व्यवहारः लोकसिद्धः"-इति ब्रह्मवादे व्युत्पिपित्सवः* तत्रच सन्देहनिरसनपूर्वकं प्रथमं लौकिक-व्यवहारोप-निबन्धनम् आहुः **लौकिकः** इति. **लौकिको** अथच

लोके शब्दार्थसम्बन्धो रूपं तेषां च यादृशम्।
न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तथा भवेत्॥२॥

• तत्त्वविवेकः •

वैदिको व्यवहारो द्विधा द्विप्रकारकः **मतः** सर्वसम्मतः इति अर्थः. यथा **वैदिको** व्यवहारः तथा **लोकसिद्धं** व्यवहारं **पुरस्कृत्य बोध्यते** — यत्प्रकारको वैदिको व्यवहारः तत्प्रकारको व्यवहारो लोकसिद्धं व्यवहारं पुरस्कृत्य बोध्यते इति अर्थः. वैदिकव्यवहारसदृशो लोकसिद्धो व्यवहारः इत्येतेन ''यएव लौकिकाः पदार्थाः तएव वैदिकाः न भिन्नाः'' इति वदन्तः पूर्वकाण्डा[न!]भिज्ञाः प्रत्युक्ताः.

अथवा **यथा** इत्येतस्य अग्रिमेण सम्बन्धः. तथाच **यथा** यादृशो **लोके शब्दार्थसम्बन्धो** अस्ति; **ये[ते!]षाञ्च यादृशं रूपं च** अस्ति **तत्र विवादो न कार्यः. तथाकरणेतु** = विवादकरणेतु **लोकोच्छित्तिः भवेद्** इति अर्थः. लोके यादृशः शब्दो; अर्थः च यादृशः, तयोः सम्बन्धः तादृशएव वेदे अस्ति. नतु सएव इति अर्थः. ततः कारणाद् वैदिकाः शब्दाः तदर्थाः च, लोकतः भिन्नाएव इति आगतम्, आकृतिमात्रपरिज्ञानार्थं परं लोकापेक्षेति. एतेन ''यएव लौकिकाः तएव वैदिकाः'' इति अभिमन्वानाः निराकृताः. यदिच लौकिकशब्दार्थापेक्षा भवति वैदिकशब्दार्थयोः, तदातु लौकिकशब्दार्थापेक्षकौ वैदिकशब्दार्थौ जातौ, तर्हि **लोकोच्छित्तिः** स्यात्, सर्वोऽपि व्यवहारो वेदसिद्ध-इति. सर्वस्यैव वैदिकव्यवहारस्य वैसादृश्ये, लोकव्यवहारे वेदस्य अनुपयुक्तत्वेन मर्यादारूपश्च लौकिकव्यवहारो अहिंसा-सत्यवचनादि-रूपः स उच्छिद्येत. वेदेच 'अहिंसा' शब्दोऽपि अन्यो अर्थोऽपि अन्यएव चेत्, तदा विपर्ययोऽपि

• विवरणम् •

अथ अस्मदाचार्यवर्याः सकलासुर-सूरिसमूह-मुखध्वंसं विधातुं पूर्वपक्षग्रन्थं पत्रावलम्बनाय निरूपयन्ति **लौकिकः** इति. द्विविधो हि — **व्यवहारो लौकिको वैदिकः च** — 'घटा'दिशब्दैः 'वेदि'-'यूप'-'उपला'दिशब्दैः च दृश्यते. **सं[!]मतः** सर्ववादिसम्मतः इति अर्थः. तदनुपपत्तिं निरूपयन्ति **लोकसिद्धम्** इति. **लोकसिद्धं** भूम्यादिपदार्थं **पुरस्कृत्य** स्फूर्तिविषयत्वेन

ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित्।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः॥३॥

• तत्त्वविवेकः •

स्याद्—वेदोदिताद् अन्यथापि कुर्यात्. अतः सर्वोऽपि लोकव्यवहारो विपर्यस्तएव भवेत्, निषेधस्य भिन्नविषयत्वात्. ततश्च लोकव्यवहारः उच्छिद्येत इति. तस्मात् सादृश्यं लौकिकवैदिकशब्दार्थयोः इत्येव समधिगन्तव्यम्. यदिच तत्सादृश्यं तदातु वैदिकविधिनिषेधौ लोकेऽपि फलतः.॥१-२॥

ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु इति, ब्रह्मणो वदनं= ब्रह्मवादः—"सर्वं-ब्रह्म" वा इत्याकारकं कथनं, तस्मिन्. **कुत्रचित्** कस्मिन्नपि पदार्थे **निरुक्तिः न वक्तव्या,** यथा, "गन्धवती पृथिवी"(त.सं. : द्र.ल.प्र.)इति निरूपणम्.

• विवरणम् •

अग्रे उपस्थाप्य तत्रैव शब्दविशेषैः **वैदिको** व्यवहारो 'वेदि'-'यूपा'दिशब्दैः बोध्यते. न पदार्थाः भिन्नाः वैदिकाः-इति 'घट'-'कलशा'-दिशब्दैः लोके एकपदार्थे विचित्रव्यवहारवद् वैदिकोऽपीति लौकिकपदार्थमात्रसिद्ध्या तत्परस्य प्रकारान्तरेऽपि न भेदइति लौकिकमात्रव्यवहारसिद्धिः इति अर्थः.

ननु—वेदपुरस्कारेणैव लौकिकपदार्थनिर्वचनं विधेयमिति स्यात् सर्वत्र वैदिकव्यवहारमात्रसिद्धिः—इति चेत् तत्र आहुः **यथा लोके**इति, **लोके यथा** येन प्रकारेण येषां **शब्दानाम् अर्थानां** यः **सम्बन्धो** यत् **च रूपं** वा आनुपूर्वी कम्बुग्रीवादिमत्त्वं च **तत्र** शब्दे अर्थे आनुपूर्व्याम् आकारे च, प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, **न विवादः कार्यः**, प्रत्यक्षसिद्धस्य अपला[ल!]पितुम् अशक्यत्वात्. कदाचिद् वेदएव निरूपितातीन्द्रियपदार्थे तत्सम्भवो नतु लोके इति अर्थः. ननु तथाकथने किं बाधकम्? इति चेत् तत्र आहुः **लोकोच्छित्तिः**इति. **तथा** तेन प्रकारेण वेदपुरस्कारेण लोकनिरूपणप्रकारेण तन्निरूपणे लोकोच्छेदः स्याद्, एकेनैव चारितार्थ्याद् इति अर्थः॥१-२॥

ननु—निरुक्त्यैव शब्दानाम् अर्थव्यवहारो भविष्यति किं लोकसङ्केतेनेति वैदिकव्यवहारएव अस्तु!—इति चेत्, तत्र आहुः **ब्रह्मवादे निरुक्तिः** इति, "सर्वं-ब्रह्म"इति वादे ब्रह्मणएव सर्वशब्दवाच्यत्वं, सर्वभावेन आविर्भावात्. अतएव "वह्निः-अनुष्णः" इत्यादिवाक्यानामपि योग्यत्वं, यतः **सर्वं** व्यवहारएव अन्यथा प्रतीयते. **वस्तुतः तु ब्रह्म** एव. अतो

ये धातुशब्दाः यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्॥४॥

• तत्त्वविवेकः •

अत्र हेतुः **वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि** इति, वस्तुगत्या ब्रह्म यत्तत्सर्वरूपं भवति. हि इति युक्तश्च अयम् अर्थः. ''ब्रह्मवादे निरुक्तिः न वक्तव्या'' इति युक्तश्च अयम् अर्थः. युक्तत्वमेव उपपादयन्ति **वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि** इति, हेतुत्वेन अनवभास्यमपि अर्थतो गर्भहेतुरयं [हेतुगर्भितं वचनमिदं!] बोध्यम्. हि निश्चये वा. सा निरुक्तिः तदा भवति यदा अतिरिक्त-पदार्थ-सद्भावः स्याद्, इतरव्यावृत्त्यर्थं हि निरुक्तिः वक्तव्या, एवं[सति!] 'घट'पदेन 'मठ'पदेनापि ब्रह्मैव उच्यत-इति, तदतिरिक्तस्य वस्तुनो अभावात्, तदितर-पदार्थाभावेन इतरपदार्थ-व्यावृत्त्यभावात्, निरुक्तेः प्रयोजनाभावात्. ननु ''व्यावृत्तिः व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'' इति उक्ते [सति!] व्यावृत्त्यभावेऽपि व्यवहारार्थं लक्षणं वक्तव्यमेव इत्यतः आहुः **व्यवहारस्तु** इति. तस्यतु **लोकतएव** उपपत्तेः इति भावः.

ये धातुशब्दाः धातुवाचकशब्दाः **उपदेशे** ''उपदेशः आद्योच्चारणम्''-इति धातुपाठे. **यत्र अर्थे** यस्मिन् अर्थे **प्रकीर्तिताः** कथिताः. **वेदराशेः** सम्पूर्णस्य **तथैव** तेन प्रकारेणैव **अर्थः कर्तव्यः**. **न अन्यथा** एतदतिरिक्तप्रकारेण **क्वचिदपि** न कर्तव्यः इति अर्थः॥३-४॥

• विवरणम् •

ब्रह्मत्वेन व्यवहारे वैदिकशब्दानाम् आनुकूल्यम्. प्रापञ्चिक**व्यवहारस्तु लोकतः** एवेति व्यवहारार्थं तदपेक्षा. अतः तत्पुरस्कारेण वैदिकव्यवहारसिद्धिः. वेदस्यतु ''सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'' (क.उ.१।२।१५) इति श्रुतेः ब्रह्ममात्रवाचकत्वात्. अतो मुख्यो लौकिकएव व्यवहार-इति व्यवहारद्वयसिद्धिः इति अर्थः.

लोकपुरस्कारेण वेदार्थव्यवहारनिरूपणे नियमवाक्यमपि आहुः **ये धातुशब्दाः** इति, ये धातवो ये शब्दाः **यत्र** यस्मिन् **अर्थे उपदेशे** पाणिन्यादीनाम् आद्योच्चारणे **प्रकीर्तिताः** सङ्केतविषयीकृत्य कथिताः लोके **तथैव वेदराशे**रपि निर्णयः कार्यो **न अन्यथा क्वचिदपि** इति अर्थः॥३-४॥

(वेदाध्ययनविधिविचारः)

काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिरुच्यते।
वाक्यत्रयं तथा वेदेऽनारभ्याधीतमेव हि॥५॥

• तत्त्वविवेकः •

तत्र कथं तदर्थज्ञानं भवति इति तस्य आवश्यकत्वबोधनाय स्वाध्यायविधिम् आहुः **काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिः उच्यते,** "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यत्र उच्यते इति. **काण्डद्वयं** कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्ड-द्वयं, तस्य यो **अर्थः तत्सिद्ध्यर्थम्** इति अर्थः. कर्मकाण्डस्य यो **अर्थः** कर्मरूपः, तस्य **सिद्धिः** ज्ञानं **तदर्थम्** इति अर्थः. एवं ज्ञानकाण्डस्य यो **अर्थः** ब्रह्मज्ञानस्वरूपः तस्य **सिद्धिः** प्राप्तिः तदर्थम् इति अर्थः.

अथवा "यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे" (त.दी.नि. १।११) इति कथनात् कर्मकाण्डो ज्ञानकाण्डो=ब्रह्मकाण्डः, **तदर्थः** ब्रह्मस्वरूपः तस्य **सिद्धिः** ज्ञानं **तदर्थम्** इति अर्थः. यद्यपि यज्ञात्मकभगवदर्थः पूर्वकाण्डार्थः ब्रह्मात्मकश्च उत्तरकाण्डार्थः परस्परं भिन्नएव; तथापि यज्ञादेः चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञानसाधकत्वएव तात्पर्यात्, पूर्वकाण्डार्थो ब्रह्मरूपएव इति अभिप्रायेण तथा इति भावः, उभयथापि ब्रह्मणः मानरूपत्वात्. कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डार्थोऽपि ज्ञानरूपः इति वक्तुं शक्यते तस्य **सिद्धिः** प्राप्तिः इति पूर्वोक्तव्याख्यानमेव सम्यक्. एवञ्च काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति स्वाध्यायविधिः उच्यते इति अर्थः. स्वाध्यायविधिना स्वाध्यायाध्ययने सिद्धे

• विवरणम् •

व्यवहारपूर्वपक्षम् उक्त्वा अध्ययनविधिपूर्वपक्षम् आहुः **काण्डद्वय**...इति, कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्ड-द्वयं, तस्य यो **अर्थः** कर्मज्ञानरूपः, तस्य **सिद्ध्यर्थं** प्राप्त्यर्थं ज्ञानार्थं वा **स्वाध्यायो** वेदः, तस्य अध्ययन**विधिः उच्यते** इति अर्थः. अध्ययनविधायकवैदिकवाक्यानि परिसङ्ख्याय तद्विशेषनिरूपणपूर्वकं पूर्वपक्षयति **वाक्यत्रयम्** इति. "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यादितत्त्रयम् इति अर्थः. ननु वाक्यत्रयसत्त्वेऽपि न एकार्थतानिरूपणाग्रहः, कार्यत्रयाणामपि तत्तत्प्रकरणपठितत्वेन तत्तद्विशेषनिरूपकत्वाद् इत्यतः आहुः **अनारभ्याधीतमेव हि** इति,

एकार्थतातु सर्वत्र विशेषोऽप्युच्यते स्फुटः।
“स्वाध्यायोऽध्येतव्यः”(तै.आ.२।१५)
(क)“अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत...”(   )
(ख)“...तमध्यापयीत”(   )
(ग)“साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च”(   )इति.

• तत्त्वविवेकः •

तदनु तदर्थानुष्ठानेन चित्तशुद्धौ तदनु ब्रह्मज्ञानसिद्धिः इति काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिः उच्यते इति भावः. स्वाध्यायाध्ययनविधिरेव स्वाध्यायविधिः इति अर्थः. विधेः धर्मज्ञानपर्यन्तं ब्रह्मज्ञानपर्यन्तं च व्यापारः इति अर्थः. यथा स्वाध्यायविधिः उच्यते तथा वाक्यत्रयं वेदे काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थम् इति **तथा** इत्यस्य अर्थः. **वाक्यत्रयं तथा वेदे अनारभ्याधीतमेव** इति, “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः”[इति वचनवद्!] इदमपि अनारभ्याधीतम् “अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत”–“तमध्यापयीत”–“साङ्गो वेदोऽध्येयोज्ञेयश्च” इति. **वाक्यत्रयं वेदे अनारभ्याधीतमेव** इति, आरभ्य अधीतं नहि भवति, कस्यापि प्रकारेण [कस्मिन्नपि प्रकरणे!] हि न आम्नातम्. **हि** इति निश्चयेन, कस्यापि प्रकारेण[कस्मिन्नपि प्रकरणे!] किञ्चिद् धर्मादिकं यज्ञादिकं वा आरभ्य अधीतं नहि भवति, पठितं न भवति. यदि चेत् किञ्चिद् आरभ्य कस्यचित् प्रकारेण[प्रकरणे!] इदं वाक्यत्रयं पठितं स्यात् तदा प्रकरणानुरोधेन तादृशएव अर्थः कर्तव्यो भवेत्. पठितं चेत् नास्ति तदातु स्वतन्त्रं जातं तद् वाक्यत्रयम्, अनारभ्याधीतत्वाद् इति. अतः उपनयनादीनां स्वाध्यायविध्यर्थत्वमेव आयाति. अन्यथातु अन्यप्रकारेण यदि आम्नातं स्यात् तदातु उपनयनादीनाम् अन्यार्थत्वं स्यात् न स्वाध्यायविध्यर्थत्वम्. एवञ्च उपनयनमन्तरेण अध्यापनं न सम्भवति. अध्यापनासम्भवेतु शिष्यस्य अध्ययनासम्भवः तदभावे च ज्ञानाभावः इति त्रयाणामपि वाक्यानां स्वाध्यायविधिशेषत्वम् उपगन्तव्यम् इति निष्कर्षः.

एकार्थतातु सर्वत्र इति, यतः त्रयाणामपि स्वाध्यायविधिशेषत्वम् अतः **सर्वत्र** वाक्यत्रये, **एकार्थता** स्वाध्यायविध्येकार्थता इति अर्थः. काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिः इत्येतदात्मकैकार्थतातु **सर्वत्र उच्यते** वेदे इति यावत्॥५॥

'स्वाध्याय' शब्दो वेदे हि रूढो योगेऽपि वर्तते॥६॥
सुष्ठ्वासमन्तादध्येयः शोभनं नियमैर्युतः।
देशे काले गुरौ स्वस्मिन् अपेक्ष्यन्ते गुणा इह॥७॥
'आ' सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते।

• तत्त्वविवेकः •

विशेषः कः? इत्यतः आहुः **'स्वाध्याय'**...इति. ननु भवन्मते विधिः नास्तीति कथं विध्येकार्थता इत्यतः आहुः **'स्वाध्याय'शब्दो रूढो** भवति **वेदे** यौगिको **अपि वर्तते** इति, अयमेव **विशेषः स्फुटः** प्रकटः विशेषः **उच्यते 'स्वाध्याय'शब्दो रूढो योगेऽपि वर्तते** इत्याकारकः इति अर्थः.

''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' इत्यत्र विधिः नास्ति, अज्ञातज्ञापनस्यैव विधेः प्रयोजनत्वेन; प्रकृतेच विधिना यद् बोध्येत 'स्वाध्याय'पदमहिम्नैवच तद् बोध्यत-इति ज्ञातृज्ञापनस्यैव अत्र सत्त्वेन, न अत्र विधिः किन्तु आवश्यकार्थे 'तव्य'प्रत्ययः इति. नच वस्तुतस्तु रूढएव अयम्—**'अपि'**नातु योगार्थे गौणत्वम् उक्तम् इति [वाच्यं!], यदा रूढिः तदातु अज्ञातृज्ञापनस्यैव सत्त्वाद्, ''रूढिः योगम् अपहरति'' इति न्यायात्. एवञ्च सति ''स्वाध्यायविधिः उच्यते'' इति प्रथमं यद् उक्तं तत् 'स्वाध्याय'शब्दस्य वेदे रूढिः इति अभिप्रायेण. यदितु योगार्थेऽपि अवबुध्यते इति, तदातु आवश्यकएव. अतः आवश्यकार्थएव 'तव्य'प्रत्ययो अभ्युपेयः, ज्ञातृज्ञापनात्. नात्र विधिः

• विवरणम् •

किञ्चित् प्रकरणम् आरभ्य न अधीतम् इति अर्थः. **एवकारेण** एतेषां वाक्यानां वेदान्तवाक्यानाम् इव काल्पनिकोपासनादिप्रकरणवदपि प्रकरणं नास्ति इति सूचितम्. **हि** इति युक्तिः; अध्ययनोत्तरमेव प्रकरणविभागसम्भवाद् इति अर्थः. तत्र प्रथमम् एकार्थत्वं निर्धारयति **एकार्थता तु** इति. **तु**शब्दः अर्थभेदनिराकृत्यर्थः. **सर्वत्र** वाक्यत्रयेऽपि **एकार्थता** अध्ययनबोधनपरत्वाद् इति अर्थः. तर्हि कः संशयः? इति चेत् तम् आहुः **विशेषोऽपि उच्यते** इति, वाक्येषु यो **विशेषः** प्रकारभेदः सोऽपि **स्फुटं** प्रकटम् **उच्यते** इति अर्थः॥५॥

तमेव आहुः **स्वाध्यायशब्दः** इति, 'स्वाध्याय'शब्दस्य 'पङ्कजा'दिशब्दवद् योग-

शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाध्येयो हि वैदिकैः ॥८॥
अपर्णताद्यपहतपाप्मादिसकलैः गुणैः।
प्रजापतिमुखैः वेदो यथा हि पठितः पुरा ॥९॥
तादृग्गुणविशिष्टोऽत्र वेदः 'स्वाध्याय' उच्यते।

• तत्त्वविवेकः •

किन्तु आवश्यकार्थे इति ज्ञातृज्ञापनं बोधयितुं मुख्याभावे प्रतिनिध्युपादानम् अर्थानुष्ठानं—यथा व्रीह्यभावे नीवाराः सोमाभावे पूतिका इति वा—बोध्यम्. पुनरपि ज्ञातृज्ञापनतां बोधयितुं भङ्ग्यन्तरेण 'स्वाध्याय'शब्दव्युत्पत्तिं वदन्तः अत्र 'स्वाध्याय'शब्देन ईदृशो [अर्थो!] ज्ञातव्यः इति आहुः **अपर्णता** इत्यादि. एवञ्च **सुष्ठु आसमन्ताद् अध्येयो** गुरुमुखात् पठितव्यः, **तादृग्गुणविशिष्टः, यथाहि प्रजापतिमुखैः गुणविशिष्टः पठितः** इत्यपि अर्थो अत्र **यथाहि पठितः पुरा** इति कथनाद् ज्ञायते इति. अपगतम् ऋणं यस्मात् सो अपर्णः, तस्य भावः तत्त्वम् **अपर्णता** इत्यादयः. **तथाच अपहतपाप्मत्वादयो ये सकलाः गुणाः** तैः सहितः **वेदः प्रजापतिमुखैः यथाहि पठितः पुरा तादृग्गुणविशिष्टो** नाम 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति वाक्ये तादृग्गुणयुतः **वेदः 'स्वाध्यायः' उच्यते** इति अर्थः.

• विवरणम् •

रूढिसद्भावेन योगरूढत्वम् इति अर्थः. रूढिस्तु वेदे प्रसिद्धैवेति योगं निरूपयति **सुष्ठु** इति, **शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाध्येयो हि वैदिकैः** सुष्ठु समीचीनः प्रकारः 'सू'पसर्गार्थः. **सर्वतो**अध्ययनम्. **आङर्थः**. अथवा **सुष्ठु** समीचीनम् अध्ययनम् इति अर्थः. तत्सामीचीन्यम् आहुः **शोभनम्** इति. तदपि विवृण्वन्ति **नियमैः युतम्** इति, नियमाः ब्रह्मचर्यादयः. अथवा **शोभनं** गुणैः युतम् इति अर्थः. के ते गुणाः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **देशे** इति, शुद्धत्व-देवालय-तीर्थाश्रितत्वादयो देशगुणाः, अनध्यायराहित्यादयः कालगुणाः, भृतकाध्यापकत्वादयो द्रव्यगुणाः, साधुत्वशक्तत्वादयः स्वगुणाः. **सर्वतो** अध्ययनं यथा संशयराहित्यं भवति तथा इति तद् आहुः **यथा शङ्का** इति. ननु निःसन्दिग्धतया अध्ययनस्य किं प्रयोजनम्? इति चेत् तत्र आहुः **शब्दे** इति, **अर्थे** अर्थसम्बन्धिनि **अनुष्ठाने** तन्निमित्तं

'तव्य' स्त्वावश्यके प्रोक्तो न विधिः ज्ञातृबोधनात् ॥१०॥

• तत्त्वविवेकः •

पूर्वोक्त'स्वाध्याय'शब्दस्यैव अयं निष्कर्षार्थः इति एकएव अर्थः, न ततो भिन्नः. अतएव च उभयत्रापि 'गुण'पदम् अतिवरं मन्महे. लोके शब्दे तादृग्गुणाभावः, गुणे गुणानङ्गीकाराद्—इहतु अलौकिके लोकविलक्षणे 'वेद'शब्दे तादृग्गुणाः वर्तन्तएवेति न काचित् क्षतिरिति 'गुण'शब्दो अत्र 'धर्म'वचनो नतु 'चतुर्विंशतिगुण'वचनः.

इयञ्च मीमांसकानां वेदान्तिनां च परिभाषा भवति. तत्र अपर्णतात्वं च – अपगत-ऋणता नाम – वेदाध्ययनेन ऋणत्रयेभ्यो निर्मुक्तो भवति, निष्पापो भवति इति. अपगतर्णत्वादि-निष्पापत्वादि-सकलगुण-विशिष्टो वेदः पठितः इति अर्थः. तादृग्गुणविशिष्टो वेदः 'स्वाध्यायः' उच्यते इति अर्थः. अतः परं मीमांसामते वेदादौ तादृग्गुणाभावे तत्पाठेन जीवस्य कथंवा निष्पापत्वादि; अतो वैदिकाः शब्दाः स्वयं पापरहिताः ऋणरहिताः च भवन्ति इति, यतो अन्योऽन्यं निष्पापान्[पं!] करोति वेदइति. अतएव च "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति न विधिः इति आहुः **'तव्य'स्त्वावश्यके प्रोक्तो न विधिर्ज्ञातृबोधनाद्** इति. अर्थद्वये हि 'तव्य'प्रत्ययः आवश्यके विध्यर्थे च इति. तत्रच अज्ञातज्ञापनं विध्यर्थः इति. ज्ञातृबोधनात् नात्र विधिः इति अर्थः. [यदि तु!] विधिनैव हि अध्ययनं बोध्यते[ध्येत!] यथा "स्वर्गकामो यजेत" इति तत्रच[तदातु!] अवश्यं विधिनैव भाव्यम्.

• विवरणम् •

वैदिकः शब्दो **वैदिकैः** वेदोदितकर्मनिष्ठैः **तथा** निःसन्दिग्धतया **अध्येयइति** अर्थः. **हि** इति युक्तो अयम् अर्थो, निःसन्दिग्धज्ञानाभावे सफलप्रवृत्तेः अनुपपत्तेः. अतः परम् एवम्प्रकारकाध्ययनएव वेदस्य 'स्वाध्याय'शब्दवाच्यत्वम् इति दृष्टान्तेन आहुः **अपर्णतादिइति, अपर्णता** "ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यः" (तै.सं.६।३।१०) इति श्रुतेः त्रिविधर्णराहित्यम्. **आदिपदात्** ऋषिदेवपित्रादिषु श्रद्धा. **अपहतपाप्मत्वं** त्रिविधपापनिवृत्तिः. एतेषां दोषाभावरूपत्वेऽपि जीवगतत्वेन गुणत्वं, जीवेषु दोषाभावस्यैव गुणत्वात्, नहि जीवेषु सहजगुणाः सन्ति, भगवद्दत्तानामेव ऐश्वर्यादीनां

‘स्वाध्याय’ पदतो ज्ञेयं तन्माहात्म्यं फलं तथा।

• तत्त्वविवेकः •

अत्र ‘स्वाध्याय’[पद!]वशादेव तन्माहात्म्यफलावगमात्, स्वाध्यायाध्ययनस्य फलसाधनताबोधनेन प्रवृत्त्युपपत्तेः, अज्ञातृज्ञापनाभावेन ‘स्वाध्याय’पदेनैव इष्टं यत् फलं तत्साधनत्वं ज्ञातं पुनः तस्यैव ज्ञानं विधिना क्रियते[येत!], इष्टसाधनत्वं विध्यर्थइति. पुनरपि स्वाध्यायाध्ययनस्य साधनत्वं विधिना ज्ञातमिति फलसाधनता या पूर्वं ‘स्वाध्याय’पदतः ज्ञाता तज्ज्ञापको अयं विधिः जातइति, स्वाध्यायफलतः यद् दृष्टफलसाधनत्वं ज्ञातं तदज्ञातारं पुरुषं पुनः स्वाध्यायाध्ययनस्य इष्टसाधनत्वं विधिः बोधयतीति ज्ञातृबोधनाद् विधेः आवश्यकप्रयोजनाभावेन वैयर्थ्यं स्यात्. अतः कारणात् न विध्यर्थे ‘तव्य’प्रत्ययः किन्तु आवश्यके ‘तव्य’प्रत्ययः इति. तथासति न वैयर्थ्यं, शीघ्रकरणे मध्ये बह्वन्तरायो न पततीति प्रत्युत अधिकफललाभात्, तत्र आवश्यकार्थस्य विनियोगेन सार्थक्याद् इति भावः. **‘स्वाध्याय’पदतो ज्ञेयम्** इति. अथवा अत्र क्रमतः स्वाध्यायमाहात्म्यं **सुष्ठु**(कारि.७-८) इत्यादिना उक्तं — फलन्तु **अपर्णता** (कारि.९-१०)इत्यादिना उक्तमिति द्वयं द्वयस्थले[स्थलद्वये!] वा ज्ञेयम्. एतदर्थस्तु ‘स्वाध्याय’-इति पदं[दस्य!] वर्तते, श्रुतौ ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इत्यत्र, ततः सकाशात् **तन्माहात्म्यं फलं तथा** इष्टं फलमित्थम् इति वा. एवञ्च ‘स्वाध्याय’शब्दमहिम्नैव तत्र प्रवृत्तिः भविष्यतीति न विध्यपेक्षा अस्ति पुनः अत्र. अतः ‘तव्य’प्रत्ययस्य न विधानार्थकत्वं किन्तु आवश्यकार्थत्वम् इति. अतो विधिः न भवति ज्ञातृबोधनाद्, अज्ञातृबोधकस्यैव विधित्वम्, अज्ञातृज्ञापनं हि विध्यर्थइति. प्रकृतेतु ‘स्वाध्याय’पदमहिम्नैव अध्ययनकर्तव्यता अवगतेति विधेः प्रयोजनमेव नास्ति इति अर्थः॥६-१०॥

• विवरणम् •

यावत्कार्यम् अवस्थितेः, अतो गुणत्वं तैः कृत्वा **प्रजापतिमुखैः** चतुर्मुखप्रभृतिभिः **यथा पठितः पुरा** ब्रह्मकल्पादिषु तथा नियमवद्भिः वेदो अध्येयः इति अर्थः. फलसिद्धिः एतादृशा अध्ययनेन भवतीति. फलाभिलाषुकत्वबोधनाय **प्रजापति** पदम्॥६-१०॥[१]

---

[१] एतावानेव अंशो अस्याः टीकायाः उपलभ्यते.

ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै द्वितीयं वाक्यमीर्यते॥११॥

• तत्त्वविवेकः •

इदमेव हि निरुक्तं **'स्वाध्याय'पदतो ज्ञेयं तन्माहात्म्यं फलं तथा** इत्यनेन. **तथा** इत्यस्य **ज्ञातृज्ञापनता** इत्यत्र सम्बन्धः. एवञ्च "देहलीदीप"न्यायेन उभयत्र.

ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै द्वितीयं वाक्यमीर्यते इति, प्रथमं वाक्यन्तु "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत्"इति द्वितीयं "तमध्यापयीत" इति. एवञ्च ज्ञातारमेव उपनेतुं ज्ञापयति "तमध्यापयीत"इत्यत्र 'लिङ्' विधौ. अध्यापनविधिनैव उपनीतस्व[स्य!] अध्ययनं ज्ञापितं—यस्य उपनयनं तस्यैव अध्ययनम् इति. नहि अनुपनीतो अध्ययनार्थइति. ननु "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति विधिः कुतो न भवति इति आशङ्कायां वाक्यान्तरतोऽपि न विधिः इति आहुः **ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै** इति, **ज्ञातुः** उपनीतस्य **ज्ञापको यो विधिः** अध्ययनज्ञापको यो विधिः—"तमध्यापयीत" इति, तस्य सद्भावादपि न विधिः. एवञ्च अध्यापनविधिनैव अध्ययनविधिः आक्षिप्तएवेति वाक्यान्तरत्वेन येन पुरुषेण ज्ञातमेव अध्ययनम्[१]... ज्योतिष्टोमादौतु वाक्यान्तरेण न अवगतं यथा अत्र इति हेतोः तत्र विधिः मन्तव्यएव इति सारम्. एवञ्च ज्ञातृज्ञापनसत्त्वाद् उभयथापि न विधिः इति निष्कर्षार्थः इति तत्त्वम्. एवञ्च पूर्वन्तु 'स्वाध्याय'शब्दमहिम्नैव योगार्थम् अवबुध्य इष्टसाधनत्वज्ञानेन विधेः प्रयोजनभावात् न विधिः इति उक्तम्. तत्र यदि योगार्थ[र्थो!] न अवगतं[तो!] "रूढिः योगम् अपहरति" इति न्यायात्; यदिच रुढार्थएव योगार्थान्वयो नियमेन, 'पङ्कज'शब्दे इव, इति वैदिकानां तथा अनुभवत्वाद् योगेऽपि मानम् इति विभाव्यते, तदातु रूढ्यर्थस्यैव च यदा बोधो न योगार्थस्य तत्र 'स्वाध्याय'पदमहिम्नः सकाशात् फलसाधनता न अवगतेति, तदानीं विधिः कुतो न भवति इति सन्देहनिरासार्थं **ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै** इति उपात्तम्. एवञ्च "तमध्यापयीत" इत्यनेन अध्ययनं ज्ञातमेवेति पुनरपि ज्ञातृज्ञापकं "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति वाक्यं जातमिति अज्ञातृज्ञापनाभावात् न विधिः इति अर्थः. यदिच नियमेन रूढार्थे योगार्थे[र्था!]न्वयः, तदातु

---

[१] अत्र पङ्क्तिः त्रुटितेव भाति

• तत्त्वविवेकः •

'स्वाध्याय'पदमहिम्नैव इष्टसाधनता अवगतेति, तेनैव विध्यसम्भवे पुनरपि द्वितीयवाक्येन अध्ययनं ज्ञातमेवेति ज्ञातृज्ञापनस्यैव सत्त्वात् न विधिः इति उक्तं तत्तु "'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अयं विधिः न भवति" इत्यत्र इदं दूषणं वाक्यान्तरतोऽपि लभ्यते इति एतदर्थम् आहुः **ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै** इति. केवलरूढित्वं वदतोऽपि कस्यचित् निरासार्थं च "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति ज्ञातृज्ञापनं भवति. तथाच एतद्वाक्यस्य ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै "तमध्यापयीत" इति द्वितीयं वाक्यम्. अत्र चेद् अध्यापनं विहितं तदा स्वतएव बालस्य अध्ययनम् आक्षिप्तम्. अतः "तमध्यापयीत" इत्यनेन बालस्य अध्ययनं चेद् ज्ञातम् अध्यापनविध्यनुसारेण ततः तस्यैव अध्ययनस्य ज्ञापकं "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति वाक्यं जातम्. अतोहि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यस्य **ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै द्वितीयं वाक्यम् ईर्यते** इति.

मीमांसकमते "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति विधिः, "तम् अध्यापयीत" इति अनुवादः. स्वाध्यायविध्यनुसारेण उपनयनप्राप्तेः, "अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत" इत्यपि अनुवादः. "तस्माद् यज्ञोपवीत्येव अधीयीत" (तै.आ.२।१) इति श्रुतेः यज्ञोपवीतिनएव स्वाध्यायाध्ययनं, नहि अनुपनीतस्य अध्यापनं सम्भवति. अतो अर्थादेव उपनयनप्राप्तेः, "...उपनयीत" इति "तम् अध्यापयीत" इति अनुवादः.

अनुवादकत्वे वैयर्थ्यम् अर्थादेव सिद्धम्. अस्मन्मतेतु न कस्यापि वैयर्थ्यं किन्तु 'तव्य'प्रत्ययः आवश्यके-इति, अध्ययनप्राप्तिस्तु 'स्वाध्याय'पदमहिम्नैव इति पूर्वम् उक्तमेव. 'उपनयीत' इत्यत्र उपनयनविधिः 'अध्यापयीत' इत्यत्र च अध्यापनविधिः. बालस्तु परतन्त्रो भवतीति गुरुव्यापारएव उपनायनम्. तेनैव उपना[न!]यनं प्राप्तमिति "तम् अध्यापयीत" इत्यत्र अध्यापनविधिनैव अध्ययनं सिद्धमिति. मीमांसकमतेतु स्वाध्यायविधिबलादेव अध्यापनप्राप्तेः "तम् उपनयीत् - तम् अध्यापयीत" इत्येतस्मिन् स्वाध्यायविधिबलवशाद् आक्षिप्तं यद् अध्यापनं तस्य अनुवादः इति विमर्शः. तस्मात् मीमांसकनये उपनायने अध्यापने तात्पर्याभावात् "स बालः उपनयेद्" इत्यत्र अथच "सो अधीयीत" इत्यत्रैव च तात्पर्याद् इति तत्त्वम्.

वसुरुद्रादित्यवर्षैः त्रयो वर्णाः क्रमाद् द्विजाः
अध्याप्या इति तस्यापि नियोगः श्रुतिचोदितः ॥१२॥
पराधीनतया बाले न विधिः श्रुतिचोदितः ।

• तत्त्वविवेकः •

वसुरुद्रादित्यवर्षैः त्रयो वर्णाः क्रमाद् द्विजाः अध्याप्याः इति क[त!]स्यापि इति, सच ''एकादश रुद्राः द्वादशादित्याः''(बृ.उ.३।९।२) इति श्रुतेः. 'वसुः' इति अष्टसङ्ख्यायाः सञ्ज्ञा भवति, नियतसङ्ख्याकाः हि एत-इति, 'वस्वा'दिशब्दानाम् अष्टत्वादिसङ्ख्यावाचकत्वम् अभ्युपेयते इति. एवञ्च सति **त्रयो वर्णाः** ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्याः **वसुरुद्रादित्यवर्षैः** अष्टवर्षैकादशवर्षद्वादशवर्षैः **क्रमाद् द्विजाः** नाम द्विजन्मानो भवन्तीति, ते **अध्याप्याः** इति. तथाच ब्राह्मणो अष्टवर्षैः द्विजो भवति, क्षत्रियः एकादशवर्षैः द्विजो भवति, वैश्यो द्वादशवर्षैः द्विजो भवतीति क्रमतो अध्यवसेयम्. तथाच वसुस्थानीयाः ब्राह्मणाः, रुद्रस्थानीयाः क्षत्रियाः, आदित्यस्थानीयाः वैश्याः इत्यादि ऊह्यं; [1]☆वैपरीत्येन वा, एवम् आदित्यस्थानीयाः ब्राह्मणाः, वसुस्थानीया वैश्याः इति आगतम्.☆ एवंसति त्रयो वर्णाः पूर्वोक्तवर्षैः क्रमतो **अध्याप्या-इति तस्यापि** अध्यापनस्यापि **नियोगो** विधिः **श्रुतिचोदितो** विदितः इति. **अपिना** उपनयनस्यापि इति. **पराधीनत्तया** इति, **बाले** पराधीनतया **विधिस्तु न** सम्भवति किन्तु आवश्यकत्वं सम्भवति इति अभिप्रायः. बालः पराधीनो अनभिज्ञइति तत्र अध्याप[ध्यय!]ने उपनयने च नास्ति विधिः. उपनयनविधि-अध्यापनविधिभ्यामेव उपनयनाध्याप[ध्यय!]नयोः आक्षिप्तत्वात् **न विधिः श्रुतिचोदितः** इति ॥११-१२॥

''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' अत्र नास्ति विधिः अध्ययनस्य इति उक्तम्. इदं स्वतन्त्रम् इदं[!?] अनारभ्याधीतं वाक्यत्रयम्. अत्र एकस्मिन् उपनायनविधिः, द्वितीये च अध्यापनविधिः, तृतीयेतु अध्ययनं ज्ञानं वा इति ''साङ्गोऽध्येयो ज्ञेयश्च'' इत्यनेनतु न विधीयते, अत्र विधेः अभावात् किन्तु उपनयनाध्यापनयोः विधिः[प्रकारः!] इति ज्ञेयम्. अतो वेदाध्ययनन्तु अध्यापनविधानाद् आक्षिप्तं जातं परन्तु तस्य अध्ययनस्य कथं सिद्धिः भवतु!

---

१. ☆...☆ चिह्नांकितो भागः प्रक्षिप्तांशएव प्रतिभाति.

तथाध्यापनसिद्ध्यर्थं तृतीयं वाक्यमीर्यते।।१३।।
साङ्गेऽधीते तथा ज्ञाते स्वाध्यायस्तस्य सिध्यति।
अध्यापनप्रयुक्तं हि प्रथमं 'लिङ्'प्रयोगतः।।१४।।
आत्मनेपदतः स्वस्य स्यातां वृत्तिश्च सेत्स्यति।

[१]उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।(म.स्मृ.२।१४०).

[२] आचार्यवान् पुरुषो वेद (छा.उ.६।१४।२).

• तत्त्वविवेकः •

तदर्थं **तृतीयं वाक्यं** "साङ्गोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इति वाक्यम् ईर्यते. इदमेव उक्तं **तथा अध्यापनसिद्ध्यर्थम्** इत्यनेन, तथाच विधिः नास्ति किन्तु अध्ययनं ज्ञानं च आवश्यकं भवति इति अर्थः. एतदेव आहुः **साङ्गे अधीते तथा ज्ञाते स्वाध्यायस्तस्य सिध्यति** इति, "साङ्गो अध्येयो ज्ञेयश्च" इति. **साङ्गे अधीते तथा** वेदे **ज्ञाते** सति **स्वाध्यायो** वेदः **तस्य** बालस्य **सिध्यति** इति सम्पूर्णवेदस्य सिद्धिः जाता इति अर्थः. इदमेव फलं दृष्टं न अन्यद् इति.

अध्यापनप्रयुक्तं हि प्रथमं 'लिङ्'-प्रयोगतः, आत्मनेपदतः स्वस्य स्यातां वृत्तिश्च सेत्स्यति इति अध्यापने विधेः सत्त्वाद् अध्यापनप्रयुक्तम् अध्ययनं भवतीति अध्यापनाभावे अध्ययनं न स्यादेवेति, अध्यापनप्रयुक्तम् अध्ययनं भवतीति प्रथमम् अध्यापनम्. **प्रथमं** नाम "साङ्गो वेदो अध्येयः" इति एतद्वाक्योक्ताध्ययनात् प्रथमं "तम् अध्यापयीत" इति वाक्येन अध्ययनम् उक्तम् इति अर्थः. हि युक्तश्च अयम् अर्थः—योहि यत्प्रयुक्तः स तदनन्तरम् उच्यते. एवं यथा उपनायनानन्तरम अध्यापनम् एवञ्च **'लिङ्'-प्रयोगतः** –'अध्यापयीत' इति 'लिङ्'-प्रयोगो वर्तते चेद् विधिः वर्तते, अतः कारणाद्–अध्यापनं प्रधानं, विधिवाक्ये बोधितत्वात्, तत्प्रयुक्तम् अध्ययनम् अध्यापनविध्यनुसारेण प्राप्तम् इति. 'लिङ्'प्रयोगतो अध्यापनप्रयुक्तम् अध्ययनमिति प्रथमम् अध्यापनम् उक्तम् इति भावः. अग्रे **अध्यापनप्रयुक्तं हि तस्मादध्ययनं मतम्** (पत्रा.कारि. : १७) इति उक्तेः अत्रापि तदेकत्वार्थम् "अध्यापनप्रयुक्तम् अध्ययनम् उच्यते" इति भावः. अत्र 'अध्यापयीत'

[३] आचार्यं मां विजानीयात् (भाग.११।१७।२७).
[४] गच्छेदाचार्यसंसदि ( ) इति.

• तत्त्वविवेकः •

इति प्रत्यक्षतो 'लिङ्'-प्रयोगतः श्रूयमाणएव विधिः न अत्र आवश्यकार्थे इति वक्तुं शक्यं—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यत्रतु "आवश्यके विध्यर्थे वा?" इति अर्थद्वयोऽपि 'तव्य'प्रत्यय-इति सन्दिग्धमिति, सन्दिग्धासन्दिग्धयोः असन्दिग्धं ह्येव ज्याय-इति, तदनुसारेणैव व्याख्येयमिति. अत्र वेदाध्ययनविधिः प्रत्यक्षः, तदातु तदनुसारेणैव अध्ययनप्राप्तेः ज्ञातृज्ञापनस्यैव सत्त्वाद् वादिरीत्या अनुवादकत्वे मिथ्यात्वं स्यादिति, अनया रीत्या स्वाध्याये अध्येतव्ये सति अत्र 'तव्य'प्रत्ययः आवश्यके वक्तव्यएवेति, न अत्र काचन विप्रतिपत्तिः इति तत्त्वम् आलोचनीयम्. अध्यापनप्रयुक्तम् अध्ययनं भवतीति प्रथम'लिङ्'प्रयोगतः अध्ययनविधिः इति अर्थः. "उपनयीत तम् अध्यापयीत" **इति आत्मनेपदतः स्वस्य** अध्यापकस्य **स्याताम्** उपनयनम् अध्यापनं च स्याताम्. आत्मनेपदतः स्वस्य वृत्तिरपि **सेत्स्यति** इति. वृत्तिः वर्तनं जीवनम् अध्यापनस्य फलम्. "देशे काले गुरौ स्वस्मिन्" इति पूर्वप्रक्रमितत्वात् सएव अधुनापीति, **स्वस्य** नाम गुरोः आचार्यस्य **स्याताम्** अध्यापनम् अध्ययनं च स्याताम्.

उपनायनं च एकेन कर्तव्यम् अध्यापनं च एकेन[अपरेण!] कर्तव्यम् इति कथं न स्यात्? तत्र उच्यते—न स्याद्! आत्मनेपदतः "तम् उपनयीत तम् अध्यापयीत" इति उभयत्र सामानाधिकरण्यादिति, यएव उपनयेत् सएव अध्यापयेदिति. **स्वस्यैव आत्मनेपदतः** नाम समानाधिकरणात्मनेपदतः स्वस्यैव एतद् द्वयं स्यातां नतु एकस्य उपनयनम् अन्यस्य च अध्यापनं–"यएव उपनयीत सएव अध्यापयीत" इति सामानाधिकरण्याद् अवगम्यते इति भावः. **वृत्तिश्च सेत्स्यति** इति, स्वस्यैव फलम् उपनयनाध्यापनयोः. नहि उपनायनमेव अध्यापनमेव च वृत्तिः, तस्याः जीवनरूपत्वेन उपनायनाध्यापनक्रियाफलत्वात्, ततो भिन्नत्वादिति. अथवा "अध्यापनप्रयुक्तम् अध्ययनं भवति" इति **प्रथमम्** उक्तं नाम अध्यापनं प्रथमं "साङ्गो अध्येयः" इति उक्तम्—अध्यनात् प्रथमं "तम् अध्यापयीत"

स्वातन्त्र्ये च तथा जाते तस्यावश्यकमीर्यते॥१५॥
मर्यादाभङ्गतः केचित् कृत्ये विध्यर्थतां जगुः।

• तत्त्वविवेकः •

इत्यनेन अध्यापनम् उक्तम्. अथच 'लिङ्'प्रयोगतः, एतावता विधिः प्रदर्शित-इति, विधिः चेत् तदा कर्तव्यमेव नोचेत् कदाचित् न कुर्यादपीति. अतो 'लिङ्'प्रयोगतः स्वस्य गुरोः उपनायनकर्तुः स्यातां नाम नियमेन स्याताम्. अन्यथा विध्यभावे नियमेन उपनायनम् अध्यापनं च एते न स्याताम् इति वा अर्थो बोद्धव्यः. अथच **आत्मनेपदतः** नाम क्रियाफलस्य आत्मगामित्वबोधकात्मनेपदतः **स्वस्य** उपनायनाध्यापनक्रियाकर्तुः वृत्तिरूपं फलं च सेत्स्यति इति क्रमतो योजनम् अवधेयम् इति दिक्. आचार्यत्वप्राप्तिरपि फलं, क्रियाफलस्य आत्मगामित्वात्. **सेत्स्यति** इति अन्ते ज्ञातृज्ञापनतासिद्धिः जातेति. एवञ्च स्वस्मिन् फलसिद्ध्यर्थं प्रथमम् 'अध्यापयीत' इति उक्तं; पश्चात्तु "साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इति उपात्तम्. आत्मनेपदेन स्वगामिक्रियाफलबोधनार्थम् आचार्यत्वरूपं फलम् उपात्तं; शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् इति षडङ्गसहितं च. **स्वातन्त्र्ये च तथा जाते** इति, **तथा** नाम पूर्वोक्तप्रकारेण स्वातन्त्र्ये च जाते सति; अर्थात् "तमध्यापयीत" इति अध्यापनविधेः, तस्यैव उपक्रमेण प्रकरणित्वात्. तथाच "तम् अध्यापयीत" इति विधिः स्वतन्त्रो भवति, विधिवाक्यत्वात्. **तथा जाते** पूर्वोक्तप्रकारेण जाते, नाम बालः परवशो भवति स्वाधिकारं न जानातीत्यतः तस्य अध्ययनविधेः असम्भवाद् अध्यापनविधेः प्राधान्यम्. अध्यापनविधेः प्राधान्ये गुरुणा तस्य आवश्यकम् अध्ययनं जातं, स्वाधिकाराभावेऽपि बालस्य आचार्यद्वारा अध्ययनविधेः आवश्यकत्वं तस्य बालस्य अध्ययनम् आवश्यकं कथ्यते. "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यनेन आवश्यकम् अध्ययनम् ईर्यते इति अर्थः; नतु विधीयत इति. अध्ययनविधेस्तु न स्वातन्त्र्यं बालस्य पराधीनतया तस्य अध्ययने विधेः असम्भवात्. तथाच यत्र स्वातन्त्र्यं तत्रैव विधिः इति फलितम्॥१३-१५॥

मर्यादाभङ्गतः केचित् कृत्ये विध्यर्थतां जगुः. शब्दार्थमनपेक्ष्य एवं निर्णयं च स्वबुद्धितः इति, बालस्य अन्यविधिप्रयुक्तम् अध्ययनं,

शब्दार्थमनपेक्ष्यैवं निर्णयं च स्वबुद्धितः ।।१६।।
अध्यापनप्रयुक्तं हि तस्मादध्ययनं मतम्।
एतर्ह्यपि तथैवैतन्न कार्या कल्पना ततः ।।१७।।

• तत्त्वविवेकः •

नतु स्वविधिप्रयुक्तम् इति **मर्यादाभङ्गः**—सो अध्यापनं करोति चेत् तस्य अध्ययनं सिध्यति इति. स्वस्य अध्ययनविधिप्रयुक्त-फलालाभाद् वैदिकं फलन्तु न भवति. तथाच लौकिक-फल-कल्पनापत्तिः स्यात्. तथा सति मर्यादाभङ्गः स्यात्. अतः "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति 'कृत्' प्रत्यये **विध्यर्थतां जगुः** अयं विधिः भवति इति केचिद् आहुः. विधिः चेत् तदातु अवश्यं फलं भवति. नहि कदाचिदपि विधिः[1] भवति. तच्च फलं दृष्टं वा अदृष्टं वा इत्यन्यदेतत् तथाच न फलकल्पनम् इति.

'स्वाध्याय' शब्दार्थम् अनपेक्ष्य एवं स्वबुद्धितः निर्णयं जगुः चक्रिरे इति अर्थः. 'स्वाध्याय'शब्दापेक्षायान्तु न अध्ययनविधिः किन्तु अध्यापनविधिरेव पर्यवस्यतीति पूर्वम् उक्तमेव इति भावः. एवञ्च 'स्वाध्याय'पदमहिम्नैव तदध्ययनफलसमर्पणे कृते सति ततएव नियमतः तद्रागवतः प्रवृत्त्युपपत्तेः पूर्वोक्त[म्!] [अ!]किञ्चित्करमेव **अध्यापन-प्रयुक्ते[क्तं!] हि** इति, तस्मात् 'स्वाध्याय'शब्दार्थम् अनपेक्ष्यैव स्वबुद्धिवशतो विधिः मन्वते; अतः प्रामाणिकम् इदं न भवति, ज्ञातृज्ञापनात्. अतो अध्यापने विधिः, अज्ञातृज्ञापनात्. **तस्माद् अध्यापनप्रयुक्तम् अध्ययनं मतं** सम्मतम् इति अर्थः. **हि** युक्तत्वे निश्चये वा.

एतर्ह्यपि इति, **एतर्ह्यपि** नाम अध्यापनप्रयुक्तम् अध्ययनम् अस्मिन्नपि पक्षे, एतद् अध्ययनं **तथैव** अध्यापनविधिवदेव, **ततः** फल**कल्पना न कार्या** इति. अत्र फलश्रवणाभावेऽपि अर्थात् फललाभो भवति. गुरोरेव आचार्यत्वानुरोधेन अध्ययनस्य इदमेव फलं यद् गुरोः आचार्यत्वसिद्धिरेव, वृत्तिः वा, वाक्यार्थनिर्णयविषये क्रियमाणे वा एवञ्च स्वाध्यायो अध्येतव्यः ।।१६-१७।।

---

[1] इह 'फलरहितः' इति अंशः त्रुटितो भाति.

तत्र संशयमापन्ना बुद्धिर्वाक्यार्थनिर्णये।
एकवाक्यत्वसन्देहाद् ऐकार्थ्याभावतः स्फुटम्॥१८॥
स एकोऽर्थोऽत्र वक्तव्यो यच्छरीरप्रवेशतः।
एकार्थतां श्रुतिर्याति तदभावे तु निष्फला॥१९॥
कुण्ठितैव भवेन्नूनं वेदाध्ययनबोधने।
"वेदोऽखिलो धर्ममूलं", "धर्मो यस्यां मदात्मकः" ॥२०॥
एवं पूर्वर्षिभिः प्रोक्तं जैमिनिः प्रथमं स्वयम्।
निश्चित्य लोकशिक्षार्थम् अर्थप्राधान्यतस्तथा॥२१॥
धर्मं विचारयामास प्रामाण्यादिपुरस्सरम्।
सन्देहस्तु पुनर्जातो वेदान्तेषु यथा पुरा॥२२॥
एकवाक्यत्वमेषां हि धर्मकाण्डे कथं भवेत्।

• तत्त्वविवेकः •

इदन्तु सिद्धम्!

तत्र "एकएव सकलस्वाध्यायवाक्यार्थः उत भिन्नो वा?" इति संशयंप्राप्ता बुद्धिः इति अर्थः. समस्तं वेदवाक्यम् एकम् उत भिन्नम् इति **एकवाक्यत्वसन्देहः = ऐकार्थ्याभावः** तच्च स्फुटम्. एकवाक्यत्वसन्देहात् संशयम् आप्नोति [इति!] पूर्वेण अन्वयो. अतः कारणात् **स एको अर्थो वक्तव्यो** वेदार्थः एवं वक्तव्यो यादृशार्थबोधेन एकार्थतां लभते श्रुतिः. य[स!]एव एको वेदार्थः, तादृशार्थाभावेतु निष्फला श्रुतिः— एकार्थत्वाभावे श्रुतेः तात्पर्यं कुत्रापि नास्तीति श्रुतिः **कुण्ठितैव भवेत्**. तदा **निश्चायकत्वाभावात् श्रुतेः**[!?] इति, निश्चायिका श्रुतिः न स्यादिति—"अयं वेदार्थो वा किम् अथवा?" इति सन्देहएव भवेत्, **न अर्थबोधः** इति, अस्यां श्रुतौ.

मदात्मको धर्मो भवति भगवत्स्वरूपात्मकः. भगवद्वाक्यस्थम् इदं पदं ज्ञेयम्.

सन्देहस्तु पुनः जातः इति, यथा पूर्वे, एकार्थत्वम् उत भिन्नार्थत्वं वा? तथैव अधुना वेदान्तेषु सन्देहो जातः—**एषां** वेदान्तवाक्यानाम् **एकवाक्यता कथं भवेद् धर्मकाण्डे?** इति.

धर्मः पञ्चविधो द्वेधा षड्भिः सम्पद्यते तु सः ॥२३॥
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-विभेदतः।
सर्वो वेदस्तेषु लीनो वेदान्तेषु विचार्यते॥२४॥
"यदेव विद्यये" त्याह "ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ" एव च।
तज्ज्ञानं तेषु हि शक्तं कर्तृशेषास्ततस्तु ते॥२५॥
"ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानी" ति यथा तथा।
फलश्रुत्या पूर्वकाण्डसमाप्त्या चावगम्यते॥२६॥
"ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति", "परं वाप्नोति" कुत्रचिद्।
"वेदमनूच्य आचार्य" इत्युक्तोपनिषद्वचः॥२७॥

• तत्त्वविवेकः •

पञ्चविधो धर्मः तेषु नाम विना रूपज्ञानं धर्मेषु शक्तं, "**यदेव विद्यया करोति**"(छा.उ.१।१।१०)[इति]. पुरुष...[!?]इति, पुरुषरूपकर्तृशेषत्वं धर्माणां विज्ञायते इति वा॥१८-२५॥

ज्ञाननिष्ठाय इत्यादौ कव्यानां पुरुषशेषत्वं पुरुषनिर्मित[मित्त!]त्वं यथा तथा धर्माणां पुरुषशेषत्वम्. यदेव "विद्यया करोति" इति धर्माणां कर्तृनिमित्तता भवति—कर्तुः अङ्गभूताः भवन्ति धर्माः इति. 'यदेव' इत्यत्र कर्ता प्रधानभूतः कर्मतु अप्रधान[नं!]शब्दतः एतादृगेव बोधः इति. **ज्ञाननिष्ठाय कव्यानि देयानि** इति यथा अत्र पुरुषशेषत्वं कव्यानां भवति तथा कर्तृशेषत्वं धर्माणां **फलश्रुत्या पूर्वकाण्डसमाप्त्या च अवगम्यते** इति, "**ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति**"(मु.उ.३।२।९) इति **फलश्रुतिः** धर्माणामेव फलश्रुतिः **कुत्रचित्** शाखायां पर्याप्तं फलं "ब्रह्मविद् **आप्नोति परम्**"(तै.उ.२।१।१) इतिवत् परब्रह्मप्राप्तिफलम् इति अर्थः. **वेदं** सम्पूर्णम् **अनूच्य** उक्त्वा अध्याप्य **आचार्यो** भवतीति. "वेदं सम्पूर्णम्" इति पूर्वकाण्डसमाप्तिः. तथाच फलश्रुत्या अत्रच पूर्वकाण्डसमाप्त्या च एवम् अवगम्यते इति अर्थः. **एवं** नाम पूर्वोक्तं धर्माणां कर्तृशेषत्वं ब्रह्मात्मत्वादिनिरूपणं "यदेव विद्यया करोति" इत्यत्र उक्तं यदेव तत्तद् अवगम्यते. "ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति" इत्यत्रतु फलश्रुत्या धर्माणां ब्रह्मात्माकत्वं; "वेदम् अनूच्य" (तै.उ.१।११।१) इत्यत्रतु पूर्वकाण्डसमाप्त्या च धर्माणां कर्तृशेषत्वम्. सम्पूर्णं वेदम् अनूच्य

शास्त्रान्तरेऽप्येवमेव वैदिकानां मतं तथा।
अतः स्वतन्त्रता वाच्या तथा चेन्नैकवाक्यता ॥२८॥
"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इत्यादिश्च विरुद्ध्यते।
वैदिकानामभिध्यानं स्वरादिनियमैर्युतम् ॥२९॥
वेदा एवं नचान्यार्था वाच्या बुद्धिमता क्वचित्।

• तत्त्वविवेकः •

आचार्यो भवतीति, आचार्यत्वसिद्ध्यर्थं सम्पूर्णो वेदो विनियुक्तो जात-इति, तदनु **अन्तेवासिनं** शिष्यम् अनुशास्ति शिक्षयति. " 'ब्रह्मज्ञानोपदेशेन कर्तृशेपत्वं धर्माणाम्'; **इति, उक्तं च तद् उपनिषद्वचः**च =उक्तोपनिपद्वचः". अथवा "वेदम् अनूच्य आचार्यः" **इति उपनिषद्वचः उक्ता शास्त्रान्तरेऽपि एवमेव** नाम एतदर्थप्रतिपादकमेव वैदिकानां वचनं तिष्ठति. एतादृशं कर्तृशेपत्वावबोधकं धर्माणां ब्रह्मत्वावबोधकं च वचः शास्त्रान्तरेऽपि तिष्ठतीति. अतः **तथा** नाम धर्माणां कर्तृशेपत्वं; पूर्वकाण्डसमाप्तिः जाता तयापि च धर्माणां कर्तृशेपत्वम् अवगम्यत-इति, अन्तेवासिनः वेदान्तवाक्यैः शिक्षणेन, ब्रह्मात्मत्वं च. **अतः** कारणात् कर्मज्ञानकाण्डयोः **स्वातन्त्र्यं वाच्यम्**–इदं पूर्वकाण्डं कर्मप्रतिपादकम्; इदं च उत्तरकाण्डं सर्वस्य जगतः ब्रह्मात्मत्वप्रतिपादकम् इति वाच्यम्. **तथा** काण्डद्वयस्य **न एकताक्यता** इति अर्थः. एवञ्च सति **धर्ममूलं वेदो अखिलो** वेदो धर्मप्रतिपादको जात-इतिच कथं ब्रह्मप्रतिपादकता ? तस्यापि सत्त्वाद् इति अर्थः.

वैदिकानां स्वरादिनियमैः युतं स्वरादिनियमविशिष्टं तत्सहितं वेदाध्ययनं कर्तव्यम् इति यावत्. अथवा अत्र "**इत्यादिर्वा**" इति पाठः. तथाच वैदिकानां स्वरादिनियमैः युतो वेदो अखिलो धर्ममूलम् इत्यादि च अभिध्यानं तत् सर्वं **विरुध्यते** इति अर्थः. स्वतन्त्रतायाम् एकताभावे विरुध्यते इति अर्थः.

एवं नाम एवंप्रकारेण धर्मब्रह्मप्रतिपादकत्वे एकत्वविरोधः समायाति. एवंप्रकारेण वेदाः **अन्यार्थाः** ब्रह्मातिरिक्तार्थाः **नच वाच्याः बुद्धिमता क्वचिद्** इति अर्थः. यद्वा **वेदाएव** प्रथमतो अन्यार्थाः न वाच्याः—एकार्थाः वाच्याः; तन्मध्ये वेदान्तानामपि सत्वाद्, एकता स्यात् पूर्वकाण्डाद् इति अर्थः ॥२६-२९॥

अतो 'वेदान्तवाक्यानि' च [इति!] प्रसिद्धिः.
वैदिकानामपि तथैव प्रसिद्धिः! इति चेद्, एवं
लोकसिद्धस्य जगतो लोकप्रतीतिं बाधित्वा ब्रह्मत्वेन

• तत्त्वविवेकः •

अतः कारणाद् **वेदान्तवाक्यानि च** नाम वेदान्तवाक्यप्रधाना **प्रसिद्धिः** इति अर्थः. तत्रैव ब्रह्मावबोधने तात्पर्याद् इति भावः. अनेन सर्वोऽपि वेदो ब्रह्मपरएव इति सिद्धम्. **वैदिकानामपि तथैव प्रसिद्धिः** इति नाम, काण्डवाक्याग्रात् प्रसिद्धिः **इति चेद्, एवं** सति उभयसिद्धौ **अर्धजरतीयन्यायो** दूषणं, **लोकप्रसिद्धजगतः लोकप्रतीतिं बाधित्वा ब्रह्मात्मकत्वं वेदान्तवाक्यैः सम्पाद्यत-इति** तेषां वादिनां मते अर्धजरतीयन्यायः. सर्वथातु ब्रह्मात्मकत्वेन सिद्धं किन्तु प्रथमतो लौकिकत्वं पश्चाद् ब्रह्मात्मकत्वमिति, सर्वदा ब्रह्मात्मकत्वं न सिद्धमिति अर्धजरतीयन्यायापत्तिः इति दूषणमिति. **तदन्तत्वं** कर्मकाण्डप्रतिपादकवाक्यान्तत्वम्. यथा एका स्त्री पूर्वभागतः युवती उत्तरभागतः वृद्धा, एकसमयावच्छेदेन सा यथा न कस्यापि कार्याय उपयुज्यते तथा एकएव वेदः पूर्वभागतश्च पूर्वकाण्डात्मकः कर्मप्रतिपादकः उत्तरभागतश्च ब्रह्मप्रतिपादक इति नापि कर्मस्वरूपैकप्रतिपादको नापि ब्रह्मात्मैकस्वरूपार्थप्रतिपादको जातः इत्यस्माद् हेतोः तदन्तत्वम् इति अर्थः. अर्धजरतीयन्यायः आगतः तस्मात् "समस्तो वेदो ब्रह्मपरः" इति मन्तव्यम्. तथा एकार्थत्वं सम्यग् अस्य वेदस्य सिद्धम्. लौकिकत्वमपि दृढं नास्ति नापि ब्रह्मात्मकत्वमिति अर्धजरतीयन्यायात् सर्वोऽपि वेदो ब्रह्मपरः इति वरं तदन्तत्वं तत्प्रधानत्वं वेदान्तानां ब्रह्मप्रधानत्वम् इति यावत्. सर्वोऽपि वेदः चेद् ब्रह्मपरो जातः, तदानीम् एकार्थत्वाद्— "अयं पूर्वभागो अयं च परभागः" इति विषयव्यवस्थापि स्यात्. ब्रह्मपरत्वाभावे एकार्थप्रतिपादकत्व[त्वा!]भावाद्— " अयं पूर्वभागो अयं च परभागः" इति विषयव्यवस्थापि [न!] स्यात्. **भिन्नार्थप्रतिपादकत्वम्** इति "स भिन्नो अयं च भिन्न"-इति. "अयमेव च पूर्वभागो अयमेव च परभागः" इति विषयव्यवस्था वक्तुं न शक्यतएवेत्यतः एकस्मिन्नेव पदार्थे 'पूर्वापरभागः' इति व्यवस्था भवति यथाग्रन्थः. इतरथा भिन्नानामपि चेद् एवं व्यवस्था वक्तुं शक्येत तदा भिन्नानामपि ग्रन्थानां न्यायादीनां

अलौकिकत्वं सम्पाद्यतइति अर्धजरतीयन्यायात् तदन्तत्वम्!

ननु लोकनिपुणाः कथं मन्यन्ते? शब्दार्थविचारेण इति ब्रूमः. कथम्? शब्दानाम् अर्थे विचार्यमाणे ब्रह्मैव सर्वं भवति.

'घटपटा'दिशब्दाः धर्मवाचकाएव भवितुमर्हन्ति. घटत्वादिविशिष्टवाचकाः ह्येते इति लोकप्रसिद्धिः. 'घटत्वम्' इति घटगतो धर्मः कश्चिद् ☆तत्सहायकृतं... ☆[१] यत्सद्भावाद् 'घट'पदवाच्यता धर्मिणः. "तस्य भावः त्वतलौ" (पा.सू.५।१।११९) इति त्वो भावप्रत्ययः. 'भावः' इति 'भू'धातोः घञि रूपम्. 'भू'धातुः सत्तायां व्याप्तौ वा. उभयथापि व्यापकस्य सतो वा धर्मस्य वाचको भवति. 'घञ्' च स्वार्थे,

---

• तत्त्वविवेकः •

शास्त्राणां च तत्र "कश्चन पूर्वभागः कश्चन परभागः" इति व्यवस्था क्वचिद् उपलभ्यते[भ्येत!]. यदि चेत् कदाचित् स्यादपि सा सर्वेषाम् एकत्वशास्त्रत्वेन अभ्युपेत्यैवेति तथा इति भावः. अतः कारणात् तदन्तत्वम्.

इदानीन्तु विषयव्यवस्था सम्यग् वक्तुं शक्यते, विषयव्यवस्थाभावे — "को वा पूर्वः को वा अपरः?" इति **लोकनिपुणाः** ब्रह्मात्मकत्वं **कथं मन्यन्ते** इति अर्थः. **तत्सहायकृतं**[!?] नाम 'घट'शब्देन घटत्वविशिष्टव्यक्तिबोधे जननीये घटात्वादिधर्मोः घटधर्मिसहायकृत्. धर्मिणः सहाये करणमेव उपपादयन्ति **यत्सद्भावाद्** घटत्वविशिष्टव्यक्तेः **'घट'पदवाच्यता**, 'घट'शब्दस्य धर्मबलेन इति अर्थः. **'तत्'** शब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वादपि तथा. स्वार्थे 'घञ्' एवञ्च घटसत्ता घटप्रा[व्या!]प्तिः च इति घटभावः. **धर्मस्य वाचको** धर्मवाचकः. **व्यापकस्य** इति **सतः** इति षष्ठ्यन्तस्य **धर्मेण** समन्वयः, एकदेशान्वयस्य स्वीकारेण. प्राचीनमतानुसारेण "क्वचिद् [एक!]देशान्वयस्यापि स्वीकृतत्वाद्" (   ) इति उक्तेः, तस्यापि

---

[१] ☆...☆ चिह्नांकितः कश्चनांशोऽत्र टीकाकृच्छ्रीगिरिधराभिमतपाठे त्रुटितो भाति.

अन्यथा अनवस्था स्यात्. तथाच घटत्वं नाम सतो व्यापकस्य वा धर्मः इति उक्तं भवति. एवं पटत्वादिष्वपि. तथा प्रकृत्यर्थः ब्रह्मैव अर्थः प्रतीयते[1] ... सत्ता सद्रूपैव, ब्रह्मैवेति नतु ततो अतिरिच्यते[2]... आकृतिविशेषव्यङ्ग्याः धर्माः. ते भिन्नाएव शक्तिसङ्कोचेन व्यवहारसिद्ध्यर्थं अङ्गीकर्तव्याः. तथाच 'घटा'दिशब्दाः 'अरुणा'दिशब्दवद् धर्मवाचकाः [3]☆शास्त्रदीपिकायाम् आकृत्यधिकरण... जातावेव शक्तिः स्थापितेति व्यवहारे भट्टनयः... ☆

अतः कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम्॥३०॥

॰ तत्त्वविवेकः ॰

प्रामाणिकत्वात्. तथाच व्यापकरूपो यो धर्मः तद्वाचको भवति. सतः सद्रूपो धर्मः सत्ता, तद्वाचको भवति इति अर्थः. तथाच घटसत्ता घटव्यापनं च इति अर्थः. **तथा प्रकृत्यर्थः ब्रह्मैव. अर्थः प्रतीयते** इति, तथा ब्रह्मभिन्नएव अर्थः प्रतीयते इति न. ब्रह्मभिन्नो अर्थो नैव प्रतीयते इति अर्थः. तथाच लोकप्रतीतौ घटत्वविशिष्टवाचको, वस्तुतस्तु धर्मवाचकः. तथा 'घट' पदेन घटव्यापनं घटसत्ता वा. घटसत्तातु ब्रह्मैव. व्यापनञ्च "व्याप्नोति इति 'व्यापनं'" 'व्यापकः' इति अर्थः. **सत्ता सद्रूपैव, ब्रह्मैवेति नतु ततो अतिरिच्यते** इति, 'घट'शब्देन सत्ता प्रतीयते चेत् सत्तातु ब्रह्मरूपैवेति. ब्रह्मवाचकत्वं 'घटा'दिशब्दानां प्रतीयतइति घटत्वादिरूपे धर्मे शक्तिः 'घट'पदस्य, **'अरुणा'दिशब्दवत्** शब्दानां विशेषणवाचकत्वं जातौ शक्तिः इति अभिप्रायेण. **शास्त्रदीपिकायाम् आकृत्यधिकरणे**[णमि!]ति मीमांसकमतमेव अत्र **गृह्यते** आद्रियते, **जातावेव शक्तिः स्थापितेति, व्यवहारे भट्टनय** इति.

अतः सर्वस्यापि वेदस्य ब्रह्मपरत्वे जैमिनिना धर्म**जिज्ञासा कृतापि कुण्ठिता** भवति, धर्मप्राधान्यविरोधिका इति अर्थः. अतः ते वैदिकाः

१.२. टीकाकृच्छ्रीगिरिधरचरणाभिमतः पाठः इह भिन्नः त्रुटितः च प्रतिभाति.

३. ☆...☆ चिह्नांकितो भागो भिन्नएव कश्चन पाठः त्रुटितश्चापीति सम्भाव्यते.

अनारभ्याधीतगार्ह्यस्मार्ता इव भवेद् यदि।
प्रक्रिया महतां वृत्तिः स्वातन्त्र्यं चात्र तेन न॥३१॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थं श्रेयः स्मार्तं न वैदिकम्।
पुरुषेक्षावशेनैते साध्यसाधनतां गताः॥३२॥
अलौकिको हि वेदार्थः प्रमाणान्तरगो नहि।
परमात्मविचारेण ते चत्वारो ह्यलौकिकाः॥३३॥

• तत्त्वविवेकः •

धर्माः **अनारभ्याधीत-गार्ह्यस्मार्ता इव भवेद् यदि** इति—अनारभ्याधीताः अप्रकरणाम्नाताः, कस्मिंश्चित् प्रकरणे न आम्नाताः, न पठिताः स्मार्ताः धर्माः [इव!] यदाहि अनर्था धर्मजिज्ञासा यदि भवेत्, तदा तैः विचारः किमर्थं कृतः? तत्र **महतां** जैमिन्यादीनां स्वभावः एतादृगेवेति तद्वशतः कृता धर्म**प्रक्रिया.** धर्मनिरूपणं कृतम् इति. **प्रक्रिया** च निरूपणम्. **प्रक्रिया महतां** जैमिन्यादीनां धर्मप्रक्रिया **वृत्तिः** वर्तनम्. महतां वर्तनं किम्? तत्र उच्यते धर्मप्रक्रियाएव इति. 'वृत्तिः' = वर्तने जीवने. जीवनं वर्तनं च धर्मकरणमेव इति अर्थः. **तेन** कारणेन **अत्र** धर्मे **स्वातन्त्र्यं न** धर्मप्राधान्यं नास्ति, तेषां स्वभाववशादेव धर्मविचारः इति॥३०-३१॥

वेदस्य तत्र तात्पर्याभावेन मुख्यतया तत्प्रतिपादकत्वाभावात् पुरुषार्थपर्यवसानाद् वैदिकत्वशङ्का जायते इति चेत् तत्र आह **धर्मार्थकाममोक्षार्थं श्रेयः स्मार्तं भवति, न वैदिकं** पुरुषार्थपर्यवसानत्वाभावात् न वैदिकत्वम्. **परमात्मविचार**सहिताः धर्माद्याः, **पुरुषेक्षा**—ईक्षा = सङ्कल्पः सच इच्छारूपइति—पुरुषेच्छाविषयत्वेनैव, **साध्यसाधना**दिभावं कर्मकरणभावं प्राप्ताः. धर्मसाधनम् अर्थः साध्यएव मोक्षपर्यन्तम्. तत्रच साध्यत्वस्यैव अन्वयो योग्यताबलात्. पुरुषप्रयुक्तैव योग्यतेति कर्मणः फलं तदिष्टत्वेनैवेति, पुरुषेच्छाविषयत्वेनैवेति, स्मार्ताः. न[!?] साध्यसाधनभावः इति **प्रमाणान्तरगो नहि. परमात्मविचारेण** "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र.सू.१।१।१) इति परमात्मविचारत्वेन **चत्वारो अलौकिकाः** भवन्ति परन्तु स्मार्ताः एते भिन्नाः भवन्ति; वैदिकास्तु भिन्नाः. यथा "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" (बृ.उ.३।९।२६) इति उपनिषन्निरूपितमेव ब्रह्म भवति. तद्विचारेणैवच यथा वेदोक्तब्रह्मज्ञानेन

धर्मे ब्रह्मणि च प्रोक्ताः फलत्वेन तथैव ते।

अथ वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्ये वेदान्ताध्ययनं च संन्यासइति तद्विचारः पृथगेव. समाप्तिश्च श्रूयते शिक्षायां– “वेदमनूच्य आचार्यो अन्तेवासिनम् अनुशास्ति” (तै.उ.१।११।१) इत्यादिना; उपनिषद् अनन्तरं पठिता. ☆ आचार्यन्तरेऽपि नैव उत्तरकाण्डाध्ययनं...... ☆ [1] आचार्यान्तरेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन पूर्वकाण्डाध्ययनमेव ब्रह्मचर्ये, न उत्तरकाण्डस्य. सौकर्यार्थमेव पाठान्तरम् इदानीम्. विचारस्तु पश्चादेवेति न एकवाक्यता. अतएव विचारोऽपि पृथगेव.

• तत्त्वविवेकः •

तदुक्तं फलं भवति तत्तु[नतु!] स्मृत्यादिनिरूपितब्रह्मविचारेण. तत्तु भिन्नं तत्र भिन्नं भवति [!?]इति भाष्योक्तत्वात्. वेदविचाराद् अन्यविचारेण सिद्धम् अन्यदेव तद् भवति, नतु वेदोक्तं ब्रह्म “तं त्वौपनिषदम्” (बृ.उ.३।९।२६) इति श्रुतेः केवलोपनिषद्विचारवेद्यत्वाद् ब्रह्मण-इति. **धर्म**सहिते **ब्रह्मणि प्रोक्ताः धर्मे ब्रह्मणि** वा इति अर्थः. [2]......चतुष्टयो भेदः–फलभेदो विषयभेदो अधिकारिभेदो अनुबन्धभेदः च इति. प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धः...... [3] पूर्वकाण्डस्य अप्राधान्यख्यापनार्थं फलैक्यभावप्रतिपादनार्थं ब्रह्मविचारप्राधान्यबोधनार्थं ब्रह्मविचारभेदः पृथग् निरूप्यते इति॥३२-३३॥

तत्र अधिकारिभेदम् आहुः **अथ** इत्यादिना. वेदस्य **समाप्तिः “वेदम् अनूच्य”** इति, आचार्यत्वं वेदसमाप्तौ, **ब्रह्मणि** विषयेतु आचार्यत्वं न, तत्र वेदस्य उपयोगाभावात् किन्तु वेदान्तानाम् इति. एवञ्च वेदे अधिकारिभेदो ब्रह्मविचारे च अधिकारिभेदो, वेदस्य पश्चाद् उपनिषदः पठितत्वाद् वेदसमाप्त्य**नन्तरं पठिता** इति अर्थः. यद्यपि शाखान्तरे “वेदम् अनूच्य” इति वाक्याभावः, आचार्यत्वरूप-फल-श्रवणाभावः, तथापि ब्रह्मविचारेण न वेदाध्ययनम्. एवकारेण आचार्येण न वेदान्ताध्ययनं कथं “वेदम् अनूच्य” इति समाप्त्या आचार्यो

---

[1] चिह्नान्तरितः कश्चन वाक्यांशो अत्र त्रुटितः इति सम्भावना.

[2] अत्र काचन त्रुटिः [3] इहापि काचन त्रुटिः प्रतिभाति.

"साङ्गोपनिषदः" ( ) इति पृथक् पुराणेषु निर्देशः इति. अथवा कुत्रापि आश्रमे विचारो अस्तु, न एकवाक्यता. न वेदत्वम् उपनिषदाम्. स्वरादिनियमः तदन्तानामपि आचारपरम्परया. वाक्येनतु उपयोगः "यदेव विद्यया करोति" (छा.उ.१।१।१०) इति. तथापि कथमुपयोगः इति चेद्, उच्यते—

• तत्त्वविवेकः •

भवतीति वेदसमाप्तिः अत्र श्रुताः. एतस्य उपसंहारः आचार्यान्तरेऽपि नैव **उत्तरकाण्डाध्ययनं**[१] शाखान्तरीयवाक्यान्तरे न उत्तरकाण्डाध्ययनं ब्रह्मचारिणः. श्रूयमाणो गुणः आकाङ्क्षावद् अन्यत्रापि गच्छतीति गुणोपसंहारन्यायो ब्रह्मचारिणो वेदान्ताध्ययनं सौकर्यार्थमेव. वेदपाठाद् अन्यः पाठान्तरम् इदानीं भवतु नाम पाठे बाधकं किमपि नास्ति. वेदान्तविचारस्तु पश्चात् संन्यासे इति अर्थः. **इति न एकवाक्यता** एकाधिकारिकत्वलक्षणा एकवाक्यता नास्ति, भिन्नाधिकारिकत्वाद्, वेदान्तविचारस्य. पूर्वोक्तन्तु **सकलस्य वेदस्य [एकार्थ!]परत्वं वर्ततएव** इति, एकार्थत्वलक्षणैकवाक्यत्वं वर्ततएव इति. अत्रतु एकाधिकारिकत्वलक्षणैकवाक्यत्वं नास्ति इति भावः. अतएव एकाधिकारिकत्वलक्षणैकवाक्यत्वाभावो वा इति[!?] **अतएव** इत्येतस्य अर्थः. **वेदान्तविचारोऽपि पृथगेव** भिन्नएव आश्रमान्तरएव कर्तव्यः इति अर्थः. संन्यासे इति यावत्. "साङ्गो वेदो अध्येतव्यः" इदं [वचनं!] वर्तते, ततः पृथक्कृत्य निर्देशो वेदान्तानां 'साङ्गोपनिषद्' इति, वेदान्तानाम् 'उपनिषत्'शब्दप्रतिपादितानां वेदात् पृथक्तया निर्देशः इति. द्वितीयः पक्षः **कुत्रापि आश्रमे वेदान्तविचारो अस्तु** तथापि पूर्वकाण्डेन समं **न एकवाक्यता,** भिन्नप्रयोजनवत्त्वाद् इति. वेदस्यैव स्वरनियमइति वेदत्वाभावे **स्वरादिनियमः** कथम्? **तदन्तानां** वेदान्तानाम् अध्यापकपरम्परया "यदेव..." इत्यनेन वाक्येन उपनिषदां पूर्वकाण्डे उपयोगः इति अर्थः. यज्ञीयाः पदार्थाः सर्वे

---

[१] अयमंशो मूलप्रतीकः मूले त्रुटितो वा प्रक्षिप्तो वा प्रामादिको वा अन्यथैव वा इति न बुध्यते!

लौकिकेषु पदार्थेषु साङ्गो यज्ञो अध्यस्यते, वैदिके तत्र अर्थे वैदिकता सम्पद्यतइति; ब्रह्मवादेन सर्वस्यापि ब्रह्मत्वे अवगते ब्रह्मण्येव यज्ञः प्रतिष्ठितोऽपि भवति. अयज्ञकालेऽपि वैदिकत्वं सिद्ध्यति.

ननु तच्च वेदान्तत्वं कथं?

(उपसंहारः)

श्रीकृष्ण[स्य!]प्रसादेन मायावादो निराकृतः॥३४॥
अवैदिको महादेवः तत्र साक्षी न संशयः।
ये वैदिकाः महात्मानः तेषां चानुमतिस्तथा॥३५॥

॰ तत्त्वविवेकः ॰

लौकिकाः दध्यादयः, तेषु साङ्गो वैदिको यज्ञो अध्यस्यते ब्रह्मात्मकत्वेन अध्यस्यते, लौकिकाः पदार्थाः एतएव अङ्गभूताः इति अध्यासः. तत्फलन्तु वेदे अभेदे(दो!) विभाव्यते– "यज्ञो अयमेव" इति–एतत्प्रकारकएवेति वैदिकः. वैदिके तत्र नाम वैदिकपदार्थे यज्ञीयाः पदार्थाः वैदिकाः इति. तत्र अर्थो वैदिकः यस्य त[स!]द्भावो नाम वास्तववैदिकार्थत्वं सम्पद्यते, अनध्यस्तवेदार्थत्वम् इति यावद्, वैदिके पदार्थे वास्तववैदिकार्थत्वं सम्पद्यते. वेदेऽपि अलौकिकत्वेन वेदार्थविभावनमिति उपनिषदाम् अयमेव विनियोगः इति ब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मणि प्रतिष्ठितो भवति. "ब्रह्मात्मकएव यस्य[ज्ञः!]" इति ज्ञानं यज्ञकालाभावेऽपि ब्रह्मात्मत्वविधानाद् वैदिकत्वं सिध्यति न लौकिकत्वमिति.

ननु तच्च वेदान्तत्वं कथम्? इति प्रश्नः. अथवा उपनिषदां मायावादप्रतिपादकत्वं तच्च वेदान्तत्वं कथं? नतु न[!?] कथञ्चिचिदपि इति भावः. एतावता परमतं दूषितम्.

श्रीकृष्णप्रसादेन मायावादस्तु अवैदिको निराकृतः, तत्र निराकरणे अवैदिकत्वं हेतुरिति तदेव हेतुत्वेन उपन्यस्तम् इति ज्ञेयम्. अवैदिको वेदप्रतिपाद्यो न भवति इति अर्थः. विश्वेश्वरः, यस्तु देवेषु महान् स साक्षी भवति भगवांस्तु देवाधिदेव-इति, सदसद्विवेकतया मध्यस्थः साक्षी

अवेदविद् न मनुते मया चोपेक्षितः पुनः।

• तत्त्वविवेकः •

भवति. अस्मिन् अर्थे सर्वथैव प्रामाण्यार्थम् उक्तं न संशयः इति. लोके चापि सज्जनानाम् अनुमतिम् अन्तरेण तन्निराकरणासम्भव-इति **तेषां** महात्मनाम् अनुमतिम् अत्र अर्थे दर्शयन्ति. स्वस्य सर्वथा तत्त्वख्यापनाय तेषां च **अनुमतिः तथा** इति, **तेषां** वैदिकानां महात्मनाम् अनु पश्चात् **मतिः**, **महादेवस्य साक्षित्वदर्शनिन तदनु** महादेवसाक्षित्वदर्शनाद् अनु. **तथा** नाम मायावादे अवैदिकत्वेन निराकरणकरणे मतिः यथार्थवेदार्थबुद्धिः वर्तते इति अर्थः. अथवा **ये वैदिकाः**, ये इति प्रसिद्धाः विरलाः वेदार्थवक्तारो वेदविदो महात्मानः—भगवन्माहात्म्यम् अनिशं वेदार्थपरिस्फुरणाद् हृदि आगतं भगवत्कृपयेति यथोक्तवेदार्थविदः— तेषामपि **अनुमतिः** सम्मतिः. **तथा** नाम निराकरणे इति अर्थः. एतेन पाषण्डिनां मायिनां वेदार्थवचनेन भगवन्माहात्म्यास्फुरणाद्, यथार्थवेदार्थज्ञानाभावेन अन्धन्तमोरूपमेव तेषान्तु फलमिति तद्बुद्धित्वात् मायावादो हृदये भासत-इति भगवत्कृपाविशिष्टानां यथार्थवेदार्थस्फुरणाद् भगवन्माहात्म्यज्ञानाद् ब्रह्मवादएव सदा स्फुरतीति तन्निराकरणं तेषां महात्मनां स्वनिराकरणम् उचितमेव सति भावः. एतेन महादेवानुमत्या वैदिकानां च अनुमत्या तन्निराकरणं कृतं नतु स्वतः इति भावः. एतदाशयस्फुरणायैव **महात्मा** इति पदम् उपात्तम्. एतेन '**महादेव**' पदमपि तथा आशयेनैव निरुक्तमिति ज्ञेयम्. इतरथा अन्यदेवनाम उक्तं स्यादिति॥३४-३५॥

अवेदवित् न मनुते इति, नतु वैदिकभिन्नकेवलमायी अत्याग्रही मायमतं दृढीकर्तुम् उद्युक्तः तन्निराकरणं न[!?] अग्रे **डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेस्य मया** इति उक्तत्वात्. मायावादनिराकरणं ब्रह्मवादस्थापनं च; इदं पत्रावलम्बनं च एतत् सर्वं विश्वेश्वरद्वार्येव तत्साक्षितयैव तदग्रे सर्वं काश्यां जातं कार्यम् इति ज्ञाप्यते, वस्तुतस्तु तत्र साक्षित्वेन प्रकटमिति. ननु चेत् तर्हि तत्र दोषारोपेण स्वबुद्धेरपि नाशप्रसक्तिः इति आशयेन आहुः **मया च उपेक्षितः** इति. अथवा स्वयमपि आग्रहवान् भवेत् न वा! इति आशङ्कायां न इति आहुः **मया च उपेक्षितः** इति. एवञ्च तेन समं निर्वचने स मा मनुतां, का वा अस्मत्क्षतिः! यतः

स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः॥३६॥

• तत्त्वविवेकः •

स अवेदवित् वेदार्थज्ञानं तस्य यतः नास्तीति. एवञ्च वेदबाह्यत्वेन तेन समं कलहो अत्याग्रहश्च न कर्तव्यः, किन्तु भगवद्भक्तैः तत्कृपया वेदार्थविद्भिः स उपेक्ष्यएव, असम्भाष्यएव. अतः तत्सह न सम्भाषणं, तेन केवलं वेदविरुद्धतर्कनिरूपणे कृते तत्सङ्गेन स्वस्यापि असन्मताभिनिवेशेन भगवद्भक्तिः स्वस्माद् अपह्रियेत इत्यतो जन्मवैयर्थ्यमेव भवेदिति.

अतो भगवद्भक्तैः वेदबाह्यो बहु असम्भाष्यएव इति भावः. यतो अस्मन्मार्गो हि वैदिको वेदविद्भिरेव मान्यो मन्तव्यः. तत्र अन्यो अवेदविन् मनुतां वा मा वा मनुतां, का तत्र विचारणा! इति; यतः सच उपेक्ष्यएव इति भावः. ननु मायामतं निराकृतं वेदबाह्यश्च उपेक्षितः, एतावता स्वमते किं स्थापितम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **स्थापितो ब्रह्मवादो** हि इति, असदालापेन तेन समं वल्गनेन न किञ्चित् प्रयोजनमिति तत्र उपेक्षां कृत्वा ब्रह्मनिश्चयेन **सर्ववेदान्तगोचरः** प्रसिद्धो **ब्रह्मवादः स्थापितो** मया इति शेषः. पूर्वं निरुक्तएव, तस्यैव स्थापितः इत्यनेन सह अन्वयः. ब्रह्मवादस्थापनेन प्रमाणमूर्धन्यवेदान्तस्यैव मानत्वेन ब्रह्मवादस्यापि मायावा[दा!]दिनः[दितः!] सर्वमूर्धन्यत्वं द्योतितम्. अतो ब्रह्मवादाद् आधिदैविकात् सर्वे अपकृष्टाः वादाः हीनाधिकारिणो यथाकथञ्चिद् बोधनार्थम् उक्तत्वाद् इति भावः. हि युक्तश्च अयम् अर्थः, तत्र उपेक्षां कृत्वा एतत् प्रमाणमूर्धन्य-प्रसिद्धब्रह्मवाद-स्थापनम् उचितमेव, युक्तत्वादिति. **सर्ववेदान्तगोचरः** इत्यनेन मायावादस्तु अवैदिकएव प्रथमतो वेदे कुत्रापि न प्रतिपादितः. ब्रह्मवादस्तु सर्वेष्वपि वेदान्तेषु प्रसिद्धः, सर्वप्रमाणमूर्धन्यो यत्र वेदएव, प्रथमतः, तन्मूर्धत्वाद् वेदान्तानाम्. अतः वेदप्रमाणमूर्धन्य-सर्ववेदान्तप्रसिद्धो नतु यत्किञ्चिद्वेदान्तप्रसिद्धः इति. ब्रह्मवादस्यापि प्रसिद्धतमत्वम् अतिमायिकतमत्वं च इति भावो अवगन्तव्यः. एतेन अयं वादोऽपि सुप्रसिद्धतयैव स्थापितः इति ज्ञातव्यम्. अतएव अग्रे वदिष्यन्ति **डिण्डिस्तु वादितो द्वारि** इति, दैवानामेव अयं वादो न असुराणां तेषान्तु मायावादादिः. अतः तेषामेव एतद्द्वारस्थापनेन परमसन्तोष-इति महादेवसन्तोष प्रार्थयन्ति.

काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु।
कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा।।३७।।

• तत्त्वविवेकः •

यतः काश्यामेव एषो वादः स्थापितः तस्मात् काशीपतौ प्रसन्ने सर्वैव सा [देवता] प्रसन्ना स्यादिति तथेति. पूर्वं देवताप्रसन्नता अपेक्षिता तत्प्रसन्नतयैव लोके तत्कार्ये सुदृढसंस्थापनम्. काश्याञ्च सएव अधिपतिः देवइति. स्वयं यद्यपि ईश्वराः तथापि भूमौ दैवोद्धारार्थम् इति पूर्वं निरुक्तम्. **श्रीकृष्णप्रसादेन** इति, तत्संबन्धः स्थापितो ब्रह्मवादो हि इत्यन्तं ज्ञेयः.

सन्मनुष्याकृतिद्विजरूपत्वेन प्रकटितत्वेन ''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'' (ब्र.सू.२।१।३३) इति लोकन्यायेन तया[था!] अवतारकार्यतया महादेवतोषप्रार्थनमपि न अनुपपन्नं किन्तु प्रसङ्गादानुषङ्गिकतया उक्तम्—''एतत्स्थापनेन काशीपतिः त्रिलोकेशः प्रसन्नो भवतु'' इति. ब्रह्म हि देवाधिदेवाख्यं पुरुषोतमाख्यं तद्वादस्थापनेन देवेषु महादेवः तत्प्रसन्नत्वप्रार्थनम् उचितमेव. ब्रह्मवादस्थापनेन सर्वेषां सत्यत्वनिरूपणात् सर्वे देवाः सत्यतया तत्स्थापिताः जाता-इति देवानामपि तोषहेतुः स वादो भवत्येवेति महादेवप्रसन्नत्वप्रार्थनं, साक्षी प्रसन्नः कर्तव्य-इति. अत्र हि ''सिद्ध-साध्य-समभिव्याहारे सिद्धं साध्याय उपयुज्यते''—'' मलिनं ते वपुः स्नाया!'' इत्यत्र इव सिद्धस्य ब्रह्मस्थापनस्य असिद्धमहादेवतोषहेतुत्वं ज्ञेयम्. **स्थापितो ब्रह्मवादः** इति उक्त्वा तदनुपदमेव काशीपतितोषहेतुत्वप्रार्थनं निरुक्तमिति एतादृक्पदसमभिव्याहारवशादपि तद्धेतुत्वम् अध्यवसेयम्. अन्ततो गत्वा पर्यवसानतः पूर्वोक्तमेव फलति. अत्र एवं ज्ञेयं—^{१}**'स्थापितो'** ^{२}**'ब्रह्मवादः'** ^{३}**'सर्ववेदान्तगोचरः'** इति पदत्रयसाम्याद् अत्रापि पदत्रयम् उपात्तं ^{१}**'काशीपतिः'** ^{२}**'त्रिलोकेशो'** ^{३}**'महादेवः'** इति. स्थापितः काश्याम् अथवा सर्वत्र, अतः कारणात् काशीपतिः तुष्यतु, काश्यामेव पतित्वेन स्थापनात्. ब्रह्मवादः—तच्च ब्रह्म '' 'ॐ' इति एकाक्षरम्'' (भ.गी.८।१३) अश्च उश्च मश्च इति ॐ सच्चिदानन्दात्मकं च तद् भवति अतः कारणात् त्रिलोकेशः स्वर्गमृत्युपातालेशः सात्त्विकादिगुणेशो वा तुष्यतु. सर्ववेदान्तगोचरो महाप्रसिद्धो भवति अतः कारणात्. ''महादेवः स प्रसिद्धः तुष्यतु''इति आशयेन पल्लवोक्तिः विज्ञेया. अथ ब्रह्मवादस्थापनानन्तरं

न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः।
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि॥३८॥
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः।

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं पत्रावलम्बनं सम्पूर्णम्॥

• तत्त्वविवेकः •

यस्य कस्यचिद् ब्राह्मणजातिविशिष्टस्य **सन्देहः** स्याद् भवति वा **स मां सर्वथा पृच्छतु**! तेनतु मया सह प्रश्ने “एते महान्तः ईश्वराः सर्वज्ञाः क्व! क्वच अहं स्वल्पविद्यो जीवः!!” इत्यादिकं **भयं न कर्तव्यम्**. यतो **ब्राह्मणानां** ब्रह्मवादविषयकप्रश्ने **इयमेव गतिः** आश्रयः प्राप्यं स्थानम् इति यावत्.

ननु भवद्भिः कक्षा कुत्र स्थले निवेशप्रश्नः कर्तव्यः कुत्र वा समागमनम्? इत्यतः आहुः **डिण्डिस्तु** [इति!]. **अत्र** काश्यां **विश्वेश्वरस्य द्वारि मया डिण्डिस्तु वादितः**. अन्यत् मया किं करणीयम्! डिण्डिवादनेऽपि चेत् न श्रवणं तदातु मम दोषो नात्र दीयताम्. आयान्तु चेत् प्रष्टुम् आगच्छन्तां, मया अत्र समाधानं कार्यम् इति भाव. अतः कारणाद् **विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं** श्रवणीयम्. तद् इदं पत्रावलम्बनं तैः कथं श्रवणीयं किं वा तत्र तेषां प्रयोजनम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः यतो युक्तमेव तद्रक्षणं यतोहि विद्वत्त्वात् **तेहि सन्मार्गरक्षकाः** भवन्ति; अतः तैः श्रवणे कृते सन्मार्गस्य रक्षणं जायत-इति. असन्मार्गस्य दूरीकरणं सिध्यतीति तैः अवश्यं श्राव्यम् इदं पत्रावलम्बनम्. यतः सन्मार्गश्रवणेनैव तद्रक्षणं सिद्धं भवति. श्रुतेहि तस्मिन् समादरणेनैव सतां तद्रक्षणं सम्भवति नतु अश्रुते. अतोहि सन्मार्गश्रवणस्य आवश्यकता द्योतिता. पश्चाच्च तस्मिन् मनसि समागते तद्रक्षणमपि सिद्धं भूतमिति किम् अन्यद् अवशिष्यते इति सर्वं रमणीयमेव इति॥३६-३८॥

इत्याकृते निजाचार्यैः कृते पत्रावलम्बने।
कृतस्तत्त्वविवेकोऽयं विद्वज्जनमनोमुदे॥१॥
मया गिरिधरेणासौ तदनुग्रहसाधनात्।

समाकलय्य बहुशो नितरां तद्विभावनात् ॥२॥
एतेन सततं श्रीमद्वल्लभाधीशविठ्ठलौ।
प्रसीदतां कृपालुत्वात् स्वदासे सततं मयि ॥३॥
स्वाचार्यैः रचिते काश्यां विश्वेशे सति साक्षिणि।
तद्द्वारि स्थापिते सम्यक् श्रीमत्पत्रावलम्बने ॥४॥
स्थापिते ब्रह्मवादे हि सर्ववेदान्तगोचरे।
मया गिरिधरेणेदं तदनुग्रहसाधनात् ॥५॥
समाकलय्य नितरां सततं तद्विभावनात्।
कृतस्तत्त्वविवेकोऽयं भूयाद्विद्वन्मनोमुदे ॥६॥
मायामते निरसिते श्रुत्यनुक्ते सदुक्तिभिः।
स्थापिते ब्रह्मवादे हि सुस्थिरे श्रुतिगोचरे ॥७॥
भूमौ तद्विजये सिद्धे परास्तेषु च वादिषु।
मया गिरिधरेणेदं तदनुग्रहसाधनात् ॥८॥
एतेन नितरां श्रीमद्वागधीशाः स्वयं मुदा।
कृपयन्तु कृपालुत्वात् स्वदासे सततं मयि ॥९॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मज-श्रीगिरिधरेण विरचितो
विद्वज्जनमनोमोददायकः पत्रावलम्बनतत्त्वविवेकः
सम्पूर्णः

◆ ◆ ◆

श्रीमद्वल्लभाचार्यमहाप्रभुप्रणीताः

।। पूर्व-मीमांसा-भाष्य-कारिकाः ।।

श्रीमत्पुरुषोत्तमानां विवरणेन संवलिताः

श्रीकृष्णाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः * पूर्वमीमांसाभाष्यं चिकीर्षन्तः — तत्र विस्तरेण प्रतिपिपादयिपितं जिज्ञासासूत्रार्थं सङ्क्षेपेण कारिकाभिः सञ्जिघृक्षन्तः — शास्त्राधिकरणोक्तायाः धर्मजिज्ञासायाः अनुबन्धचतुष्टयं प्रेक्षावत्प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं वक्तुं; तद्द्वारा तस्याः आवश्यकतां च प्रतिपादयितुं, वैदिको निर्णयो न लोकरीत्या सिद्ध्यतीति बोधनाय * प्रथमं लौकिक-वैदिक-मार्गयोः भेदं व्युत्पादयन्ति —

लौकिको वैदिकश्चैव मार्गो नित्यो द्विधा मतः।
प्रवाहेण स्वरूपेण नित्यत्वं च तयोः क्रमात्।।१।।
अर्थः प्रधानं लोके हि शब्दोऽन्यस्मिन्निति स्थितिः।

लौकिकः इत्यादिसार्धेन. **मार्गः** फलप्राप्ति-साधन-परम्परा. तथाच स्वरूपभेदात् प्रवाहभेदात् च भेदः इति अर्थः।।१।।

लोकरीत्या कुतो न वैदिकनिर्णयः! इति आङ्क्षायां तयोः विरुद्धत्वं व्युत्पादयन्ति —

जलाग्न्योरिव संरक्षा तयोः कार्या मनीषिभिः।।२।।
लोको[1] जलं द्वितीयस्तु दहनो वैरिणौ मिथः।
लोकदृष्ट्या यदा वेदः स्पृश्यते नाशमेति हि।।३।।

---

[1] १. 'लोके' इति मुद्रितपाठस्तु मुं.वि.पाठानुसारेण संशोधितः.

जलाग्न्योः इत्यादि हि इत्यन्तेन. अत्र जलाग्निदृष्टान्तो जन्य-जनक-भावेऽपि नाश्य-नाशक-त्वस्य प्रबल-निर्बल-भावस्य च बोधनाय. **स्पृश्यते** इति गृह्यते. संयोगाख्यस्पर्शस्य सर्वत्र व्यापारत्वाद् एवम् उक्तम्. **नाशश्च**, लौकिकवाक्यतुल्यतायां, तदर्थे अविश्वासेन स्वकार्याक्षमत्वरूपः, क्वचिद् विप्लवरूपः च; अयोग्यतादिभानेन अन्यथार्थकल्पनरूपश्च बोध्यः. तेन प्रवाहभेदात्[1] न लौकिकरीत्या वैदिकनिर्णयः इति बोधितम्॥२-३॥

अतः परं यथा निर्णयो भवति तं प्रकारं वक्तुं तत्परिकरम् आहुः—

लौकिकं सहसा वेदो नहि बाधितुमर्हति।
यथा पात्रव्यवहितं वह्निना शुष्यते जलम्॥४॥
तथाधिकारिचित्तस्थो लोको वेदेन शुष्यति।

लौकिकम् इत्यादि. अत्र अधिकारिचित्तस्थः इत्यनेन वासनात्मको बोधितः. तेन, बाह्यस्य तस्य प्रवाहनित्यतायाः न भङ्गो; बाध्यबाधकभावः च उपपन्नः, इति बोधितम्. तेन प्रथमस्तु अधिकारिपरिकरः इति बोधितम्॥४॥

तत्स्वरूपबोधनाय फलं विवेचयन्ति—

धर्मार्थकाममोक्षाख्याः वर्णिनां प्रतिलोमतः॥५॥
नियताः पूर्वभावी तु पराङ्गं सति निश्चितम्।
सतः शूद्रस्य नार्थाद्याः मोक्षो हि ब्राह्मणे स्थितः॥६॥
धर्मार्थकामैः साध्यः स नान्यथा ब्रह्मता भवेत्।
सेवाधर्मस्तु शूद्रस्य नान्यो ह्युत्तरसाधकः॥७॥
अर्थादिसाधको धर्मो वर्णिनामिति निश्चयः।
तत्रापि वैदिको धर्मो मोक्षान्तो ब्राह्मणे स्थितः॥८॥

---

[1] 'प्रधानभेदात्' इति मुद्रितपाठस्तु प्र. पाठानुसारेण मूलानुरोधेन च संशोधितः.

मोक्षे[1] हि लौकिकः शुष्येदतो वेदस्य तत् फलम् ॥
फलं सुखं तस्य काष्ठा ब्रह्मानन्दः इति स्थितिः ॥९॥
सच्चिद्रूपं च तत्रेति[2] केचित्तत्रैव संस्थिताः ।
गृहस्थानामतिथिवद् गृहस्था इव केचन ॥१०॥

धर्मार्थ... इत्यादिभिः सार्धैः पञ्चभिः. **वर्णिनां** *वर्णो ब्राह्मणत्वादिनामा देवता-विशेषः इति "ब्रह्माननः क्षत्रभुजः" (भाग.२।१।३७) इत्यत्र सुबोधिन्यां स्थितं, तदधिष्ठितानां* **प्रतिलोमतः** शूद्र-वैश्य-क्षत्रिय-ब्राह्मणाः इति प्रतिलोमक्रमतः, **धर्मार्थकाममोक्षाख्याः** पुरुषार्थाः **नियताः**, ब्राह्मणस्य दैववर्णत्वात् –शूद्रस्य असूर्यत्वाद्– अन्ययोः तारतम्येन सङ्कीर्णत्वात् – तत्तत्प्रकृत्यनुसारेण अभीष्टतया लभ्यतया च व्यवस्थिताः. तु पुनः, एतेषु यो-यः **पूर्वभावी** पुरुषार्थः स-सः, **सति** समीचीने अधिकारिणि, **पराङ्गं** तुरीयपुमर्थाङ्गम् इति **निश्चितं** वेदपुराणादिभ्यो निर्णीतम्. तेन मोक्षएव परमं फलम् .

किञ्च यः **शूद्रेषु सन्** पूर्वसंस्कारेण उत्तमबुद्धिः मुमुक्षुः तस्य, **न अर्थाद्याः** अपेक्षिताः किन्तु मोक्षो अपेक्षितः. अतो असूर्यस्यापि, सत्त्वे यदा तदाकाङ्क्षा, तदा तस्य फलत्वे किं वाच्यम्!

किञ्च **मोक्षो** हि निश्चयेन **ब्राह्मणे स्थितः** तस्यैव तत्र स्वरूपयोग्यता-सद्भावाद् निर्णीतः. अन्येषान्तु **धर्मार्थकामैः सः** ब्राह्मणदेहः **साध्यः. अन्यथा** तेषां त्रिवर्ग-पर्यवसित-मतित्वे **ब्रह्मता** ब्राह्मण्यं जन्मान्तरे **न भवेत्**. तथाच यदधिकारस्य एवम् उत्कृष्टता तस्य फलस्य उत्कृष्टत्वे किं वाच्यम् इति अर्थः. नच वैदिकधर्मेषु अनधिकृतस्य शूद्रस्य आकाङ्क्षिततया कथं मोक्षस्य उत्कृष्टत्वम्? इति शङ्क्यं, "पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रुषाधर्मसिद्धये तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः" (भाग.३।६।३३) इति, "शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया तत्र लब्धेन सन्तोषः" (भाग.११।१७।१९) इति पुराणोक्तसेवाधर्मः तस्यापि उत्तरस्य

---

१. 'मोक्षो' इति मुद्रितपाठस्तु विवरणानुरोधात् संशोधितः.

२. 'तच्चेति' मुद्रितः पाठः संशोधितो मुं.वि. पाठानुसारेण विवरणानुरोधेन च.

मोक्षस्य साधकः इति पुराणेषु सिद्धत्वाद्.

किञ्च यः पुनः **अर्थादिसाधको धर्मः** "स्वर्गकामो ...यजेत" (आप.श्रौ.सू.१०।२।१) इत्यादिश्रुत्या बोधितः सः **वर्णिनां** मुमुक्षाशून्यानां साधारणानाम् **इति** तत्तद्वाक्याद् **निश्चयो** नतु महावाक्याद्. अतः **तत्रापि** अवान्तरवाक्येऽपि महावाक्यानुरोधाद् "एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि" (भ.गी.१८।६) इति गीतास्मृत्युपबृंहणात् च **वैदिको धर्मो ब्राह्मणे मोक्षान्तो** निश्चितः, काममयस्य पुरुषस्य विश्वास-जननद्वारा चित्तशुद्धौ विचारोत्तरं मोक्षान्तो निर्णीतः. **हि** अतो हेतोः, **मोक्षे लौकिकः** त्रिवर्गः **शुष्येद्** असारतां गच्छेद्. अतो वेदस्य **तत्** मोक्षरूपमेव मुख्यं **फलम्**. तेन फलविचारो द्वितीयः परिकरः इति बोधितम्.

नच *सुखार्थं सर्वेषाम् आकाङ्क्षासत्त्वात् तदेव वाक्यशेषोक्तं मुख्यं फलं मोक्षस्तु निःसम्बोधो-निरानन्दइति स कथं फलम्? इति* शङ्क्यं, **फलं सुखम्** इति निर्विवादम्. **तस्य काष्ठा** पारम्यं **ब्रह्मानन्दः इति स्थितिः** "एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति" (बृ.उ.४।३।५२) — "स एको ब्रह्मण आनन्दः" (तै.उ.२।८) इत्यादि-श्रुतिसिद्धो निश्चयः. किञ्च **तत्र** ब्रह्मणि **सच्चिद्रूपं च** वर्तते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै.उ.२।१।१)इति श्रुतेः. **इति** हेतोः **केचिद्** ऋषयः **तत्रैव** सच्चिद्रूपे **संस्थिताः** तदेव रूपं यावद्दुःखराहित्यात् फलत्वेन निर्णीतवन्तः. अतो निःसम्बोध-निरानन्दपक्षस्य श्रुत्यसिद्धत्वाद् असङ्गतत्वेन उक्तरूपो मोक्षएव मुख्यं धर्मस्य फलम्.

किञ्च **केचन** आनन्दाः **गृहस्थानां** सकामानां जघन्याधिकारिणाम् **अतिथिवद्** अनित्याः. **केचन गृहस्था** इव सार्वदिकाः. ते उभयविधाअपि धर्मफलभूताः ॥५-१०॥

तेन सिद्धम् आहुः—

अतः साधकपक्षस्तु मुख्यः साभिमतेर्महान्।
अतो धर्मस्य जिज्ञासा कर्तव्या सर्वथा द्विजैः ॥११॥

जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञः प्रतिज्ञां तत् करोति हि।

अतः इत्यादिसार्धेनः. **अतः साधकपक्षः** धर्मो मोक्षसाधकः इति पक्षो **मुख्यः** उत्कृष्टः, ''कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः अथापरे मनीषिणः कर्मभ्योऽमृतत्वामानशुः'' (   ) इत्यादिश्रुतेः, ''कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः'' (भ.गी.३।२०) इत्यादि स्मृतेः च अन्येषाम् अल्पानन्दत्वेन अमुख्यत्वात् च. यः पुनः ज्ञानशून्यत्वाद् देहादिषु दृढाध्यासपुरुषः तस्य **साभिमतेः महान्** पुष्कलकर्मकरणपक्षः. तथाच एवं फलानाम् अधिकारिणां स्वभावतारतम्यविचारः तृतीयः परिकरः इति अर्थः. **अतः द्विजैः** त्रैवर्णिकैः सकामैः निष्कामैः च फलसाधनीभूतस्य **धर्मस्य जिज्ञासा** विचारः **सर्वथा** कर्तव्यः. **तत्** तस्मात् हि निश्चयेन **कर्मतत्त्वज्ञो जैमिनिः** धर्मविचार-**प्रतिज्ञां करोति**. तथाच धर्मविचारः आवश्यकः इति अर्थः. एतेन अनुबन्धचतुष्टयं बोधितम्॥११॥

ननु स्वातन्त्र्येण धर्मविचारप्रतिज्ञा क्रियते उत विधिमूलकत्वेन? आद्येतु न विचारेण वैदिकफलसिद्धिः व्यधिकरणत्वात्. द्वितीयेन इतितु अयुक्तं, विचारे विध्यदर्शनाद् इति आशङ्कायाम् आदिमं पक्षं प्रथमतः समर्थयन्ति—

स्वातन्त्र्येऽपि च संसिद्धयेन्मीमांसायाः फलं महत्॥१२॥
पुराणपङ्क्तिपाठेन शिक्षाद्यङ्गेष्वपाठतः।
नैतावता लौकिकत्वं स्वरूपेण फलेन वा॥१३॥
वेदैकविषयत्वेन गुणतातु[1] प्रतीतितः।

स्वातन्त्र्ये...इति द्वाभ्याम्. **महद्** इति वेदोक्तम्. याज्ञवल्क्येन— ''पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश'' (या.स्मृ.१।१।३) इति **पुराणादिषु पाठेन** तदपेक्षायाअपि धर्मे सत्त्वात्. यः पुनः चरणव्यूहे **शिक्षाद्यङ्गेषु अपाठः, एतावता न लौकिकत्वम्.** तत्र हेतुः **वेदैकविषयत्वम्.** ननु यदि एवं तदा चरणव्यूहे

---

[1] प्र.पाठानुसारेण संशोधितोऽयं पाठः, 'गुणत्वात्तु' इति मुद्रितपाठस्तु अशुध्दः.

उपाङ्गतया गणनाद् गौणत्वं कुतः उक्तम्? इत्यतः आहुः गुणतातु प्रतीतितः इति उपाङ्गतया गौणता प्रातीतिकी मीमांसायाः अङ्गसापेक्षत्व-बुद्धिकृता नतु वास्तवी; आराद् उपकारे वा संनिपत्य उपकारे वा, अङ्गतायाः अनपायाद् इति॥१२-१३॥

अत्र आशङ्कते—

तथापि वैदिकानां हि सन्तोषो नैव जायते॥१४॥
वेदार्थमात्रकृतिनामप्रवृत्तिश्च सम्भवेत्।

तथापि इत्यादि॥१४॥

तत्र प्रतिवादिनो मूर्खत्वं बोधयन्तः प्रकारान्तरेण समादधते—

विचारानन्तरं ह्येवं तथाप्यत्याग्रहो यदि॥१५॥
सन्देहवारकं[1] शास्त्रं तदैतत् सुविनिश्चितम्।

विचार... इत्यादि, वैदिकविषयत्वेन निवारिते वैयधिकरण्ये; समर्थितायां च अङ्गतायां यदि लौकिकत्वे गौणत्वे वा आग्रहः, तदा इदं **शास्त्रं सन्देहवारकं[2] सुविनिश्चितम्** इति हेतुगर्भितं विशेषणम्. तथाच सुविनिश्चितत्वात् सन्देहवारकत्वेन अङ्गतुल्यत्वात् न असन्तोषादिहेतुत्वम् इति अर्थः॥१४-१५॥

ननु भवतु एवं तथापि न अङ्गतौल्यम् इति आशङ्कते—

ऋषेरकौशलन्तु स्यात् फलतस्तुल्यता तयोः॥१६॥

---

[1] 'सन्देहवारणं' इति प्र.पाठः.
[2] 'सन्देहवारणं' इति प्र.पाठः.

ऋषेः इत्यादि. **तयोः** अङ्गमीमांसयोः **फलतः** सन्देहवारणरूपात् फलात् तौल्यं, नतु स्वरूपतो, अङ्गवत् श्रुतौ अनुक्तत्वात्. अतः **ऋषेः** जैमिनेः, अङ्गविचारं विहाय पृथक्शास्त्रकरणे प्रवृत्तत्वाद् अकौशलन्तु स्यात्. तस्माद् अप्रयोजकम् इति अर्थः ।।१६।।

अत्र समादधते—

स्वाध्याय[१]विधिमूलत्वं तदा ह्यस्य भविष्यति।
सुष्ठ्वासमन्तादध्येयः स्वाध्यायो वेद उच्यते।।१७।।
देशकालादिनियमात् निःसन्देहश्च सर्वतः।
उपसर्गद्वयादर्थस्तथाध्येयो न चान्यथा।।१८।।
पाठे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने शिक्षादीनां द्वयं-द्वयम्।
वाक्यार्थस्यतु निर्धारो न शक्यस्तैः कथञ्चन।।१९।।
अतो वाक्यार्थनिर्धारे मीमांसैव गतिर्भवेत्।
निर्धारितं ततो ह्यर्थं महावाक्यैकगोचरम्।।२०।।
स्वयञ्च गुरुतो ज्ञातं प्रतिज्ञायां करोति च।

स्वाध्याय... इत्यादि. तथाच एवं श्रौतत्वात् न उक्तदोषावकाशः इति अर्थः. तद् व्युत्पादयन्ति सुष्ठु... इत्यादि. **नियमाद्** इति 'ल्यब्'लोपे पञ्चमी.

तथाच—

देशकालादिनियमं विधाय अध्ययनं = सुष्ठुअध्ययनम्.
पाठार्थानुष्ठानेषु सन्देहराहित्यपूर्वकम् अध्ययनम् = आसमन्ताद् अध्ययनम्.

अयम् अर्थः उपसर्गद्वयाद् लभ्यते. अतः तदुभयपूर्वकम् अधीतो वेदः स्वाध्यायो नतु अन्यथा. तत्र पाठादिषु सन्देहवारकम् एवं द्वयं-द्वयम्.

---

[१] पत्रावलम्बने "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वचनस्य विधित्वास्वीकाराद् 'स्वाध्याय-विधि...' इति पदप्रयोगः "परप्रसिद्धचैव परो बोधनीयः" इति न्यायम् अनुसरति.

तैः वाक्यार्थनिर्धारस्तु न भवति, यथा ''अक्ताः शर्करा उपदधाति''[१] इत्यादौ. **अतः** तत्र **मीमांसैव** उपायः. तथाच स्वाध्यायविधिमूलतया स्वरूपतोऽपि श्रौतत्वेन अङ्गतौल्यात् न ऋषेः अकौशलम् इति अर्थः. सिद्धम् आहुः **निर्धारितम्** इत्यादि. **ततो** हि इति साक्षात् सम्पूर्णाद् वेदादेव **करोति** विषयत्वेन वदति॥१७-२०॥

प्रतिज्ञातस्य अर्थस्य वैदिकत्वं स्फुटीकर्तुं श्रुतिं तदुपबृंहणं च वदन्तः स्फुटम् आहुः—

''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्''[२] ॥२१॥
''वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्-विपर्ययः''[३]।
''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''[४]इत्यादिश्रुतिभिः स्फुटम्॥२२॥
वेदार्थो धर्म एवेति स्वयं निश्चित्य सर्वतः।
जिज्ञासां प्रतिजानीते धर्मस्येति...............॥

यज्ञेन इत्यादि **धर्मस्य** इत्यन्तम्॥२१-२२॥

अत्र ''मीमांसाद्वयम् एकं शास्त्रम्''इति वादिनां मतम् आहुः—

.... अथ केचन॥२३॥
''वेदएव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः''[५]।
अतस्तदर्थसंसिद्धौ सर्वं सेत्स्यति सर्वतः॥२४॥
''अथातो धर्मजिज्ञासा'' सूत्रमाद्यमिदं ततः॥

अथ केचन इत्यादि. उक्तवाक्याद् यतः एवम् अतः **तदर्थस्य** वेदार्थस्य **संसिद्धौ** निर्विचिकित्से ज्ञाने सति **सर्वतः** कर्मभ्यो ज्ञानात्

---

१. तै.ब्रा.३।१२।५इत्यत्र ''शर्करा अक्ता उपदध्याद्''इति पाठभेदेन. २.ऋ.सं.१-०।९०।१६. ३.भाग.६।१।४०, ४.म.स्मृ.२।६, ५.या.स्मृ.१।२।४०.

च सर्वं पुमर्थचतुष्टयं सेत्स्यति ततः तदभिप्रायेण इदम् आद्यं सूत्रम् “इति आहुः” इति शेषः॥२३-२४॥

एवं प्रतिज्ञाम् उपपाद्य सूत्रं व्याकुर्वन्ति—

शास्त्रारम्भेऽथशब्दस्तु श्रुत्या मङ्गलबोधकः॥२५॥
[१] अर्थान्तरे विकल्पो हि अधिकारे स्वतन्त्रता।
अथाधिक्रियते यस्माद् धर्मज्ञानात् फलं महत्॥२६॥

शास्त्र... इत्यादि. **हि** यतो हेतोः श्रुतिमात्रेण मङ्गलं साधयति अतो **अर्थान्तरे** विशेषेण कल्पनीयः. तत्र अनन्तरारम्भार्थान्तरोपक्रममध्ये कुत्र कल्प्यः? इति आकाङ्क्षायाम् **अधिकारे** आरम्भे कल्प्यः. तत्र हेतुः **स्वतन्त्रता** इति, शास्त्रस्य स्वतन्त्रत्वात्. तथाच पूर्वं कस्यापि अर्थस्य अनुक्ततया अर्थान्तरोपक्रमस्य अयोगेन, अध्ययनानन्तर्यस्य अर्थादेव प्राप्तेः, अधिकाकाङ्क्षापादकतया आनन्तर्यस्यापि ग्रहीतुम् अशक्यत्वेन अयुक्तत्वाद्. “अथ शब्दानुशासनम्” (पा.म.भा.१।१।१) इतिवद् अस्य शास्त्रस्य स्वातन्त्र्येण आरभ्यमाणतया अधिकारार्थग्रहणे ‘स्वतन्त्रता’-एव हेतुः इति अर्थः. तद् आहुः **अथ अधिक्रियते** इति. ‘अतः’ शब्दार्थम् आहुः **यस्माद्** इत्यादि॥२५-२६॥

‘जिज्ञासा’ शब्दार्थम् आहुः—

अतो धर्मावबोधाय विचारो योगरूढितः।
अध्याहारो न कर्तव्यो नाप्यर्थापत्तिकल्पना॥२७॥

विचारो योगरूढितः इति. ‘जिज्ञासा’ शब्दो ज्ञानविषयिण्याम् इच्छायां यौगिको, विचारेतु “अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेद्”

---

१. “अर्थान्तरविकल्पो हि अधिकारे स्वतन्त्रताम् अर्थाधिक्रियते” इति मुद्रितपाठस्तु प्र.-मुं.वि.पाठानुसारेण संशोधितः.

(भाग.११।१८।३८) इति पुराणप्रयोगाद् योहि ''धर्मं जिज्ञासितुम् इच्छेद्'' (शाब.भा.१।१।१) इति अभियुक्तोक्तेः च रूढः. अतः प्रकृतविचारस्य इच्छापूर्वकत्वाद् ''योगेन इच्छां बोधयन्नेव रूढ्या विचारं बोधयतु'' इति एतदर्थं 'जिज्ञासा'पदप्रयोगः इति अर्थः. एवं योगरूढ्यङ्गीकारे गुणम् आहुः अध्या...इत्यादि, यौगिकार्थमात्रोपगमे 'विचार'स्य 'कर्तव्य'पदस्य वा अध्याहारः कर्तव्यः स्याद्; अर्थापत्त्या वा कल्प्यः स्यात्. योगरूढ्योः अङ्गीकारेतु तद् उभयमपि न इति अर्थः ।।२७।।

ननु अध्ययनानन्तरं विचाराङ्गीकारे ''वेदमधीत्य स्नायाद्'' (द्र. : मनु.स्मृ.३।१-४) इति स्नानस्मृतिः बाध्येत इत्यतः आहुः —

स्नानस्मृतेरबाधश्च 'ज्ञेयश्चे'ति विधेर्बलात्।
प्रवृत्तिरत्र विप्राणां वैदिकत्वं ततो भवेत् ।।२८।।
विधिव्यापारविषयाद् गृहमेधीयरात्रिवत्।
शब्दतो वैदिकत्वं हि समायात्यर्थतोऽन्यथा ।।२९।।

स्नान... इत्यादि. किञ्च पूर्वं वैदिकानाम् असन्तोषो वैदिकानां विचारे अप्रवृत्तिः च इति यद् आशङ्कितं स्थितं तदपि निवारितं भवति इति आहुः प्रवृत्तिः इत्यादि. ततो ज्ञानविधिबलादेव वैदिकानां प्रवृत्तिः विचारे भवेद् वैदिकत्वं च विचारे भवेत्. तत्र हेतुः विधिव्यापारविषयाद् इति. अयं भावप्रधानो निर्देशो विचारस्य ज्ञानविधिव्यापारविषयत्वात्. अनुक्तस्यापि विचारस्य विधिव्यापरविषयत्वे दृष्टान्तः गृहमेधीयरात्रिवद् इति, चातुर्मास्यस्य साकमेधाख्यं तृतीयं पर्वं दिनद्वयसाध्यं, तयोः प्रथमदिने तिस्रः इष्टयः प्रातर्मध्याह्नसायंकालभेदेन विहिताः. तासु ''मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायं चरुम्'' (तै.सं.१।८।४।१) इति विहिता 'गृहमेधीय'शब्देन उच्यते, तद् गृहमेधीयकर्म, प्रथमदिने सायम् उक्त्वा द्वितीये दिवसे तस्य अङ्गं विधीयते (द्र. : तै.सं.भा.१।८।४।१) इति सायणीये व्याख्यातम्. तच्च अङ्गं पत्न्याः अशनार्थम् ओदनपाकः. तद् उक्तम् आपस्तम्बकल्पे ''दक्षिणाग्नौ

पत्न्याः प्रतिवेशमोदनं पचन्ति'' (आप.श्रौ.सू.८।१०।१०) इति. श्रुतिश्च ''प्रतिवेशं पचेयुः तस्याश्नीयाद्'' (तै.ब्रा.१।६।७।१)इति. एवं सति यथा तत्र अनुक्तापि रात्रिः मध्ये विधिव्यापारविषया अर्थाद् आयाति तथा अत्र विचारोऽपि अर्थाद् आयाति, विचारं विना ज्ञानस्य अपर्यवसानाद् इति ॥२८-२९॥

अत्र आशङ्कते—

शब्दतो वैदिकत्वार्थम् अध्याहारादिकल्पना।

शब्दतः इत्यादि.

तद् दूषयन्ति—

असङ्गतिश्चास्य भवेत् सूत्रस्य स्वार्थता यदि॥३०॥
परार्थेतु न[1] तैः शक्यः स्वकृतिश्च निरर्थिका।
अतोऽधिकारएवार्थो युक्तः स्वातन्त्र्यमस्य हि॥३१॥
न दोषाय निराकार्यमथवाङ्गत्वदृष्टितः।

असङ्गतिः इत्यादि. सिद्धम् आहुः **अतः** इत्यादि. **हि** यतो हेतोः. **स्वातन्त्र्यं** तु **अस्य** शास्त्रस्य **न दोषाय** इति प्रागेव उक्तं तस्माद् इति अर्थः. पक्षान्तरम् आहुः **निराकार्यम्** इत्यादि. **अथवा** इति पक्षान्तरे, यदि स्वातन्त्र्यं निराकार्यम् **अङ्गत्वदृष्टिं** विधाय अथ निराकार्यम्. तथाच यथा कल्पस्य अङ्गत्वात् न स्वातन्त्र्यं तथा मीमांसायाअपि नेति अङ्गतौल्यम् अस्याः इति अर्थः॥३०-३१॥

अत्र मतान्तरम् आहुः—

अथवाङ्गत्वमायाति ह्यर्थज्ञानोपयोगतः॥३२॥

---

[1] ''परार्थे न तु'' इति प्र.– मुं.वि. पाठौ

अनुवादत्व-सापेक्षत्वा-ऽऽप्तसूत्राप्रमाणताम्।
परिहर्तुं प्रवृत्त्यर्थं चाध्याहारं विधेर्जगौ॥३३॥
ज्ञानेच्छयोस्तु विषयसौन्दर्यकरणादिना।
लभ्यत्वान्न विधेयत्वं विमर्शो लक्ष्यते ततः॥३४॥
यत्त्विच्छासाध्यताभावात् साक्षाज्ज्ञानस्य तत्कृते।

अथवा इत्यादि. हि यतो हेतोः अधिकारपक्षे अङ्गत्वम् अर्थज्ञानोपयोगाद् नतु कल्पवद् वाचनिकं, तथा सति "जिज्ञासा..." सूत्रस्य अनुवादत्वं सापेक्षत्वं च स्यात्; ततः च अधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रामाण्यं भज्येत. केवलवेदार्थमात्रनिष्ठानाम् अत्र प्रवृत्तिश्च न स्याद् अविहितत्वाद्. अतो अत्र 'कर्तव्या' इति **विधेः अध्याहारं** कश्चिद् जगौ. यद्यपि 'जिज्ञासा' पदं ज्ञानेच्छावाचकं—तत्र **ज्ञानं** प्रमाणवस्तुपरतन्त्रम्; **इच्छा** च **विषयसौन्दर्याधीना** बाह्यकरणाद्यधीना च क्वचिद्—अतो **अन्यलभ्यत्वात्** कृतिसाध्यत्वाभावात् च **न विधेयत्वमिति** विध्यध्याहारो अयुक्तः;[1] तथापि अत्र धर्मज्ञानस्य इच्छाजन्यत्वनिर्वाहाय मध्ये 'जिज्ञासा' पदेन स्वजन्यविमर्शो लक्ष्यतइति, तस्य कृतिसाध्यत्वाद् अध्याहारो युक्तः इति॥३२-३४॥

तद् दूषयन्ति—

यत्त्विच्छासाध्यताभावात् साक्षाद् ज्ञानस्य तत्कृते।
तन्निर्वाहकतत्क्षेपः तत्रापूर्वेण साम्यतः॥३५॥
तस्याक्षेपैकलभ्यत्वाद् यागवद् ज्ञानगो विधिः।
भवेत्तस्यान्यतः प्राप्तेर्न स स्यादिति मन्मतिः॥३६॥

यत्तु इत्यादि. धर्मज्ञानस्य इच्छामात्रेण असिद्धया **साक्षाद् इच्छासाध्यताभावाद्. तत्कृते** तदर्थम्. **तन्निर्वाहकतत्क्षेपः** इच्छासाध्यत्वनिर्वाहकविचारस्यं मध्ये निक्षेपः इति उच्यते. तत्र **तस्य** विचारस्य **आक्षेपलभ्यत्वाद् अपूर्वेण साम्यतो विधिः यागवद् ज्ञानगो भवेद्.** यथा

---

[1] मुद्रितपाठस्तु 'युक्तः' इति मुद्रणाशुद्धिजन्यः प्रामादिको वा प्रतिभाति.

''स्वर्गकामो...यजेत'' (आप.श्रौ.सू.१०।२।१) इत्यादौ यागविधिः अपूर्वद्वारा स्वर्गफलकः एवम् अत्रापि ''जिज्ञासा कर्तव्या'' इति इच्छाविधिः विचारद्वारा ज्ञानफलको भवेत्, **स** विचारगो विधिः **न स्याद,** विचारस्य ज्ञानविधिव्यापारविषयत्वादेव **प्राप्तेः**. तस्मात् तदाक्षेपो जिज्ञासाविधौ न युक्तइति विध्यध्याहारपक्षो न सङ्गतः **इति मन्मतिः** इति अर्थः ॥३५-३६॥

एवं मतान्तरदूषणेन स्वमतं स्थिरीकृत्य मीमांसाद्वयैकशास्त्र्यवादिनां प्राचां मतं स्थिरीकर्तुम् आहुः —

फलाधिकारि-साकाङ्क्षत्वतो नार्थक्यशङ्कितम्।
चतुःसाधनसम्पन्नप्राप्त्यानन्तर्यवाचिना ॥३७॥
'अथ'शब्देनापनोद्यम्[1] इष्यत्वात् फलतापि च।

फल... इत्यादि. तेहि ''वेदएव'' (या.स्मृ.१।२।४०) इति वाक्याद् धर्मज्ञानस्य मुक्तिं ''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण यज्ञेन तपसा श्रद्धयानाशकेन'' (बृ.उ.४।४।२२) इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानं च फलत्वेन स्वीकृत्य मुमुक्षुत्वादिसाधनचतुष्टयसम्पन्नम् अधिकारिणं च स्वीकृत्य तदर्थं धर्मजिज्ञासा कर्तव्या इति आहुः. तत्र पूर्वोक्ताः वादिनः, *तद् असोढ्वा, सूत्रे धर्मस्यैव जिज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वात् पूर्वकाण्डे तादृशः फलाधिकारिणो अनुक्तत्वाद् एकशास्त्रवादिमते धर्मजिज्ञासासूत्रं फलाधिकारिसाकाङ्क्षमेव तिष्ठति, तथा सति तदपूर्त्या सूत्रम् अनर्थकमेव स्याद् इति* दूषणं वदन्ति. तद् अनूद्य परिहरन्ति उक्तरीत्या **फलाधिकारिसाकाङ्क्षत्वतो नार्थक्यशङ्कितं** न अर्थो यस्य इति नार्थकं, 'नैकधा' इतिवत् 'न'शब्देन समासः, तस्य भावो नार्थक्यं, तस्य शङ्कितं नार्थक्यशङ्कितम्. तत्[2] पूर्वोत्तरकाण्डयोः ऐकशास्त्र्याद् उत्तरकाण्डवाक्यैः **चतुःसाधनसम्पन्नाधिकारिप्राप्त्या आनन्तर्यवाचिना 'अथ'शब्देन अपनोद्यम्.** ''विविदिषन्ति (बृ.उ.४।४।२२) इति

---

[1] ''शब्देनोपनोद्यम्'' इति प्र.– मुं.वि. पाठौ.

[2] 'यत्' इति मुद्रितः पाठः प्र.पाठानुसारेण संशोधितः.

श्रुतौ[१] ब्रह्मज्ञानस्य, 'स्वर्गकामा'दिपदेषु स्वर्गादि: इव, इष्यत्वश्रावणात् फलतापि सम्पाद्या. तेनच आनर्थक्ये सूत्रस्य परिहृते सोऽपि पक्षो युक्तत्वात् स्थिर: इति अर्थ: ।।३७।।

ब्रह्मज्ञानस्य फलत्वे पुन: आशङ्कते—

ब्रह्मज्ञानस्य तस्यापि फलत्वं नोपपद्यते ।।३८।।
सुखदु:खाभावरूपत्वाभावादिति चेत्..... ।

तस्य इत्यादि ।।३८।।

तद् दूषयन्ति—

....न हि ।
'अथ'शब्दोऽत्राधिकारिविशेषणतया स्थित: ।।३९।।
मोक्ष: सम्बद्धयते यस्मात् फलत्वेन........ ।

न हि...इत्यादि. अत्र अस्मिन् मते 'अथ'शब्दो अधिकारिविशेषणतया स्थितो मुमुक्षुम् अधिकारिणं बोधयति यस्माद्. हि अतो हेतो: **मोक्ष: फलत्वेन सम्बद्धयते.** सच यावद्दु:खाभावरूपो नित्यनिरतिशयसुखरूपो वा, उभयथापि तस्य फलत्वम् अक्षुण्णम्. तथा सति तत्कारणभूतस्य ज्ञानस्यापि इष्यत्वात् फलत्वं निर्विघ्नम् इति अर्थ: ।।३९।।

पुन: आशङ्कते—

.........................अथ मोचने ।
विशेषणत्वकाम्यत्वपक्षाभ्यां फलता नहि ।।४०।।

---

[१] 'श्रुतेः' इति मुद्रितपाठः प्र.पाठानुसारेण संशोधितः.

जीवनागारदाहादेरपि तत्त्वप्रसङ्गतः।
प्रायश्चित्ते परस्त्रीणामपि तत्त्वप्रसङ्गतः।।४१।।

अथ इत्यादि. **मोचनस्यापि** उदासीनस्य न फलत्वं किन्तु पुरुषविशेषणतया इष्यतया वा, तद् उभयमपि अयुक्तं “यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति” (वारा.श्रौ.सू.१।१।१।८६) — “यस्याहिताग्नेः अग्निः गृहान् दहेत् सो अग्नये क्षामवते पुरोडशम् अष्टाकपालं निर्वपेद्” (तै.सं.२।२।२।५) इत्यादौ अधिकारिविशेषणत्वेन श्रूयमाणस्य **जीवनागारदाहादेरपि** फलत्वप्रसङ्गात्, यदा-कदाचित् काम्यानां **परस्त्रीणामपि प्रायश्चित्ते** फलत्वप्रसङ्गात् च. अतो **विशेषणत्व-काम्यत्वाभ्यां** मोचनस्य फलत्वसाधनम् अनुपपन्नम् इति।।४०-४१।।

अत्रापि समादधते—

उच्यते काम्यतायां तद्विधिबोध्यैकसाध्यता।
प्रयोजिका फलत्वे हि तस्मात् सुष्ठूक्तमार्थिकम्।।४२।।

(एतावानेव अयं ग्रन्थः उपलभ्यते)

उच्यते इत्यादि. मास्तु विशेषणत्वेन फलत्वं तथापि काम्यत्वेन फलत्वं न वारयितुं शक्यम्. **हि** यतो हेतोः **काम्यतायां तद्विधिबोध्या एकसाध्यता** मुख्या साध्यता **फलत्वे प्रयोजिका**, “स्वर्गकामा...”दिवाक्ये तथा सिद्धत्वाद्. साच “विविदिषन्ति” इति वाक्ये ब्रह्मज्ञानस्य दृश्यते. ब्रह्मज्ञानं च मोक्षफलकत्वेनैव पुमर्थः. **तस्माद्** मोक्षस्य आर्थिकं फलत्वमिति यत् तैः शास्त्रैक्यवादिभिः उक्तं तत् सुष्ठूक्तम्. तथाच तन्मतमपि युक्तमेव इति अर्थः।।४२।।

इति श्रीमदाचार्यचरणविरचित-धर्मजिज्ञासासूत्रार्थनिर्णयकारिका-
विवरणं श्रीपीताम्बरात्मज-श्रीपुरुषोत्तमकृतं
सम्पूर्णम्

◆ ◆ ◆

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं

॥ श्रीजैमिनिसूत्रभाष्यम् ॥

श्रीपीताम्वरसुत-श्रीयदुपतिविरचित-भाष्यविवरणोपेतम्

(भावार्थपादपरिमितोपलब्धम्)

प्रथमे अध्याये कृत्स्नो वेदो धर्मे प्रमाणम् इति उक्तं, तत्र प्रथमे पादे चोदनालक्षणं विध्यंशं परित्यज्य शिष्टो धर्मप्रमितिं जनयति इति च.

तत्र अर्थवादानां तदभावम् आशङ्क्य प्रवर्तनाशेषत्वम् उक्तम्. मन्त्राणां, निरर्थकत्वे, व्रीह्यादिवद् धर्मप्रमित्युपयोगो नास्तीति अध्ययनाभावे वेदत्वमपि सन्दिग्धं भवेदिति अर्थवत्ता निरूपिता ब्राह्मणवद्

श्रीकृष्णाय नमः

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥श्रीविट्ठलनाथचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमत्प्रभुचरणकृपया भावार्थचरणभाष्यं यथामतिः विव्रियते[1] ॥

अथ द्वितीयाध्यायं व्याचिख्यासवः प्रकृतस्य पूर्वेण सह उपजीवकत्वरूपां सङ्गतिं बोधयितुं "मानाधीना मेयसिद्धिः" इति प्रमाणं निरूप्य तदुपजीव्यो अत्र कर्मभेदो निरूप्यते इति बोधयितुं शाबरभाष्याविरोधेन पूर्वं विस्तरेण निरूपितं प्रथमाध्यायार्थं सङ्क्षेपण अत्र अनुवदन्ति **प्रथमे अध्याये** इत्यादि.

"अथातो धर्मजिज्ञासा"(जै.सू.१।१।१) इति प्रथमाधिकरणे धर्मविचारं प्रतिज्ञाय को धर्मः? इति जिज्ञासायां **"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मो"**(जै.सू.१।१।२) इति द्वितीयेन "विधिवाक्यलक्षणको अर्थो धर्मः" इति लक्षणकथनेन तां पूरयित्वा; कथं चोदनालक्षणः? इति जिज्ञासायां

---

[1] जूनागढ़ातिरिक्तसर्वादर्शेषु 'विव्रीयते' इति पठचते. इह 'पुष्टिभक्तिसुधा'पत्रिकायाम् आद्यसम्पादकस्य—"पठचमानमेतद् 'व्रीङ्' धातोः दिवादेः 'व्री' धातोः क्र्यादेः वा कर्मणि लः"इति शोधनिका.

धर्मप्रमितिं[1] जनयिष्यन्तीति. उभयं हि धर्मे प्रमाणं, “मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्” (आप.श्रौ.सू.२४।१।३०) इति वाक्यात्, प्रवृत्तेः पूर्वं ब्राह्मणं जनयति—प्रवृत्तिसमये मन्त्रः इति. नापि स्मारकत्वं स्वतन्त्रत्वाद् अप्रामाण्यप्रसङ्गात् च.

“**तस्य निमित्तपरीष्टिः**”(जै.सू.१।१।३) इति तृतीयेन तज्ज्ञापकपरीक्षां प्रतिज्ञाय “**सत्सम्प्रयोगे...**” (जै.सू.१।१।४) इति चतुर्थेन प्रत्यक्षाविषयत्वं तस्य बोधयित्वा “**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः**” (जै.सू.१।१।५) इति पञ्चमेन शब्दस्य स्वतःप्रामाण्यं बोधितम् ततः तत्रापि “कथम् इदम्?” इति आकाङ्क्षायां “**कर्मैके तत्र दर्शनाद्**”(जै.सू.१।१।६) इत्यादिभिः अधिकरणैः शब्दात्मकस्य वेदस्य नित्यत्वं स्थापितम्. अग्रेच अर्थवादादयो वेदभागाः विचारिताइति **कृत्स्नो वेदो धर्मे प्रमाणम् इति उक्तम्** इति अर्थः. विशेषाकारेण बोधनाय पादार्थान् वदिष्यन्तः प्रथमस्थं विशेषम् आहुः **तत्र** इत्यादि. चोदनायाः प्रवर्तकत्वात् तल्लक्षणं **विध्यंशं परित्यज्य शिष्टो धर्मप्रमितिं जनयति** इत्यपि तत्र सिद्धम्. नच तस्याः अप्रामाण्यं शङ्क्यं विधेये अर्थे धर्मत्वज्ञापनेन प्रामाण्यस्य अग्रे वक्तव्यत्वात्.

द्वितीयस्य अर्थम् आहुः **तत्र अर्थ...** इत्यादि. चोदनायाः अस्ति कार्यद्वयं धर्मप्रमितिः धर्मे प्रवर्तनं च. **तत्र अर्थवादानां** धर्मप्रमित्यजनकत्वाद् अप्रामाण्यम् **आशङ्क्य** तेषां **प्रवर्तनाशेषत्वम् उक्तं,** साक्षाद् धर्मप्रमितिम् अजनयन्तोपि स्वार्थप्रमितिम् उत्पाद्य इष्टसाधनताव्युत्पादनेन प्ररोचनाद्वारा जनयिष्यन्तीति.

मन्त्राणान्तु **व्रीह्यादिवद्** अनुष्ठानोपयोगो **नास्तीति** तेषां प्रमित्युपयोगो वक्तव्यः. तत्र ते चेत् निरर्थकाः स्युः तदा **प्रमितावपि उपयोगो नास्तीति** अध्ययनाभावे तेषां वेदत्वमपि सन्दिग्धं भवेदिति तदभावाय तेषाम् अर्थवत्ता प्रयोजनवत्ता “**तदर्थशास्त्राद्**” (जै.सू.१।२।३१) इति अधिकरणे निरूपिता, अर्थवत्त्वे सति तेपि **ब्राह्मणवद् धर्मप्रमितिं जनयिष्यन्तीति.** अतः तेषामपि प्रमाणत्वम्. नच अत्र मानाभावः **हि** यतो हेतोः

---

१. धर्मप्रतीतिम् इति मुद्रितपाठः.

“मन्त्रब्राह्मण...” (आप.श्रौ.सू.२४।१।३०) इति वाक्याद् उभयं यज्ञस्य प्रमाणम्. नच अन्यतरवैयर्थ्यं, **प्रवृत्तेः पूर्वम्** इत्यादिना उक्तरीत्या कालभेदेन उभयसार्थक्यात्. नच ब्राह्मणेन जातायां प्रमितौ तदर्थस्मारणमेव मन्त्रैः कार्यतइति स्मारकत्वमेव मन्त्राणाम् अस्तु इति शङ्क्यम्, उक्तवाक्ये तेषां प्रमाणत्वेन पृथग् उक्त्या वेदेऽपि काण्डभेदेन प्रायशः कथनेन च तेषामपि प्रमितिजनने स्वतन्त्रत्वात्. नच * विधिवाक्यानां प्रवर्तनाबोधकत्वात् प्रवर्तनाक्षिप्तेष्टसाधनत्वरूप-धर्मत्वप्रमितिजनकत्वम् अस्तीति तेषामेव धर्मे मुख्यं प्रामाण्यम्, अर्थवादानां च प्रवर्तनापेक्षितप्राशस्त्यलक्षणकत्वात् तदेकवाक्यतया धर्मप्रमितिजनकत्वं, नामधेयानां च विधिवाक्यघटकत्वाद् धर्मप्रमितिजनकत्वं युक्तम्. मन्त्राणान्तु काण्डान्तरवर्तित्वेन वाक्याद् विप्रकृष्टतया तदेकवाक्यत्वाभावाद् मानान्तरसिद्धप्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वमेव युक्तम् इति * वाच्यं, तथासति मानान्तरसिद्धार्थानुवादकतया अप्रामाण्यप्रसङ्गात्. नच स्मृतेरपि यथार्थज्ञानत्वेन प्रमाणरूपत्वात् मन्त्राणां स्मारकत्वेपि न प्रामाण्यहानिः इति वाच्यं, तथा सति यथार्थज्ञानजनकत्वेन सर्वतन्त्रसिद्धेन लक्षणेन कार्यसिद्धौ अनधिगतार्थगन्तृत्वरूपविशेषाङ्गीकारस्य वैयर्थ्यापत्तेः औत्पत्तिकसूत्रविरोधापत्तेः सिद्धान्तभङ्गापत्तेः च. अतः सूत्रानुरोधेन शब्दजन्ये ज्ञाने अनधिगतार्थावगतित्वरूपो विशेषः प्रमात्वप्रयोजको अवश्यम् अभ्युपेयः. तथासति अनुवादकस्य अप्रामाण्यम् अर्थादेव आयातम्. ततश्च अनुवादकत्वेन अप्रामाण्यस्य स्मारकत्वेन प्रामाण्यस्य च साङ्कर्ये वैरूप्यापत्तिः एकतरनिर्णयस्यापि अभावापत्तिः च. मन्त्रजन्ये ज्ञाने स्मृतित्वप्रमितित्वयोः समावेशेन साङ्कर्ये तयोरपि जातित्वहानिप्रसङ्गः. संस्कारोद्बोधकानामपि स्मृतिं प्रति व्यापारवद् असाधारणकारणत्वेन तेषामपि सप्तमप्रमाणत्वापत्त्या षट्प्रमाणवादभङ्गप्रसङ्गः. प्रमात्वस्य[1] अनुभवत्वव्याप्यत्वेन स्मृतित्वस्य च साक्षाद् ज्ञानत्वव्याप्यत्वेन तयोः भेदस्य सर्वतन्त्रप्रसिद्धतया तत्त्यागस्य अयुक्तत्वञ्च. एवं स्मृतेः प्रमितित्वाङ्गीकारे परोक्षज्ञानत्वेन शाब्दानुमित्योरपि स्मृतित्वापत्तिः दुर्वारा. यथार्थज्ञानत्वस्य प्रमितिनियामकत्ववत् परोक्षज्ञानत्वस्य स्मृतित्वनियामकत्वेऽपि बाधकाभावात्. अतः स्मृतित्वप्रमिति

---

[1] ‘प्रमात्वस्य’ इति जूनागढीयः पाठः, ‘प्रमाणत्वस्य’ इतितु मुद्रितः .

प्रमितिरेव कर्माङ्गा[ङ्गत्वा!]त् न अप्रमितिः, ''विद्यया करोति''(छा.उ.१।१।१०) इति श्रुतेः.

त्वयोः भेदएव आस्थेयः. तथासति मन्त्राणां स्मारकत्वात् प्रामाण्यं दुर्निरूपमेव इति दिक्. ननु * अस्तु अप्रामाण्यं तथापि ''मन्त्रेणैव स्मर्तव्यम्'' इति नियमात् तेषाम् अनुष्ठेयस्मारणादेव अर्थवत्त्वे अङ्गत्वहानिस्तु न भविष्यतीति इष्टापत्तिः इति * आकाङ्क्षायाम् आहुः **प्रमितिरेव** इत्यादि. **प्रमितिरेव अङ्गं न अप्रमितिः,** ''यदेव विद्यया करोति तत्तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवति'' (छा.उ.१।१।१०) इति श्रुतेः. नच इदम् अङ्गोपासनाविषयमिति न कर्मान्तरे तस्याः अङ्गत्वम् इति वाच्यं, न्यायतौल्यात्. ''उभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद'' (छा.उ.१।१।१०) इति विद्वदविद्वत्प्रयोगौ प्रस्तुत्य ''यदेव विद्यया'' (छा.उ.१।१।१०) इति श्रुतेः आम्नातत्वात, सर्वकर्मसु प्रायेण विद्वद्वाक्यानां दर्शनात् च. अतः कर्मानुष्ठानकालीनं वेदनं तत्कर्मफलएव अतिशयं जनयति इति अवश्यम् अभ्युपेयम्. अन्यथा तद्वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः. अतः तन्न्यायस्य अत्रापि तौल्यात् मन्त्रस्यापि विद्याजनकत्वेनैव प्रामाण्यं नतु स्मारकत्वेनेति. नच 'विद्या' पदेन स्मृतिरेव अत्र उच्यते इति वाच्यं, सङ्कोचे मानाभावात्; स्मृतौ 'विद्या' पदप्रयोगस्य क्वापि अदर्शनात् च. नच * मन्त्रजन्यप्रमितेरेव अङ्गत्वे मन्त्राणाम् अङ्गत्वभङ्गप्रसङ्गाद् ''आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते'' (   ) ''इषेत्वेति''(द्र. : आप.श्रौ.सू.१।१।१०।प.१)-शाखां छिनत्ति इत्यादौ श्रूयमाणानां तृतीयाविभक्ति-'इति'शब्दादीनां पीडापत्तिः इति * वाच्यं, 'विद्यया' इतिपदेन अप्रमितिरूपायाः स्मृतेरेव अङ्गत्वं निवार्यते न अन्येषामिति अदोषात्. किञ्च मन्त्रस्य स्मारकत्वमपि किं विधिपदसदृशपदवत्त्वेन सम्बन्धित्वेन वा? न आद्यः, ''इषे त्वा...'' दीनां तदभावात्. न द्वितीयः ''सर्पराज्ञिया ऋग्भिः गार्हपत्यमादधाति'' (तै.सं.१।५।४।१) ''सर्पराज्ञिया ऋग्भिः स्तुवन्ति''(तै.सं.७।३।१।२) इति नानास्थलविनियुक्तमन्त्रेषु प्रकृतस्मरणदौर्घट्यापत्तेः. अतः ''प्रकरणादिकं तत्सहकारी'' इति वक्तव्यम्. तथासति आवश्यकत्वात् लाघवात् च तस्यैव स्मारकत्वम् अस्तु कृतं मन्त्रेण. नच व्यापाराभावे तस्य प्रयोगकरणत्वं कथं स्याद् इति शङ्क्यं, तज्जन्यायाः प्रमितेरेव व्यापारत्वस्य उक्तत्वात्.

प्रसङ्गात् स्मृतयोऽपि धर्मे प्रमाणमिति विचारिताः. ततो विध्युद्देशान्तर्गत-'उद्भिदा'(ता.ब्रा.१९।७।२।३)दि शब्दानाम् अर्थवादमन्त्रापरपर्याय-गुणविधित्वम् आशङ्कितम्, अर्थवाददवद् भिन्नवाक्यत्वाभावे विध्येकवाक्यत्वाभावात्. स्वातन्त्र्याभावे मन्त्रत्वं न उपपद्यतइति आनर्थक्ये पर्यवसानमिति नामधेयत्वम् उक्तं समुदाय-परिज्ञानर्थम्. नहि साङ्गप्रधाने नामातिरिक्तं किञ्चित् प्रमाणम् अस्ति. अतो यादृशस्य फलसाधकत्वं तज्ज्ञानमपि अङ्गम्. ततः सन्देहेऽपि उपायः उक्तो, विध्यंशस्यापि धर्मत्वज्ञापकत्वात्, फलस्तुत्योरपि अर्थत्वसम्पादकत्वात्, कृत्स्नो वेदो धर्मे प्रमाणम् इति सिद्धम्.

नहि स्मरणस्यैव व्यापारत्वे किञ्चित् नियामकं वाक्यम् अस्ति. विनियोगविधिबलात् कल्प्यन्तु विद्यावाक्येनैव गतार्थत्वाद बाधितम्. तस्मात् प्रमितिद्वारैव मन्त्राणां करणत्वम् इति निश्चयः.

तृतीयपादार्थम् आहुः प्रसङ्गाद् इत्यादि. प्रत्यक्षवेदार्थे विचार्यमाणे नित्यानुमेयवेदस्यापि स्मरणात् तन्मूलिकाः स्मृतयोपि तथा विचारिताः इति अर्थः.

तुरीयस्य अर्थम् आहु **ततः** इत्यादि. उद्देशः उपरितनो देशः तत्र विधिवाक्ये स्थितानाम् 'उद्भिदा'दि पदानाम् अर्थवादापरपर्यायित्वं वा मन्त्रापरपर्यायित्वं तद्विधीनां गुणविधित्वं वा इति आशङ्कितम्. तत्र यदि तेषाम् अर्थवादत्वं स्यात् स्वार्थबोधे समाप्तिः स्यात्. तथासति भिन्नवाक्यत्वे प्ररोचनादिना अङ्गत्वं परिकल्प्य विध्येकत्वेन प्रामाण्यं कल्प्येत. साच एषां नास्तीति अर्थवादवद् भिन्नवाक्यत्वाभावे विध्येकत्वाभावात् न अर्थवादत्वम् उपपद्यते भिन्नपाठाभावात्; स्वातन्त्र्याभावे मन्त्रत्वं च न उपपद्यतइति आनर्थक्ये पर्यवसानमिति, तदभावाय तेषां नामधेयत्वम् उक्तम्. **समुदाय[परि!]ज्ञानार्थं** यागत्रयसमुदायो दर्शस्त्रिकान्तरसमुदायः 'पूर्णमासः' इति ज्ञानार्थं तत्प्रयोजनम् आहुः **नहि** इत्यादि. तस्यापि प्रयोजनम् आहुः **अतः** इत्यादि. **अङ्गम्** इति "यदेव विद्यया" (छा.उ.१।१।१०) इत्यत्र तस्यापि सङ्ग्रहाद् इति. **ततः** एतन्निर्धारोत्तरं **"सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्"** (जै.सू.१।४।२९) **"अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वाद्"** (जै.सू.१।४।३०) इति सूत्रद्वयेन

अतः परं वाक्यार्थव्याख्यानावसरः. तत्र अयं सन्देहः — कृत्स्नेनापि वेदेन एको धर्मः प्रतिपाद्यते उत अनेकः? यदापि अनेकः तदा पदे-पदे धर्मः उत केषुचिदेव? इति तदर्थं कर्मभेदाध्यायः आरभ्यते.

तत्र प्रथमे पादे केषुचिदेव धर्मः इतरत् तदर्थम् इति निरूप्यते.

अर्थवादानाम् अर्थसामर्थ्यस्य च सन्देहवारकतया प्रामाण्यम् उक्तम् इति अर्थः. ननु एतन्मते नामधेयानां समुदायज्ञापकतया, स्मृतीनां च नित्यानुमेयवेदबोधितकर्मज्ञापकतया, मन्त्राणां च अनुष्ठानकाले तत्तत्प्रमितिजनकतया धर्मे प्रामाण्यं युक्तं चोदनायास्तु प्रवर्तकत्वेन अर्थवादानां च प्रवर्तनाशेषत्वेन धर्मप्रमित्यजनकत्वाद् धर्मे प्रामाण्याभावे कथं कृत्स्नस्य वेदस्य धर्मे प्रामाण्यम्? इति आकाङ्क्षायां तयोः तथात्वप्रकारम् आहुः **विध्यंशस्य** इत्यादि. यद्यपि विध्यंशः प्रवर्तकः तथापि चोदनायाः धर्मलक्षणतया धर्मत्वं ज्ञापयन्नेव प्रवर्तयतीति तद्द्वारा तस्यापि अस्ति धर्मप्रमितिजनकत्वं धर्मस्य फलशेषतया परतःपुरुषार्थत्वेन 'स्वर्गकामा'दि पदबोधितस्य फलस्य तज्जनककर्मोत्कर्षबोधिकायाः आर्थवादिक्याः स्तुतेः च पुरुषैः अर्थ्यमानत्वरूपं यदर्थत्वं तत्सम्पादकत्वाद अस्ति तेषामपि धर्मप्रमितिजनकत्वम्. अतः **कृत्स्नो वेदो धर्मे प्रमाणम्** इति पूर्वाध्याये **सिद्धम्** इति अर्थः. एतेन "पूर्वं प्रमाणरूपाभ्यां पादेनाद्यस्य निर्णयः" (श्लो.वा.सू.१।१।१/१२६) इति भट्टवार्तिके यत् *प्रथमपादएव प्रमाणचिन्तासमाप्तिः त्रिपाद्यान्तु कथं चोदनालक्षणो धर्मः इति, कथम् अमुना अप्रतिज्ञातः प्रामाण्यप्रकारो बोध्यतइति शाबरभाष्यविरुद्धम्* अङ्गीक्रियते तत् न अस्मत्सम्मतम् इति बोधितम्.

एवं पूर्वोक्तं सर्वं सङ्क्षेपतो निरूप्य प्रस्तुतम् अवतारयन्ति **अतः परम्** इत्यादि.

तत्र इति अध्यायरूपवाक्यस्य अर्थे व्याख्यातव्ये. **यदापि अनेकः** इति नामधेयपादे नानानाम्नां प्रतिपादनाद् अनेकः. **तदापि** किं मन्त्रब्राह्मणयोः **पदे-पदे**, विधिवाक्यस्य वा **पदे-पदे धर्मः** प्रतिपाद्यते **उत केषुचिदेव** इति शङ्कायां **तदर्थं** तन्निवृत्तये अयम् अध्यायः आरभ्यते इति अर्थः. तेन सर्वो वेदो विधिवाक्यमात्रं वा उदाहरणम्.

तत्र ''विनिगमनाभावात् सर्वेषु पदेषु धर्मः'' इति आशङ्क्य विनिगमनाम् आह—

भावार्था कर्मशब्दाः तेभ्यः क्रिया
प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते ।।२।१।१।।

भावार्थाः कर्मशब्दाः इति. यो विधीयते सो अर्थः; क्रियाच विधीयते, पुरुषप्रयत्नेन सए[सै!]व निष्पाद्यतइति. सा क्रिया कर्मवाचकेभ्यएव प्रतीयते, अतः कर्मशब्दाः एव साक्षाद् धर्मवाचकाः. कर्मशब्दानाम् अर्थम् आह ''भावएव अर्थो येषाम्'' इति. इदमेव अनुगतं रूपं क्रियासामान्यं 'धर्म'पद-प्रवृत्तिनिमित्तं क्रियासामान्यं प्रतिपादयन्तो विशेषप्रतिपादकाः इति उक्तं भवति.

अध्यायार्थम् उक्त्वा पादार्थम् आहुः **तत्र प्रथमे** इत्यादि. **निरूप्यते** इति धर्मभेदज्ञापनार्थं निरूप्यते. एवं पादार्थं निरूप्य तावता संशयस्य अनिवृत्तेः विशषतो वक्तुम् आद्याधिकरणम् अवतारयन्ति **तत्र** इत्यादि. **विनिगमनम् आह** इति, विनिगम्यते अनेन इति विनिगमनम्. ''केषुचिदेव पदेषु निरूप्यते'' इत्यस्य निर्णायकं हेतुम् अनेन अधिकरणेन आह इति अर्थः. व्याकुर्वन्ति **यो विधीयते** इत्यादि. एवं सामान्यतः सूत्रार्थम् उक्त्वा विशेषतोपि[1] तम् आहुः **कर्म** इत्यादि, पुरुष-प्रयत्न-निष्पाद्य-क्रियारूप-धर्म-वाचकाः कर्मशब्दाः. के? इति अपेक्षायां तान् बोधयितुं तेषाम् अर्थम् आह इति अर्थः. व्याकुर्वन्ति **इदम्** इत्यादि, इदं क्रियावाचिनां धातुत्वानुशासनात् सर्वधातुषु .**अनुगतं रूपं** यत् **क्रियासामान्यं** सः **भावः** सो **अर्थो** विधेयो **येषां ते** भावार्थाः, तादृशाः ये शब्दाः ते कर्मवाचकाः इति अर्थः. ननु धर्मवाचकनिर्धारार्थं प्रवृत्तः आचार्यो धर्माधर्मादिसाधारणक्रियासामान्यवाचकं किमिति वदति! इत्यतः आहुः **धर्म...** इत्यादि. तथाच अत्र तद्व्याप्यम्[2] इति अर्थः. यद् 'धर्म'पद प्रवृत्तिनिमित्तं क्रियासामान्यं तत् प्रतिपादयन्तो

---

१. वक्तुं तम् आहुः इत्यपि जूनागढ़ीयः पाठः.

२. तद्व्याप्यम् इति धर्माधर्मसाधारणक्रियासामान्यव्याप्यम् इति अर्थः.

ननु किं रूपद्वयनिरूपणेन क्रियावाचिभ्यएव धर्मः प्रतीयते इति उच्यतां, सत्यं, क्रियामात्रं यदि धर्मो भवेत् तदा न वक्तव्यं किन्तु अतीन्द्रियो यागादिः स्थिरो धर्मः. तत्र "सामान्यं नित्यम्" इति नित्यता प्रतिपादिता विशेषस्तु अतीन्द्रियता.

"विशेषानालिङ्गिता सामान्यबुद्धिः न भवति" इति विशेषालिङ्गनाद् यज्ञदानादिरूप-विशेषप्रतिपादकाः, नतु तच्छून्यकेवलक्रियावाचकाः इति **भावार्थाः कर्मशब्दाः** इत्यनेन उक्तं भवति. यदि एवम् अभिप्रायो न स्यात् तदा 'भावार्थ' पदं न ब्रूयात्. आकृत्यधिकरणे जातौ पदशक्तेः अङ्गीकृतत्वेन तावतैव शब्दार्थयोः नित्यतायाः निर्वोढुं शक्यत्वात्. अतो 'यजत्या'दयो धातुत्वेन रूपेण क्रियासामान्यं 'यजतित्वा'दिना प्रतिनियतरूपेण क्रियासामान्यव्याप्यं यागसामान्यरूपं विशेषं प्रतिपादयन्ति इति अर्थः. भट्टवार्तिकेपि "धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्यप्येषा न लक्ष्यते तथापि सर्वसामान्यरूपेणैवावगम्यते"(त.वा.२।१।१/२९) इति उक्तम्. अतो धात्वर्थबोधकैः पदैः सामान्यस्थाने सैव बोध्यते. तयैव अनुगतप्रतीतिनिर्वाहात् नतु जात्यन्तरम् इति बोध्यम्.

अत्र धर्मानित्यत्ववादी शङ्कते **ननु** इत्यादि. यदि[1] अनेको धर्मः प्रतिपाद्यते तदा—भावना भावः उत्पादना इति यावत् सो अर्थो येषां ते—भावार्थाः आख्यातशब्दाः, तेभ्यः क्रियावाचिभ्यएव धर्मः प्रतीयते इति उच्यताम्! किं क्रियायाः रूपद्वयनिरूपणेन? नच कालान्तरभाविफलानुत्पत्तिप्रसङ्गः, क्रियायाः त्रिक्षणावस्थायित्वेपि तज्जन्यस्य अपूर्वस्य फलपर्यन्तम् अवस्थानेन उपपत्तेः. अतो व्यर्थं रूपद्वयनिरूपणम् इति अर्थः. अत्र समादधते **सत्यम्** इत्यादि. यदि **पुरुषक्रियामात्रं धर्मो भवेत् तदा** त्वदुक्तरीत्या निर्वाहाद् रूपद्वयं न वक्तव्यं भवेत्. नहि तथा किन्तु अतीन्द्रियो वेदैकसमधिगम्यो यागादिः स्थिरो धर्मः. तत्र कथं स्थिरः? इति आकाङ्क्षायां सामान्यं नित्यमिति 'यजति'बोधितयागसामान्यरूपेण नित्यता अस्ति; अतीन्द्रियत्वरूपो विशेषश्च तत्र वर्तते. केवलस्य सामान्यस्य अतीन्द्रियत्वात्. अतो यागस्य नित्यातीन्द्रियरूपत्वात् रूपद्वयकथनं युक्तम् इति अर्थः.

---

[1] यद्यपि इति जूनागढ़ीयः पाठः.

द्रव्यदेवतासम्बन्धो हि यागः. देवतायाः अतीन्द्रियत्वात्, तत्सम्बन्धोऽपि अतीन्द्रियः. सम्बन्धश्च प्रीतिहेतुत्वेन स्वीकारः; द्रव्यञ्च अलौकिकमिति अनित्यतायां न कोऽपि हेतुः.

ननु विहितक्रियाविशेषं कुर्वाणं दृष्ट्वैव "अयं यजति" इति प्रत्ययाद् अभिलापात् च तस्याः प्रत्यक्षत्वनिश्चयात् कथम् अतीन्द्रियता? इत्यतः आहुः **द्रव्य...**इत्यादि. 'यजिर्' देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु अर्थेषु शक्तइति प्रथमातिक्रमे कारणाभावाद् देवपूजैव अत्र अर्थः. साच अत्र द्रव्यकृता. किञ्च **"यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वाद्"** (जै.सू.४।२।२७) इति चातुर्थिके सूत्रे—"द्रव्यदेवताक्रियासमुदायो यागः" इति लक्षणं यागस्य सिद्धं तथा "द्रव्यदेवते यागस्य रूपम्" इति आमिक्षाधिकरणे सिद्धम्. तयोश्च न उदासीनयोः रूपत्वम् अपितु सम्बद्धयोरेवेति द्रव्यदेवतासम्बन्धो यागः. तत्र देवतास्वरूपं चेतनतया विग्रहवत्तया च वैयासे दर्शने सिद्धम्. अत्रच अग्रे तदविरोधेन व्युत्पाद्यम्. गीतायाञ्च "देवान् भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः, परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" (भ.गी.३।११)इति कथनात् परस्परभावनस्य च श्रद्धया पूजनेन तस्य द्रव्यस्य प्रीत्या स्वीकारेण च सम्भवात्, ते विना असम्भवात् च प्रीतिहेतुत्वेन स्वीकारएव सम्बन्धः. सच देवतायाः **अतीन्द्रियत्वात्** परात्मधर्मत्वात् च **अतीन्द्रियः**. नच *स्वत्वजनकव्यापाररूपस्य स्वीकारस्य देवतावृत्तित्वेन यजमानावृत्तित्वेन च "देवता यजति" इति प्रयोगापत्तिः "देवदत्तो यजति" इति प्रयोगानापत्तिः च इति* वाच्यं, देवतानिष्ठस्य तादृशव्यापारस्य फलरूपधात्वर्थत्वेन कर्मनिष्ठतया 'यजति'इति प्रयोगसम्भावनायाएव अभावात् तादृशप्रयोगस्य व्यापाराश्रये कर्तर्येव अनुशासनाद् यजमाने 'यजति'इति प्रयोगाभावसम्भावनायाअपि अभावात्. ऋत्विक्षुतु तादृशप्रयोगस्य "योधाः युध्यन्ति" इत्यादिवद् इष्टत्वात् प्रैषे "होतर्यज" इति प्रयोगदर्शनात्. अतो व्यापाररूपस्य यागस्य प्रत्यक्षत्वेपि फलरूपस्य यागस्य अतीन्द्रियता निष्प्रत्यूहा इति अर्थः. ननु भवतु एवम् अतीन्द्रियत्वं तथापि होमानन्तरं त्यक्ते द्रव्ये देवता तत् स्वीकरोति, द्रव्यञ्च व्रीह्यादिकम् अनित्यमिति तज्जन्यस्य होमोत्तरभाविनः स्वीकारस्य कथं नित्यत्वम्? अतः आहुः **द्रव्यञ्च**

इत्यादि. ''अपश्यन् पुरोडाशं कूर्मं भूतं सर्पन्तम्'' (तै.सं.२।६।३।३) ''तस्यानुमृश्य योनिमाच्छिनत् सा सूतवशा अभवत् तत्सूतवशायै जन्म'' (   ) ''प्रजापते रक्ष्यश्व यत्तत्परापत्तदश्वोऽभवद्'' (तै.सं.५।३।१-२।१) इत्यादिषु अर्थवादेषु द्रव्यस्य अलौकिकत्वं सिद्धम्. नच अर्थवादानां स्वार्थे अप्रमाण्यं, ''प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयद्'' (तै.सं.२।३।१२।१)इति अश्वप्रतिग्रहेष्ट्यर्थवादस्य व्यवधारणनिर्णायिकताभावे तस्या: इष्टे: दातृकर्तृकत्वं न तेन निर्णीयेत, ''तेजो वै घृतम्'' (तै.ब्रा.३।१२।५।१२) इत्यादिना घृतादे: शर्कराञ्जनादिकरणता न निर्णीयेत, एवं सर्वत्रेति तेषां विधिस्तावकत्वेपि स्वार्थे प्रामाण्यम् इति ज्ञातव्यम्.

किञ्च श्रीभागवते पुरुषसूक्तविवरणाध्याये यज्ञसम्भाराणां पुरुषावयवरूपत्वं प्रतिपाद्य ''इति सम्भृतसम्भार: पुरुषावयवैरहं तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम्'' (भाग.२।६।२७) इति ब्रह्मणा उक्तमिति द्रव्यदीनां सर्वेषामेव सम्भाराणाम् अलौकिकत्वं निर्बाधिम्. अतो ''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'' (ऋ.सं.१०।९०।१६) इत्यादि श्रुतिसिद्धस्य प्राथमिकयागस्य अलौकिकैरेव पदार्थै: सिद्धि:. पाश्चात्येषु तु कर्तृषु तादृशयोग्यताया: अभावेन तेषां सम्भाराणाम् असंनिधानात् प्रोक्षणादिभि: तै: संस्कारै: ते अलौकिका: पदार्था: तेषु लौकिकेषु द्रव्यादिषु संनिधाप्यन्ते प्रतिष्ठावाहनादिसंस्कारै: मूर्तौ देवतावद्. अन्यथा लौकिकैरेव द्रव्यादिभि: यागनिष्पत्ते: संस्काराणां वैयर्थ्यमेव स्यात्, संस्कारबोधकप्रमाणानि च पीडयेरन्. अतो लौकिकानि द्रव्यादीनि तेषाम् अधिष्ठानान्येव देवताया: मूर्तिरिव. अधिष्ठानभूतद्रव्यादीनाञ्च अविहितनिषिद्धद्रव्यपुरुषादिसंसर्गे अलौकिकस्य तस्य-तस्य द्रव्यादे: तत: तिरोधानमेव. मूर्ते: दुष्टसंसर्गे भङ्गादौ च तत: देवताया: इव. अतो ''यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत'' (तै.ब्रा.३।७।१) ''यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयु: दुष्येयु: अपहरेयु: वा'' (आप.श्रौ.सू.९।१५।१४) इत्यादिना उक्तम् आर्तिनाशाद्यपि दु:संसर्गवशाद् हविषां लौकिकत्वएव. प्रायश्चित्तं द्रव्यान्तरादानादिकं च प्रकारान्तरेण देवतेज्यादिपूर्त्यर्थमिति

नहि चेष्टा यागो येन विनाशः कल्प्यते अदृष्टं वा. **ये क्षणिकत्वम् अदृष्टं वा कल्पयन्ति न ते** 'याग'पदार्थं विदुः. भावार्थाः ये **कर्मशब्दाः** इति अर्थः. दानमपि परस्वत्वापादनम् अतीन्द्रियम्. **लोकास्तु तद्विषयक-कायिक-व्यापारे तत्प्रयोगम्** आहुः.

न उक्तश्रुतीनां विरोधः. नापि "शेषाद् व्यवदाननाशे स्याद्..." (जै.सू.६।४।१)इति सूत्रस्य प्रमादादिरूपापराधेन नश्यदवस्थाद् अवदानाद अलौकिकस्य तस्य तिरोभावात् इति एवं यागीयद्रव्यस्वरूपं निश्चिते तद् द्रव्यं नित्यम् अलौकिकमेव. देवता च अलौकिकी नित्येति तत्स्वीकाररूपस्य यागस्य क्रियावद् अनित्यतायां न कोपि हेतुः. तथाच "परस्परं भावयन्तः" (भ.गी.३।११) इति गीतावाक्याद् यागजन्यफलभोगपर्यन्तं द्रव्यस्वीकारजन्यप्रीतेरपि अवस्थानमिति स्वीकारस्य स्थिरत्वरूपं नित्यत्वं द्रव्यदेवतयोः च भगवदवयवत्वेन स्वरूपतो नित्यत्वमिति उभयमपि निर्बाधम् इति अर्थः.

ननु तथापि "सिद्धसाध्यस्वभावाभ्यां धात्वर्थो द्विविधस्तयोः, अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणी" (   ) इति अभियुक्तोक्तेः साध्यरूपस्य धात्वर्थस्य अनित्यत्वात् चेष्टारूपस्य तस्य नश्वरत्वमेव इत्यतः आहुः **नहि चेष्टा** इत्यादि. द्वितीयस्कन्धस्थेषु सम्भारवाक्येषु "चातुर्होत्रं च सत्तम" (भाग.२।६।२४) इत्यनेन क्रियायाअपि पुरुषावयवेषु गणनात् लौकिकी **चेष्टा न यागः** किन्तु तदधिष्ठानकं क्रियान्तरम् अतीन्द्रियम् अतो न तस्यापि नश्वरत्वम्. अतो **विनाशो अदृष्टं वा** किमर्थं कल्पनीयम् ? इति अर्थः. वाक्यानि तु "यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः, नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषवयवादृते, तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः, इदं च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः, वस्तून्योषधयः स्नेहो रसलोहमृदो जलं, ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम, नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च, देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च, गतयो मतश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणं, पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहं तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरं, ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव, अजयन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः" (भाग.२।६।२२-२८) इत्यादीनि द्रष्टव्यानि. तस्माद् यागस्य नित्यत्वं स्थिरत्वं च निर्बाधम् इति

ननु अवघातादयः ऐन्द्रियकाः आशुतरविनाशिनः च इति चेत् न, मन्त्रेणच अवघातो; देवपत्न्यः च कर्त्र्यः, लौकिकेच तदावाहनाद् अतीन्द्रियत्वमेव. फले सम्पन्ने तस्य तिरोभावः.

सिद्धम्. ननु आधुनिकाः क्षणिकं यागम् अङ्गीकुर्वन्ति नैयाय[यि!]काः च अदृष्टात्मकं धर्मम्, अतः कथम् एवम्? इत्यतः आहुः **ये** इत्यादि.

ननु *यदि एवं तदा ''धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्'' (भाग.१।२।८) ''धर्मः क्षरति कीर्तनाद'' (   ) इति वाक्ययोः विरोधः. पूर्वस्मिन् अनुष्ठानविषयत्वेन क्षणप्रध्वंसिन्याः क्रियायाः; द्वितीयस्मिन् नाशप्रतियोगित्वेन क्रियाजन्यस्य फलपर्यन्तस्थायिनाम् अदृष्टस्य च विषयीकरणाद् इति* चेत्, न, पूर्ववाक्ये 'स्वनुष्ठित'पदे सुष्ठ्वर्थकेन 'सु'ना अनुष्ठाने वैधप्रकारस्य द्योतनेन तद्विशिष्टा लौकिकी क्रिया विषयीक्रियते, नतु केवला. तथासति प्रकारसाम्येन[1] नित्या क्रियापि जातिवद् आयात्येवेति सैव 'धर्म'पदेन अभिप्रेयते न केवला, अतो न तद्विरोधः. द्वितीयवाक्येपि कीर्तनाद् देवताप्रीतिविषयत्वरूपं धर्मस्य संनिधानं पुरुषात् निवर्तते इति उच्यते. अतो न तस्यापि विरोधः. अतो यागस्य क्षणिकत्वकल्पनं धर्मस्य च अदृष्टत्वकल्पनं पूर्वोक्तप्रकाराज्ञानादेव इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः**भावार्थाः** इत्यादि. क्रियार्थेभ्यः क्रिया प्रतीयते इति अनुक्त्वा **भावार्थाः कर्मशब्दाः तेभ्यः क्रिया प्रतीयते** इति यद् उक्तं, तेन पूर्वोपपादितरीत्या सिद्धावस्थापन्नधात्वर्थबोधकाः ये कर्मशब्दाः इति सूत्रभागस्य अर्थः इति अर्थः. ननु *''अग्नये इदं न मम'' इति त्यागवाक्यानुरोधाद् देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागएव यागो अस्तु, दानस्यापि 'यज्य'र्थत्वाद्, देवपूजैव अत्र ग्राह्या न दानम् इत्यत्र नियामकाभावाद् दानश्च प्रत्यक्षमेवेति* कथम् अतीन्द्रियता? इत्यतः आहुः **दानम्** इत्यादि. उद्देश्यायाः देवतायाः अतीन्द्रियत्वाद् 'अतीन्द्रियम्' इति लोकप्रयोगो बहिर्दृष्ट्यैव नतु शास्त्रदृष्ट्या अतो न तात्त्विकः इति अर्थः.

क्रियायाः यज्ञरूपायाः यद् अतीन्द्रियत्वम् उक्तं तत्र व्यभिचारम् आशङ्कते **ननु** इत्यादि. ''व्रीहीन् अवहन्ति'' (द्र.आप.श्रौ.सू.१।१९।११)

---

[1] 'साह्येन' इति जूनागढ़पाठः.

सएव हि अर्थो लौकिकस्तु संसारहेतुत्वाद् अनर्थः. अतएव विधीयते पुरुषः प्रवर्त्यते. अन्यथा प्रयत्नाभावाद् अकथनं स्यात्. तस्माद् भावार्थाः ये कर्मवाचकाः तेभ्यःएव धर्मप्रतीतिः इतरत् तदर्थम्॥२।१।१॥

"अग्निषोमीयं पशुमालभेत" (तै.सं.६।१।११।६) इत्यादिविहिताअपि ते तथेति तदृष्टान्तेन अन्यासामपि क्रियाणां तथात्वस्य शक्यवचनत्वात् पूर्वोक्तम् असङ्गतम् इति अर्थः. तत्र समादधते न इत्यादि. तदावाहनाद् इति "हविष्कृदेहि" (मै.सं.१।४।१०।४३) "उभौ हि देवानां शमितारौ" (तै.ब्रा.३।-६।६।४) इत्यादिभिः तत्तत्कर्त्रावाहनात्. तस्य तिरोभावः इति अलौकिकक्रियायाः कर्तुश्च संनिधाननिवृत्तिः. तथाच व्यभिचाराभावात् न असङ्गतम् इति अर्थः. **एषह्यर्थो विधीयते** इति सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति **सएव** इत्यादि. **सएव** इति. **हिः** हेतौ. यो अतीन्द्रियः पुरुषात्मको नित्यः स्थिरः च **एषः** इति पदेन उक्तः **सएव अर्थः** पुरुषार्थः **लौकिकस्तु** न तथा इति अर्थः. ननु अयमेव अर्थः इत्यत्र किं गमकम्? इत्यतः आहुः **अतएव**इति, यस्माद् एवं धर्मस्वरूपं तस्माद् **विधीयते** पुरुषप्रयत्नेन निष्पाद्यतइति पुरुषः चोदनया तस्मिन् प्रवर्त्यते, **अन्यथा** यदि यागादिः धर्मः स्थिरो न स्यात् किन्तु चेष्टारूपः साध्यएव स्यात् तदा प्रयत्ने **प्रयत्नाभावात्** प्रयत्नसिद्ध्यर्थं प्रयत्नाभावाद् विधिवाक्यस्य कथनमेव न स्यात् यद्धि सिध्यत् स्थिरं भवति तदर्थं यत्नोपदेशः, यत् कदापि न सिध्यति सर्वदैव साध्यवस्थं तत्साधनोपदेशस्य व्यर्थत्वादिति. ननु अपूर्वमेव यागस्य सिद्धावस्था इति चेत्, न, तर्हि तस्य कर्माश्रितत्वापत्तेः सकर्मकधात्वर्थीयसिद्धावस्थायाः कर्मण्येव चोदनादौ प्रायशो दर्शनात् यागस्य अपूर्वपर्यन्तत्वे तस्य करणत्वाय व्यापारान्तरकल्पनापत्तेः च. नच सिद्धान्तेपि अयं दोषः इति वाच्यं, देवताप्रीतेरेव व्यापारत्वाङ्गीकारात्. नच वैयधिकरण्याद् यजमाने तत्फलाभावप्रसङ्गः इति वाच्यं, राजप्रीत्या तत्सेवकेषु फलदर्शनात् यजमानेपि विषयतासम्बन्धेन देवताप्रीतेः सम्भवात् च. अतः सिद्धान्ते न कोपि दोषः. किञ्च धर्मानित्यत्ववादिमते क्रियात्वादिजातौ पदशक्तिः अङ्गीकार्या, साच वृत्तिमतीति तत्स्थित्यर्थं धर्मिणः प्रावाहिकी सत्ता अभ्युपगन्तव्या, अहोरात्रन्यायेन कल्पस्य कल्पपूर्वकत्वात्. तद्रात्रि-

यदि ''भावार्थेभ्यएव धर्मः प्रतीयते'' इति उच्यते तदा सर्वे शब्दाः भावार्थाः —

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत्॥२।१।२॥

क्रियावाचकाश्च सर्वे धातुजाः 'कृत्'प्रत्ययेन च भावो

रूपे प्रलये सर्वनाशात्, ये पुनः जीवन्ति तेषां स्वापात् च; क्रियाप्रवाहस्य उपरमे तस्या जातेः अनाधारत्वापत्त्या कालादौ तत्स्थितिः वा निराधारत्वं वा कल्पनीयम्. शाब्दबोधसमयेच क्रियायाः आक्षेपलभ्यत्वं कल्पनीयम्. कर्मदर्शनादिश्रुतीनाञ्च स्वार्थे तात्पर्यराहित्यं कल्यनीयम्. नित्यत्ववादिमतेतु न केपि एते दोषाः नापि कल्पनेति महानेव गुणः. प्रलये तस्य स्थितिस्तु वेदएव वर्णानां व्यापकत्वाद्यङ्गीकारेण वेदरूपे शब्दे द्रव्यत्वस्य उभयोरपि वादिनोः साधारणत्वात् तत्रैव धर्मसमवायस्य युक्तत्वात्. वेदान्तिमतेतु ''स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'' (श्वे.उ.६।८)इति श्रुतेः ''कालं कर्म स्वभावं च'' (भाग.२।५।२१) इत्यादिपुराणवाक्यात् च; नित्यक्रियायाः ईश्वरधर्मत्वात् परमेश्वरएव स्थितिः यथा निःश्वासरूपेण वेदस्येति. एवंसति कल्पादौ अध्ययनक्रमेण यथा वेदः आविर्भवति तथा अधीतवेदानां यजमानानां क्रियाभिः तत्प्रदेशभेदेन अलौकिकी क्रिया संनिधापिता भवति. येनच यदर्थं यावती स्वक्रियया संनिधाप्यते, तस्य तत्फलभोगपर्यन्तं देवताप्रीतिद्वारा तत्सम्बद्धा अतीन्द्रियैव तिष्ठति इति 'अपूर्व'पदेन 'अदृष्ट'पदेन च शास्त्रे उच्यते–''अपूर्वं यत् क्रियाफलं धर्माख्यम्'' इति. एवं स्थिरायां तस्यां विधिः पुरुषं प्रवर्तयतीति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. तद् एतत् सर्वम् अभिसन्धाय सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. अर्थस्तु[१] ☆सूत्रयोजनया एवं बोध्यः–**हि** यतो हेतोः, **विधीयते** पुरुषप्रयत्नेन निष्पाद्यते, **एषः** धर्मत्वेन विवक्षितो**अर्थः** पुरुषार्थत्वेन अभिधेयः. कस्य अभिधेयः? कश्च धर्मः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **भावार्थाः** इत्यादि. तथाच सर्वधातुवाच्यक्रियासामान्यार्थकेभ्यो यागादिकर्मवाचकशब्देभ्यः प्रतीयमाना या क्रिया पुरुषनिष्पाद्या सा तेषाम् अर्थः इति स धर्म इति उक्तं भवति☆ इति॥२।१।१॥

---

[१] ''अर्थस्तु स्पष्टः'' इति जूनागढ़पाठः. इतः आरभ्य ''इत्युक्तं भवति इति'' इत्यन्तः ☆...☆ चिह्नान्तर्गतो अंशश्च तत्र न उपलभ्यते.

अभिधीयतइति पूर्वपक्षिणो मतम् अनुवदति — इति चेद् इति ॥२।१।२॥

परिहरति सूत्रद्वयेन. धर्मप्रमितौ भावार्थकर्मशब्दत्वमेव न प्रयोजकं किन्तु पुरुषापेक्षा, पुरुषार्थत्वाद्. अतः सापेक्षानपेक्षविभागम् आह —

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि
नामानि तस्मात् तेभ्यः पराकाङ्क्षा न
भूतत्वात् स्वे प्रयोगे ॥२।१।३॥

'स्व'शब्दो अर्थवाची, षष्ठ्यर्थे सप्तमी. येषां शब्दानाम् अर्थस्य उत्पत्त्यन्तरं प्रयोगकाले रूपम् उपलभ्यते, उत्पन्नं व्यवहारकाले तिष्ठति, तेषां शब्दानां 'नाम' इति संज्ञा, "नामाख्याते चोपसर्गनिपाताः"

"भावार्थकर्मशब्देभ्यएव धर्मः प्रतीयते" इत्यत्र शङ्कते इति आहुः **यदि** इत्यादि. कथं सर्वे भावार्थाः? इत्यतः आहुः **क्रिया**...इत्यादि, क्रियावाचिनो 'भ्वा'दयो धातुसंज्ञां लभन्तइति धातवः सर्वे क्रियावाचकाएव, **चः** अवधारणे. शब्दाश्च सर्वे धातुजाः. नच प्रकृतेः क्रियावाचकत्वेपि प्रत्ययस्य अन्यार्थत्वे प्रकृत्यर्थस्य गुणभूतत्वात् न सर्वेषां क्रियावाचित्वम् इति एवं समाधेयं, 'कृत्'प्रत्ययेनापि **भावो अभिधीयत** एव. यथा — 'पाकः'-'पाठः' इत्यादि. यत्रच द्रव्यादिकम् अभिधीयते तत्रापि योगविचारे क्रियासाहित्यम् आयात्येव. अतः सर्वेभ्यएव धर्मप्रतीतिः इष्यताम् **इति पूर्वपक्षिणो मतम्** **इति चेद्** इत्यनेन अनुवदति इति अर्थः ॥२।१।२॥

समाधानम् अवतारयन्ति **परि**... इत्यादि. ननु परिहारे कुतः सूत्रद्वयम्? इत्यतः आहुः **धर्मः**इत्यादि. यः कश्चिद् यत्र कुत्रचित् प्रवर्तते तत् फलार्थमेव प्रवर्तते, "नहि प्रयोजनम् अनुद्दिश्य मन्दोपि प्रवर्तते"इति लोके दर्शनात्. अतो धर्मप्रमित्यर्थमपि यः प्रवर्तिष्यते सोपि किञ्चित् फलार्थमेव प्रवर्तिष्यते[1] भावार्थशब्दैः. नामभिस्तु उदासीनतया धर्मः प्रत्याय्यते नतु पुरुषार्थतया. अतो धर्मप्रमितिसम्पादने **भावार्थकर्मशब्दत्वमेव न प्रयोजकं किन्तु** पुरुषस्य

---

[1] "'प्रवत्स्यंति' इत्यपि पाठः"इति आद्यसम्पादकः.

(नि.१।१।१) इति वचनात्. ''नमन्ति नामयन्ति स्वार्थम् आख्यातार्थम्'' इति 'नाम' संज्ञा परार्थत्वज्ञापिका. अतः स्वातन्त्र्याभावात् न तेभ्यो धर्मः प्रमीयते इति अर्थः. प्रकृतोपयोगम् आह तस्मात् स्थिरार्थत्वात् तेभ्यो नामपदेभ्यः पराकाङ्क्षा न विद्यते, तच्छ्रवणानन्तरं पुरुषाकाङ्क्षा न भवति. यथा 'पचति' इति उक्ते 'कः ?' इति आकाङ्क्षा, न तथा 'घटः' इति उक्ते; नापि 'पाकः' इति उक्ते. निष्पादनार्थं हि पुरुषो अपेक्ष्यते, तेषाम् अर्थस्तु स्वप्रयोगकाले सिद्धः. लक्षणार्थं पूर्वं निरूपितमिति पुनः प्रयोजनकाले कथितम्. तस्मात् पुरुषापेक्षाभावात् पुरुषार्थो धर्मो न तेभ्यः प्रतीयते इति ।।२।१।३।।

या अपेक्षा सापि प्रयोजिका, धर्मस्य पुरुषार्थत्वात्. अतः सापेक्षानपेक्षविभागं सूत्रकृद् अत्र आह, तेन सूत्रद्वयं परिहारे इति अर्थः.

व्याकुर्वन्ति, **स्वशब्दः** स्वीयत्वेन **अर्थवाची** तदन्ते श्रूयमाणा या सप्तमी सा **षष्ठ्यर्थे. उत्पत्तौ** इतितु सति सप्तमी. तथाच **येषां शब्दानाम्** अर्थः उत्पन्नः सन् व्यवहारकाले तिष्ठति **तेषां 'नाम' इति संज्ञा,** निरुक्ते **''नामाख्याते...''** इत्यादिशब्दविभागवचनात्. अतः स्वयं **नमन्ति** कारकतया क्रियाशेषाः वाक्ये भवन्ति. **नामयन्ति** स्वार्थम् आख्यातार्थं प्रति स्वार्थम् आख्यातार्थप्रयोजनाय शेषभूतं कुर्वन्ति **इति 'नाम' संज्ञा** तेषां शब्दानाम् अर्थस्य[1] **ज्ञापिका. अतः** परार्थत्वेन **स्वातन्त्र्याभावाद्** वाक्यार्थबोधावसरे नामभ्यो **धर्मः** पुरुषार्थतया न प्रमीयते इति अयम् अर्थः 'नाम'शब्दार्थकथनेन बोध्यते. तस्य बोधनस्य **प्रकृतोपयोगम्** आह **तस्माद्** इत्यादि. तद्व्याख्यानं **तच्छ्रवण...**इत्यादि. उदाहरणं **यथा** इत्यादि. **भूतत्वाद्** इत्याद्यंशं विवृण्वन्ति **निष्पादन...** इत्यादि. ननु एतस्य उपपादनस्य नामलक्षणादेव सिद्धेः पुनः तत्कथनस्य किं प्रयोजनम् अतः आहुः **लक्षणार्थम्** इत्यादि.**प्रयोजनकाले** इति उपपादनावसरे. तथाच वैशद्यार्थं **पुनः** कथनम् इति अर्थः. सूत्रे यत् सिद्धं तद् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. तथाच नामभ्यो अनपेक्षत्वेन स्थिरत्वेन धर्मप्रमितावपि पुरुषार्थत्वेन न प्रमीयते; अतो भावार्थकर्मशब्दत्वं

---

[1] 'अर्थपदार्थस्य' इति जूनागढ़ीयः पाठः.

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वप्रयोगो न विद्यते
तान्याख्यातानि तस्मात् तेभ्यः प्रतीयेता-
श्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥२।१।४॥

"पूर्ववद् अत्रापि" इति पक्षं वारयति 'तु' शब्दः. येषां शब्दानाम् [उत्पत्तौ !] अर्थोत्पत्त्यनन्तरम् अर्थे प्रयोगो न विद्यते, अर्थं प्रदर्श्य प्रयोगो न विद्यते–यथा "अयं घटः" इति उत्पत्तिसमये प्रयोगो न अत्र निषिध्यते–तेषाम् 'आख्यातः' इति, यैः धर्मः

तत्स्वरूपप्रमित्युपयोग्येव नतु पुरुषार्थरूपत्वघटित-तत्प्रमित्युपयोगी इति अर्थः ॥२।१।३॥

व्याकुर्वन्ति **पूर्ववद्** इत्यादि, यथा नामभ्यः पुरुषार्थत्वेन अप्रतीतिः तथा आख्यातेभ्योपि इति शङ्कां वारयति इति अर्थः. अत्रापि **उत्पत्तौ** इति सतिसप्तमी आनन्तर्यज्ञापिका. **अर्थे** इति विषयसप्तमी. **स्वप्रयोगः** इति शब्दप्रयोगः. तथासति यः सूत्रार्थः सिध्यति तम् आहुः **येषां शब्दानाम्** इत्यादि. **नात्र निषिध्यते** इति "पाकं करोति"-"यागं करोति" इत्यादिप्रयोगदर्शनात् सूत्रे न निषिध्यते. **आख्यातः इति** इति 'आख्यातः' इति एषा संज्ञा. **प्रतीयेत** इति कर्तव्यत्वेन प्रतीयेत. एवं प्रतीतौ हेत्वन्तरम् आह इति आहुः **किञ्च** इत्यादि. **प्रयोगः** इति अनुष्ठानम्. **भावना** इति उत्पादनात्मिका क्रिया. **स्वनिष्पत्त्यर्थम्** इति स्वप्राकट्यार्थम्. **पुरुषोपि अर्थ्यते** इति धर्मेण पुरुषः आकाङ्क्ष्यते. तथाच "पुरुषेण फलाय अर्थ्यते" इति "पुरुषः स्वनिष्पत्तये अर्थ्यते=अपेक्ष्यते अनेन" इति च द्वेधा निरुक्त्या पुरुषार्थो धर्मः आख्यातपदैः उच्यते. **तस्मात्** तेभ्यः एव तादृशो **धर्मः** प्रतीयेत. अयम् अर्थः— 'पचति' इत्यादौ यद्यपि केवलेन धातुना केवलेन आख्यातेन च भावनाप्रतीत्यभावाद्, उभयसमुदायादेव प्रतीतेः कस्य अर्थो भावना इति निश्चेतुं न शक्यते; तथापि 'पाकः' 'पक्तिः' 'पचनम्' इतिप्रत्ययानाम् अन्यान्यत्वेपि धात्वन्वयात् 'पचनं' धात्वर्थः. एवं 'पचति'-'गच्छति'-'स्वपिति'-धातूनाम् अन्यान्यत्वेपि प्रत्ययान्वयाद् भावना आख्यातार्थः इति निश्चीयते. साच साध्यत्वेन अभिधीयमानो व्यापारविशेषः क्रिया-

आख्यायते इति ज्ञापनार्थम्. तस्माद् विद्यमानार्थत्वात् स्वनिष्पत्त्यर्थं पुरुषाकाङ्क्षायाः विद्यमानत्वात्, तेभ्यः पदेभ्यो धर्मः प्रतीयेत. किञ्च, आश्रितत्वात् प्रयोगस्य, प्रयोगो हि पुरुषाश्रितो भवति, पुरुषप्रयत्नव्यतिरेकेण धर्मो न निष्पद्यते. आख्यातार्थश्च भावना पुरुषधर्मः, अतः स्वनिष्पत्त्यर्थं पुनः-पुनः प्रयोगार्थञ्च पुरुषो अपेक्षितइति, पुरुषार्थो धर्मः तेभ्यः प्रतीयते इति अर्थः. पुरुषेणापि अर्थ्यते—सफलः पुरुषोपि अर्थ्यतइति पुरुषार्थो धर्मः. तस्माद् आख्यातेभ्यएव धर्मः ।।२।१।४।।

लिङर्थे विशेषम् आह—

चोदना पुनरारम्भः ।।२।१।५।।

चोदना प्रवर्तकं वाक्यं, तद् धर्मलक्षणत्वेन उक्तं, तस्याः

सामान्यात्मकः धातुविशिष्टाख्यातेषु तेषु[1] श्रुतेषु क्रियापदम् इति प्रतीतेः. साच प्रतीतिः न धातुनिबन्धना, तेषां क्रियाविशेषार्थकत्वात्. अतो विशेषालिङ्गितत्वेपि क्रियासामान्यम् आख्यतेनैव उच्यतइति आख्यातार्थो भावना. 'पचत्या'दिरूपे आख्यातविशिष्टे पदे श्रुते क्रियान्तराकाङ्क्षानुदयात् क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकं यत् तस्य रूपं तदेव साध्यत्वं तेन रूपेण अभिधीयमानो व्यापारः स्वात्मनिष्ठः प्रयत्नः शरीरादिनिष्ठः स्पन्दः च. स यद्यपि नाना क्रमिकः च तथापि समूहात्मना एकबुद्धिविषयत्वाद् एकः. तस्यच पुरुषधर्मत्वं फलोत्पादानुकूलत्वं च प्रत्यक्षादिनैव निश्चीयते. तस्मात् पुरुषार्थो धर्म आख्यातैरेव प्रतीयतइति धर्मप्रमितौ भावार्थकर्मशब्दत्वमात्रं न प्रयोजकं किन्तु पुरुषापेक्षापि प्रयोजिका इत्येतद् बोधनाय अयं विभागः कृतो, नतु नाम्नां धर्मप्रमित्यजनकत्वाय इति अर्थः. तथाच आख्यातानां[2] पुरुषनिष्पाद्यक्रियावाचकत्वात् तेभ्यएव पुरुषनिष्पाद्यक्रियारूपत्वेन धर्मप्रमितिः इति उक्तं भवति ।।२।१।४।।

अग्रिमसूत्रम् अवतारयन्ति लिङर्थे विशेषम् आह इति.

---

१. 'तेषु' इत्ययं जूनागढ़ीयः पाठः

२. इतः आरभ्य 'भवति' इत्यन्तोंशः सुरतजूनागढ़योः नास्ति.

धर्मत्वपरिज्ञापकत्वम्. अतो विशेष्यत्वेन धर्मो न प्रतिपाद्यतइति विशेषणत्वेनैव धर्मप्रमितिः. तच्च विशेषणत्वम् औदासीन्यप्रच्युत्यारम्भो निष्पादनार्थं प्रवृत्तिः इति एतावान् विशेषः. धर्मप्रमितिस्तु भवत्येवेति न अव्याप्तिः. चोदनातु आरम्भः, लिङर्थस्तु शब्दव्यापारो अभिधालक्षणः पूर्वापरीभावापन्नः. तस्य पुरुषे प्रेरणासम्बन्धः, प्रतीत्यनुरोधेन तथा कल्प्यते. त्रेधाहि पुरुषः प्रवर्तते. पुरुषश्च त्रेधा भवति—[१]काममयो [२]वैदिको [३]दुःखासहिष्णुः च—इति.

[१]तत्र 'स्वर्गकाम' पदाद् आद्यः.
[२]विधेः द्वितीयः.
[३]अर्थवादैः तृतीयः प्रवर्तते.

---

[१]☆ननु नामाख्याताभ्यां सिद्धतया साध्यतया च धर्मः प्रमीयते, चोदनयातु तत्र प्रवृत्तिमात्रं जन्यते. किञ्च लक्षणं हि असाधारणो लक्ष्यनिष्ठधर्मः, चोदनातु वाक्यरूपत्वाद् वेदादिनिष्ठा नतु धर्मनिष्ठा इत्यतोपि तस्याः कथं धर्मलक्षणत्वम्? इति आकाङ्क्षायां तस्याः लक्षणत्वार्थं लिङर्थे विधौ प्रवर्तकत्वेपि वक्ष्यमाणरीत्या प्रमितिजनकत्वं रूपं विशेषम् आह इति अर्थः. तमेव विशेषं व्युत्पादयन्ति **चोदना** इत्यादि, चोदना हि प्रवर्तकं वाक्यं धर्मलक्षणत्वेन

---

१. इतः आरभ्य ☆...☆ एतच्चिह्नान्तर्गतो अंशः सुरतपाठे नास्तीति पश्चात्तनः इति प्रथममुद्रितसंस्करणसम्पादकाभिप्रायः, जूनागढ़ीये पाठेपि नास्ति. सोऽयं पाठः सुरतजूनागढ़योः एवम् उपलभ्यते: प्रवर्तकत्वरूपं विशेषम् आह ''चोदना पुनरारम्भः'' तमेव विशेषं व्याकुर्वन्ति 'चोदना...' इत्यादि. चोदना हि प्रवर्तकं वाक्यं धर्मलक्षणत्वेन शास्त्रारम्भे उक्तम्. अतः चोदनया विधेयत्वेन स्वविषयत्वम् आख्यातपदोक्तायां क्रियायां['...पदोक्तया क्रियया' इति जूनागढ़ीयो विशेषः] ज्ञाप्यते—''विधेयत्वेन चोदनाविषयो अर्थो धर्मः'' इति. अतः तस्याः धर्मत्वपरिज्ञापकत्वम्. अतो भावार्थैः कर्मशब्दैः यागो दानं होमः इत्यादिभिः यथासिद्धत्वेनैव धर्मप्रमितिः. तच्च विशेषणम् उक्तरीत्या आरम्भः. सोपि एवं प्रवृत्तिरिति एतावान् लिङर्थो['लिङर्थे' इति जूनागढ़ीयो विशेषः] विशेषः इति अर्थः. नच एवं तस्याः धर्मत्वज्ञापकत्वेन धर्मज्ञापकत्वाभावाद् अव्याप्तिः लक्षणे शङ्कनीया, उक्तरीत्या विशेषणत्वेन धर्मप्रमितिस्तु भवत्येवेति अव्याप्तिदोषस्य अभावाद्. एवं विशेषम् उपपाद्य...

शास्त्रारम्भे उक्तम्. तच्च पुरुषप्रवृत्तिविषयत्वेन धर्मं प्रतिपादयतीति तस्याः चोदनायाः तस्मिन् पुरुषधर्मत्वपरिज्ञापकत्वम्. अतः तया लिङंशेन आख्यातवत् कारकविशेष्यतया धर्मो न प्रतिपाद्यतइति तेन रूपेण धर्मप्रमित्यजननेपि पुरुपविशेषणत्वेनैव धर्मप्रमितिः. नहि तया तस्मिन् पुरुषधर्मत्वे अज्ञापिते तत्र पुरुषप्रवृत्तिः सम्भवति. लौकिके 'घटानयनादि'वाक्योक्ते अर्थे ज्ञातुरेव प्रवृत्तिदर्शनात्. तर्हि तस्य विशेषणस्य किं स्वरूपम्? इति चेत्, तच्च विशेषणत्वम् औदासीन्यप्रच्युत्यारम्भः, तन्निष्पादनार्थं प्रवृत्तिः इति एतावान् लिङर्थे विशेषः. तथाच अनया रीत्या तया धर्मप्रमितिः भवतीति तस्मिन् लक्षणत्वं निर्बाधम्. नच वैयधिकरण्यदोषः, "**चोदनालक्षणो...**" (जै.-सू.१।१।२) इत्यत्र चोदनाप्रमितत्वस्यैव विवक्षितत्वेन तदभावाद् इति अर्थः. ननु सिद्धस्वभावे स्थिरे धर्मे चोदनाप्रत्यायितप्रवृत्तिविषयत्वाभावाद् लक्षणे अव्याप्तिः इति चेत्, तत्र आहुः **धर्मप्रमितिः** इत्यादि. चोदनाप्रत्यायित-प्रवृत्तिविषय-क्रियाभिव्यङ्ग्यत्वेन रूपेण स्थिरस्यापि धर्मस्य प्रमितिः भवत्येवेति स्थिरेपि चोदनाप्रमितत्वस्य सम्भवात् न अव्याप्तिः इति अर्थः. एवं विशेषं व्याख्याय☆ सूत्रं व्याकुर्वन्ति **चोदनातु** इत्यादि. सूत्रे **पुनः**शब्दः 'त्व'र्थो विशेषम् अवधारयति, चोदनातु प्रथमतः प्रवृत्तिजनकत्वाद् आरम्भः इति अर्थः. पूर्वं चोदनालक्षणत्वेन धर्मस्य विवृतत्वेपि चोदनास्वरूपस्य अनुक्तत्वात् तद् इदानीम् उक्तम्. ननु आख्यातत्वाविशेषेपि लिङर्थे कुतो अयं विशेषः इत्यतः आहुः **लिङर्थः** इत्यादि, यथा आख्यातानां भावनालक्षणः क्रियारूपो अर्थव्यापारो अभिधेयः तथा लिङो अभिधालक्षणः. [क]अङ्गैः कर्म भावयेत् [ख]कर्मणा फलं भावयेद्, इति पूर्वापरीभावापन्नः शब्दव्यापारो अभिधेयः. तादृशेन शब्दव्यापारेण पुरुषः कर्मणि प्रवर्ततइति तस्य पुरुषे प्रेरणासम्बन्धः. नच अत्र मानाभावः, "घटम् आनय" इत्यादिशब्दश्रवणान्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ—"अयं मां प्रवर्तयति" इति प्रतीतेः तदनुरोधेन वेदेपि तथा कल्प्यते. ननु वेदे तथा इति कथम् अवगन्तुं शक्यते? इति आकाङ्क्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **त्रेधा** इत्यादि. एतेन फलकामनायाः अर्थवादानां च न सर्वत्र उपयोगः इति बोधितम्. इदञ्च "अग्निहोत्रं जुहोति" (तै.सं.१।५।९।१)

दृष्टविरोधि; एवम् आख्यातपदेभ्यो धर्मः अन्यानि च तदुपकारकाणि इति उक्तम्।।२।१।५।।

।। इति प्रथममपूर्वस्य आख्यातप्रतिपाद्यत्वाधिकरणम्।।१।।

इत्यादिभिः कामपदार्थवादशून्यैः केवलकर्मबोधवाक्यैः अवसीयते. नच कामनाभावे फलाभावः शङ्क्यः, ''एतान्यपि तु कर्माणि'' (भ.गी.१८।६) इत्यादिभिः स्मृतिवाक्यैः तस्य तादृक्फलनिश्चयात्. ननु एवंसति ''एषएव साधु कर्म कारयति'' (कौ.उ.३।८) इति श्रुत्यक्तम् ईश्वरस्यैव प्रवर्तकत्वं कुतो न आद्रियते? इत्यतः आहुः **ईश्वरः** इत्यादि. तथाच लौकिकानां दृष्टएव विश्वासात् जैमिनेश्च तादृशामेव यथाकथञ्चिद् वेदसम्मुखीकरणार्थं प्रवृत्तत्वात् तदनादरः इति अर्थः. एवम् अन्यत्रापि बोध्यम्. यदि जैमिनेः अयम् आशयो न स्यात् तदा उपासनासूत्रेषु जैमिनीये अश्वमेधपर्वणि च ब्रह्ममाहात्म्यं भगवन्माहात्म्यं च किमिति वदेत्? अतो, ये इतो अन्यथा निरूपयन्ति, ते स्वभ्रान्तिं जैमिनौ आरोपयन्ति इति दिक. सिद्धम् आहुः **एवम्** इत्यादि. तेन इदं सिध्यति — सिद्धावस्थापन्नधात्वर्थरूपक्रियात्मको धर्मः उदासीनो नामपदेभ्यः प्रतीयते, साध्यावस्थापन्नधात्वर्थः क्रियात्मकः पुरुषापेक्षः पुरुषार्थरूपः **आख्यातपदेभ्यः**. तत्रापि लिडंशेन आरभ्यतया, अतः पुरुषार्थतया तदारभ्यतया च प्रतीतिजननाद् आख्यातपदानि प्रमितिजनने मुख्यानि. नामपदानितु सिद्धतद्बोधकतया **तदुपकाराकाणि** इति निष्कर्षः.

अन्येतु अधिकरणद्वयम् अत्र कल्पयन्ति. तत्र प्रथमे अखिलम् अदृष्टार्थं विधिवाक्यम् उदाहरणम् :—

तत्र ''किं सर्वैः पदैः अपूर्वं प्रतिपाद्यते उत एकेन? यदापि एकेन तदापि, किं 'द्रव्यादि'वाचिना 'भावना'वाचिना वा?'' इति सन्देहे, ''एकेन 'भावना'वाचिना'' इति सिद्धान्तः. द्वितीये तु अपूर्वसदसद्भावे संशयः, यागस्य क्रियारूपत्वेन त्रिक्षणावस्थायितया कालान्तरभाविफलजननासामर्थ्यात् मध्ये व्यापाररूपम् अपूर्वं द्वारं कल्प्यते अतो अस्ति इति सिद्धान्तः.

तद् इदं सूत्रविरुद्धं, सूत्रेषु 'अपूर्व'वाचकपदाभावात्, आख्यातानां क्रियासामान्यवाचितया समानपदोपात्तस्य धातोः च अतीन्द्रियतद्विशेषवाचितया तन्निष्ठस्य करणत्वस्य देवताप्रीतिरूपव्यापारेण सिद्ध्या अनुपपत्त्यभावात्.

(द्वितीयाधिकरणम्)

तानि सर्वाण्येव फलं साधयन्ति उत कानिचिदेव इति आशङ्क्य प्रधानाप्रधानभेदेन विभजति प्रधानादेव फलम् इति ज्ञापयितुं—

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥२।१।६॥

तानि आख्यातवाक्यानि द्विविधानि गुणभूतानि=अप्रधानभूतानि प्रधानभूतानि च ॥२।१॥६॥

"साधकतमं करणम्" (पाणि.सू.१।४।४२) इति करणलक्षणाङ्गीकारेतु व्यापारापेक्षैव नास्ति, स्वरूपेणैव निर्वाहाद् आख्यातपदैः तत्कल्पनस्य अशक्यत्वात्. पुरुषप्रवृत्तेस्तु यागादिव्यञ्जकतया तदेकदशत्वमेव नतु यागादिरूपत्वम्. यथाहि उद्यमन-निपतन-रूप-पुरुषव्यापार-सहकृतेन परशुना आघातात्मकदृढसंयोगद्वारा छिदा साध्यते, तथा चोदनाप्रयुक्त-पुरुषव्यापाराभिव्यक्तेन यागेन देवताप्रीतिद्वारा फलं साध्यते. दृष्टान्ते फलस्य साध्यत्वं दार्ष्टान्तिके आप्यत्वम् इति एतावान् विशेषः. अतः तेनापि तत्कल्पनायाः अशक्यत्वादिति ॥२।१।५॥

॥इति भावार्थपादभाष्यविवरणे प्रथमाधिकरणम्॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति **तानि** इत्यादि. "[व्रीहीन्]अवहन्ति" (आप.श्रौ.सू.१।१९।११), "तण्डुलान् पिनष्टि" (आप.श्रौ.सू.१।२१।५-७) इत्यादिभिः विहितानि यानि कर्माणि तान्यापि अग्निहोत्रादिवत् फलसाधकानि उत कानिचिदेव? इति आशङ्क्य, "विधेयत्वेन चोदनाविषयत्वस्य तेष्वपि तुल्यवात् सर्वाण्येव तथा" इति पूर्वपक्षे, तदभावाय विभजति इति अर्थः. त्रिसूत्रम् इदम् अधिकरणम् ॥२।१।६॥

तत्र द्वितीयं सूत्रम् अवतारयन्ति **तत्र** इत्यादि. सूत्रं व्याचिकीर्षन्तः प्रधानाप्रधानविभागे हेतुं बोधयितुम् आहुः **प्रधानम्** इत्यादि. श्रुते फले ततएव तस्मिन् कामना उत्पद्यते न इतरस्मादिति इतराप्रयुक्तेच्छा **निरुपधीच्छा** तस्याः **विषयः** फलमेव, साधनन्तु तदुपायत्वेन. अन्यानितु

तत्र प्रधानभूतानि लक्षयति—

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ।।२।१।७।।

प्रधानं फलं तत्साधकञ्च प्रधानं, द्रव्यम् अप्रधानं तत्साधकञ्च अप्रधानम्. पुरुषस्य निरुपधीच्छाविषयएव प्रधानम्. यैः द्रव्यं न चिकीर्ष्यते संस्कर्तुं पुरुषेच्छा न जन्यते किन्तु संस्कृतस्य द्रव्यस्य देवतासम्बन्धो बोध्यते, तानि प्रधानभूतानि. ननु द्रव्यदेवतासम्बन्धो यागः, तत्र द्रव्यमेव प्रधानं सम्बन्धस्य धर्मत्वेन गुणत्वात्, सम्प्रदानस्यापि द्रव्यम् अभीष्टं ''विप्राय गां ददाति'' इत्यत्र गोः प्राधान्याद् इति आशङ्क्य आह द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्, द्रव्यं यथासुखं व्यवह्रियतइति गुणभूतमेव. 'गाम्' इत्यत्र ततः परं यथेष्टविनियोगाभावात् [दान]कर्मता, न एतावता द्रव्यस्य प्राधान्यम् ।।२।१।७।।

गुणभूतानि लक्षयति—

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ।।२।१।८।।

'तु'शब्दः प्राधान्यं वारयति. द्रव्यं चिकीर्ष्यते संस्क्रियते द्रव्यम् उद्दिश्य संस्कारो विधीयते तेषु वाक्येषु गुणः गुणभूतानि कर्माणि प्रतीयन्ते इति अर्थः. तत्र हेतुः तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्, तेषां कर्मणां द्रव्यमेव[1] प्रधानं संस्कार्यत्वात्, स्वयम् अप्रधानं

उपायोपायत्वेनेति इच्छाविशेषविषयत्वमेव विभागे हेतुः इति अर्थः. व्याकुर्वन्ति यैः इत्यादि, संस्कर्तुम् इति द्रव्यं संस्कर्तुम्. हेतुम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. द्रव्यस्य गुणभूतत्वं साधयन्ति द्रव्यम् इत्यादि ।।२।१।७।।

---

[1] द्रव्यत्वमेव इत्यपि पाठः.

संस्कारकत्वात्. एकवचनं प्राधान्यबोधनाय[1], अस्य विचारस्य प्रयोजनम् अतिदेशो भवति. यदि अवघातोपि मुख्यो विकृतौ 'प्रैयङ्ग'वचनेन अतिदिश्येत अप्रधानकर्मणाम् अनतिदेशात्, अप्रधान्येतु 'प्रैयङ्ग'वचनादपि अवघातः. अयञ्च अङ्गविचाराद् भिन्नः. अन्यथा प्रयाजादीनां प्रधानत्वेन अतिदेशो न स्यात्. तथाच द्रव्यसंस्कारासंस्कारत्वेनैव विभागः ॥२।१।८॥

॥ इति द्वितीयं कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाधिकरणम् ॥

(तृतीयाधिकरणम्)

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिवृत्तेः प्रयाजवत् ॥२।१।९॥

"स्रुवं[2] सम्मार्ष्टि" (तै.ब्रा.३।३।१) "परिधीन्तसम्मार्ष्टि" (तै.सं.- २।६।९।१) "[यत्]पुरोडाशः... पर्यग्नि करोती" (तै.ब्रा.३।२।८।५) इत्यादि श्रूयते. तत्र द्रव्ये विकारो न जायतइति संस्कारकर्मत्वम् एषाम् उत न इति? अस्मिन् विचारे पूर्वपक्षम् आह धर्ममात्रेतु फलं कर्मैव भवतु. 'तु' शब्दः पूर्वप्राप्तार्थनिषेधकः. यत्र धर्ममात्रं क्रियते नतु द्रव्यं विक्रियते, नच सम्मार्जनेन स्रुवो अन्यथा भवति.

तृतीयम् अवतारयन्ति **गुणः** इत्यादि.

एकवचनं प्राधान्यबोधनाय इति. '**गुणः**' इति '**तस्य**' इतिच एकवचनं [3]द्रव्यस्य प्राधान्यबोधनाय इति अर्थः. वस्तुतस्तु 'अप्राधान्यबोधनाय' इति पाठः प्रतिभाति. विचारप्रयोजनम् आहुः अस्य इत्यादि. 'प्रैयङ्ग'वचनाद् इति, "प्रैयङ्गवं चरुं निर्वपेद्" (तै.सं.२।२।११।४) इति वचनात्. तत्रापि चरुनिष्पत्त्यर्थं प्रियङ्गुवैतुष्याय अवघातस्य अपेक्षितत्वात् तथा इति अर्थः. नियमप्रयोजनन्तु यागस्वरूपाभिव्यक्तिः, अवघातनिष्पन्नेनैव द्रव्येण यागो अभिव्यज्यते न अन्यथा इति बोध्यम्. अन्यमपि विशेषम् आहुः अयञ्चइत्यादि,

---

[1] 'अप्राधान्यबोधनाय' इति विवरणकाराभिप्रायः.

[2] "स्रुचः सम्मार्ष्टि स्रुवमग्रे" इति श्रौतः पाठः. [3] तस्यापि इति जूनागढ़े.

तस्मात् सम्मार्जनादिकं फलं कर्म. यथा प्रयाजाः न द्रव्यं संस्कुर्वन्ति, तत्र हेतुः अनिवृत्तेः नहि सम्मार्जनादिभिः पूर्वरूपं तस्य निवर्तते॥२।१।९॥

तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः सधर्मः स्यात्॥२।१।१०॥

वा इति पक्षं व्यावर्तयति. सम्मार्गोपि अवघाततुल्यः सधर्मः समानधर्मः, द्रव्यसंस्कारकः स्यात्. तत्र हेतुः तुल्यश्रुतित्वात्, द्वितीयान्तपदेन उभयत्रापि द्रव्यम् उद्दिश्यते "[व्रीहीन्]अवहन्ति" (आप.श्रौ.सू.१।१९।११) " स्रुवं सम्मार्ष्टि" (तै.ब्रा.३।३।१) इति; अतः, इतरैः अवघातादिभिः सधर्मः, द्रव्यम् उद्दिश्य संस्कारत्वेन मार्जनं विधीयते इति॥२।१।१०॥

द्रव्योपदेश इति चेत्॥२।१।११।

ननु न अत्र द्रव्यम् उद्दिश्य सम्मार्जनं विधीयते किन्तु मार्जनम् उद्दिश्य द्रव्यमेव स्रुवादिकं विधीयते. द्वितीयाश्रुतिस्तु यत्रैव प्राधान्यविवक्षा तत्रैव भवति: [क]द्रव्ये [ख]देवतायां [ग]कर्मणि च—

[क]"अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुयात्" (तै.सं.३।३।८-।४), "दशान्नानि जुहोति"(तै.ब्रा.३।८।१४।६) "सोमं यजति" (तै.सं.२।६।१०।५).

तथाच उक्तरीत्यैव प्रधानाप्रधानविभागो नतु अङ्गाङ्गित्वेन इति अर्थः॥२।१।८॥

॥इति द्वितीयं कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाधिकरणम्॥

चतुःसूत्रम् इदम् अधिकरणम्. तत्र विषयादिकम् आहुः **स्रुवम्** इत्यादि. **पूर्वपक्षम् आह** इति पूर्वसूत्रेण आहुः **धर्ममात्र...** इति विहितक्रियामात्रकरणे. **पूर्वप्राप्तार्थनिषेधकः** इति गुणकर्मत्वनिषेधकः. स्फुटम् अन्यत्॥२।१।९॥

[ख]“त्वष्टारं यजति” (तै.सं.२।६।१०।३).

[ग]“अग्निहोत्रं जुहोति” (तै.सं.१।५।९।१), “प्रयाजान्... यजति” (आप.श्रौ.सू.७।१४।४।प.५).

तस्माद् द्वितीयाश्रुतेः अनियामकत्वात् स्रुवादिद्रव्यमेव विधीयते इति चेत् ॥२।१।११॥

परिहरति —

न तदर्थत्वाल्लोकवत् तस्यच शेषभूतत्वात् ॥२।१।१२॥

न इति, द्रव्यं न अत्र विधातुं शक्यते. तत्र हेतुः, तदर्थत्वात् द्रव्यार्थत्वात् सम्मार्जनस्य. योहि यदर्थः सएवं तदुद्देशेन विधीयते. ननु किम् अत्र नियामकं, द्रव्यं मार्जनार्थं न भवति किन्तु मार्जनमेव द्रव्यार्थम्? इति आशङ्क्य आह लोकवत्, लोकेहि गृहार्थमेव मार्जनं नतु मार्जनार्थं गृहनिर्माणमिति. ननु लोके स्पर्शनार्थं गौः आनीयते. अतः उभयमपि अस्तीति किं नियामकम्? इति चेत्, तत्र आह तस्यच शेषभूतत्वात् तस्य स्रुवादेः दशपूर्णमासशेषभूतत्वात्, संस्कृतंहि द्रव्यम् उत्तरत्र उपयुज्यते; अतः प्रकरणमेव नियामकम्. “परिधीन्त्सम्मार्ष्टि पुनात्येवैनान्” (तै.सं.२।६।९।१) पवित्रंहि द्रव्यम् अग्रे उपयुज्यतइति. अग्नेरपि सम्मार्जनं भस्मदूरीकरणार्थं रक्षसाम् अपहत्यै, पर्यग्निकरणं च सर्वहुतार्थम् अस्कन्दाय. अतो द्रव्याणां शेषभूतत्वात् संस्कारः तदर्थः ॥२।१।१२॥

॥इति तृतीयं सम्मार्जनादीनामप्रधानताधिकरणम्॥

एतत्सूत्रद्वयभाष्यन्तु प्रकटार्थम्॥२।१।१०-११॥

एनान्[1] इति परिधीन्. अस्कन्दाय इति भूमौ तदपाताय. श्रुतिलिखनेन सम्मार्गादीनां यागस्वरूपोपकारित्वं स्फुटीकृतं, आर्थवादिकं फलं च अङ्गीकृतम्.

---

[1] ‘एतान्’ इति मुद्रितादिसार्वमातृकः पाठः.

(चतुर्थाधिकरणम्)

स्तुतशस्त्रयोः[1] संस्कारो याज्यावद्
देवताभिधानत्वात्[2] ॥२।१।१३॥

द्रव्यसंस्कारो विचारितो. देवतासंस्कारो विचार्यते— ''आज्यैः स्तुवते'' ( ), '' पृष्ठैः स्तुवते'' ( ), ''प्रउगं शंसति''(शाङ्खा.ब्रा.१४।४), ''निष्कैवल्यं शंसति'' (द्र. : आप.श्रौ.सू.१४।११।१०) इत्यादि.

तत्र सन्देहः— किं स्तोत्रशस्त्रे संस्कारार्थे उत प्रधानकर्मणी फलार्थे? तत्र पूर्वः पक्षः स्तुतशस्त्रयोः संस्कारः प्रतीयते, ग्रहदेवताः एताभ्यां संस्क्रियन्ते. यथा सस्कृतं विप्रं दानेन अभिप्रैति तथा स्तुतां ग्रहदानेन अभिप्रैति. ननु तत्र अतिशयाधानं मलापकर्षणं वा न क्रियतइति कथं संस्कारः? तत्र आह याज्यावत्, याज्यायां द्रव्यसम्बन्धित्वेन देवता निरूप्यते प्रकृतहविर्ग्रहणार्थं, साहि स्वधर्मं स्मारिता हविः गृह्णाति. अन्यथा पुष्टा[अपृष्टा!] सा न गृह्णीयात्. तथा स्तुता शस्ता च प्रोत्साहयुक्ता गृह्णीयात्. प्रोत्साहएव संस्कारः. ननु गुणाएव अत्र उच्यन्ते न देवता! इत्यतः आह देवताभिधानत्वात्, गुणकथनेन देवतैव मुख्यतया अभिधीयते, गुणानां परार्थत्वात्. अतो शेषं स्फुटम्॥२।१।१२॥

॥इति तृतीयं सम्मार्जनादीनाममप्रधानताधिकरणम्॥

सप्तदशसूत्रम् इदम् अधिकरणं तत्प्रयोजनम् आहुः द्रव्य... इत्यादि. विषयम् आहुः आज्यैः इत्यादि. इदं ज्योतिष्टोमे श्रूयते. 'आदि' पदम् अन्येषामपि सङ्ग्राहकम्. तेन सर्वाणि स्तोत्राणि शस्त्राणि च अत्र उदाहरणम्. तत्र प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः 'स्तुतं/स्तोत्रम्' इति उच्यते. अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः 'शस्त्रम्' इति. तत्र 'आज्य'-'पृष्ठ' शब्दौ स्तोत्रविशेषनामनी. 'प्रउग'-'निष्कैवल्य' शब्दौ शस्त्रविशेषनामनी.

---

१. स्तुतशस्त्रयोस्तु इति उपलब्धः पाठः २. देवताभिमानात्

देवतासंस्कारः स्तुतशस्त्राभ्याम्॥२।१।१३॥

अर्थेनतु अपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्॥२।१।१४॥

'तु'शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. देवतासंस्कारपक्षं यत्र देवता तत्र "इन्द्रस्य नु वीर्याणि" (ऋ.सं.१।३२।१-१५) इति पञ्चदशं च तथा "इन्द्रस्येव विदः इन्द्रो यात"(   ) इति परिधानीया. अत्र महेन्द्रस्य नामापि न श्रूयते. तथा अन्यत्रापि ग्रहदेवतैव स्तूयतइति न नियमः. तथापि निर्बन्धे यत्र ऐन्द्रएव ग्रहो, मरुत्वतीये उक्थे वा, तत्रैव स्तुतिशस्त्रे **अपकृष्येयाताम्**. ननु प्रधानपक्षेपि मन्त्रलिङ्गात् कथं न अपकृष्यते? इति चेत् तत्र आह **अचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्**, चोदनार्थः प्रधानं, तल्लिङ्गाद् न अपकृष्यते. यथा "ऐन्द्रिया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" (मै.सं.१।५।११) इति चोदनार्थः तृतीयान्तः. द्वितीयान्तः तदतिरिक्तः "निष्कैवल्यं शंसति" (द्र.:आप.श्रौ.-सू.१४।१९।१०) इति. स गुणभूतइति अपकृष्येत. अतो न संस्कारः ताभ्याम्॥२।१।१४॥

सन्देहम् आहुः **तत्र** इत्यादि, देवतासंस्कारार्थे गुणकर्मणी उत प्रधानकर्माणि? इति. **पूर्वः पक्ष** इति सूत्रोक्तः पूर्वपक्षः. **न क्रियते** इति सम्मार्गाविघाताभ्यामिव न क्रियते. **अतः** इति गुणानां देवताप्रोत्साहार्थतया याज्यायाम् इव अत्रापि देवतायाएव मुख्यत्वात्. तथाच स्तुतशस्त्रे गुणकर्मणी इति अर्थः॥२।१।१३॥

व्याकुर्वन्ति **'तु'शब्दः** इत्यादि. पूर्वाधिकरणे "धर्ममात्रेतु कर्म स्याद्..." (जै.सू.२।१।९) इति सूत्रे 'तु'शब्दः पूर्वप्राप्तसिद्धान्तवारकत्वेन दृष्टइति इहापि तथा इति सन्देहो माभूद् इत्यतः आहुः **देवतासंस्कारपक्षम्** इति. तथाच अयम् अर्थः—स्तुतशस्त्रं यदि मन्त्रोक्तदेवतासंस्कारः स्यात्, तदा तदतिरिक्तदेवतानाम् अर्थे न अपकृष्येत. यस्माद् अन्यार्थे अपकृष्यते, तस्माद् न देवतासंस्कारः इति. अपकर्षो नयनम्. तद् एतद् व्युत्पादयन्ति **यत्र** इत्यादि, यत्र स्तोत्रमन्त्रे देवता तत्र "इन्द्रस्य नु वीर्याणि" (ऋ.सं.१।३२।१-१५)इति.

पुनः शङ्कते "इन्द्रएव महेन्द्रः" इति, महत्त्वं गुणो, यथा महाराजो महाब्राह्मणः इति, तर्हि गुणविशिष्टं परित्यज्य केवलः कथं स्तूयते ? तत्र आह—

वशावद् वा गुणार्थत्वात्[1] ॥२।१।१५॥

वशावद्,[इति!] "सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा वायव्यामालभेत" (तै.सं.३।४।३।२) इति यागे "छागस्य वपायाः मेदसो जुषतां हविः" (तै.ब्रा.३।६।८।१) इति निगदो भवति; तथा

इन्द्रस्य नाम पञ्चदशं पञ्चदशस्तोमयुक्तं स्तोत्रं तदपि इन्द्रस्यैव गमकम्. "इन्द्रेण देवेन पृतना जयामि त्रैष्टुभेन छन्दसा पञ्चदशेन स्तोमेन" (तै.सं.३।५।३।१) इति विष्णुक्रममन्त्रे दर्शनात्. एतेषु महेन्द्रस्य नामापि न श्रूयते, गीयते च महेन्द्रग्रहयजिसंनिधौ. संस्कारपक्षेतु तत्र न अपकृष्यते. तथा अन्यत्रापि स्तोत्रे ग्रहदेवतैव स्तूयते इति न नियमः तथापि चेत् संस्कारनिर्बन्धः क्रियते तदा इन्द्रग्रहयजिस्थलएव अपकृष्येत. तद् उभयमपि विरुद्धम्. अत्र आशङ्कते ननु इत्यादि. न अयं निष्प्रमाणको निर्बन्धोपितु देवतालिङ्गं च प्रधानपक्षेपि तुल्या शिष्टचारस्तु न लिङ्गापेया प्रबलइति तत्रापि अपकर्षः प्राप्नोति इति अर्थः. समाधायकं हेतुं व्याकुर्वन्ति **चोदनार्थः** इत्यादि. अत्रहि 'स्तौति'-'शंसति'पदोक्ता स्तुतिः चोदनार्थः इति प्रधानम्. देवतातु तदभावाद् गुणभूता. अतो लिङ्गस्य गुणभूत्वात् तेन इन्द्रग्रहे तदपकर्षो न युक्तइति चोदनार्थानुगृहीतत्वात् शिष्टाचारो न निर्बलः इति अर्थः. उभयोः गुणप्रधानभावस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वाय दृष्टान्तम् आहुः **यथा** इत्यादि. अत्रहि उपस्थानं चोदनार्थः. 'उपस्थानं' नाम समीपे स्थित्वा स्तवनम्. तृतीयान्तो द्वितीयान्तः तस्माद् भिन्नः. यदि स भिन्नो अर्थः प्रधानं स्यात् तदा अन्यार्थया ऋचा अन्योपस्थानं श्रुतिः न वदेत्. तथाच लिङ्गबलाद् ऐन्द्रग्रहस्थलस्तुतास्त्रापकर्षो न युक्तः. "निष्कैवल्यं शंसति" (आप.श्रौ.सू.१४।१९।१०) इति -शस्त्रं चोदनार्थत्वात् प्रधानम्. स देवतारूपो अर्थो गुणभूतइति चोदनानुरोधेन

---

[1] "वशावद्वा गुणार्थं स्याद्" इति प्रसिद्धः पाठः.

सगुणोपि केवलः स्तूयते. तत्र हेतुः **गुणार्थत्वात्** गुणकथनार्थं देवता गृह्यते. तत्र गुणस्य ग्रहणं व्यर्थं, नहि जलानयनार्थी गृहात् सजलं भाण्डं नयति. "**गुणार्थं स्याद्**" इति पाठे— "स्तुतशस्त्रसंस्कारार्थमेव स्याद्" इति पूर्वपक्षार्थानुवादः. तस्माद् इन्द्रमहेन्द्रयोः अभेदात् संस्कारपक्षेपि न दोषः ।।२।१।१५।।

परिहरति—

न श्रुतिसमवायित्वात् ।।२।१।१६।।

न इति, न महेन्द्रः इन्द्रो भवितुम् अर्हति. तत्र हेतुः **श्रुतिसमवायित्वात्**, श्रुतौ 'माहेन्द्र'पदे तद्धितान्ते महत्त्वलक्षणो गुणः समवेतः, तेन वा इन्द्रः स केवलः पृथक् कर्तुं न शक्यते,

---

सो अपकृष्येत. अतः स्तुतशस्त्राभ्यां न देवतासंस्कारः इति अर्थः ।।२।१।१४।।

सूत्रम् अवतारयन्ति **पुनः** शङ्कते इति. यद् उक्तं "संस्कारत्वे माहेन्द्रग्रहयजिस्थले ऐन्द्रस्तुत्यपकर्षो न उपपद्यते" इति तद् अयुक्तं, यतः इन्द्रएव महेन्द्रइति महत्त्वं गुणः. यथा राजैव ब्राह्मणएव महत्त्वगुणयोगेन 'महाराजो' 'महाब्राह्मणः' इति. तथाच इन्द्रमहेन्द्रयोः ऐक्यात् तत्र इन्द्रस्तुत्यपकर्षेपि न संस्कारत्वहानिः इति अर्थः. किञ्चिद् आशङ्क्य परिहरति **तर्हि** इत्यादि. **इति यागे** इति एतद्वाक्यं विहिते वशाद्रव्यके यागे, "वशा, वन्ध्या,निगदः" इति परप्रत्यायनार्थो मन्त्रः. **देवता गृह्यते** इति. तथाच देवतयैव गुणाः आयास्यन्ति इति अर्थः. शेषं स्फुटम् ।।२।१।१५।।

सूत्रम् अवतार्य व्याकुर्वन्ति **परिहरति न** इत्यादि. **श्रुतिसमवायित्वाद्** इति, श्रुतौ समवायि श्रुतिसमवायि, तस्य भावः तत्त्वं, तस्मात्. तद् व्युत्पादयन्ति **श्रुतौ** इत्यादि. तद्धितान्तं 'महेन्द्र' पदं, '**माहेन्द्र**' इति. तत्र महत्त्वलक्षणो गुणो देवतायां समवेतः प्रतीयते तेन गुणेन युक्तः इन्द्रो वा ग्रहादौ देवतात्वेन प्रतीयते. स गुणो वा इन्द्रो वा एकैकस्मात् पृथक्कर्तुं न शक्यते.

“‘संनियोगशिष्टानाम्’’ इति न्यायात्. नहि ‘इन्द्र’शब्दः अत्र तद्धितः, तथा सति ‘महैन्द्रः’ इति स्याद्, असमर्थत्वात् समासः च न भवेद्. अतः शब्दभेदाद् इन्द्रात् महेन्द्रो भिन्नः ॥२।१।१६॥

व्यपदेशाच्च ॥२।१।१७॥

भेदेन व्यपदेशः च भवति, ‘‘इन्द्रं निगमेषूपलक्षयेद् इन्द्रयाजिनो... महेन्द्रयाजिनः’’ (आप.श्रौ.सू.१।२।७) इति. ‘‘ततोऽधिकामं यजेत’’ (तै.सं.२।५।४।११) इति च. अयञ्च विकल्पो न उपपद्यतइति भेदः ॥२।१।१७॥

हेत्वन्तरम् आह —

गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥२।१।१८॥

यदि गुणो भेदको न स्याद् अनर्थकएव स्यात्.

‘‘संनियोगशिष्टानां सह[वा] प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः’’ इति न्यायात्[1]. संनियोगशिष्टत्वे मानन्तु ‘महेन्द्र’पदाद् देवतातद्धितः. नच ‘इन्द्र’पदादेव तद्धितः ततो ‘महत्’पदेन समासः इति वाच्यं, नहि ‘इन्द्र’शब्दात् तद्धितः तथासति ‘महैन्द्रः’ इति स्यात्. ग्रहादौ महत्त्वस्य अभावेन असमर्थत्वात् ‘‘सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः’’ (पाणि.सू.२।१।६१) इत्यनेन विहितः समासश्च न भवेत्. नच समासान्तरम् अत्र सम्भवति ‘‘आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः’’(पाणि.सू.६।३।४६) इति सूत्रेण समानाधिकरणस्यैव उत्तरपदत्वे महतः आदन्तत्वविधानात्. अतः शब्दभेदाद् इन्द्राद् महेन्द्रो भिन्नः इति अर्थः॥२।१।१६॥

‘‘**ततो अधिकामं...**’’ इत्यादि. अयम् अर्थः — इतः पूर्वं ‘‘नागतश्रीः महेन्द्रं यजेत’’ (तै.सं.२।५।४।८) इत्यादिना गतश्रीकाणामेव महेन्द्रयागम् उक्त्वा तदतिक्रमेण इन्द्रयागे स्वदेवतातः प्रच्युत्या देवतान्तरस्य

---

[1] ‘‘संनियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः’’ इति लो.न्या.सा.४४४. ‘‘एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः’’ इति परिभाषा पाठः १७.

नहि तस्य अन्यत् प्रयोजनम् अस्ति. तस्मादपि भिन्नः ॥२।१।१८॥

"'अनर्थकः स्याद्'' इति अनुवर्तते—

तथा याज्यापुरोरुचोः॥२।१।१९॥

इन्द्रमहेन्द्रयोः याज्यापुरोनुवाक्ये भिन्नतया निरूपिते ते व्यर्थे भवतः. ''ऐन्द्रसानसिं...प्रससाहिषे'' (तै.ब्रा.३।५।७।३-४) इति इन्द्रस्य, ''महान् इन्द्रो य ओजसा... महान् इन्द्रो नृवदाचर्षणिप्रा'' (तै.ब्रा.३।५।७।४)इति अनुमन्त्रणभेदः च ज्ञातव्यः. तस्मादपि भिन्नः ॥२।१।१९॥

ननु उक्तं वशावद् भविष्यति इति तत्र उत्तरम् उच्यते—

वशायामर्थसमवायात् ॥२।१।२०॥

अजावशा 'छाग'शब्देन उच्यते. निगदे जातिवाची शब्दः प्रयोक्तव्यः. तत्र छागत्वं जातिः, वशायां समवेतत्वात् प्रत्यक्षेण

अप्राप्त्या पापित्वं च उक्त्वा तदनन्तरं प्राप्तश्रीकस्य सर्वदा इन्द्रप्राप्तौ संवत्सरोत्तरं व्रतपतीष्टिं कृत्वा इन्द्रं वा महेन्द्रं यथेच्छं यजेत इति उक्तम्. इन्द्रमहेन्द्रयोः ऐक्ये इदं **न उपपद्यते** इति॥२।१।१७॥

भाष्यम् अत्र स्फुटार्थम्॥२।१।१८॥

अत्र '**पुरोरुक्**'[1] पदेन पुरोनुवाक्या उच्यते— ''पुरः=पूर्वम् उच्यते'' इति 'पुरोरुक्'. साहि याज्यातः पूर्वम् उच्यते, ''पुरोनुवाक्याम् अनूच्य याज्यया जुहोति''(   ) इति श्रुतेः. **अनर्थक** इत्यादि याज्यानुवाक्ययोः 'इन्द्रः' इति 'महेन्द्रः' इति च यः शब्दभेदः सो अनर्थकः स्याद् इति अर्थः. तद् आहुः **इन्द्रः**इत्यादि चतुर्भिः युक्तयो भेदे उक्ताः ॥२।१।१९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति **ननु** इत्यादि. **नापि** इत्यादि, व्यक्तिसद्भावेपि

---

[1] मुद्रितः पाठः 'पुरोऋक्' इति.

दृश्यतइति निगदो युक्तः. तथा इन्द्र-महेन्द्रौ न प्रत्यक्षसिद्धौ. नापि इन्द्रत्वं जातिः. तस्मात् तत्र जातिरूपस्य अर्थस्य समवायाद् विषमो दृष्टान्तः इति अर्थः ॥२।१।२०॥

यत्रेति वार्थवत्त्वात् स्यात् ॥२।१।२१॥

'वा'शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. संस्कारकर्मणी-एव स्तुतशस्त्रे. अर्थवशाद् अपकर्षो न अस्माकं बाधकः. यत्र लिङ्गेन विनियोगः स्यात्, श्रुत्या वा साधारण्येन, यत्र नीयमानानाम् अर्थवत्ता तत्र नयनं स्यात्, न तावता संस्कारपक्षः त्यज्यते. "अपकृष्यताम्!..." इति प्ररोचनामात्रम्! इतिशब्दो मनसि स्थितं वाक्यार्थं परामृशति. यत्र अपकृष्यमाणानाम् अर्थवत्ता भवति तत्र इति. अर्थवत्त्वाद् हेतोः अपकर्षः स्याद् इति अर्थः ॥२।१।२१॥

न चाम्नातेषु[1] ॥२।१।२२॥

यत्र पुनः स्तोत्रशस्त्राणि अर्थम् अविचार्यैव आम्नायन्ते यथा

तदपगमादिना तन्न जातिः इति अर्थः. नच देवताविग्रहवादे व्यक्त्यैक्यात् तयोः ऐक्यं शङ्क्यं, तदापि ब्रह्मावेशानावेशाभ्यां भेदसिद्धेः इति. तथाच दृष्टान्तवैषम्याद् असङ्गतः पूर्वपक्षः इति भावः ॥२।१।२०॥

एवम् इन्द्र-महेन्द्रयोः भेदे साधिते वशादृष्टान्ते पुनः प्रकारान्तरेण शङ्कते. तद् व्याकुर्वन्ति वा इत्यादि. ननु उक्तं "संस्कारकर्मत्वे स्तुतशस्त्रयोः अन्यत्र अपकर्षो न स्याद्" इति, तत्र आह अर्थवशात् महेन्द्रग्रहयाजिसंनिधौ स्तुतशस्त्रे चोदिते-इति तदर्थवशात् तत्र तयोः अपकर्षो न संस्कारकर्मत्वबाधकः. तद् उपपादयति यत्र इत्यादि. तथाच अत्र श्रुतिसाधारण्याद् नयनेपि नीयमानस्य इन्द्रस्य परमैश्वर्यरूपो अर्थो न त्यज्यतइति अदोषात् नयनं स्यात्. शेषं

---

[1] "न त्वाम्नातेषु" इति प्रसिद्धः पाठः.

''याम्याः शंसन्ति''(   ) ''सर्पराज्ञिया ऋग्भिः स्तुवन्ति'' (तै.सं.७।३।१।२) इति ''मनोग्रहे शिपिविष्टवर्ती स्तुवन्ति'' (   )इति प्रायश्चित्ते; तथा मूषिकासूक्तादीन्यपि तत्र-तत्र विनियुज्यन्ते, तस्माद् अर्थम् अविचार्य यत्र विनियोगः तत्र अपकर्षाभावात् संस्कारत्वे सिद्धे तत्सामान्याद् अन्यत्रापि भविष्यति इति अर्थः ।।२।१।२२।।

नच वक्तव्यं—तेषाम् अर्थएव नास्ति, विद्यमानो वा यज्ञे न उपयुज्यते, तान्येव अर्थम् अविचार्य विधीयन्ते इति वाच्यम्, अर्थवतामेव विधानाद् इति [तत्र!]आह—

दृश्यते ।।२।१।२३।।

सर्वेषाम् अर्थवत्ता अस्ति. मूषकाक्षमण्डूकादयः तत्तत्सूक्ते वाच्याः. तत्र अग्नौ मण्डूकोपयोगः, राजसूये अक्षाणाम्, उपशये मूषकस्य. तत्तत्सूक्तानां तत्तद्यागे उपयोगः स्पष्टः. सर्वेषाञ्च वाचःस्तोमे विनियोगः उच्यते, ''सर्वा ऋचः समाः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचःस्तोमे पारिप्लवं शंसति'' (   )इति. तथा ''यस्याश्विने शस्यमाने

स्फुटम्. एवं तात्पर्यम् उपपाद्य सौत्राणां पदानाम् अर्थम् आहुः **इतिशब्दः** इत्यादि ।।२।१।२१।।

यथा इत्यादि. ''सर्पराज्ञिया ऋग्भिः'' (तै.संहि.१।५।४।१)इति ''भूमिर्भूम्ना''(तै.संहि.१।५।४।१) इत्याद्या ऋचो भूमिसम्बन्धिन्यः 'सर्पराज्ञिया' इति उच्यन्ते. 'सर्पराज्ञिया' इत्यत्र भिसो लुक् छान्दसः. ''**मनोग्रह...**'' इति द्वादशाहस्य यागस्य दशमे अहनि मनोग्रहो विहितः तत्र. तेन सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. **संस्कारत्वे सिद्धे** इति तत्परत्वेन संस्कारत्वे सिद्धे ।।२।१।२२।।

अग्रिमसूत्रम् अवतारयन्ति **नच** इत्यादि. भाष्यं प्रकटार्थम् ।।२।१।२३।।

सूर्यो नाविर्भवति... सवा अपि दाशतयीरनुब्रूयाद्'' (आप.श्रौ.सू.१४।२-४।१-२) इति तस्माद् उत्कर्षेपि अन्यत्र अर्थवत्ता वर्ततइति उत्कर्षभयात् न प्रधानकर्मणी वक्तव्ये. अतः सर्वत्र उत्कर्षाभावात् क्वचिद् उत्कर्षो न दोषः ॥२।१।२३॥

अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे स्तौतिशंसतीति[1] क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥२।१।२४॥

अपि वा प्रधानकर्मणी स्तोत्रशस्त्रे स्याताम्. तत्र हेतुः श्रुतिसंयोगात्, श्रुतिषु वेदभागेषु संयोगो वर्तते, ''कवतीषु स्तुवते'' (   ) ''शिपिविष्टवतीषु स्तुवते'' (   ) इति. नहि 'शिपिविष्ट' शब्दः 'कवती' शब्दो वा स्तुतौ उपयुज्यते. अतः स्वप्रकरणे ''...स्तौति''-''...शंसति'' इति वाक्ये प्रधानक्रियोत्पत्तिमेव विदध्याताम्. संस्कारकर्मत्वेन अनयोः प्रकरणित्वं, प्रधानत्वे तादृशमेव कर्म फलायेति सर्वं सुस्थम् ॥२।१।२४॥

हेत्वन्तरम् आह—

शब्दपृथक्त्वाच्च ॥२।१।२५॥

शब्देनैव स्तोत्राणां पृथक्त्वं भेदो अवगम्यते. द्वादशाग्निष्टोमे ''पञ्चदशोक्थ्यः'' (   ) इत्यादिस्तुतिस्तु एका अनन्ता वा? उभयथा द्वादशादिसङ्ख्या व्याहन्येत उक्थ्यएव सवनत्रयेपि आवर्ततइति देवताकृतोपि न सङ्ख्यानियमः. अतः सङ्ख्यासार्थकत्वाय

इतः आरभ्य षट्सूत्राणि सिद्धान्तसाधकानीति व्याकुर्वन्ति अपि वा इत्यादि. **संयोग...** इति अनुपयुक्तार्थकशब्दसंयोगः. वाक्ये इति प्रथमाद्विवचनं, न इति संस्कार्यायाः देवतायाएव प्राधान्येन तस्याएव प्रकरणित्वात् न

---

[1] ''स्तौतिशंसती'' इति प्रसिद्धः पाठः.

प्रधानकर्मणी-एव इति अङ्गीकर्तव्यम्॥२।१।२५॥

अनर्थकञ्च तद्वचनम्॥२।१।२६॥

अग्निष्टुति श्रूयते ‘‘आग्नेयाः ग्रहाः भवन्ति’’ (   ) इति. तत्र पुनः उच्यते ‘‘आग्नेयीषु स्तुवते’’ (   ) ‘‘आग्नेयीषु शंसन्ति’’ (   ) इति. इदं **वचनम् अनर्थकं** स्यात्, प्रकृतिन्यायेन सर्वप्राप्तौ इतरनिषेधार्थम् इदं वचनम्. देवताशेषत्वेतु इतरत्र प्राप्नोति, ‘अग्निष्टुत्’ पदेनैव देवतान्तरनिषेधात्, तथा इन्द्रस्तुतिः. तस्मात् तत्सार्थकत्वाय प्रधानकर्मणी-एव॥२।१।२६॥

अन्यश्चार्थः प्रतीयते॥२।१।२७॥

यदि स्तुतिरेव प्रतीयते तदा स्तोत्रशस्त्रयोः भेदो न स्यात्. अन्यच्च स्तोत्रम् अन्यच्च शस्त्रम् इति शब्दभेदात् स्वरूपभेदात् च अवगम्यते. तस्मात् स्तोत्रात् शस्त्रम् अन्यत्. अर्थश्च अन्यः उभयोः, बहिष्पवमानस्य पवित्रार्थत्वम्. ऐन्द्राग्नस्य तद्ग्रहोपयोगः कालविप्रकर्षः

तादृशम् इति अनुपयुक्तशब्दककर्ससम्पादितम्॥२।१।२४॥

सूत्रान्तराणि अवतारयति **हेत्वन्तरम् आह** इति. कः शब्दः संस्कारात् स्तुतिशस्त्रयोः भेदकः? इत्यतः आहुः **द्वादश** इत्यादि, स्तोत्राणि इति शेषः. स्तुत्या देवता कथञ्चन संस्कार्या, तत्र संस्कारसङ्ख्या निष्प्रयोजना अतः तथा इति अर्थः. **आवर्तते** इति पञ्चदशसङ्ख्या आवर्तते. शेषं स्फुटम्॥२।१।२५॥

तथा इन्द्रस्तुतिः इति यथा अत्र ‘अग्निष्टुत्’ पदेन प्रधानभूतदेवतायाः प्राप्त्या देवतान्तरनिषेधाद् आग्नेयीवचनवैयर्थ्यं तथा ‘महेन्द्र’ पदेनैव देवतान्तरनिषेधाद् ऐन्द्री स्तुतिरपि व्यर्था इति अर्थः॥२।१।२६॥

च. तस्मादपि प्रधानकर्मणी ॥२।१।२७॥

अभिधानञ्च कर्मवत् ॥२।१।२८॥

प्रधानकर्मवदेव अभिधानं भवति. यथा "ग्रहं गृह्णाति" (श.प.मा.ब्रा.४।६।५।५) तथैव "प्रउगं शंसति" (शाङ्खा.ब्रा.१४।४) "निष्कैवल्यं शंसति" (द्र. : आप.श्रौ.सू.१४।१९।१०) इति द्वितीयाश्रुतिः अत्र प्रधानत्वम् आह. तस्मादपि प्रधानकर्म ॥२।१।२८॥

फलनिवृत्तिश्च[1] ॥२।१।२९॥

फलेन निवृत्तिः समाप्तिश्च श्रूयते. इदं प्रधानस्यैव भवति. "स्तुतस्य स्तुतमसि शस्त्रस्य शस्त्रमसि" (तै.सं.३।२।७।१-२)इति अनुमन्त्रणमन्त्रौ श्रूयेते. तत्र अर्थवादो "यज्ञो वा वै यज्ञपतिं दुह" (तै.सं.३।२।७।२-३) इत्यारभ्य सोमयागस्य सार्थकत्वाय स्तुतशस्त्रयोः दोहत्वेन इमौ मन्त्रौ निरूपतौ. अतः प्रधानोपकारकत्वात् प्रधानकर्मणी-एव इति सिद्धम् ॥२।१।२९॥

॥ इति चतुर्थं स्तोत्रादिप्राधान्याधिकरणम् ॥४॥

(पञ्चमाधिकरणम्)

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥२।१।३०॥

इदं समाम्नायते—"न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नैना अमित्रो व्यथिरादधर्षति देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः

एतत्सूत्रत्रयभाष्यम् प्रकटार्थम् ॥२९॥

॥इति चतुर्थं स्तोत्रादिप्राधान्याधिकरणम्॥

प्रासङ्गिकम् इदम् अधिकरणम्. अत्र विषयवाक्यम् उदाहृत्य व्याकुर्वन्ति

---

[1] 'निर्वृत्तिश्च' इति प्रसिद्धः पाठः.

सचते गोपतिः सह'' (तै.ब्रा.२।४।६।९) इति, यस्तु गाः ददाति अनुबन्ध्यादिषु च यजते तस्य गावः व्यर्थं न नश्यन्ति तस्करोपि स्वार्थं न स्थापयति न गृह्णाति इति अर्थः. स श्रुतिरूपापि व्यथा तासां धर्षणं न करोति किन्तु स गोपतिः ताभिः सह सचते सञ्चितः पुष्टो भवति ज्योतिष्मान् सूर्य इव. सहि किरणान् सर्वेभ्यो ददाति मधुधारारूपांश्च देवान् पाययति अतो यजते. अतः सर्वदा अक्षीणः प्रकाशते. अत्र 'यजते' - 'ददाति' इति उदाहरणम्. अत्र सन्देहः—यथा ''द्वादशशतं ददाति'' (   ) ''अनुबन्ध्यामालभेत'' (आप.श्रौ.सू.१८।२०।४) इति विधायकं तथा अत्रत्येपि 'यजते' - 'ददाति' इति विधायके उत न? इति. किं तावत् प्राप्तम्? विधायके! इति. तद् आह विधिमन्त्रयोः ऐकार्थ्यं प्रवर्तकत्वं, तत्र हेतुः ऐकशब्द्यात् एकएव शब्दः उभयत्र, नहि सएव एकत्र प्रवर्तको अपरत्र न इति वक्तुं शक्यते. तस्माद् उभयत्र विधायकौ॥२।१।३०॥

**अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधान-
वाची स्यात्॥२।१।३१॥**

अपि वा इति पक्षं व्यावर्तयति. मन्त्रो अभिधानवाची केवलं धर्मप्रमितिमेव जनयति न विधायकः. तत्र हेतुः प्रयोगसामर्थ्यात्. मन्त्रस्तु प्रयोगे समर्थः. प्रयोगः प्रवृत्तस्य व्यापारनिचयः. विधिस्तु प्रवर्तकः पूर्वसिद्धः, तेनैव प्रवृत्तत्वात्. कृतिसमये प्रवर्तकत्वं व्यर्थं किन्तु प्रमितिमेव जनयति ''विद्यया कुर्याद्''

कर्मफलस्य प्रत्यक्षत्वबोधनाय यस्तु इत्यादि. दृष्टान्ते 'गो'शब्दवाच्याः किरणाः. अतो यजते इति देवानां पानसम्पादनेन यजते. एतस्य पूर्वपक्षसूत्रत्वज्ञापनाय आहुः विधायके इति. ऐकार्थ्यम् एकप्रयोजकनकत्वम्. तथाच 'ददाति'-'यजते' इति धात्वाख्याताद्यावृत्त्या अभ्यासात् कर्मभेदो अङ्गीकार्यः इति पूर्वपक्षाशयः॥२।१।३०॥

अभिधानवाची इति, ''अभिधीयते अनेन इति 'अभिधानं' '' धर्मवाचकं

इति. तस्मात् मन्त्रो न विधायकः ।।२।१।३१।।

।। इति पञ्चमं मन्त्राविधायकत्वाधिकरणम् ।।५।।

(षष्ठाधिकरणम्)

ननु मन्त्रब्राह्मणयोः विभागएव न ज्ञायते, वेदत्वस्य तुल्यत्वाद्. अतः पूर्वाधिकरणविचारो न युक्तः–इति आशङ्क्य मन्त्रस्य लक्षणम् आह —

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ।।२।१।३२।।

तच्चोदकाः मन्त्राः यस्य उच्चारणरूपे अधिष्ठाने सएव विधिरेव प्रेरको यस्य. यद्यपि अध्ययनविधिना सर्वमेव प्रेरितं तथा प्रायश्चित्तादौ, तथापि कर्मविधिना अनुष्ठानं बोध्यते. विधिमन्त्रस्तु साधनत्वेन बोध्यतइति अग्रेपि कर्मणि तदनुवादकत्वात् तच्चोदकत्वमेव. अतः कर्मणि याग-जपादौ यः साधनभूतः शब्दः स मन्त्रः. ‘‘कर्मकरणः शब्दो ‘मन्त्रः’ ’’ इति उक्तं भवति ।।२।१।३२।।

।। इति षष्ठं मन्त्रनिर्वचनाधिकरणम् ।।६।।

पदम्. तद्वाची तदभिधायकः इति अर्थः ।।२।१।३१।।

।।इति पञ्चमं मन्त्राविधायकाधिकरणम्।।

पूर्वपक्षमुखेनैव सन्देहमपि सूचयन्तः सूत्रम् अवतारयन्ति **ननु** इत्यादि. व्याकुर्वन्ति **यस्य** इत्यादि. अत्र अतिव्याप्तिम् आशङ्क्य परिहरति **यद्यपि** इत्यादि, यद्यपि अध्ययनविधिना सर्वमेव उच्चारणं प्रेरितं तथा प्रायश्चित्तादावपि सर्ववेदाध्ययनं विहितम् अतो ‘‘विधिबोधितोच्चारणकः शब्दो ‘मन्त्रः’ ’’ इति लक्षणं ब्राह्मणभागे अतिव्याप्नोति, तथापि कर्मविधिना विविधम् अनुष्ठानं यत्र बोध्यते तत्र मन्त्रः साधनत्वेन बोध्यते — ‘‘अनेन इदं कुर्याद्’’ इति. अतो अग्रेपि कर्मणि उच्चारणविधेः अध्ययनानुवादकत्वात् तद्बोधनं

(सप्तमाधिकरणम्)

मन्त्रलक्षणं निरूप्य ब्राह्मणलक्षणम् आह—

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥२।१।३३॥

मन्त्रातिरिक्तो ब्राह्मणम् इति. अनेन वेदे भागद्वयम् इति उक्तम्. अर्थवादानामपि ब्राह्मणत्वमेव ॥२।१।३३॥

॥इति सप्तमं ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम् ॥७॥

(अष्टमाधिकरणम्)

प्रवरोहनामधेयानां मन्त्रत्वम् अस्ति उत न? इति विचारः. किं तावत् प्राप्तम्? तच्चोदकसद्भावाद् मन्त्रत्वम् इति प्राप्ते अभिधीयते—

चोदकम् अतिदेशकमेव इति अर्थः. तेन सिद्धम् आहुः अतः इत्यादि. नच प्रत्यगाशीर्मन्त्रादिषु अव्याप्तिः, विषयत्वेन रूपेण तेषामपि जपसाधनत्वाद् इति. [1]☆नच "प्रत्यगाशिषो मन्त्रान् जपत्यकरणान्" (आप.श्रौ.सू.४।१।३) इति कल्पसूत्रविरोधः, तत्र 'अकरणान्' इत्यनेन करणत्वाभावस्यैव उक्ततया साधनत्वस्य अवारणात्. ज्ञाने इव जपेपि विषयस्य कर्मत्वकरणत्वयोः अविरुद्धत्वादिति सिद्धम् आहुः☆ **कर्मकरणः** इति, कर्मणः करणं येन स इति अर्थः. [2]☆**एवम् उत्तरकाण्डस्थेष्वपि मन्त्रेषु उपासनसाधनत्वमिति,**☆ न कोपि दोषः ॥२।१।३२॥

॥इति षष्ठं मन्त्रनिर्वचनाधिकरणम्॥

भाष्यम् अत्र अतिरोहितार्थम् ॥२।१।३३॥

॥इति सप्तमं ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम् ॥७॥

---

१. "☆...☆ चिह्नद्वयान्तरितविभागः पाश्चात्यः" इति आद्यसम्पादकः.

२. इतः आरभ्य ☆...☆ स्थाने सुरत्यादर्शे "तेन..." इति आद्यसम्पादकः.

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः स्यात् ॥२।१।३४॥

अनाम्नाताः एते अमन्त्राः, आम्नातत्वे सति तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, तथात्वे सत्येव शेषे 'ब्राह्मण'शब्दः. तद् आह—आम्नातेषु विभागो द्विविधः, अन्यथा लौकिकवाक्यानां सङ्कल्पस्य च तथात्वं स्यात्. तस्मात् प्रवरादीनां न मन्त्रत्वं तथा न ब्राह्मणत्वम्. केचन अर्थप्रसिद्ध्या मन्त्रत्वम् आहुः, तत् प्रकरणभेदेन स्थितयोः ऋक्सामयोरेव सम्भवति नतु कृशररूपयजुःशाखान्तरेपि. वाजसनेयिके ब्राह्मणे "वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत" (वा.मा.सं.२४।२०) इति न मन्त्रौ, अमन्त्रयोरपि तत्र प्रक्षेपः त्रिपथपाठाय यजुष्ट्वार्थं "मन्त्रब्राह्मणयोः वेदः त्रिगुणं यत्र पठ्यते" (शौ.च.व्यू.परि.२) इति. तस्मात् सूत्रोक्तमेव लक्षणं युक्तम् ॥२।१।३४॥

॥ इत्यष्टमं प्रवरोहाद्यमन्त्रताधिकरणम् ॥८॥

लौकिकवाक्यानाम् इति, "पत्नि कति ते जाराः" (आप.श्रौ.सू.८।९।-२०)इत्यादिप्रश्नोत्तरवाक्यप्रभृतीनाम्. भाट्टादीनां मतम् अनुवदन्ति **केचन** इत्यादि. तत्र अस्वरसं बोधयन्ति **तद्** इत्यादि. कृसरपाठे कुतो न सम्भवति? इत्यतः आहुः **वाजसनेयिके** इत्यादिना. **मन्त्रौ** इति. इदं एतदग्रिमं च "ग्रीष्माय कलविङ्कान्" (वा.मा.सं.२४।२०) इति न मन्त्रौ. ननु मन्त्रमध्ये पठितयोः कुतो न मन्त्रत्वम् अतः आहुः **अमन्त्र...** इत्यादि. **यजुष्ट्वार्थम्** इति यजुर्वेदत्वार्थम्. तद्बोधनाय यजुर्वेदलक्षणम् आहुः **मन्त्र...** इत्यादि. इदञ्च चरणव्यूहे सिद्धम्. "त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तराः स्मृताः" (शौ.च.व्यू.परि.२) इति तत्र वाक्यात्. [१]☆**त्रिपथपाठ...** इति, पदक्रमजटात्मकानां त्रयाणां समाहारः 'त्रिपथम्', तेन प्रकारेण पाठः 'त्रिपथपाठः' तदर्थम्. ब्राह्मणभागेहि न पदादिपाठः किन्तु संहितायामेव. तत्रच माध्यन्दिनानां चतुर्विंशे अध्याये

---

[१] "☆ ...☆ चिह्नान्तरितो भागः पाश्चात्यः" इति आद्यसम्पादकः.

(नवमाधिकरणम्)

"ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्" (तै.ब्रा.१।२।१।२६) इति मन्त्रे मन्त्राणां त्रैविध्यम् उक्तम्. तत्र लक्षणाभावे भेदकाभावात् त्रैविध्यं न उपपद्येतेति क्रमेण लक्षयति—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।।२।१।३५।।

तेषां त्रिविधानां मन्त्राणां मध्ये ऋग् एषा यत्र अर्थवशेन **पादव्यवस्था,** अर्थवाचकपदानुरोधेन आदिपादादिव्यवस्था. नतु छन्दोनुरोधेन मगणादिकृता पादव्यवस्था. अनुवादएव अयं, लौकिकानां वेदत्वाभावाद् वाक्यभेदप्रसङ्गात् च. तस्माद् "अर्थनिरूपकपदानुरोधेन पादव्यवस्था सा 'ऋक्' "।।२।१।३५।।

।। इति नवममृग्लक्षणाधिकरणम् ।।

"वसन्ताय कपिञ्जलान्" (वा.मा.सं.२४।२०) इत्यादीनि बहूनि वाक्यानि, तानि चेद् ब्राह्मणे पठ्येरन् तदा तेषां पदादिपाठो न स्यात्. अतो मन्त्रभागे संहितायां पठितानि. तावता न मन्त्रत्वं नियन्तुं शक्यते इति अर्थः. ☆ सिद्धम् आहुः **तस्माद्** इत्यादि. "वसन्ताय..." इत्यादीनां मन्त्रत्वाङ्गीकारे उक्तवाक्यबाधापातात् सूत्रोक्तं "आम्नातत्वे सति विशेषविधिबोधितोच्चारणकः शब्दो 'मन्त्रः' " इति लक्षणं युक्तम्. किञ्च एतदतिरिक्तस्थले कुत्रापि विधायकत्वं न मन्त्रे दृष्टम्. अत्रच मन्त्रत्वं सन्दिग्धं ब्राह्मणेतु विधायकत्वं प्रसिद्धम् इति लिङ्गभूतं लिङ्गं स्थानाद् बलिष्ठम् अतः तथा इति अर्थः ।।२।१।३४।।

।।इति अष्टमं प्रवरोहाद्यमन्त्रताधिकरणम्।।

सूत्रे **तेषाम्** इत्यस्य आम्नातानां मन्त्राणाम् इति अर्थः. ननु एवंसति छन्दसो वैयर्थ्याद् अङ्गत्वहानिप्रसङ्गः इत्यतः आहुः **अनुवादः** इत्यादि, अयं जैमिन्युक्तपादव्यवस्थाकथनात्मकः छन्दःशास्त्रानुवादएव. तत्र मगणादिकृत

(दशमाधिकरणम्)

'ऋग्' इति अनुवर्तते—

गीतिषु सामाख्या ।।२।१।३६।।

"ऋक्षु यद् गानं तत् 'साम'". 'सा'=ऋक् तस्याः + 'आम' वर्णाकारेण अनभिव्यक्तः शब्दः, स लोके 'गीति' पदाभिधेयो भवतीति गीतिषु सामाख्या इति उक्तम्. ननु अस्य वेदत्वे को हेतुः? 'धर्मप्रतिपादनम्' इति ब्रूमः! ननु सङ्केताभावात् कथं प्रतिपादकत्वम्? आधारर्चैव सो अर्थः प्रतिपाद्यतइति. प्रयोजनाभावश्च न, "ऋक्षु यः आमभागः समायाति सो अनभिव्यक्तरसज्ञापनार्थः कथम् अस्य मूलभूतो रसः!" इति भवति जिज्ञासा. अनेन मूलपुरुषो यज्ञोपि ज्ञातो भवति, यस्य अंशाः यज्ञाः. अतएव "सामानि यो वेद स वेद सर्वम्" (इतिहा.उप.९) इति. अपौनरुक्त्यन्तु तत्तदाश्रयर्गर्थमूलबोधकत्वेन. तस्मात् सुष्ठूक्तं गीतिषु सामाख्या इति ।।२।१।३६।।

।। इति दशमं सामलक्षणाधिकरणम् ।।

पादव्यवस्थानां लौकिकानां छन्दसां वेदत्वाभावात्. तत्रत्ये "अथ लौकिकम्" ( ) इति सूत्रे तेषां प्रासङ्गिककथनं प्रतिज्ञाय मगणादिभिः तद्व्यवस्थादर्शनात्, ततः पूर्वं कथितेषु तान् विनैव अक्षरैः व्यवस्थादर्शनात् च. तत्र गायत्र्यादीनां नानाविधत्वस्य नानाविधपादकत्वस्य च कथनेन "का इयं गायत्री?" इत्यादिनिर्णयस्य अर्थबलादेव सिद्धेः इति ततएव अवगम्यते. यदि पुनः तादृशामपि छन्दसां वेदत्वम् उच्यते तदा वाक्यभेदः. लौकिकेषु तेषु छन्दस्त्व-वैदिकत्वयोः विधानाद् इति भावः ।।२।१।३५।।

।। इति नवममृग्लक्षणाधिकरणम् ।।

छान्दोग्ये उद्गीथोपासनायां—"'सा' च 'अम' च" (छा.उ.१।६-७) इति विगृह्य समस्तं 'साम' पदं बहुधा व्याख्यातमिति प्रकृतेपि 'अम' पदेन सह समस्य व्याख्यायते सा इत्यादि. सङ्केताभावाद् इति 'अम'

(एकादशाधिकरणम्)

शेषे यजुःशब्दः ॥२।१।३७॥

ऋक्सामातिरिक्तो मन्त्रो यजुः. ननु “प्रकटार्थपादरहितो मन्त्रो यजुः” इति कुतो न उक्तम् अनुवृत्तेः लघुत्वात्? सत्यं, मन्त्रमात्रेपि ‘यजुः’ प्रयोगो अस्ति—“एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रति” (सहवै.१५) इति; तथा “अतिच्छन्दसर्चा मिमीते पञ्चकृत्वो यजुषा मिमीते” (तै.सं.६।१।९।५) इति. अतो विशेषविवक्षाभावेपि यथा ‘यजुः’ पदप्रयोगो भवति तदर्थं शेषे ‘यजुः’ शब्दः इति. “मन्त्राणां भेदत्रयमेव” इतिच ज्ञापयति. तेन अक्षरविधानेपि ‘यजुषा’ इति यथा भवति “पञ्चभिः आहवनीयम्” (तै.ब्रा.१।१।५।२) इति. तस्मात् सुष्ठूक्तं “शेषे ‘यजुः’शब्दः” इति॥२।१।३७॥

॥ इत्येकादशं यजुर्लक्षणाधिकरणम् ॥

शब्दे सङ्केताभावात्. ज्ञापनप्रयोजनम् आहुः **कथम्** इत्यादि. साम्नो रसवत्त्वं च गान्धर्ववेदमूलत्वाद् अवगन्तव्यम्. ऋक्सामभ्याम् एकार्थबोधने पौनरुक्त्यम् आशङ्क्य परिहरन्ति **अपौनरुक्त्यम्** इत्यादि॥२।१।३६॥

॥इति दशमं सामलक्षणाधिकरणम्॥

अनुवृत्तेः लघुत्वाद् इति, ‘शेष’पदेन ऋक्सामभेदे बोधनीये तयोः अनुवृत्तौ तदुभयलक्षणानुसन्धानाधीनम् एतज्ज्ञानमिति प्रतिपत्तिगौरवम्. स्वतन्त्रलक्षणेतु तदभावाद् लघुत्वं तस्मात् प्रयोगोदाहरणम् आहुः **एतद्** इत्यादि. इदंहि स्वाध्यायब्राह्मणे “‘ओम्’ इति प्रतिपद्यते” ( )इति प्रणवेन उपक्रमं विधाय तत्प्रशंसार्थम् उक्तम्. अयं यर्जुमन्त्रस्त्रयीविद्याप्रतिनिधिरूपइति तदर्थः. द्वितीयन्तु संहितायां षष्ठाष्टके तत्रहि “अभि त्यं देव सवितारमिति अतिच्छन्दसर्चा मिमीते” (तै.सं.६।१।९।४) इति उक्त्वा पुनः “पञ्चकृत्वो यजुषा मिमीते” (तै.सं.६।१।९।५) इति तेनैव मन्त्रेण उन्मानसङ्ख्यां विधत्ते इत्यतः तस्याम् अर्थवशेन पादव्यवस्थया

(द्वादशाधिकरणम्)

''त्रिविधाएव मन्त्राः'' इति उक्तं, ''निगदानां त्रिषु अन्तर्भावाभावात् चतुर्थोपि भेदो अस्तु!'' इति आह—

निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ।।२।१।३८।।

निगदो वा चतुर्थं स्याद्, वा शब्दः पूर्वनियमनिराकर

ऋग्लक्षणसद्भावेपि पादविशेषविवक्षाभावाद् 'यजुः'पदप्रयोगः. यथाच एकाक्षरे प्रणवे पादादिसम्भावनाशून्येपि 'यजुः'पदप्रयोगः इत्येवं ज्ञापनायैवम् उक्तम्. किञ्च अयं 'शेष'शब्दप्रयोगो ''यजुर्मन्त्राणां भेदत्रयम्'' इति ज्ञापयति, विशेषविवक्षाभावे अन्यत्रापि यजुष्ट्वस्य सुघटत्वादिति. तेन अक्षरात्मकमन्त्रविधानेपि 'यजुषा' इति प्रयोगो यथा भवति ''पञ्चभिः आवहनीयम्'' (तै.ब्रा.१।१।५।२) इति आधानब्राह्मणे ''त्रिभिः अक्षरैः गार्हपत्यम् आदधाति'' (तै.ब्रा.१।१।५।३) इत्यनेन ''भूभुर्वः सुवः'' इति व्याहृतित्रयविनियोगम् उक्त्वा ''पञ्चभिः आहवनीयम्'' इत्यनेन ''भूभुर्वः सुवः'' इति पञ्चानाम् अक्षराणां विनियोगः उक्तः. 'यजुः'शब्दश्च ''इज्यते अनेन'' इति व्युत्पत्त्या सिद्धः. अतो अक्षराणामपि यजुष्ट्वं यथा भवति तदर्थम् एवम् उक्तम् इति अर्थः. ''अभि त्यम्'' (तै.सं.१।२।६।२) इति मन्त्रस्तु प्रथमाष्टकद्वितीयप्रपाठके ''अंशुना ते अंशुः पृच्यताम्'' (तै.सं.१।२।६।१) इत्यस्मिन् षष्ठे अनुवाके द्रष्टव्यः. एवञ्च ''देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः'' (तै.सं.१।१।५।१) इत्यस्य मन्त्रस्य यजुर्मध्ये पाठेपि एतद्ब्राह्मणेपि ''सावित्र्या ऋचा'' (   ) इति विशेषनिर्देशात् गायत्रीलक्षणस्य तत्र सत्त्वात् च ऋक्त्वमपि निर्बाधम्. एवम् अन्यत्रापि द्रष्टव्यम्।।२।१।३७।।

।। इत्येकादशं यजुर्लक्षणाधिकरणम् ।।

पूर्वोक्ताक्षेपेण इदम् आरभ्यते इति आशयेन आहुः त्रिविधाः इत्यादि, परप्रत्यायनार्थाः मन्त्राः निगदाः — ''प्रोक्षणीरासादय'' (आप.श्रौ.सू.२।३।११)

णार्थः. चतुर्थं रूपम् इति. तत्र हेतुः धर्मविशेषात्, ''उच्चैः ऋक्सामभ्यां क्रियते, उपांशु यजुर्वेदेन उच्चैः निगदेन'' (   ) इति पादव्यवस्था गीत्युपांशुधर्मेभ्यो अतिरिक्तो निगदधर्मइति धर्मिभेदको भवति. निविदान्तु अनाम्नातत्वात् न शङ्का. तस्मात् चतुर्थो निगदः ॥२।१।३८॥

व्यपदेशाच्च ॥२।१।३९॥

'निगदः' इति भिन्नो व्यपदेशः, नापि 'यजुः' पर्यायः, यजुर्मात्रे 'निगद' प्रयोगाभावात्. विशेषवाचकत्वे प्रमाणाभावः. शेषत्वम् अप्रयोजकम् इति अभिप्रायः. तस्मादपि निगदो भिन्नः ॥२।१।३९॥

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥२।१।४०॥

निगदाः यजूंष्येव. तत्र हेतुः, तद्रूपत्वात् शेषरूपत्वात्. नहि अतिरिक्तत्वं धर्मो भिनत्ति. तस्माद् यजूंष्येव ॥२।१।४०॥

''इध्माबर्हिरुपसादय'' (आप.श्रौ.सू.२।३।११) ''इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ'' (तै.आ.१।१२।३) इत्यादयः, ''ते किं यजुर्भ्यो अन्ये किंवा यजूंष्येव ?'' इति सन्देहे पूर्वपक्षम् आह इति अर्थः. **अतिरिक्तः** इति विरुद्धः. ननु निविदो निगदादपि विलक्षणा ''यन्निविद्भिः न्यवेदयन् तन्निविदां निवित्त्वम्'' (   ) इति निर्वचनविनियोगयोः भेदाद्. अतः ताः कुतो न विचारिताः ? इत्यतः आहुः **निविदाम्** इत्यादि. तथाच तासां निर्वचनादिभेदे सत्यपि निगदवद् यजुर्विरुद्धस्य धर्मस्य अनाम्नातत्वेन यजुष्ट्वे शङ्काभावाद् न विचारिताः इति अर्थः ॥२।१।३८॥

भिन्नो व्यपदेशः इति भिन्ना संज्ञा. **अप्रयोजकम्** इति यजुष्ट्वाप्रयोजकम्. एवं द्वाभ्यां[1] पूर्वपक्षः उक्तः, चतुर्भिः सिद्धान्तम् आहः ॥२।१।३९॥

नहि इत्यादि, पदव्यवस्थागीत्योः अभावेन सिद्धे शेषत्वाद् यजुष्ट्वे अतिरिक्तधर्मविशेषो न धर्मिणं भिनत्ति इति अर्थः ॥२।१।४०॥

---

[1] ''अत्र क्वचिद् आदर्शे 'त्रिभिः' इति पाठो अशुद्धः'' इति आद्यसम्पादकः.

वचनाद्धर्मविशेषः ॥२।१।४१॥

ननु उक्तं प्रसिद्धयजुर्भ्यां भेदको धर्मविशेषः इति! स प्रकारान्तरेणापि उपपद्यते इति आह वचनात्. केषाञ्चिद् यजुषां 'निगद'शब्दवाच्यानाम् उच्चैष्ट्वमिति तदतिरिक्तानाम् उपांशुत्वम्, एतावतापि धर्मे सिद्धे भेदकल्पनायां गौरवम्. तस्माद् धर्मविशेषाद् न चतुर्थत्वम्॥२।१।४१॥

अर्थाच्च ॥२।१।४२॥

वचनादपि उच्चैष्ट्वम् अर्थादपि उच्चैष्ट्वम्. नहि आश्रुत-प्रत्याश्रुतादिकम् उपांशुत्वे सार्थकं भवति, परप्रीतिजनकत्वात्. प्रायिकम् एतद्, उपसत्सु तदभावात्. तस्माद् वचनमेव नियामकं, स्वाभाविको वा अयं धर्मः. कर्मतु प्रधानम् अतः तदनुरोधेन ऋचामपि उपांशुत्वमिति सुष्ठूक्तम् अर्थाच्च इति॥२।१।४२॥

गुणार्थो व्यपदेशः ॥२।१।४३॥

'निगद' इति अतिरिक्तो व्यपदेशो गुणार्थो, नितरां गद्यते इति उच्चैष्ट्वगुणार्थः. ननु *त्रिभिः गुणकथनं व्यर्थम्. अतो द्वयं भेदकम् अस्तु, वैयर्थ्येन अपर्यवसानात्, शब्दतो अर्थतो

एतावता इत्यादि, उपांशुत्वस्य यजुरंतरे सावकाशतया निगदाख्ययजुःषु वचनस्य नियामकताकल्पनमात्रेण उच्चैष्ट्वधर्मे सार्थके सति तेन धर्मिभेदकल्पनायां गौरवम् इति अर्थः॥२।१।४१॥

अर्थाद् इति प्रयोजनात्. एतदेव स्फुटीकुर्वन्ति नहि इत्यादि. पूर्वोक्तहेतोः प्राबल्याय आहुः प्रायिकम् इत्यादि, एतद् उच्चैष्ट्वं निगदानां प्रायिकं "उपांशूपसदाचरन्ति" (   ) इत्यतः तत्र तदभावाद् इति. एवंसति

विधानात् च, गुणः तत्रत्यो नित्यइति यदि, तदा सर्ववैलक्षण्याद् गुणो भेदकएव अस्तु! इति* चेत्, मा एवं, कर्मणः उपांशुत्वे तदभावाद् अतो गुणकथनएव पर्यवसानां त्रयाणाम्. यत्रापि ऋक्सामयोः उपांशुत्वं तत्रापि निगदः उच्चैः इति. तस्माद् गुणार्थएव व्यपदेशादिः ॥२।१।४३॥

'निगद' शब्दो योगेन उच्चैष्ट्वगुणवद्वाचको भवति, तदा ऋक्सामयोरपि वाचको भवतु इति आह—

सर्वेषामिति चेत् ॥२।१।४४॥

सर्वेषाम् ऋक्सामनिगदानां 'निगद' शब्दवाच्यत्वम् इति चेत् मन्यसे, इति पूर्वः पक्षः ॥२।१।४४॥

सूत्रवैयर्थ्यम् अतः पक्षान्तरम् आहुः **स्वाभाविकः** इत्यादि, अयम् उच्चैष्ट्वधर्मो मन्त्राणां स्वाभाविकः. मन्त्रास्तु कर्माङ्गभूताः अतः तथा इति अर्थः ॥२।१।४२॥

धर्मविशेषाद् इत्यस्य उत्तरम् उक्त्वा भेदव्यपदेशस्य उत्तरं ददाति इति आहुः **निगदः** इत्यादि. अत्र आशङ्कते **ननु** इत्यादि, वचनप्रयोजनसंज्ञाभेदैः उच्चैष्ट्वगुणकथनं व्यर्थं, तदन्यतमेनैव उच्चैष्ट्वस्य प्राप्तेः. अतो वचनं प्रयोजनं च इति द्वयं गुणभेदकम् अस्तु! 'निगद' इति व्यपदेशस्यतु न तादर्थ्यं, ताभ्यामेव तत्प्राप्तौ सत्याम् अस्य वैयर्थ्येन तत्र अपर्यवसानात्, शब्दतो अर्थतो विधानात् च; तत्र युक्त्यन्तरापेक्षायाः अभावात्. यदि गुणस्य नित्यत्वार्थं "संज्ञापि गुणार्था" इति उच्यते, तदा स उच्चैष्ट्वगुणः तत्र नित्यइति सर्ववैलक्षण्याद् गुणः स्वरूपभेदकएव अस्तु! तथाच संज्ञायाः गुणार्थत्वादरणेपि न स्वरूपभेदबाधः इति अर्थः. अत्र समादधते **मा एवम्** इत्यादि. **तदभावाद्** इति उच्चैष्ट्वस्य तत्र अभावेन तस्य नित्यत्वाभावात्. तत्र प्रकारम् आहुः **यत्रापि** इत्यादि ॥२।१।४३॥

भाष्यम् अत्र स्फुटम् ॥२।१।४४॥

न व्यपदेशात्[1] ॥२।१।४५॥

न, अन्यत्र 'ऋक्साम' इति भिन्नएव व्यपदेशो अस्ति. तेन बलवता दुर्बलो बाध्यते इति अर्थः. अपादबद्धश्च निगदो अतो न पर्यायत्वम्, अयमेव च भेदकः. यजुषान्तु तदभावाद् गुणस्तु अन्यथासिद्धइति यजुर्विशेषएव निगदः ॥२।१।४५॥

॥ इति द्वादशं निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणम् ॥

(त्रयोदशाधिकरणम्)

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात् ॥२।१।४६॥

संश्लिष्टपाठाद् यजुषि सन्देहः—एको मन्त्रः कियान्? इति. यद्यपि विनियोगब्राह्मणेन उत्तरादिना पूर्वावसानम् इति ज्ञायते, तथापि पूर्वोत्तरानुषङ्गयुक्तेषु ब्राह्मणे निर्णयाभावाद् निर्णयो वक्तव्यइति

तेन इति रूढेन व्यपदेशेन. नच "ऋच्यते इति सा च आम च" इति योगस्य तत्रापि सत्त्वाद् अस्य तत्पर्यायत्वं शङ्क्यम्, **अपादबद्धः** आमवर्णरहितो **निगदो** अतो **न तत्पर्यायत्वम्. अयं** पादबन्धएव ऋक्-सामयोः यजुषः सकाशाद् **भेदकः**. अतः तथा इति अर्थः. अत्र एवं सूत्रकारस्य आग्रहे "अहेबुध्निय" (तै.ब्रा.१।१।१०।३) इति मन्त्रोक्तं त्रैविध्यमेव बीजं ज्ञातव्यम् ॥२।१।४५॥

॥ इति द्वादशं निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणम् ॥

पूर्वैः चतुर्भिः अधिकरणैः मन्त्रत्रैविध्ये स्थिते यो विशेषो अकथितो अवशिष्यते तदर्थम् अधिकरणारम्भः इति आहुः **संश्लिष्ट...** इत्यादि. **ज्ञायते** इति मन्त्रेयत्ता ज्ञायते. **पूर्वोत्तरानुषङ्गयुक्तेषु** इति 'अनुषङ्गो' नाम "एकवाक्यशेषतया संनिहितस्य पदादेः वाक्यान्तरशेषतया योजनं, पूर्वं वा

---

[1] 'न ऋग्व्यपदेशाद्' इति प्रसिद्धः पाठः.

तम् आह अर्थैकत्वाद् एकं वाक्यम् इति, एकार्थप्रतिपादकं एकं वाक्यं, अर्थश्च निराकाङ्क्षः. सच पदैः उत्थितएव. अन्यथा अपर्यवसानमेव स्याद्, उत्थापिताकाङ्क्षायाः सर्वत्र वक्तुं शक्यत्वात्. तत्र केचन अनुषङ्गाः क्रियारहिताः साकाङ्क्षाएव, तेषां संश्लिष्टपाठाद् आकाङ्क्षाभावेपि क्रियापर्यन्तम् एकतैव. यथा ‘‘देवस्य त्वा’’ (तै.सं.१।१।४।९) इति. पश्चात् क्रिया पूर्वपदैः सर्वैरेव तुल्येति न भेदिका. ‘‘सजूर्त्रृतुभिः’’ (तै.सं.४।३।४।६-१०) इत्यादौ – वसवो रुद्राः आदित्याः विश्वेदेवाः देवताः च – इति पञ्च प्रधानभूताः अर्थरूपाइति पञ्च मन्त्राः. अतः क्रिया वा देवतादिः वा यएव प्राधान्यम् अवलम्बते, सएव ‘अर्थ’शब्दवाच्यः. केचन मन्त्राः आदावेव अनुषङ्गयुक्ताः यथा ‘‘आददे...’’ (तै.सं.१।१।९।१)इत्यादि, ‘‘संहितो विश्वसामा’’ (तै.सं.३।४।७।३-४) इत्यादयो अन्ते अनुषङ्गयुक्ताः; केचिद् उभयत्र ‘‘सजूः...’’ इत्यादयः. तस्माद् एकार्थप्रतिपादकम् एकं वाक्यम्.

पश्चाद् वा’’. तादृशपदान्तरादियुक्तेषु सूत्रस्य प्रथमं दलं व्याकुर्वन्ति **एकार्थ...** इत्यादि. तत्र ‘‘अर्थो-ऽभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु’’ (अम.को.३।३।-८६) इति कोशेन ‘अर्थ’शब्दस्य पञ्चसु शक्तत्वेपि रै-वस्तु-निवृत्तीनाम् अत्र प्रसङ्गाभावात् प्रयोजनम् अभिधेयं वा अवशिष्यते. तयोः किम् इह विवक्षितम् इति आकाङ्क्षायाम् अभिधेयम् अत्र विवक्षितम् इति आशयेन आहुः **अर्थश्च** इत्यादि. **निराकाङ्क्ष** इति अधिकाकाङ्क्षारहितः. **उत्थितः** इति बोधितः. तथाच ‘‘पदपूरिताकाङ्क्षातो अधिकाङ्क्षारहितं यद् एकम् अभिधेयं सो ‘अर्थः’’’ इति तस्य मुख्यार्थस्य प्रतिपादको यावान् पदसमुदायः तद् एकं वाक्यम् इति अर्थः. एवं सूत्रांशं व्याख्याय अर्थस्य ऐक्यं वक्तुम् आहुः **तत्र** इत्यादि. **अनुषङ्गाः** इति अनुषङ्गयुक्ताः मन्त्राः. **आकाङ्क्षाभावेपि** इति आकाङ्क्षायाः सत्त्वेपि. उदाहरणन्तु ‘‘देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि’’ (तै.सं.१।१।४।९) इति, अत्र निर्वापक्रिया प्रतिपाद्या, मुख्यतया, अतो अस्य पदसमुदायस्य क्रियापर्यन्तम् एकतैव पश्चात् सा क्रिया सर्वैः पदैः कारकभूतैः सम्बध्यतइति न भेदिका. भेदोदाहरणम् आहुः **सजूर्** इत्यादि. पाठस्तु — ‘‘सजूर्ऋतुभिः

ननु यत्र एकार्थता सन्दिग्धा तत्र का गतिः? यथा "इषे त्वा..." (तै.सं.१।१।१।१) इति, क्रियातु आर्थिकी "इषे त्वोर्जे त्वेत्याह" (तै.ब्रा.३।२।१।३) इति ब्राह्मणं च सन्दिग्धम्. अतः

सजूर्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजू रुद्रैः सजूरादित्यैः सजूर्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैः" (तै.सं.४।३।४।६-१०) इति. एतेषु वसु-रुद्रा-दित्या-विश्वेदेवा-देवताश्च इति पञ्च प्रधानार्थभूताइति तत्प्रतिपादकत्वात् पञ्च मन्त्राः. पञ्चानां विनियोगः इष्टिकोपधाने कल्पसूत्राद् अवगम्यते. तत्र क्रिया न प्रधानं, तस्याः तथात्वे ऐकमन्त्र्यापत्तेः. अतो यएव प्राधान्यम् अवलम्बते सएव 'अर्थ'शब्दवाच्यः इति. एवं द्विविधोदाहरणम् उक्त्वा अनुषङ्गभेदोदाहरणम् आहुः **केचन** इत्यादि. 'आददे' (तै.सं.१।१।९।१)इति मन्त्रः स्फ्यादाने विनियुक्तः. तस्मिन् "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्" (तै.सं.१।१।४।९) इत्यादिभागे अनुषङ्गः. "संहित..."(तै.सं.३।४।७।३-४) इत्यादिषु "राष्ट्रभृन्मन्त्रेषु" (तै.सं.३।४।७।१-२२) अन्ते, "सजूर..." (तै.सं.४।३।४।६-१०)इत्यादिषु "सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः" (तै.सं.४।३।४-।६) इति पूर्वभागे अनुषङ्गः. "सजूर्देवैर्वयोनाधैः" (तै.सं.४।३।४।१०) इत्यन्ते अनुषङ्गइति उभयत्र. तथाच अनुषङ्गयुक्तेषु ब्राह्मणादेः अनिर्णायत्वाद् अयम् एकवाक्यत्वज्ञानोपायः इति अर्थः. उत्तरदलम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. ननु यत्र अनुषङ्गो नास्ति मुख्यार्थस्य अस्पष्टत्वाद् एकार्थतापि सन्दिग्धा यथा "इषे त्वा" (तै.सं.१।१।१।१) इति मन्त्रे तत्र एकवाक्यत्वज्ञानस्य कः उपायः? नच क्रियाम् अध्याहृत्य तस्याः मुख्यत्वं कल्पयित्वा एकवाक्यत्वम् अर्थैक्यात् सम्पादनीयम् इति युक्तं, क्रियातु आर्थिकी या काचिद् आयातीति अनियतेति तस्याः प्राधान्यस्य अयुक्तत्वात्. नापि ब्राह्मणेन निश्चयः, "इषे त्वोर्जे त्वेत्याह इषमेवोर्जं यजमाने दधाति" (तै.ब्रा.३।२।१।३) इति सन्दिग्धम्. अतः सन्दिग्धत्वादेव कल्पसूत्रे आपस्तम्बेन प्रत्येक-समुदायभेदेन द्वेधा विनियोगः उक्तः—"'इषे त्वोर्जे त्वा' इति ताम् आच्छिनत्ति. अपिवा 'इषे त्वा'इति आच्छिनत्ति 'ऊर्जे त्वा'इति संनमयत्यनुनुमार्ष्टि वा" (आप.श्रौ.सू.१।१।१०-११) इति, संनामनम् ऋजूकरणं, अनुमार्जनम् आनुलोम्येन संलग्नधूल्याद्यपनयनम्. नच बोधायनेन समुदायपक्षएव

सूत्रे प्रत्येकमपि विनियोगः उक्तः समुदायेनापि. नच "उत्तरस्यादिना" इति न्यायेन एकएव मन्त्रो अस्तु! तथासति "इषे त्वोपवीरसि" (तै.सं.१।३।७।१-२)इत्यादौ "ऊर्जे त्वा" (तै.सं.१।१।१।१) इत्यपि आगच्छेत्. अतो नियामकम् आह **साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्याद्** एकदेशकथने यत्र साकाङ्क्षता तत्रैव सम्पूर्णम् एकम्. अन्यथा द्वयं भिन्नं "इषे त्वा" इति एकम् "ऊर्जे त्वा" इति अपरम्. समुदायविनियोगे मन्त्रद्वयस्य उपयोगो बोद्धव्यः. तस्माद् यावता एकार्थप्रतिपादनं तद् एकं वाक्यम्।।२।१।४६।।

।। इति त्रयोदशमेकवाक्यत्वलक्षणाधिकरणम्।।

गृहीतइति ऋषिद्वयैकमत्यस्य ब्राह्मणस्य च सामञ्जस्याद् "उत्तरस्यादिना" इति न्यायेन एकएव मन्त्रो अस्तु इति युक्तं, तथासति कल्पसूत्रे आपस्तम्बेन "इषे त्वोपवीरसि" (आप.श्रौ.सू.७।१२।१।५) इत्यत्र विनियोगान्तरं यद् उक्तं "'इषे त्वा'इति बर्हिषी आदत्ते 'उपवीरसि'इति प्लक्षशाखां...बर्हिभ्यां प्लक्षशाखया च...प्रत्यञ्चं पशुम् उपाकरोति" (आप.श्रौ.सू.७।१२।१।५-७।प.४) इति. तत्र "ऊर्जे त्वा" इत्यपि आगच्छेत् मन्त्रस्य एकत्वाद् अतः तादृशे स्थले पूर्वोक्तरीत्या निर्णयाभावात् का गतिः ? इति आकाङ्क्षायां तत्रापि निर्णयार्थं नियामकम् आह इति अर्थः. व्याकुर्वन्ति **एकादेश...** इत्यादि, पूर्वस्य उत्तरस्य वा एकदेशस्य विभज्य कथने यत्र पूर्वस्य उत्तरसाकाङ्क्षता उत्तरस्य पूर्वसाकाङ्क्षता वा तत्र उभयं मिलित्वा एकं वाक्यं तदभावेतु उभयं भिन्नं प्रकृतेतु न साकाङ्क्षतेति "इषे त्वा" इति एकं "ऊर्जे त्वा" इति अपरम्-इति वाक्यद्वयमेव इति अर्थः. अधिकरणमालायान्तु —
एकार्थप्रतिपादकत्वे सति विभागे साकाङ्क्षं वाक्यम् 'एकवाक्यम्' (द्र.:जै.न्या.-मा.२।१।१४) इति उक्तम्. आद्यदलोक्तौ "भगो वां विभजतु"-"पूषा वां विभजतु"(मा.श्रौ.सू.१।२।३।१७) इति मन्त्रद्वये अतिव्याप्तिः, उभयोः तात्पर्यविषयस्य द्रव्यविभागरूपस्य अर्थस्य एकत्वात्. द्वितीयामात्रोक्तौ "स्योनं ते सदनं कृणोमि ['करोमि' इति (तै.ब्रा.३।७।५।२-३)], घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि, तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ, व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः" (मा.श्रौ.सू.१।२।६।१९)इति मन्त्रद्वये अतिव्याप्तिः. पूर्वमन्त्रे 'ते' इति पदेन

(चतुर्दशाधिकरणम्)

“पृथिवी दीक्षा” (तै.ब्रा.३।७।७।४) इत्यादिमन्त्रेषु सन्देहः. अत्र सर्वेषाम् एकएव विनियोगः, “केशिनीदीक्षां जपति” (आप.श्रौ.सू.१०।१०।६) इति. किम् अयम् अनुवाकः सर्वोपि एको मन्त्रः उत अनेकः? अनेकत्वेपि किं “पृथिवी दीक्षा” इत्येतावान् एकः अथवा “तया त्वा दीक्षया दीक्षयामि” (तै.ब्रा.३।७।७।५) इत्यन्तः? किं तावत् प्राप्तम्? “पृथिवी दीक्षा” इत्येतावानेव एको मन्त्रः, एकार्थप्रतिपादकत्वात् निराकाङ्क्षत्वात् च “...दीक्षयामि” इत्यन्तेतु “तया त्वा” इति अनुषङ्गो भवेत्. तथाच प्रतिमन्त्रं न आवर्तेत. आदौ, अन्ते, आद्यन्तयोः वा अनुषङ्गवचनात्. तस्मात् प्रतिवाक्यं

“व्रीहीणां मेधः” इति आकाङ्क्ष्यते द्वितीये च ‘तस्मिन्’ इत्यनेन ‘सदनम्’ आकाङ्क्ष्यतइति परस्पराकाङ्क्षायाः सत्त्वात्. वस्तुतस्तु न इदं लक्षणं किन्तु नियामकमात्रकथनम्. नच “भगो वाम्” इत्यादौ ऐकमन्त्र्यापत्तिः, वक्ष्यमाणायाः समतायाः भेदिकायाः सत्त्वात्. नापि “स्योनं ते” इत्यत्र तदापत्तिः, “उत्तरस्यादिना” इति न्यायेन विनियोगविधिनैव भेदसिद्धेः इति ।।२।१।४६।।

।। इति त्रयोदशमेकवाक्यत्वलक्षणाधिकरणम् ।।

“एकार्थप्रतिपादकं विभज्यमानपदसाकाङ्क्षं वा यावत् पदजातं तावद् ‘एकं-वाक्यम्’” इति वाक्यपरिमाणज्ञानप्रकारः उक्तः. तेन “देवस्य त्वा” इत्यादेः प्रमाणं ज्ञातुं शक्यं, क्रियादेवतादि-रूपैकार्थ-प्रतिपादकस्य पदस्य सत्त्वात्. यत्र पुनः वाचनिकं विनियोगैक्यं परस्परनिराकाङ्क्षता च यथा “‘पृथिवी...” इति मन्त्रेषु तत्र परिमाणज्ञानार्थम् अधिकरणारम्भः इति आशयेन आहुः पृथिवी इत्यादि. सन्देहबीजम् आहुः अत्र इत्यादि. “केशिनीदीक्षाम्” इति “देवेषु त्रयः केशिनः अग्निः वायुः आदित्यः च” (द्र. : तै.ब्रा.सा.भा.२।७।१७।१) इति शाखान्तरे सिद्धं तत्सम्बन्धित्वाद् - एते मन्त्राः ‘केशिनीदीक्षा’ इति उच्यन्ते ताम् इति अर्थः. सन्देहाकारम् आहुः किम् इत्यादि. तथाच विनियोगैक्येन एकार्थप्रतिपादकत्वाद् एकस्य कस्यापि अजपे मन्त्रपूर्त्यभावेन साकाङ्क्षत्वात् च एकः उत तत्तद्देवताप्राधान्यप्रका

मन्त्रः इति प्राप्ते, उच्यते–यावता समं रूपं भवति स एको मन्त्रः. चत्वारः पदार्थाः सर्वत्र निरूप्यन्ते–"[१]पृथिवी दीक्षा [२]तया अग्निः दीक्षया दीक्षितः, यया अग्निः दीक्षया दीक्षितः [३]तया [४]त्वा दीक्षया दीक्षयामि" (तै.ब्रा.३।७।७।४-५) इति. एवम् उत्तरत्रापि, चतुर्णाम् अन्योन्यम् पदार्थभेदात् पर्यवसानेनैव निराकाङ्क्षत्वाच्च एकं वाक्यम्. तर्हि सर्वमेव एकम् अस्तु "पृथिवी त्वा दीक्षमाणम्" (तै.ब्रा.३।७।७।७) इत्यन्तं, तत्र आह—

समेषु वाक्यभेदः स्यात्।।२।१।४७।।

समेषु वाक्यभेदः स्यात्, चतुर्विधार्थप्रतिपादकत्वेन समत्वम्. तेच स्वरूपतो भिन्नाइति वाक्यभेदः स्यात्. अनुषङ्गवत् समतापि वाक्यभेदिका. तस्मात् [१]सन्दिग्धेषु अर्थैकत्वं [२]विभागे साकाङ्क्षत्वं [३]समता च चेति हेतुत्रयम् उक्तम्।।२।१।४७।।

।। इति चतुर्दशं वाक्यभेदाधिकरणम्।।१४।।

शाद् अनेकः? द्वितीयपक्षे सन्देहान्तरम् [१]* अनेकत्वे इत्यादि पूर्वपक्षम् * आहुः. "दीक्षयामि"इत्यादि, "दीक्षयामि" इत्यन्तं वाक्यचतुष्टयं चेद् एको मन्त्रः स्यात्. तत् "तया त्वा दीक्षया दीक्षयामि" इति चतुर्थं वाक्यम् अनुषङ्गः स्यात्. तस्य अर्थबलेन सर्वत्र योजयितुं शक्यत्वात्. नच इष्टापत्तिः, तथाच प्रतिमन्त्रं न आवर्तेत. अयन्तु "देवस्य त्वा" (तै.सं.१।१।४।९) इतिवत् न आदौ, "स मावतु" (तै.सं.३।४।५।१) इतिवत् न अन्ते, "सजूर्..." इतिवत् न आद्यन्तयोः. अतो अयं न अनुषङ्गः किन्तु मन्त्रान्तरम्. तथाच प्रतिवाक्यम् एकैकपदार्थप्रतिपादनात् प्रतिवाक्यं मन्त्रः इति पूर्वपक्षे प्राप्ते इति अर्थः. अत्र समादधते **उच्यते** इत्यादि. **उत्तरत्र** इति "अन्तरिक्षं दीक्षा... द्यौर्दीक्षा" (तै.ब्रा.३।७।७।५) इत्यादिषु. **अन्योन्यं पदार्थभेदाद्** इति अग्रिमवाक्यस्थैः 'तया'-'यया'-'तया'इति पदैः पृथिव्यादेरेव परामर्शेण पदार्थभेदात्. अत्र आशङ्कते **तर्हि** इत्यादि. **एकैव अस्तु,** इति विनियोगैक्याद्

---

१. *...* चिह्नान्तरितो अंशः जूनागढ़ीयः पाठः.

(पञ्चदशाधिकरणम्)

अनुषङ्गेषु विचारः क्रियते, किं वाक्यन्तरं प्रधानं वा शेषा वा? यदापि शेषास्तदापि यत्र पठितास्तस्यैव शेषास्तत्प्रकरणस्थानां सर्वेषां वा? तत्र अनुषङ्गो वाक्यान्तरं प्रधानवाक्यवद् इति प्राप्ते उच्यते—

अनुषङ्गो वाक्यपरिसमाप्तिः[1] सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्॥२।१।४८॥

अनुषङ्गो वाक्यपरिसमाप्तिः वाक्यस्य परिसमाप्तिः येन तदभावे अपरिसमाप्तमेव वाक्यम्. "या ते अग्ने अयाशया" (तै.सं.१।२।११।५) इति औपसदमन्त्राः शाखाभेदेन "तनूर्वर्षिष्ठा" (मै.सं.१।२।७) इत्याद्यनुषङ्गे ते आदौ वा पठ्यन्ते. यत्र पठ्यन्ते

एकैव दीक्षा अस्तु. **तत्र आह** इति तत्र भेदकम् आह. **उक्तम्** इति वाक्यान्तावधारणार्थम् उक्तम्॥२।१।४७॥

॥ इति चतुर्दशं वाक्यभेदाधिकरणम्॥१४॥

अनुषङ्गस्य उदाहरणं **या ते अग्ने...** इत्यादि. तेषां तैत्तिरीयपाठस्तु "या ते अग्ने अयाशया रजाशया हराशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठोग्रं वचो अपावधीं त्वेषं वचो अपावधीं स्वाहा" (तै.सं.१।२।११।५-७) इति. अत्र प्रथमे मन्त्रे "तनूर्वर्षिष्ठा..." इत्यादि अनुषज्यते. द्वितीये "या ते अग्ने..." इति पूर्वं "तनूर्वर्षिष्ठा" इत्यादिच पश्चाद् अनुषज्यते. तृतीयेतु "या ते अग्ने..." इति प्रागेव अनुषज्यते. शाखान्तरेतु "या ते अग्ने अयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गहनेष्ठा त्वेषं वचो अपावधीरुग्रं वचो अपावधी. स्वाहा. या ते अग्ने रजाशया या ते अग्ने हराशया" (मै.सं.१।२।७) इति पाठः. तत्र पूर्वमन्त्रे सर्वेषां पदानां सत्त्वात् द्वितीयतृतीयमन्त्रौ उदाहरणम्.

---

[1] "अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः..." इति प्रसिद्धः पाठः.

तस्यैव इति प्राप्ते उच्यते– **सर्वेषु मन्त्रेषु अनुषङ्गो वाक्यपरिसमाप्तिः**. तत्र हेतुः **तुल्ययोगित्वात्**, तुल्यएव योगः=सम्बन्धः=आकाङ्क्षा येषु. यत्र पठ्यन्ते तस्य यथा आकाङ्क्षां पूरयन्ति तथा सर्वेषाम् इति अविशेषः. अनुषङ्गोपि मन्त्रभेदे नियामकः. तस्माद् अनुषङ्गः सर्वेषाम् ॥२।१।४८॥

॥ इति पञ्चदशमनुषङ्गाधिकरणम् ॥

(षोडशाधिकरणम्)

“सं ते प्राणो वायुना गच्छतां–संयजत्रैरङ्गानि–सं यज्ञपति-

अर्थस्तु — हे अग्ने या ते अयाशया “अयसि=कृष्णायसे शेते इति ‘अयाशया’ ” अयसा निर्मिता इति अर्थः. सा तनूः वर्षिष्ठा अतिशयेन प्रवृद्धा गह्वरेष्ठा तीक्ष्णद्रव्ये लोहे अवस्थिता, तया तन्वा उग्रं वचः क्षुत्पिपासे उपपातकं त्वेषं वचो वीरहत्यादिमहापातकं च अपावधी हतवान् अस्मि इति. “अशनयापिपासे ह वा उग्रं वचः एनश्च वैरहत्यं त्वेषं वचः” (   ) इति च ब्राह्मणम्. तत्र पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इत्यादि. तथाच “तनूः...” इत्यादिकं यत्र पठितं तत्र तदाकाङ्क्षापूरणेन चरितार्थत्वात् निराकाङ्क्षमिति न अग्रिमवाक्ययोः सम्बद्धुम् ईष्टइति प्रधानवाक्यवद् वाक्यान्तरमेव. यत् पुनः अग्रिमयोः साकाङ्क्षत्वं तद् लोकिकेन यथोचितेन वाक्येन पूरणीयम् इति प्राप्ते इति अर्थः. समाधिं व्याकुर्वन्ति **वाक्यस्य** इत्यादि. तथाच यद्यपि अनुषङ्गो निराकाङ्क्षः, तथापि अग्रिमवाक्यद्वयं साकाङ्क्षम्. तत्र लौकिकं यद्यपि अध्याहर्तुं शक्यते, तथापि तदपेक्षया वैदिकेन शेषपूरणं युक्तं, वेदोक्तत्वेन संनिहित्वादिति. तैत्तिरीयपाठस्यापि उदाहरणत्वाय आहुः **अनुषङ्गः** इत्यादि, **तस्यैव** इति तस्यैव शेषः. समाधिं व्याकुर्वन्ति **सर्वेषु** इत्यादि. तैत्तिरीयपाठे “या ते अग्ने...” इत्यस्य आवृत्त्यभावाद् ऐकमन्त्र्यमपि सम्भावयितुं शक्यते तथापि कल्पकारैः अनुषङ्गस्य आदृतत्वाद् मन्त्रभेदः इति आशयं बोधयितुम् अत्र इदम् अधिकरणम् उक्तम् इति आशयेन आहुः **अनुषङ्गोपि** इत्यादि. **सर्वेषाम्** इति शेषः इति अर्थः ॥२।१।४८॥

॥ इति पञ्चदशमनुषङ्गाधिकरणम् ॥

राशिषा” (तै.सं.१।३।८।१) इति मन्त्रत्रयं शिरसि अङ्गोच्चलयोः श्रोण्यां च क्रमेण आघारशेषणाञ्जने विनियुक्तम्. तत्र ‘गच्छताम्’ इति क्रियापेक्षा सर्वेषाम् अस्ति तथापि द्वितीये मन्त्रे यथाश्रुतम् अर्थोपयोगि न भवतीति ‘गच्छताम्’ इति वक्तव्यम्. तत् न शक्यं, “न प्रकृतावूहो विद्यते” (आप.श्रौ.सू.२४।३।४९) इति निषेधात्. अतो द्वितीयः तावानेव मन्त्रः. तृतीये सन्देहः ‘गच्छताम्’ इति अनुषज्यते न [वा!]? इति. किं तावत् प्राप्तम्? अनुषज्यते, आकाङ्क्षायाः विद्यमानत्वाद् ऊहाभावात् च इति प्राप्ते उच्यते—

व्यवायान्नानुषज्यते[1] ॥२।१।४९॥

व्यवायाद् न अनुषज्यते, यत्र अनुषङ्गस्य मध्ये व्यवायो भवति तत्र तेन प्रतिबद्धो अग्रे न गच्छति. यथा “अग्निः भूतानाम् अधिपतिः स मावतु” (तै.सं.३।४।५।१) इत्यत्र ‘स’ इति लिङ्गवचने यत्र न सङ्गगच्छतः तत्र मन्त्रपाठे पृथग् अस्ति अनुषङ्गः – “तन्मावतु / ते मावन्तु” इति. अतोपि ज्ञायते न इदं पदम् उत्तरत्र अनुषज्यते

क्वचिद् आकाङ्क्षासद्भावेपि अनुषङ्गो न भवति इत्येतदर्थं सूत्रं प्रणयति इति बोधनाय विषयम् आदौ आहुः **सं ते** इत्यादि, **अङ्गोच्चलयोः** इति ककुदि, “ [2]‘अङ्गोच्चल’ शब्देन ककुद् उच्यते” (तै.सं.सा.भा.१।३।८।७-९) इति सायणीये व्याख्यानात्. **अर्थोपयोगि न भवति** इति ‘अङ्गानि’ इति बहुवचनात् तथा. **प्रतिबद्ध...** इति, पूर्वत्र असम्बन्धेन बुद्धिविपरिवृत्तिभङ्गात् प्रतिबद्धः. ननु एतद् अप्रयोजकं “देवस्य त्वा” (तै.सं.१।१।४।१) इति अनुषङ्गस्य “भूयो व्यवायेपि आददे” (   ) इत्यादिमन्त्रेषु दर्शनाद् इत्यतः आहुः **यथा** इत्यादि. **इत्यत्र** इति, अस्मिन् मन्त्रसङ्घे. **अतोपि** इति पृथग् अनुषङ्गलिङ्गादपि. तथाच न अप्रयोजकम् इति अर्थः. नच यदि एवं तदा अत्रैव “सोम ओषधीनाम्” (तै.सं.३।४।५।१२)इत्यादिमन्त्र-

---

[1] “व्यवायान्नानुषज्येत” इति प्रसिद्धः पाठः.

[2] ‘उच्चल’शब्देन’ इति सायणीयः पाठः.

इति. तस्माद् यत्र न व्यवायो न वा युक्तावयवपाठः तत्र अनुषज्यते इति सिद्धम् ॥२।१।४९॥

॥ इति षोडशं व्यवेताननुषङ्गाधिकरणम् ॥

॥ इति श्रीजैमिनीयसूत्रभाष्ये श्रीवल्लभाचार्यविरचिते द्वितीयस्य अध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

पञ्चके "स मावतु" इति अनुषङ्गो न स्याद् इति शङ्क्यम्, "अस्मिन् ब्रह्मन् अस्मिन् क्षत्रे" (तै.सं.३।४।५।१) इत्यादिरूपस्य अनुषङ्गयुक्तावयवपाठस्य अनुषङ्गबोधकस्य सत्त्वात्. 'आददे' इत्यादौतु कल्पे "देवस्य त्वा"(तै.सं.१।१।४।९) इत्यादि शेषपूरणाद् वाचनिको अनुषङ्गइति अदोषः. सिद्धम् आहुः तस्माद् इत्यादि ॥४९॥१६॥

॥ इति षोडशं व्यवेताननुषङ्गाधिकरणम् ॥

इति श्रीमदाचार्यचरणविरचित-जैमिनीयभाष्यभावार्थपादविवरणं
श्रीमद्वल्लभनन्दनचरण-दासानुदास-श्रीपीताम्बरतनुज-
श्रीयदुपतिविरचितं
सम्पूर्णम्

* * *

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।
।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ब्रह्मवादकी भूमिकाके रूपमें पत्रावलम्बन ग्रन्थके कथ्य और महत्त्व का अध्ययन

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः ।।
बहु स्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत् सती।
तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ।।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया।
विस्फुलिङ्गा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडाअपि।
आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ।।
सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।
जडो जीवान्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः ।।
(त.दी.नि.१।१,२७-३०)

[उन अद्भुतकर्मा भगवान् कृष्णको नमस्कार कि जो अनेकविध रूपों और नामों को धारण करके क्रीड़ा करते हैं, जो अनेकविध रूप-नामवाला जगत् बन कर क्रीड़ा करते हैं; तथा जो किसी भी तरहके रूप या नाम को स्वयं धारण करे बिना भी उन्हें प्रदर्शित कर सकते हैं. सृष्टिके आदिमें उस एकरस अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मके बहुभवनके सत्यसङ्कल्पवश केवल इच्छामात्रसे स्वयं उसके ही सदंशसे सभी जड़ द्रव्योंका, चिदंशसे सभी आकाररहित जीवात्माओंका तथा आनन्दांशसे सभी अन्तर्यामिओंका 'अग्निविस्फुलिङ्ग'न्यायेन व्युच्चरण होता है. इनमें सदंशके भीतर चिदानन्दांशको अप्रकट=अन्तर्लीन हुवा जानना चाहिये; और चिदंशमें आनन्दांशको. अतः जड़ जीव और अन्तरात्मा यों त्रिविध व्यवहार उपपन्न हो पाते हैं.].

::ब्रह्मवाद::

> नाम रूप और कर्म की यह त्रयी है...यह वाणी जो सारे नामोंका भरण करती है...यह चक्षु जो सारे रूपोंका भरण करती है...यह आत्मा जो सारे कर्मोंका भरण करती है. ये नाम-रूप-कर्म तीन होनेपर भी आत्मतया एक हैं. आत्मा एक होनपर भी नाम-रूप-कर्मतया तीन होती हैं. यह ऐसा एक अमृत है जो सत्यसे आछन्न है. प्राण ही तो स्वयं अमृत होता है और नाम-रूप ऐसे सत्य हैं कि जिनसे प्राण आछन्न रहता है.

बृहदारण्यकोपनिषद्के प्रथमाध्यायके उपसंहारके इस वचनमें नाम-रूप-कर्मोके आधारतया प्राणात्माकी त्रिविधता तथा प्राणात्मामें वृत्तितया नाम-रूप-कर्मोंकी एकविधता द्योतित हुयी है. इसी तरह नाम-रूपकी आच्छादकता भी एवं सत्यता भी यहां कही गयी है. यह नामरूप और प्राणात्मा के बीच एक विलक्षण प्रकारके सम्बन्धकी स्वीकृति है.

इसे सूत्रात्मक मूलवचनके रूपमें स्वीकार कर भगवद्गीता तथा भागवत के यहां दिये जाते इन वचनोंको वृत्ति एवं भाष्य मान कर चलें तो चित्र कुछ और भी अधिक स्पष्ट हो पाता है :—

> एक और पृथक् दोनों होनेके रूपमें—बहुविध विश्वरूप होनेके रूपमें, ज्ञानयाजी मेरी उपासना करते हैं. मैं ही क्रतु हूं, मैं यज्ञ हूं, स्वधा मैं हूं, औषध मैं हूं, मन्त्र मैं हूं, मैं ही घृत हूं, अग्नि मैं हूं और आहुति भी मैं ही हूं. मैं इस जगत्का पिता हूं, माता हूं, धाता हूं, पितामह हूं, वेद्य पवित्र ॐकार भी मैं हूं और ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं. सभीकी

> सदसद् गति मैं हूं, सभीका भरण-पोषण करनेवाला, सभीका स्वामी और साक्षी भी मैं हूं, सभी मेरेमें बसते हैं, मैं सभीका आश्रय हूं, सभीका मित्र हूं. मैं इस जगत्की उत्पत्ति हूं, जगत्का प्रलय मेरेमें होता है, जगत् मुझमें अवस्थित है, सब कुछ मेरे भीतर भरा रहता है, इस जगत्का अविनाशी बीज मैं ही हूं. तपता मैं हूं, बरसता मैं हूं, मैं ही रोके रखता हूं और मैं ही छोड़ता हूं, मैं अमृत हूं और मृत्यु भी मैं ही हूं, सत् और असत् भी मैं ही हूं!(भ.गी.९।१५-१९).
>
> चारों वेदोंकी विलक्षण भाषाओंके विस्तारमें अपार वाणी स्वयं ही कुछ नियमोंको घड़ती है और कुछको तोड़ती भी है. इस वेदवाणीके द्वारा किस कर्मका विधान हो रहा है, किस वस्तुका निरूपण हो रहा है; या किस विदित वस्तुमें विकल्प खड़े किये जा रहे हैं—इसे मेरे बिना और कौन जान सकता है! वेदवाणीके द्वारा साध्य कर्मका जो विधान किया जाता है, सिद्ध वस्तुका जो अभिधान किया जाता है; साध्य या सिद्ध वस्तुमें अनेक विकल्पोंको उपस्थापित करके किसी एक कल्पका अपोहन जो किया जाता है—वह सब कुछ मेरे ही बारेमें किया गया समझना चाहिये. शब्दोंके भेदसे सारे वेदोंका अर्थ तो मैं ही हूं; क्योंकि निषेध भी मेरी ही मायाके कारण प्रकट=अनुभूत होती वस्तुओंके बारेमें किया जाता है (भाग.११।२१। ४०-४३).

धैर्यपूर्वक इन तीनों वचनोंके अवगाहनसे जो तथ्य प्रकट होता है वह यह कि रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादि गुणोंके आश्रयतया

द्रव्यात्मना पञ्चविध प्रत्यक्षेण गृह्यमाण जागतिक पदार्थों [Percepts] को; अथवा नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपातात्मना उच्चार्यमाण चतुर्विध पदोंसे निरूपित होते बौद्धिक पदार्थो या प्रत्ययों [Concepts] को भी, अब्रह्मात्मक या मिथ्या नहीं माना जा सकता है. यद्यपि आख्यात उपसर्ग या निपात रूपी तीनोंके न सही, कमसे कम अन्तिम दो तरहके पदोंके तो, किसी भी तरहके मूर्त प्रत्यय बुद्धिभास्य न भी होते हों परन्तु एतावता अमूर्त प्रत्ययोंका भी बौद्धिक भास न स्वीकारें तो इन पदोंको अर्थहीन ही स्वीकारना पड़ेगा. अतः बौद्धिक प्रत्यय भी मूर्त या अमूर्त दोनों ही प्रकारके स्वीकारने पड़ते हैं.

सकल जागतिक नाम-रूप-कर्म ब्रह्मात्मक हैं. न केवल इतना अपितु सद्-असद् और अमृत-मृत्यु जैसे विरुद्ध रूपोंको भी प्रकट या धारण करनेवाला एकमात्र ब्रह्म स्वयं एकत्व-पृथक्त्वाश्रय है ऐसा भी स्वीकारा गया है! हमारी वाणीद्वारा किये जाते अभिधानद्वारा जो सत् अभिहित होता है या जो असत् व्यावर्तित होता है; अथवा शास्त्रप्रशंसित अमृतत्व जिन विहित कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप सत्साधनोंद्वारा उपलब्ध होता है या शास्त्रनिन्दित शोकमोह-जन्ममृत्युका चक्र जिन असत्कर्मों या दुष्कर्मों से प्राप्त होता है—ऐसे लौकिक या शास्त्रीय विधानाभिधानगत अनेकविध विकल्पोंमें उपादेय कल्पकी तरह अपोह्य कल्प भी वही एकमात्र ब्रह्म है!

ऐसी स्थितिमें एक प्रश्न स्वाभाविक रूपसे उठता है कि किसी भी अभिधान या विधान के द्वारा अपोह्य या व्यावर्तनीय असत्कल्प या मृत्युकल्प को भी ब्रह्मात्मक मान लेनेपर ब्रह्म या माया; अथवा ब्रह्मात्मक या मायिक के बीच भी भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा! फिर तो ब्रह्म भी मायिक और माया स्वयं ब्रह्मरूपा सिद्ध होगी!! सारेके सारे हेयोपादेयताके, बुद्धिगत एवं व्यवहारगत, निकष निरर्थक ही सिद्ध हो जायेंगे!!!

उसने चाहा—"मैं एक अनेक बन जाऊं!"...यह

> सब उसने सिरजा. यह जो कुछ है उसे रच कर वही इसमें अनुप्रविष्ट हुवा है. इसमें अनुप्रविष्ट होकर वह सत् और त्यत् बन गया, निरुक्त और अनिरुक्त भी, साधार और निराधार भी, विज्ञान और अविज्ञान भी, सत्य और अनृत भी वही सत्य बन गया. यह जो कुछ है उसे 'सत्य' कहा जाता है (तै.उ.३।६).

इस तैत्तिरीयोपनिषद्के वचनके आधारपर शुद्धाद्वैतवादकी यह सुदृढ़ धारणा है कि माया अज्ञानरूपा हो या अनृत हो, है तो वह भी ब्रह्मका ही एक विलक्षण रूप या सामर्थ्य ही.

"प्रापञ्चिक नाम-रूप-कर्मात्मना स्वयं ब्रह्म परिणत हुवा है", ऐसी धारणाके बारेमें सांख्य मतद्वारा तार्किक आपत्ति उठायी गयी थी कि ब्रह्म सर्वात्मना परिणत होता हो तो कारणरूप ब्रह्मका नाश होगा और अंशात्मना परिणत होता हो तो उसके निरवयव स्वरूप होनेकी बात असंगत हो जायेगी!!

इसका समाधान वैसे तो श्रीशङ्कराचार्य भी स्वयंको 'ब्रह्मवादी' घोषित करते हुवे यों देना चाहते हैं—

> आपत्तिकर्ताके मतमें भी यह दोष तो समानरूपेण उठ सकता है. क्योंकि प्रधानवादीके मतमें भी "सावयव परिच्छिन्न शब्दादिमान् कार्यका निरवयव अपरिच्छिन्न शब्दादिविहीन प्रकृति कारण तो बनती है" ऐसा तो स्वीकारा ही गया है. ...कार्योंकी विलक्षणताके आधारपर प्रकृतिमें ही ऐसी कुछ विलक्षण शक्तियां अवयवतया स्वीकार ली जाती हों तो, वैसी तो ब्रह्मवादी भी स्वीकार ही सकते हैं. ...यों समान धारणाओंके आधारपर कोई किसीको कुछ कह नहीं पायेगा! अतः ब्रह्मवादी भी अपने पक्षपर लगाये गये दोषोंका समाधान

तो दे ही सकता है(ब्र.सू.भा.२।१।२९).

उल्लिखित शास्त्रवचनोंमें, परन्तु, कण्ठतः घोषित नाम-रूप-कर्मकी ब्रह्मात्मकताको या ब्रह्मकी नाम-रूप-कर्मात्मकताको स्वीकार करनेका जैसे ही प्रसंग उपस्थित होता है, श्रीशङ्कराचार्य शीघ्र ही स्पष्टता कर देते हैं:—

> यह जो अज्ञानकल्पित... नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् है, वह अनात्मरूप है—आत्मा जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म होती है तद्रूप नहीं. इसलिये नामादिरूप जगत्से विरक्त होना चाहिये, ऐसी बात 'त्रयं वा' इत्यादि शब्दोंद्वारा कही जाती हैं. ...जिस घड़ेका रूप जिस मिट्टीसे गढ़ा गया हो, वह उससे अलग नहीं किया जा सकता है. ...इसी तरह इन यथोक्त नाम रूप और कर्म के ... एक होनेकी बात जिस तत्त्वके साथ कहनी है वह है यह कार्यकारणसंघातरूप देहपिण्ड... (बृ.उ.भा.१।६।१-३).

ब्रह्मके बजाय अविद्यारूपा मायाको उपस्थापित करनेवाली इस निरूपणशैलीको, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, ब्रह्मवाद न मान कर मायावाद ही मानते हैं. प्राकृत मायिक अथवा किसी भी तरहके अस्वीय गुणमूलक औपाधिक कर्तृत्वकी कल्पनाका ब्रह्मके बारेमें कोई भी औचित्य स्वीकारने महाप्रभु उद्यत नहीं हैं. अतएव औपाधिक कर्तृत्वका प्रत्याख्यान करते हुवे वे कहते हैं:—

> अपने सङ्कल्पद्वारा इस सृष्टिको प्रकट कर पानेके गुणवाले परमात्माको गौणकर्ता अर्थात् प्रकृतिके सत्त्व-रजस्-तमोगुणोंके सम्बन्धके कारण सृष्टिको प्रकट करनेवाला स्वीकारा नहीं जा सकता है. क्यों? इसीलिये कि श्रुतिमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है. उपक्रममें—"आत्मा वा इदमेक

> एवाग्र आसीद्'' कह कर बादमें—''स ऐक्षत'' कहा गया है... इससे सिद्ध होता है कि श्रुति आत्माको ही सृष्टिका कारण मानती है. ''एक श्रुति कार्यकारणभावरहित और दूसरी कार्यकारणभाव-सहित ब्रह्मको निरूपित करती हो तो दोमेंसे एकको बाधितार्थ मानना पड़ेगा!'' ऐसी धारणा भी उचित नहीं है, क्योंकि गुणोंके आधीन होनेसे सृष्टि प्रकट करनेवालेको स्वतन्त्र कर्ता माना नहीं जा सकता. वेद ही प्रमाण है, अतः उसके ही आधारपर ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्यको अङ्गीकार कर लेना चाहिये. इसके अलावा जड़-चेतन वस्तुओंके होने, अनुभूत होने; और प्रिय लगने जैसे धर्मोंकी तरह जीवानुस्यूत कर्तृत्व भी मूलतः ब्रह्मगत ही होता है, क्योंकि जगत् ब्रह्मका कार्य है. अतः 'आत्मा' शब्दके प्रयोगवशात् प्राकृत गुणोंसे अतीत परमात्माको ही इस सृष्टिका कर्ता मानना चाहिये(ब्र.सू.भा.१।१।५).

वैसे क्योंकि धर्म और ब्रह्म दोनों ही समानरूपेण सर्वथा शास्त्रीय प्रमेय ही हैं, अतः शास्त्रोंके सच्चे अभिप्रायके अनुरोधवश ही इनकी मीमांसा सम्भव है अन्यथा नहीं. इस विषयमें श्रीशङ्कराचार्यके ये उद्गार निरतिशय महत्त्व रखते हैं —''लौकिक वस्तुओंकी तरह इस ब्रह्मके बारेमें सोचा नहीं जा सकता, क्योंकि यह कोई अनुमानगम्य तत्त्व तो है नहीं. यह तो शब्दगम्य प्रमेय है, अतः शब्दोंके अनुसार ही यहां तो जो कुछ सम्भव हो उसे सोचा-स्वीकारा जा सकता है'' (ब्र.सू.भा. १।४।२७).

इसी यथाशब्दता—''अहं क्रतुरहं यज्ञो''-''मां विधत्तेऽभिधत्ते मां''—के आग्रहवश ही महाप्रभु स्वातन्त्र्येण अब्रह्मात्मक धर्मको या क्रियाशक्तिविहीन ब्रह्मको जिज्ञास्य नहीं मानते हैं; अपितु वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंमें प्रतिपाद्यविषयको इतरेतरात्मक ही स्वीकारते

हैं—''यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे, ब्रह्मतनुः परे, अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते''(त.दी.नि.१।११).

महाप्रभुको अभिप्रेत 'ब्रह्मवाद'का अर्थ, वे स्वयं, इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं:—

> वही है जगत्का समवायी कारण भी और निमित्त कारण भी. कभी वह आत्मना क्रीड़ा करता है तो कभी प्रपञ्चात्मना भी. जहां जिसकेद्वारा जिससे जिसका जिसकेलिये जिसे जो-कुछ जैसे और जब होता है, प्रकृति पुरुष या ईश्वर सभी कुछ साक्षात् भगवान् ही होते हैं(त.दी.नि.१।६८-६९).
>
> परमात्मा ही यह सब कुछ बना है सृष्टि भी सृष्टिकर्ता भी. वही विश्वात्मा पालनकर्ता और पालित बना है. वही ईश्वर प्रलयकर्ता बन कर प्रलीन हो जाता है. ''आत्मा ही यह सब कुछ है—ब्रह्म ही यह सब कुछ है'' इन श्रौत अर्थोंके अनुसार स्वमत कहना ब्रह्मवाद है. अन्यथा सारी बातें मोहार्थ कल्पित हैं(त.दी.नि.२।१८३-८४).

इस ब्रह्मवादकी अनुभूति, अधिकारिभेदवशात्, पुनः दो तरहकी निरूपित की गयी हैं: १.सखण्डब्रह्माद्वैतकी अनुभूति २.अखण्डब्रह्माद्वैतकी अनुभूति.

> ''ब्रह्मवादमें भी 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' श्रुतिवचनके अनुरोधवश विकल्पोंको असत्यतया अङ्गीकार करना चाहिये'' ऐसी आशङ्काके समाधानार्थ अखण्डाद्वैतभानका स्वरूप समझना आवश्यक है. वेदान्तमें सखण्ड और अखण्ड अद्वैतके रूपोंमें ब्रह्मोपदेशके दो प्रकार दिखलायी देते हैं.

सखण्डब्रह्माद्वैतकी अनुभूति : ''बहु स्यां प्रजायेय'' जैसे श्रुतिवचनोंके आधारपर उच्च-नीचभावोंमें भगवान् ही अपने-आपको प्रकट करते हैं; अतः ब्रह्मज्ञान होनेपर भी विकल्पोंका अवगाहन करनेवाली बुद्धि और ब्रह्मावगति के बीच कोई विरोधाभास नहीं उठ पाता.

अखण्डब्रह्माद्वैतकी अनुभूति : ''वाचारम्भणं...'' जैसे श्रुतिवचनोंमें '' 'विकार'=कार्य तो कहने भरकी बात होती है'' ऐसे विधानद्वारा कार्यांशपर भार दिये बिना, केवल ब्रह्मके स्वरूपपर भार देनेको, ब्रह्ममें आविर्भूत / तिरोभूत नाम-रूप-कर्मोंसे ब्रह्मको पृथक् करके जब उपदेश दिया जाता है, तब जगत्को 'सन्मात्र' कहा जाता है...जैसे स्वर्णके किसी ग्राहकको सारे स्वर्णाभूषणोंमें स्वर्ण ही दिखलायी देता है, वैसे ही किसी ब्रह्मज्ञानीको जब ब्रह्मके अखण्डाद्वैतका भान होता है, तब ब्रह्मत्वेन ही सारा जगत् अनुभूत होता है. इस अवस्थामें 'घट'-'पट'के जो अवान्तर विकल्प होते हैं, उनकी अनुभूति नहीं हो पाती — अतः विकल्पमात्रकी अवगाहिनी बुद्धि बाधित होती है : सर्वत्र ब्रह्म ही है और कुछ नहीं. एतावता घटादि पदार्थ स्वरूपतः बाधित नहीं हो जाते (त.दी.नि. १।९१).

अधिकारिभेदवशात् सखण्ड ब्रह्माद्वैतकी अनुभूतिके भी पुनः तीन प्रकारोंका निरूपण महाप्रभु करते हैं :—

''इदं हि विश्वं भगवान्'' वचनद्वारा विश्वके बारेमें उसके भगवान् होनेका विधान किया गया है. अतः ऐसी अनुभूति होनेपर सर्वत्र भगवद्दृष्टि सिद्ध

> हो जानेसे जीव कृतार्थ हो जाता है. अतएव "सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्" इस श्रुतिमें भगवान्के रूपमें कार्यका निरूपण अभिप्रेत है.
>
> उत्तम मध्यम तथा अधम अधिकारिओंके भेदवश जगत्का निरूपण तीन तरहसे करना चाहिये. उत्तम अधिकारीकी बात तो ऊपर कह दी.
>
> अब मध्यम अधिकारीकी अनुभूतिका निरूपण करते हैं—"इदं विश्वं भगवान् इव" अर्थात् यह जगत् स्वयं भगवान् न होनेपर भी भगवान्के ही जैसा [सद्रूप एवं चिद्रूप] है. अतः आदर आदिके मनोभाव भगवान्की तरह रखनेपर भी जगत्में आसक्ति नहीं करनी चाहिये.
>
> जो निकृष्ट कक्षाके अधिकारी होते हैं, उन्हें यह जगत् भगवान्से विसदृश ही अनुभूत होता है: "इदं विश्वं भगवान् इतरः" = परमार्थ सत् भगवान्से यह जगत् इतर [अपारमार्थिक मिथ्या उत्पत्ति-नाशवान होनेसे भिन्न] है(सुबो.१।५।२०).

इससे सिद्ध होता है कि अखण्ड ब्रह्मानुभूतिका द्योतन— "ब्रह्म ब्रह्म है" अर्थात् वाक्यके घटक उद्देश्य और विधेय रूप दोनों ही कोटिओंमें एक ही पदके विन्यासद्वारा यथाकथञ्चिद् व्यक्त किया जा सकता है. सखण्ड ब्रह्मानुभूतिके निरूपक वाक्यकी घटक उद्देश्य या विधेय कोटिओंमेंसे एक किसी कोटिमें 'ब्रह्म' पद होना आवश्यक है. अतएव महाप्रभु कहते हैं: "यह प्रपञ्च न तो प्रकृतिका परिणाम है, न परमाणुओंसे आरब्ध, न मायाका विवर्त, न अदृष्टादि कारणोंवश प्रकट और न असत्मेंसे प्रकट हुवा सत्; किन्तु स्वयं भगवान्की कृतिसे प्रकट हुवा प्रपञ्च भगवद्रूप ही है"(त.दी.नि.१।२३). ब्रह्मानुभूतिनिरूपक वाक्यकी किसी भी एक कोटिमें यदि ब्रह्मनिरूपण न होता हो तो; अर्थात् ब्रह्मके

बजाय सच्चिदात्मकतया ब्रह्मसदृश या अपारमार्थिकतया ब्रह्मविसदृश जैसा कुछ निरूपित होता हो तो, वैसी ब्रह्मानुभूति उत्तमकक्षाकी नहीं मानी जाती.

इस तरहकी उभयविध ब्रह्मानुभूतिको स्वीकारनेके कारण जो विरोधाभास प्रकट होता है उसके उपशमनार्थ महाप्रभुके ये वचन अतीव मननीय हैं:—

> प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर न होनेवाले पदार्थोंके बारेमें श्रुतिनिरूपणमें यदि परस्पर विरोधाभास भी कहीं प्रतीत हो तो दोमेंसे किसी भी एक वचनको गौण नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि जब दोनों तथ्य वेदनिरूपित हों तो किस एक तथ्यका पक्ष लेकर किस दूसरे तथ्यको उपेक्ष्य मानना! श्रौत तथ्यका विचार तो सदा श्रुतिके ही आधारपर करना पड़ेगा. कर्मानुष्ठान या ज्ञानानुष्ठान की मीमांसामें, दोषतया माने जाते भी विकल्पके शास्त्रोपदिष्ट होनेपर, उभयविध कर्तव्योंके बोधार्थ प्रवृत्त परस्परविरुद्ध श्रुतिवचनोंमें एकवाक्यता यथाकथञ्चित् साधनी ही पड़ती है. ऐसे ही परस्पर विरुद्ध वर्णन मिलनेपर भगवद्रूपकी भी उभयविधता स्वीकार करके विरोधका उपशमन करना चाहिये. अतएव ब्रह्मको सर्वरूपसमर्थ स्वीकार कर विरुद्धधर्माश्रय मान लेना उचित होगा. इस बारेमें जो कुछ उच्चनीचादिके भेदवशात् अन्यथा प्रतिभान होता हो, वह भान, उसके कर्ता हरि ही स्वयं वैसे हैं; और ऐसा सोचनेपर जो कुछ तार्किक दूषण या दोषपूर्ण प्रतीति स्फुरित होती हों वे भी स्वयं हरिरूप ही हैं. सारे विरुद्धपक्ष, क्योंकि, हरिमें ही शोभा पाते हैं!(सुबो.२।९।३२).

इस सन्दर्भमें पूर्वोक्त नाम-रूप-कर्मत्रयीकी ब्रह्मवादानुसारी

मीमांसा करनेको उद्यत होनेपर "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" श्रुतिवचनके अनुसार "सत्+चित्+आनन्त्य[/आनन्द] = सच्चिदानन्द ब्रह्म"का एक श्रौत समीकरण सर्वप्रथम बुद्धिगत करना आवश्यक है. यहां 'आनन्त्य' पदद्वारा देशकृत कालकृत तथा स्वरूपकृत परिच्छेदरहित होना अभिप्रेत है. त्रिविध परिच्छेदोंसे रहित वस्तुका, अपरिच्छिन्नताके स्वभाववश ही, न केवल सर्वरूप होना अपितु विरुद्धधर्माश्रय होना भी अपरिहार्य हो जाता है. अतएव भागवतमें क्रिया-कारकोंके भेदवाले शब्दोंसे अनिरूप्य तथा अकरण होनेपरभी अखिलकारकोंकी शक्तियोंको धारण करनेवाले रूपमें विरुद्धधर्माश्रयी ब्रह्मको निरूपित किया गया है: "शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो"(भाग.२।७।४७) — "त्वमकरणः स्वराड् अखिलकारकशक्तिधरः"(भाग.१०।८७।२८).

इनमें प्रथमवचन अखण्ड ब्रह्माद्वैतकी अनुभूतिका निरूपक है तथा द्वितीयवचन सखण्ड ब्रह्माद्वैतकी अनुभूतिका.

::ब्रह्मवादानुसारिणी सृष्टिप्रक्रिया::

इसी द्विविध ब्रह्मवादके अनुसन्धानमें प्रस्तुत पत्रावलम्बनकी तीसरी करिकामें कहा गया है:—

ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद्।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः॥

(पत्रा.३).

> भावार्थ: ब्रह्मवादके अनुसार तो कोई निरूक्ति दी ही नहीं जा सकती क्योंकि वस्तुतः सब कुछ बह्म ही है और निरुक्त्यादि शब्दव्यवहार तो लौकिक होते हैं.

अतएव सर्वथा अचिन्त्य अवाच्य एवं अव्यवहार्य भी ब्रह्म अपने सर्वभवनसामर्थ्य एवं सत्यसङ्कल्पसामर्थ्य के कारण सृष्टिको प्रकट करके कथञ्चित् चिन्त्य वाच्य तथा व्यवहार्य भी बन जाता है. महाप्रभुके मतके अनुसार इसकी प्रक्रियाका निरूपण

अब हमें देखना है.

"बहु स्यां प्रजायेय" श्रुतिमें निरूपित सर्वभवनसमर्थ सच्चिदानन्द ब्रह्मकी स्वयं यह इच्छा भी ब्रह्मरूपा ही है. अखण्डैकरस सच्चिदानन्द ब्रह्ममें बहुभवनके सत्यसङ्कल्पवशात्, सर्वप्रथम आन्तरिक धर्मविभाजन होता है: सत्ता चैतन्य तथा अपरिमित आनन्दात्मक ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूप अनेकविध धर्म अन्त:पृथक् होते हैं. इन सत्ता चैतन्य और आनन्द रूप धर्मोंमें, पूर्व-पूर्व स्वरूप और प्रत्यय का उत्तरोत्तर स्वरूप और प्रत्ययमें अन्तर्भाव; तथा उत्तरोत्तर स्वरूप और प्रत्यय का पूर्व-पूर्व स्वरूप और प्रत्यय में तिरोभाव स्वीकारा गया है. अत: ऐश्वर्यादिमें चैतन्य और सत्ता अन्तर्भूत हैं ही; परन्तु चैतन्य और सत्ता के हर उदाहरणमें ऐश्वर्यादि गुणधर्म प्रकट नहीं हो पाते हैं. इसी तरह चैतन्यमें सत्ता अन्तर्भूत है ही; परन्तु सत्ताके प्रत्येक उदाहरणमें चैतन्य प्रकट नहीं हो पाता है. इसी कारणसे सदंशमें रही क्रियारूपा शक्ति भी पृथग्भावापन्ना हो जाती है. चिदंशमें भी व्यामोहिका मायारूपा शक्ति पृथग्भावापन्ना हो जाती है. इसी तरह आनन्दांशमें भी जगत्प्राकट्यकारिणी विलक्षणशक्ति पृथग्भावापन्ना हो जाती है. एतत्त्रितयरूपा शक्तिका अभिधान 'सच्चिदानन्द' पदके साथ भाववाचक 'त्व-ता' प्रत्यय जोड़नेपर सिद्ध होता है. अत: 'सच्चिदानन्द=परब्रह्म' और 'सच्चिदानन्दता=अक्षरब्रह्म' इस सन्दर्भमें निरतिशय अवधेय समीकरण हैं. अतएव "तद्धाम परमं मम" (भ.गी.८।२१) तथा "स भगव: कस्मिन् प्रतिष्ठितइति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि" (छान्दो.उ.७।२६।२४) वचनोंमें 'धामन्' पदके— " 'धाम'= शक्तौ प्रभावे च तेजो-मन्दिर-जन्मसु" (विश्व.९६।१२१) के अनुसार जो अनेक अर्थ स्वीकारे गये हैं, प्राय: उन सभी अर्थोंमें अक्षरब्रह्म तथा परब्रह्म के परस्पर सम्बन्धोंके निरूपकतया इस 'धाम' पदकी अन्वर्थता समझी जा सकती है. सङ्क्षेपमें अक्षरब्रह्मको धर्म या शक्ति की दृष्टिसे

देखनेपर वह परब्रह्ममें स्थित रहता है तथा धामदृष्ट्या देखनेपर परब्रह्म अक्षरब्रह्ममें स्थित रहता है. यह स्वरूपनिरूपणकी प्रक्रिया है. इसे कार्य-कारणभावनिरूपणके उदाहरणके आधारपर समझना हो तो—एक निष्पन्न वस्त्रको अवयवीके रूपमें देखनेपर तदोत-प्रोत तन्तु अवयवतया उस वस्त्रमें अवस्थित प्रतीत होते हैं; अतः वस्त्र धर्मी तथा तन्तु धर्म के रूपमें अवभासित होंगे. इसी तरह तन्तुओंका ताना-बाना बुननेपर उपादान कारणरूप तन्तुओंमें वस्त्ररूप कार्य प्रकट होता है; अतः तन्तु धर्मी तथा वस्त्र धर्म के रूपमें अवभासित होने लगता है.

अतः इस तरहके अन्तर्विभाजनके सम्पन्न होनेके साथ-साथ ही अक्षरब्रह्मका काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषतया अन्तर्विभाजन भी सिद्ध हो जाता है. इस सम्पूर्ण विषयका विस्तृत विवेचन त.दी.नि. के सर्वनिर्णयके प्रमेयप्रकरणमें उपलब्ध होता है(द्र. : त.दी.-नि.२।८४-११६).

इनमें क्रियारूपशक्तिवाले सदंशतया काल कर्म स्वभाव तथा प्रकृत्यादि जड़ द्रव्य प्रकट होते हैं.

काल भगवच्चेष्टारूप माना गया है. सृष्ट्यर्थ सचेष्ट भगवान्का सदंश काल है.

सदंशनिष्ठ क्रिया ही जगद्व्यापिनी होकर पुरुषांशरूप तत्तद् जीवोंके व्यापारोंके द्वारा कर्मात्मना फलदानपर्यन्त अभिव्यक्त होती है.

स्वभाव आधिदैविक भगवदिच्छाका आधिभौतिक जगत्में प्रकट नियम है.

इसी तरह चिदंशमेंसे पुरुषरूप जीवसमष्टि प्रकट होती है, जिसके अंशरूप सकल जीव होते हैं.

यों सदंश तथा चिदंश की, क्रमशः, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति भी मूलतः तथा अन्ततः तो आनन्दांशके ही आधीन रहती हैं. अतएव क्रियाशक्तिके इस अन्तर्विभाजनोत्तर भी आनन्दांशके आधीन

रहनेसे सदंश अव्यक्त त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति बन जाता है. इसी तरह चिदंशकी ज्ञानशक्ति भी भगवद्‌गुण बनकर रहती है.

इस ब्रह्मवादके अनुसार यथोक्त सृष्टिप्रक्रियाके मूलमें श्रौत वचन है: “तद्[=कर्तृकारक] आत्मानं[=कर्मकारक] स्वयं[=इतरकरण-निरपेक्षतया] अकुरुत[=क्रिया]”(तै.उ.२।७।१).

इस तरह क्रिया-कारकभावरहित आत्माके अखण्डाद्वैतमें निज सङ्कल्प तथा सामर्थ्य के वश क्रियारूपता एवं कारकरूपता के खण्डोंका द्वैत प्रकट होता है. यद्यपि अन्य सन्दर्भमें कहा गया वचन है, फिर भी, प्रकृत विषयको सुबोध बनाता है, अतः मननीय है: “उसने अपने-आपको दो रूपोंमें बांट लिया”(बृ.उ.१।४-।३). इसी आधारपर यों भी कहा जा सकता है कि क्रिया-कारकभावरहित आत्माने अपने-आपको दो हिस्सोंमें बांट कर अखिल कारकोंकी शक्तिओंको धारण कर रखा है!

एतदन्तर्गत सर्वप्रथम तो सदंशसे प्रकट हुयी प्रकृतिमें, रूपको उपलक्षण मान कर चलनेपर, इन्द्रियग्राह्य शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध तन्मात्राओंसे तादात्म्यभावापन्न आकाशादि पञ्चमहाभूतोंको रूपवान् द्रव्य समझना चाहिये, यद्यपि आकाश और वायु में चक्षुर्ग्राह्य रूपवत्ता तो नहीं होती, तो भी स्वीकृत पारिभाषिक अर्थमें ही. क्योंकि ‘रूप’पद केवल चक्षुर्ग्राह्य गुणकी विवक्षावश प्रयुक्त हुवा नहीं है; प्रत्युत चक्षुरादि सकलेन्द्रियोंसे गृहीत होते गुणोंवाले सद् द्रव्यकी विवक्षासे प्रयुक्त हुवा है. इस लेखनके आरम्भमें मङ्गलाचरणतया उद्धृत कारिकास्थ “रूपनामविभेदेन” में प्रयुक्त ‘रूप’पदका भी इसी आशयमें परिग्रहण करना चाहिये. नाम आख्यात उपसर्ग एवं निपात रूपी चतुर्विध शब्दोंद्वारा निरूपित देशकालवर्ती बुद्धिबाह्य पदार्थ ‘रूप’पदाभिधेय होते हैं:

१.नामार्थरूप कारक-द्रव्य.

२.तिङन्त या कृदन्त आख्यातार्थरूपा साध्यरूपा
या सिद्धरूपा क्रिया.

३.उपसर्गद्योतित आख्यातार्थोपसर्जनीभूत अर्थ.

४.निपातद्योतित सम्बन्ध, अर्थात् देशकालवर्ती द्रव्य या कर्म सम्बन्धी बाह्य तथ्यरूप वाक्यार्थके उपसर्जनीभूत अर्थ.

यों चारों ही 'रूप' पदसे विवक्षित हैं. 'नाम' पदद्वारा नाम आख्यात उपसर्ग एवं निपात रूपी चारों ही प्रकारके शब्दोंद्वारा निरूपित आन्तर प्रत्यय विवक्षित हैं. 'प्रस्थानरत्नाकर' नामक ग्रन्थके प्रारम्भमें ही श्रीपुरुषोत्तमजीने "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" श्रुतिवचनके आधारपर इस 'नाम' पदसे अभिधेयके मौलिक तथा क्रमिक रूपोंका नितान्त मननीय विवेचन प्रस्तुत किया है.

जैसा कि श्रीपुरुषोत्तमजीने समझाया है तदनुसार :—

१.परमात्मा स्वयंप्रकाश सूर्यकी तरह ज्ञानस्वरूप धर्मी होता है. इसी तरह परमात्माके ही चिदंशरूप होनेसे सकल जीव भी वैसे ही होते हैं.

२.सूर्य जैसे प्रकाशरूप धर्मवान् भी होता है, वैसे ही, परमात्मामें तथा जीवात्मामें भी धर्मरूप ज्ञान भी होता है.

३.दिव्यदृष्टिके वरदानवश अर्जुनको दृग्गोचर हुवे स्वरूप जैसा परमात्माका एक विराट् रूप नामरूपकर्मात्मिका सृष्टिके प्रादुर्भावार्थ अक्षरब्रह्ममेंसे प्रकट होता है. ऐसे ही नित्यज्ञानरूप परमात्मामें सूक्ष्मतया अवस्थित प्रत्ययात्मक सकल जगत् वेदरूपेण अर्थात् शब्दात्मना स्थूलभावापन्न होता है.

४.इसी समष्टिके अंशभूत सकल व्यष्टि नाम होते हैं, जिनका कि पूर्वोक्त "रूपनामविभेदेन..."वचनमें 'नाम' पदद्वारा परामर्श किया गया है.

५.यों रूपसृष्टिमें परमात्माके चिदंश, अर्थात् देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणोंके करणकलापोंके सहित प्रकट,

> जीवात्माओंके भीतर भी अंशात्मना एवं धर्मभूत ज्ञानात्मना ये नामसृष्टिरूप देशकालातीत प्रत्यय जो अभिव्यक्त होते हैं, वे इन्हीं करणकलापोंके कारण बाह्य रूपोंके ग्रहणसाधन बनते हैं (प्र.र. : प्रमा.परि.).

::रूप-कर्मसृष्टिका नामसृष्टिके साथ सम्बन्ध::

जहां तक रूप-कर्मात्मिका सृष्टिके साथ अंशी ज्ञानस्वरूप परमात्माके भीतर धर्मभूत ज्ञानात्मना रहनेवाले इन नामोंके अर्थात् प्रत्ययोंके सम्बन्धका प्रश्न है, इन्हें बीजरूप मान कर रूप-कर्मात्मिका सृष्टिको इनमेंसे अंकुरित हुवा माना गया है. ब्रह्मचेतनामें सृज्यमान रूप-कर्मोंके साथ नामोंका सम्बन्ध एक प्रारूप (Blue-print) का किसी संरचना (Construction) के साथ कैसा होता है वैसा ही होता है.

जीवचेतनामें, परन्तु, परिचायक-चित्र (I.D.Photo) का व्यक्ति (Person) के साथ जैसा सम्बन्ध होता है वैसा ही माना गया है. यहां 'व्यक्ति'पद वस्तु या तथ्य (Things or Facts) दोनोंका उपलक्षण है. अर्थात् अंशरूप जीवात्माके भीतर इन नामोंका भी रूपकर्मोंके साथ प्रत्याय्यप्रत्यायकभावरूप सम्बन्ध ही होता है. प्रस्थानरत्नाकरकार, अतएव, संश्लेष तादात्म्य समवाय संयोग ऐक्य कार्यकारणभाव निमित्तनैमित्तिकभाव अथवा आश्रयाश्रयिभाव आदि सम्बन्धोंकी सम्भावनाओंका इनके बीच अस्वीकार करते हैं.

महाप्रभुके मतके अनुसार इस लीलात्मक व्यवहारके सन्दर्भमें यह और अवधेय है कि सदंशभूत जड़ रूप देशकालस्वरूपकृत त्रिविध परिच्छेदयुक्त माने गये हैं, चिदंशभूत नित्य जीव, अणुपरिमाण होनेके कारण, देशकृत और स्वरूपकृत द्विविध परिच्छेदोंसे युक्त माने गये हैं; ब्रह्मके इतरव्यावर्तक असाधारणगुणतया आनन्दांश त्रिविध परिच्छेदरहित माने गये हैं (द्र. : सुबो.२।६।१).

फलतः त्रिविध परिच्छेदयुक्त सदंश जड़ रूपोंका प्रत्यायन

द्विविध परिच्छेदयुक्त जीवचेतनामें रहते प्रत्ययोंद्वारा होता है; परन्तु त्रिविधपरिच्छेदरहित भगवान्में रहे ज्ञानमें ये ही प्रत्यय त्रिविध परिच्छेदरहित भी हो सकते हैं. अतएव परिचायक चित्रके अनुरूप प्रत्याय्य वस्तु व्यक्ति या तथ्य के किसी एक देशमें या किसी एक कालमें अथवा किसी एक स्वरूपेण विद्यमान न रहनेपर भी अन्यत्र अन्यदा या अन्यथा उनकी विद्यमानतामें कोई विसंगति नहीं है. श्रीशङ्कराचार्यकी यह प्रसिद्ध युक्ति है कि मच्छरोंको भगानेको गोपालकोंकी कुटीरोंमें नीमके पत्तोंको जलाकर धुंआ भर ली जाती है. इन कुटीरोंका द्वार खोलते ही धुंआ तो निकलता है; परन्तु तद्व्यापकतया अनुमेय या प्रत्याय्य अग्नि वहां उपलब्ध नहीं होता. एतावता धूमको अग्निकी शेषवत् अनुमितिके हेतुतया कोई भी अस्वीकार तो करना नहीं चाहेगा! ठीक इसी तरह कॅमेरासे खींचे गये चित्रका विषय कोई अल्पकालिक व्यक्ति वस्तु या तथ्य हो सकते हैं; एतावता दीर्घकालिक चित्रको सर्वथा अप्रत्यायक या असद्वस्तुप्रत्यायक तो माना नहीं जा सकता है. शेषवद्हेतुकी तरह ऐसा चित्र भी शेषवत्प्रत्यायक तो हो ही सकता है. यही बात रूपकालातिशायी या रूपदेशातिशायी नामोंके बारेमें भी स्वीकारनेमें क्या आपत्ति उठ सकती है!

यथार्थ व्यक्ति वस्तु या तथ्य से सर्वथा अविसदृश चित्रोंमें, हाथोंसे चित्रित या सम्प्रति कम्प्युटरद्वारा संयोजित, आकृति मिथ्या हो सकती है; परन्तु आकृतिघटक अङ्गोपाङ्ग तो देशान्तरमें कालान्तरमें या वस्त्वन्तरतया विद्यमान हो ही सकते हैं. जैसे नाटकके किसी चरित्र दृश्य या घटना की अनुभूतिको अज्ञान संशय भ्रम स्मरण प्रत्यभिज्ञा या निश्चय रूप ज्ञानके प्रकारोंके अन्तर्गत रसशास्त्रकार स्वीकारते नहीं हैं. अलबत्ता उन्हें आहार्यबुद्धिके रूपमें अवश्य स्वीकारा जा सकता है. ठीक इसी तरह इन ऐसे चित्रोंमें भी आहार्य सत्ताकी स्वीकृति मान लेनी चाहिये. शास्त्रीय उपासनाओंका भी थोड़ा-बहुत ऐसा ही तो स्वरूप होता है. इसी तरह

“‘एषो वन्ध्यासुतो याति’’ वचन, या वंचकजनोक्त—‘‘सुहृदोऽहम्’’ वचन; अथवा ‘‘वह्निना सिञ्चति’’जैसे वचन को सुननेपर भी, यदि वे परप्रतारणार्थ प्रयुक्त होते हों तब तो स्वयं वक्ताका आशय ही भ्रान्ति पैदा करनेका होनेसे शब्दराशिमें प्रमाणता ही स्थगित हो जाती है, अन्यथा निर्भ्रान्त श्रोताको वक्तृबुद्धिवृत्ति ‘वन्ध्यासुत’ ‘सुहृत्ता’ या ‘वह्निकरणक सेचन’ की बौद्धिकसत्ताका भान तो हो ही सकता है. बुद्धि स्वयं सती है अतः तदुपादानिका ‘वन्ध्यासुत’-आकारिका वृत्ति असती कैसे हो पायेगी? अतएव महाप्रभु कहते हैं— ‘‘वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्...-रूपलीलावत् नामलीलायाः विभेदानां वक्तव्यत्वात्’’ , ‘‘तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं यतः सा सरस्वती सर्वतोमुखी’’ अथवा ‘‘शब्दानामर्थे विचार्यमाणे ब्रह्मैव सर्वं भवति’’ (त.दी.नि.१।९, २।१७३ और पत्रावलम्बन).

जैसे एक व्यक्ति वस्तु या तथ्य के अनेकविध चित्र हो सकते हैं; और अनेक व्यक्ति वस्तु या तथ्यों का कोई एक चित्र भी हो सकता है. ठीक ऐसे ही एक रूप/कर्म के अनेक नाम हो सकते हैं; और अनेक रूपों/कर्मो का एक नाम भी हो सकता है. स्वयं एकत्व संख्या ही जब केवल वस्तुधर्म न होकर द्रष्टा/कर्ता/वक्ता की दृष्टि/क्रिया/विवक्षा की अपेक्षाओंसे प्रयुक्त होती है, तब द्वित्वादि संख्याओंकी चर्चा तो स्वतो-अनावश्यक सिद्ध हो जाती है. अतः जाति आकृति व्यक्ति एवं संज्ञा रूप चतुर्विध अर्थोंको पदोंसे अभिधेय माननेके बजाय वाल्लभ वेदान्त व्यक्ति और संज्ञा में ही पदशक्ति स्वीकार लेता है.

जहां एक ‘घट’पदसे सभी घट व्यक्तिओंकी विवक्षा होती है वहां नामगत एकत्व तथा घटगत अनेकत्व से निर्वाह शक्य हो जाता है.

१.द्रव्यता=‘‘अयं मृद्विकारः’’.
२.गुणवत्ता=‘‘अयं शुक्लः’’.

३.क्रियावत्ता=''अयं गच्छति''.

४.सामान्यवत्ता=''इमे सर्वे घटाः''.

५.तद्व्यक्तिता=''एषएव''.

६.सम्बन्धवत्ता=''देवदत्तस्य घटः'' या ''घटस्य शुक्लता'' आदि.

७.संज्ञा='' 'घटः'इति द्रव्यनाम''.

८.दैशिकपरिच्छिन्नता=''इह घटो नास्ति''

९.कालिकपरिच्छिन्नता=''इदानीं तदानीं वा घटो नास्ति वा नासीद् वा भविष्यति वा''.

१०.स्वरूपकृतपरिच्छिन्नता= ''घटः पटो न भवति''.

ऐसे जहां पुरोवस्थित सत्के बारेमें द्रव्यता आदिमेंसे किसी तरहके विधानकी विवक्षा होती है, वहां सर्वत्र कहीं रूपगत तो कहीं नामगत, सदंशता सदुपादानकता या सत्ता का अपलाप शक्य नहीं है. क्योंकि चिदात्मक प्रत्ययोंके आलम्बन देश-कालवर्ती हों या न हों ये प्रत्यय चिदंशरूप जीववृत्ति तो होते ही हैं, अतः तदुपादानकतया सत्त्वप्रतीतिमें कोई बाधा नहीं आती.

अतएव विप्रलिप्साप्रयुक्त न होनेपर ''शशशृङ्गोऽयम्''वाक्य भी वक्तृविवक्षाजन्य बुद्धिकी एक वृत्ति है. इसे 'विकल्पवृत्ति' भी कहते हैं. यह बुद्धिवृत्ति नामात्मिका होती है अतः सदुपादानक होनेसे 'शशशृंग'की सत्ताका बोध भी हो ही सकता है, शशशृंगके बाह्य देशकालमें अविद्यमान होनेपर भी. अतः शब्दोच्चारणद्वारा प्रतीयमान सत्ता तथा बाह्य असत्ता दोनों ही उपपन्न हो जाते हैं.

इन्द्रियग्राह्य गुणवान् द्रव्योंका ज्ञान; या उन द्रव्योंके बारेमें कायिक वाचिक या मानसिक व्यापार, केवल प्रत्यक्षज्ञानकी परिधिमें अवस्थित विषयोंमें ही पर्यवसित नहीं हो जाता. अनुमिति-शाब्दादि परोक्ष ज्ञानके कारण भी त्रिविध व्यापार शक्य होते ही हैं.

अतएव समीपतरवाचक 'एतद्', या संनिकृष्टवाचक 'इदम्', अथवा विप्रकृष्टवाचक 'अदस्' सदृश सर्वनाम पदोंसे प्रत्यक्षमात्रग्राह्य द्रव्यों या पदार्थों का 'रूप' पदसे परामर्श होता है. इसी तरह 'तत्' सर्वनाम पदसे भी प्रत्यक्ष-परोक्ष उभयविध ज्ञानसे ग्राह्य गुणोंवाले द्रव्य भी 'रूप' पदसे अभिधेय बनते हैं. जैसे प्रत्यक्ष या परोक्ष उभयविध ज्ञानसे ग्राह्य गुणोंवाले द्रव्योंका 'तत्' सर्वनामसे परामर्श हो सकता है, वैसे ही प्रत्यक्षसे सर्वथा अग्राह्य गुणोंवाले होनेपर भी, केवल अनुमिति या शाब्दादि ज्ञानोंसे ही ग्राह्य गुणोंवाले होनेके कारण, कुछ पदार्थ अतिपरोक्ष द्रव्यतया भी हमारे मानसिक वाचिक या कायिक व्यापारोंके विषय बनते देखे जाते हैं. अतएव सांख्यमतमें प्रकृति-पुरुषादि द्रव्योंका, तो न्याय-वैशेषिकमतमें परमाणु ईश्वर आदि द्रव्योंका, ऐसे ही विभिन्न मतोंमें विभिन्न द्रव्योंका भी, परोक्षवाचक 'तत्' पदसे परामर्श तो होता ही है. अतएव जब निरुक्तकार—"'अदः' इति सत्त्वानाम् उपदेशो, 'गौः' 'अश्वः' 'पुरुषो' 'हस्ती' इति" (निरु.१।१।१) कहते हैं तो इस 'अदस्'को 'तत्'का भी उपलक्षण समझ लेना चाहिये. द्रव्य केवल 'अदस्' पदसे ही परामृष्ट पदार्थ नहीं होता; अपितु 'तत्' पदसे भी परामृष्ट हो सकता है. यह 'तत्' पद भी केवल प्रत्यक्षग्राह्य पदार्थका ही परोक्षपरामर्श करता हो ऐसा भी नहीं; अपितु सर्वथा अप्रत्यक्ष पदार्थका भी अतिपरोक्षवृत्तिसे भी परामर्श कर ही सकता है. न केवल इतना ही अपितु ऐसे सर्वथा अप्रत्यक्ष पदार्थोंके भी बौद्धिक संनिकर्षवशात् "इयं प्रकृतिः" "अयं परमाणुः" भी कहा जाता है.

न केवल प्रत्यक्ष प्रमाणसे सर्वथा अग्राह्य अपितु परोक्ष प्रमाणोंसे भी सर्वथा अग्राह्य ऐसे असत्पदार्थ शशशृंग अथवा वन्ध्यापुत्र का भी शब्दकी विकल्पवृत्तिसे [द्र."शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" पातं.यो.सू.१।११] परामर्श शक्य होता है. अतएव "अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" (श्लो.वा.सू.१।१।२।६)

की शक्यताके कारण, कुछ चिन्तक ऐसा मानते हैं कि अतिपरोक्षवृत्तिद्वारा परामृष्ट पदार्थ ईश्वर या आत्मा आदि भी 'वन्ध्यापुत्र'की तरह स्वतोव्याहत पदार्थ न होनेपर भी असिद्ध या अपदार्थ तो होते ही हैं.

यूरोपमें लॉजिकल पॉज़िटिविस्ट दार्शनिकोंका भी ऐसा ही कुछ अभिप्राय था कि उद्देश्यविधेयभावसे घटित जिस वाक्यका अर्थ सर्वथा साक्षात्कारानर्ह हो ऐसे वाक्यको अर्थहीन मान लेना चाहिये. इस विषयमें लॉजिकल पॉज़िटिविस्टोंकी आलोचना करते हुवे बर्ट्रेन्ड रसेल एक तर्क देते हैं वह मननीय है: "पृथ्वीपर पूर्वकालमें कभी जीव नहीं रहे होंगे" इस विधानको सार्थक बनानेकेलिये यदि किसी साक्षात्कारी द्रष्टाको स्वीकारते हैं, तो विधान बाधितार्थ सिद्ध होगा. और नहीं स्वीकारते तो, साक्षात्कारानर्ह होनेसे, निरर्थक सिद्ध हो जायेगा! (द्र.लॉजिक एंड नॉलेज: लॉजिकल पॉज़िटिविज़म्) क्योंकि इस विधानको निरर्थक माननेवाले लॉजिकल पॉज़िटिविस्टस् यदि इस विधानके अर्थको समझकर इसे निरर्थक सिद्ध करते हैं तो वदतोव्याघात होगा; और बिना अर्थ समझे तो निरर्थक सिद्ध कर पाना भी कठिन होगा. अतः ऐसे विधानोंकों निरर्थक सिद्ध करनेकी प्रक्रिया ही इन्हें सार्थक सिद्ध कर देती है!

प्रकृत प्रसङ्गमें, कुछ चिन्तक ऐसा सोचते हैं कि 'रूप' पदाभिधेय जाति आकृति या व्यक्ति आदि, सारेके सारे पदार्थ, कभी सत्त्वावगाही पदोंसे परामृष्ट होते हैं तो कभी सत्त्वानवगाही पदोंसे भी परामृष्ट हो सकते हैं. अन्यथा 'आकाशकुसुम' शब्दका प्रयोग ही अशक्य हो जायेगा (द्र. पाणि.सू. काशिका-न्यास. २।३।४६). अतएव 'सत्त्व' पदकी व्युत्पत्ति भी सत्तार्थक "'अस्'भुवि" धातुसे निष्पन्न मानी गयी है "अस्तीति=सत्". इसी तरह "'षद्लृ'विशरणगत्यवसादनेषु" धातुसे भी "सीदती=अन्वेति लिङ्गसंख्यादिकम् अस्मिन् इति सत्=द्रव्यम्" अर्थमें भावार्थक 'त्व'प्रत्यय जोड़नेपर भी 'सत्त्व' शब्द

सिद्ध हुवा माना जाता है(द्र.निरु.नैघ.का.१ / 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' की ऋज्वर्था).

किसी भी रूपमें—लिङ्ग सङ्ख्या आदि जिसके साथ जुड़ने जा रहे हों वह द्रव्य स्वयं ही बाह्य देश-कालमें या आन्तर प्रत्ययात्मना विद्यमान न हो तो विवक्षित अर्थको असत् ही मानना पड़ेगा. उदाहरणतया वञ्चनार्थ या नैरर्थक्यनिदर्शनार्थ भी किसीके मुखसे ''एष वन्ध्यासुतो याति'' जैसे वचनोंका उच्चारण सुननेपर हमें वक्तृबुद्धिनिष्ठ वाच्यार्थका बोध तो होता है परन्तु वाक्यार्थतया बाह्य तथ्य कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता. महाभाष्यकार भी, अतएव, ''सतोऽपि अविवक्षा भवति. तद्यथा—'अलोमिका एडका', 'अनुदरा कन्या' इति. असतश्च विवक्षा भवति. तद्यथा—'समुद्रः कुण्डिका', 'विन्ध्यो वर्धितकम्' इति''(पा.म.भा.२।३।५०) विधानद्वारा पदोंसे कभी सत्त्वाविवक्षा तो कभी असत्त्वविवक्षा भी शक्य मानते हैं. यह बाह्य देश-काल-गत सत्त्व या असत्त्व के सन्दर्भमें स्वीकारना चाहिये.

::शाब्दानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति की तुलना::

यह दोष केवल शाब्दबोधमें ही होता हो ऐसा नहीं, प्रत्यक्ष अनुभूतिमें भी विद्यमान बाह्य वस्तुकी सत्ताका कभी अज्ञान तो कभी बाह्य देश-कालमें अविद्यमान सत्ताका भान या अन्यथाज्ञान भी होता ही है. अन्यथाज्ञान होनेपर हमारी भ्रान्तिका विषय स्वसम्बद्धतया प्रतीयमान देश-कालमें कहीं-कभी विद्यमान होता है तो कहीं-कभी नहीं भी. एतावता उत्सर्गतः सकल प्रत्यक्ष अनुभूतियोंकी स्वविषयसत्त्वबोधकता जो प्रतीत होती है, उसका अपलाप करके अनुभूतिमात्रको निरालम्बन मान लेनेकी धांधल तो, कितने भी जटिल तर्कद्वारा प्रस्तुत क्यों न की जाये, अनुभूतिको नहीं तो तत्प्रसूत तर्कको सालम्बन माननेकी अपराधस्वीकृति बन जाती है! यदि अनुभूतिमात्र निरालम्बन हों तो तत्प्रसूत तर्क भी निरालम्बन

ही होने चाहिंये, ऐसे कि जिनसे कुछ साधित या बाधित न हो पाये. यदि अनुभूतिसे जनमनेवाले तर्कोंसे कुछ साधित या बाधित होता हो तो उस स्वयं तर्कोंको जनम देनेवाली अनुभूतियां भी क्यों सालम्बनतया साधिका या बाधिका नहीं हो सकती?

बौद्ध विद्वान् श्रीनागार्जुनकी प्रसिद्ध विग्रहव्यावर्तनी—"यदि काचन प्रतिज्ञा स्यान्मे ततएव मे भवेद् दोषः, नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः. यदि किञ्चिदुपलभेयं प्रवर्तेयं निवर्तेयं वा, प्रत्यक्षादिभिरर्थैः तदभावान्मेऽनुपालम्भः" इस वैतण्डिकयुक्तिका जयपराजयके प्रयोजनवश की जाती चर्चामें तो महत्त्व हो सकता है; परन्तु तत्त्वनिर्णयार्थ की जाती चर्चामें विशेष कोई महत्त्व समझमें नहीं आता!

यहां यह अवधेय है कि शाङ्कर वेदान्तको अभिप्रेत सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षवाद सामान्यज्ञानके स्तरपर वाल्लभ वेदान्तको भी अभिमत है ही; परन्तु विशेषज्ञानके स्तरपर नियततया नहीं.

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार विशेषज्ञानके स्तरपर बुद्धिकी विभिन्न अवस्थाके अनुसार सद् या असद् विकल्पोंका ग्रहण होता है: यदि सात्त्विक अवस्था हो तो उसके अनुरूप सत्के सदात्मकतया आविर्भूत विकल्पोंके ही बारेमें बुद्धि यथार्थ निश्चयाकार ग्रहण कर लेती है. यदि राजस अवस्था हो तो उसके अनुरूप सत्में आविर्भूततया सदात्मक विकल्पोंकी तरह अनाविर्भूततया असदात्मक विकल्पोंके बारेमें भी बुद्धि संशयाकार ग्रहण कर लेती है. इसी तरह यदि तामस अवस्था हो तो उसके अनुरूप सत्में सदात्मकतया सर्वथा अनाविर्भूत या तिरोहित विकल्पोंके बारेमें भ्रमाकार भी ग्रहण कर सकती है.

बुद्धिके संशयाकारग्रस्त होनेपर उसका विषय स्याद्वादानुकारी अनेकान्त— "स्यादस्ति स्यान्नास्ति"—रूप बन जाता हो, ऐसा तो मान्य नहीं; तब बुद्धिके भ्रमाकारग्रस्त होनेपर बुद्धिविषय अकस्मात् ही सदसत्त्वेन अनिर्वचनीय क्यों बन जाता है! शाङ्कर वेदान्तमें

ऐसा क्यों मान लिया गया है? भ्रमज्ञानको स्वानुरूप विषयावलम्बन प्रदान करनेकेलिये ऐसा करना आवश्यक माना जाता हो तो संशयाकारक ज्ञानको भी तदनुरूप आलम्बन प्रदान क्यों नहीं किया जाता! अतः भ्रमाकारक ज्ञानको भी अनिर्वचनीयविषयालम्बी स्वीकारना सर्वथा अनावश्यक ही है. प्रमेयके अनुसार प्रमा प्रकट होती है अज्ञान संशय या भ्रान्ति नहीं. इसी तरह प्रमाके ही अनुसार प्रमेय स्वीकारा जा सकता है अज्ञान संशय या भ्रान्ति के अनुसार नहीं. शाङ्कर दर्शन अज्ञान भ्रान्ति और प्रमा के आलम्बनीभूत विषय तो स्वीकार लेता है परन्तु संशयालम्बनीभूत विषय नहीं स्वीकारता यह एक महती दार्शनिक असमञ्जसता है!

इसके अलावा शाङ्कर वेदान्तमें अज्ञानावरणका द्वैविध्य स्वीकारा गया है:—

१.असत्त्वापादक
२.अभानापादक

इनमें असत्त्वापादक अज्ञानसे आवृत विषय-वस्तु या आवृतत्वधर्म स्वयं असत् नहीं बन जाते हैं. असत्त्वापादिका अविद्या व्यक्तिविशेषकी असत्ताका नहीं परन्तु देशविशेष या कालविशेष में असत्तया केवल प्रतीतिका ही हेतु बनती है. ऐसी स्थितिमें व्यर्थ ही इसी अज्ञानकी विक्षेपशक्तिका ऐसा असाधारण माहात्म्य क्यों स्वीकार लिया गया है कि इसका आलम्बन सदसत्त्वेन अनिर्वचनीय विषय होता है! असत्त्वापादक अज्ञानसे आवृत वस्तुकी तरह ही देशान्तर और/अथवा कालान्तर में विद्यमान होनेके कारण प्रस्तुत देशकालमें प्रतीत न होने लायक सद्वस्तु भी प्रस्तुत देश-कालमें केवल आरोपित अर्थात् विक्षिप्त होनेके कारण प्रतीत होती है, ऐसा क्यों नहीं मान लिया जाता? यदि भ्रमाकारक ज्ञानको निरालम्बन न रहने देनेका प्रयोजन हो तो संशयाकारक ज्ञानको भी आलम्बनदान करना चाहिये.

भ्रमज्ञानविषयीभूत वस्तुकी सदसदनिर्वचनीयता स्वयं भ्रमात्मिका

प्रतीतिके द्वारा तो समर्पित होती नहीं है. यह सदसदनिर्वचनीयता तो भ्रमात्मिका प्रतीति तथा प्रमात्मक बाधज्ञान द्वारा इतरेतरसापेक्षतया उभयार्पित स्वीकारी गयी है. स्पष्ट है कि भ्रमात्मिका प्रतीति रज्जुके देश-कालमें सर्पकी सत्ताके प्रतिभासमें पर्यवसित होती है; जबकि बाधज्ञान तो ‘‘पुरोवस्थित रज्जुके देश-कालमें सर्प नहीं है’’ इतने से निरूपणद्वारा ही कृतकृत्य हो जाता है. ऐसी स्थितिमें भ्रान्ति और बाधज्ञान दोनोंका अनुव्यवसाय करनेवाली अनावश्यक तृतीय कोटितक अनुधावन किये बिना सदसदनिर्वचनीयता गृहीत ही नहीं हो पायेगी. कल्पनालाघववशात् भी केवल बाधज्ञानसे ही काम चल जाता हो तो व्यर्थ ही अनुव्यवसायकी तृतीय कोटितक दौड़ लगाना सर्वथा अनावश्यक ही लगता है. अतः जगन्मिथ्यात्वकी सिद्धिकेलिये अपेक्षित उदाहरणोपपत्ति खोजनेकी प्रक्रियाके विवश ही शुक्तिरजत-रज्जुसर्पादि सदृश विषयोंकी अनिर्वचनीयताकी कल्पना शाङ्कर वेदान्तको प्रस्तुत करनी पड़ी है. भ्रमात्मिका प्रतीति तो कभी यथार्थ नहीं होती परन्तु बाधज्ञान तो यथार्थ ही स्वीकारा गया है. वह बाधज्ञान तो ‘‘इह-इदानीं नास्ति’’ तथ्य ही सूचित करता है नकि ‘‘नासीद् नास्ति न भविष्यति वा’’. स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिक निषेधप्रतियोगिताके भानके बिना तो मिथ्यात्वसिद्धि मृगतृष्णायित ही रहती है.

इस विवादमें जो महत्त्वपूर्ण तथ्य विचार्य है, वह यह कि ‘स्वप्रतिपन्नोपाधि’ पदद्वारा विवक्षित [क]‘पुरोवस्थित देश’ अर्थ लेना कि [ख]‘पुरोवस्थित वस्तु’ ?

[क]पुरोवस्थित देशमें मिथ्या प्रतिभासित वस्तुकी भ्रान्तिकालमें तो अविद्यमानता स्वीकार्य हो सकती है परन्तु त्रैकालिक निषेधप्रतियोगिता तो सिद्ध नहीं हो पायेगी. अतः स्वीकारना पड़ेगा कि [ख]पुरोवस्थित वस्तुसे भिन्न होनेपर भी उसपर आरोपित होती वस्तुका भ्रान्तिमें पुरोवस्थित वस्तुके साथ तादात्म्यभावापन्नतया प्रतिभास होता है. फलतः त्रैकालिक निषेध भी उस आरोपित तादात्म्यभावका ही

हो रहा है. अर्थात् एक अधिष्ठानभूत और दूसरी आरोपित यों दो वस्तुओंके बीच प्रतिभासित तादात्म्यभावको ही त्रैकालिक निषेधका विषय मानना पड़ेगा. नकि दोमेंसे किसी एक वस्तुको. ऐसी स्थितिमें अनिर्वचनीयख्यातिवाद सिद्ध नहीं हो पाता.

अतएव वाल्लभ वेदान्त इस सन्दर्भमें कुछ भिन्न प्रक्रिया प्रस्तुत करना चाहता है. वह यह कि भ्रान्तिके अधिष्ठानसे जुड़े देशकालमें अविद्यमान रहनेपर भी, अधिष्ठानसदृश पूर्वानुभूत जो अधिष्ठानेतर वस्तु होती है, वह संस्कारात्मना तो बुद्धिमें विद्यमान रहती ही है. अतः अपनी तामसावस्थाके अनुरूप बुद्धि उसका सामान्यज्ञानविषयीभूत सदधिष्ठानपर सद्विकल्पतया आरोप लगाती है. अतः भ्रमज्ञानका विषयीभूत विकल्प अनिर्वचनीय नहीं होता किन्तु सामान्यज्ञानके विषयीभूत सद् अर्थसे केवल अन्य मात्र होता है. वह प्रस्तुत देशकालमें विद्यमानतया सिद्ध न भी हो पाये, एतावता अन्यत्र अन्यदा या बुद्धिवृत्तितया अन्तरमें भी विद्यमान नहीं हो सकता, ऐसा सिद्ध नहीं होता.

इस तरह प्रत्यक्षज्ञानकी प्रक्रियामें जो स्वीकारा गया है, तदनुरूप ही शाब्दबोधकी भी प्रथम कक्षामें स्वीकारना उचित है. अर्थात् पदोच्चारणके समय प्रथम सन्मात्रावबोधन एवं सन्मात्रावगाहन होता है. पश्चात् अज्ञान भ्रम या विप्रलिप्सा आदि शाब्दबोधजननकी क्लृप्त कारणसामग्रीसे इतर हेतु अपना अतिरिक्त प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं. अतः द्वितीय कक्षामें स्व-देशकालस्वरूप-प्रयुक्त परिच्छिन्नताओंके कारण; और भासमान विकल्पोंके बुद्धिगत देशकालातीत सत्त्व होनेपर भी, सन्दर्भोपात्त देश-कालमें तत्तद् विकल्पोंका असत्त्वप्रतिभास होने लग जाता है.

फिरभी भ्रान्तिप्रत्यक्षके उदाहरणमें भी ज्ञानविषयका जो औत्सर्गिक सत्त्व प्रतीत होता है, उसके सन्दर्भमें यह अवधेय है कि जैसे, सर्वप्रथम भ्रमाधिष्ठानविषयक सामान्यज्ञानरूप सन्मात्रावगाही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है और बादमें "निर्विशेषं न सामान्यं" न्यायके

अनुसार विकल्पाकाङ्क्षाके उद्बुद्ध होनेपर, अधिष्ठानसादृश्य तथा आरोप्यमाण विषयकी वासना आदि अधिष्ठानेतर कारणकलापोंके सहयोगको पाकर सत्त्वविकल्पोंका अवगाहन करनेवाली स्वयं बुद्धि ही स्वगत विकल्पप्रत्ययोंका अधिष्ठानपर आरोपात्मक अवगाहन करने लग जाती है(द्र. : श्रीपुरुषोत्तमजी तथा श्रीलालुभट्टजी विरचित ख्यातिवाद तथा ख्यातिविवेक). ठीक ऐसे ही उच्चारित प्रत्येक पदद्वारा प्राथमिक बोध, उत्सर्गतः तो, सन्मात्रावगाही ही होता है. बादमें, परन्तु अपवादवश, वक्ताकी असद्वस्तुके बारेमें बोधजननकी विवक्षासे प्रयुक्त उच्चारणका प्रत्यभिज्ञान होनेपर पदभास्य सत्ताके भासके साथ-साथ तत्तद् असद् विकल्प प्रत्ययोंका आरोप या उनकी आहार्यबुद्धि भी होने लग जाती है.

अतः अतिपरोक्षवृत्तिवाले पदोंद्वारा द्वितीय विशेषज्ञानके स्तरपर स्ववाच्यार्थ वस्तुमें वृत्तिमत् सत्त्वका परामर्श हो रहा हो, या वक्तृविवक्षानिष्ठ सत्त्वका, या विवक्षित असत्त्वका ही परामर्श क्यों न हो रहा हो, प्रत्येक अवस्थामें उच्चारित पद प्राथमिक सामान्यज्ञानके स्तरपर तो स्ववाच्य पदार्थके सत्त्वका ही बोधक होता है.

एकत्वसङ्ख्याविशिष्ट उद्देश्यके बारेमें भी द्वित्वविवक्षा या बहुत्वविवक्षा के कारण द्विवचन या बहुवचन का प्रयोग-विधान क्या उचित नहीं माना जाता? एतावता वक्तृविवक्षाके वशीभूत औत्सर्गिकी वस्तुमर्यादा या पदव्यापारमर्यादा का विलोपन मान्य नहीं हो सकता. फिरभी वक्तृविवक्षित आपवादिक गुणधर्मोंका इन दो मर्यादाओंमेंसे किसी एक मर्यादापर आरोप तो लग ही सकता है; और उसका आहार्यज्ञान श्रोताको भी हो तो सकता ही है. उदाहरणतया, यदि दृष्टिमें असत्कार्यवादी आग्रह भरा न हो तो घट और उसकी समवायी कारण मृत्तिका के बीच प्रत्यक्षतया तो द्वित्व अनुभूत हो नहीं सकता, फिरभी द्वित्वविवक्षासे असत्कार्यवादियोंद्वारा प्रयुक्त विधानोंमें झलकते कार्य-कारणके द्वैतका प्रत्यय शुद्धाद्वैतवादियोंकेलिये भी बुद्धिगत तो होता ही है. अतएव

महाभाष्यकार पतञ्जलि—"'अस्तिः' भवन्तीपरः, प्रथमपुरुषो अप्रयुज्यमानोऽपि 'अस्ति' इति गम्यते इति" (पा.म.भा.२।३।४६) ऐसा सुस्पष्ट विधान करते हैं.

अतः चक्षुरादि इन्द्रियोंसे जन्य अनुभूति हो, या अनुमितिघटक प्रतिज्ञादि वाक्योंसे जन्य अनुभूति हो, अथवा प्रत्यक्षमात्रवृत्ति, या प्रत्यक्ष-परोक्षोभयवृत्ति अथवा अतिपरोक्षवृत्ति पदोंसे जन्य भी शाब्दानुभूति क्यों न हो, सभी तरहकी अनुभूति या स्मृति में यदि भ्रमरूपता आती है, तो प्रस्तुत विषय-वस्तुके देश-काल-स्वरूप-कृत परिच्छेदके कारण ही.

अतएव श्रीभर्तृहरि कहते हैं:—

सतामिन्द्रियसम्बन्धात्सैव सत्ता विशिष्यते।
भेदेन व्यवहारो हि वस्त्वन्तरनिबन्धनः॥
अस्तित्वं वस्तुमात्रस्य बुद्धया तु परिगृह्यते।
यः समासादनाद् भेदः स तत्र न विवक्षितः॥
(प्रदीप.३।३।१३३में उद्धृत).

भावार्थ: विद्यमान किसी वस्तुकी सामान्य सत्ता इन्द्रियोंके साथ उस वस्तुके सम्बन्ध जुड़नेपर कुछ असाधारण विशेषताओंको अपना लेती है. अतएव वस्तुसत्ताके बारेमें भेदघटित व्यवहार स्वकृत नहीं किन्तु परवस्तुकृत ही होता है. बुद्धिसे तो वस्तुमात्रका अस्तित्व परिगृहीत होता ही है फिरभी इन्द्रियोंसे कभी अस्तित्व या कभी अनस्तित्व जो गृहीत होता है वह बुद्धिविषयीभूत सत्ताकी विवक्षामें बाधक नहीं हो पाता.

अतएव इसी बातको सोदाहरण समझानेवाले महाभाष्यकारके अधोनिर्दिष्ट मूलवचन और भी उपकारक हो सकते हैं:—

अस्त्यर्थानां भवन्त्यर्थे सर्वा विभक्तयः शासितव्याः, 'कूपोऽस्ति'—'कूपो भविष्यति'—'कूपो भविता'—'कूपोऽभूत्'— 'कूप आसीत्'— 'कूपो बभूव' इति, कर्तुः विद्यमानत्वात्. कर्ता अत्र विद्यते. कथं पुनः ज्ञायते कर्ता अत्र विद्यते इति? कूपो अनेन दृष्टो नच अस्य कञ्चिद् अपायं पश्यति, स तु तत्र बुद्ध्या नित्यां सत्ताम् अध्यवस्यति—'कूपोऽत्रास्ति' इति... इह हि किञ्चिद् इन्द्रियकर्म किञ्चिद् बुद्धिकर्म. इन्द्रियकर्म समासादनं—बुद्धिकर्म व्यवसायः. एवं हि कश्चित् पाटलिपुत्रं जिगमिषुः आह—'योऽयम् अध्वा गन्तव्यः आपाटलिपुत्राद् एतस्मिन् कूपो भविष्यति'. अनद्यतने—'कूपो भविता' इति. समासाद्य—'कूपोऽस्ति' इति. समासाद्य अतिक्रम्य उषित्वा—'कूपोऽभूद्' इति... तद् यदा इन्द्रियकर्म तदा एता विभक्तयः. यदा हि बुद्धिकर्म तदा वर्तमाना भविष्यति क्षिप्रवचने (पा.म.भा.३।३।१-३३).

भावार्थ: 'अस्ति' अर्थवाले क्रियापदोंके साथ सत्ताके अर्थमें सभी विभक्तियोंका प्रयोग हो सकता है. "कुआ है", "कुआ होगा", "कुआ कल होगा", "कुआ था", "कुआ हुआ था"; या "पहले कभी कुआ हुवा था" ऐसे सभी प्रयोगोंमे 'होने' क्रियाके कर्ता कुएके विद्यमान होनेसे. कर्ताके विद्यमान होनेकी बात कैसे समझमें आ पायेगी? जिस व्यक्तिने एकबार कुआ देख लिया हो और उसे नष्ट होते न देखा हो तो उस व्यक्तिकी बुद्धि कुएकी नित्यसत्ता मान कर व्यापारित होती है कि कुएको जहां देखा था वहां वह होगा

> ही... इस उदाहरणमें कुछ काम इन्द्रियका होता है और कुछ बुद्धिका. इन्द्रियका काम विषयको ग्रहण करनेका होता है और बुद्धिका काम उसे समझनेका. जो व्यक्ति पाटलिपुत्र जाना चाहता हो वह ऐसा कुछ कह सकता है: पाटलिपुत्र जानेवाले मार्गमें एक कुआ होगा[मिलेगा], कल होगा[मिलेगा]. जब यह यात्री कुएतक पंहुच कर वहांसे आगे निकल पड़ता है तब यह भी कह सकता है: मार्गमें एक कुआ था... ये सारे उदाहरण कुआके इन्द्रियविषय होनेके उदाहरण हैं. बुद्धिविषय बननेपर तो सभी स्थितियोंमें ''कुआ है'' ऐसा ही निर्धारण होता है.

जिस देशमें या जिस कालमें जो वस्तु इन्द्रियगोचर न होती हो वहां उसकी इन्द्रियगोचरतया प्रतीति भ्रान्ति बन जाती है. इसी तरह जिस वस्तुका जैसा स्वरूप इन्द्रियगोचर न हो वैसे स्वरूपमें उस वस्तुकी इन्द्रियगोचरतया प्रतीति भ्रान्ति बन जाती है. यदि भगवान्‌का नृसिंहरूपेण अवतार न हुवा होता तो सिंहका धड़ मनुष्यके जैसा नहीं हो सकता और न मनुष्यके जैसे धड़पर कभी सिंहके जैसा मस्तक ही हो सकता है. अतः परस्पर स्वरूपकृत परिच्छेदवशात् नृसिंह भगवान्‌के प्रह्लादादिको हुवे प्रत्यक्षदर्शनको भी भ्रान्तिके प्रकारोंमें ही कोई परिगणित करना चाहेगा! वर्तमान कालमें भी सफेद बाघके जनम जानेकी प्रसिद्धिके पहले किसी बाघके सफेद दीखनेपर, उस दर्शनको कोई भी भ्रान्ति मान सकता था!

प्रत्यक्ष अनुभूति, अतः जैसे, न केवल निजसत्ताका अपितु अनुभूयमान विषयकी सत्ताका भी अवगाहन कराती है. ऐसे ही प्रत्येक पद—वह 'शशशृङ्ग' हो या 'वन्ध्यासुत'—उत्सर्गतः अपना

प्राथमिक व्यापार तो स्ववाच्यार्थके सत्त्वावगाहनद्वारा ही कराता है. वस्तुकी बाह्य देश काल या स्वरूप कृत परिच्छिन्नताके कारण प्रकट हुवे विरोधाभासवश, अपवादरूपेण, पर्यवसानवृत्तिद्वारा ही कोई पद स्ववाच्य अर्थके असत्त्वबोधमें भी फलित हो पाता है.

स्वाभाविकरूपेण यह 'सत्त्व' देशकृत अथवा कालकृत परिच्छेदवाला नहीं होता. क्योंकि यह तो वह ब्राह्मिक सत्त्व है कि जिसमें निरुक्तिको शक्य बनानेवाले स्वयं नाम-रूप-कर्म या देश-काल-स्वरूपके त्रिविध परिच्छेद प्रकट हुवे हैं.

::'ब्रह्मवाद'=पद-पदार्थ एवं वाक्य-वाक्यार्थ का सत्-तादात्म्यवाद::

वाक्यपदीयकार श्रीभर्तृहरिने जो बारह प्रकारके मतभेद पद-पदार्थके बारेमें तथा आठ प्रकारके मतभेद वाक्य-वाक्यार्थके बारेमें दिये हैं, उन सभी मतोंके परिप्रेक्ष्यमें महाप्रभुके मतको भी एकबार परख लेना उचित होगा :—

अपञ्चीकृतरूपं हि सूत्रमात्रं हरिः स्वयम्। सुषुम्णामार्गतो व्यक्तः शब्दब्रह्म प्रकाशते॥
पञ्चाशद्वर्णरूपश्च सूक्ष्मो नित्यो निरन्तरः। सर्वतोऽन्तोऽनन्तरूपो बहुरूपो स्वभेदतः॥
वर्णः पदं तथा वाक्यं तस्य नामत्रयं मतम्। द्वयं चाविकृतं लोके वेदे सर्वं स्वयं हरिः॥
वर्णाः पदानि सर्वाणि भगवद्वाचकत्वतः। सर्वार्थाण्येव सर्वत्र व्यवहृत्यै तथापि तु॥
शक्तिसङ्कोचतो लोके विशेषख्यापकानि वै। तत्र व्याकरणादीनां व्यस्थापकता मता॥
देशे-देशे तथाचारो भाषाभेदैरनेकधा। अनन्तमूर्तयो वर्णाः पदे ते नार्थवाचकाः॥
केवलाः कोशतो ज्ञेया वाचकाः पदतोऽथवा। पदं न वाचकं वाक्ये सादृश्यात्स्मारकं परम्॥
विशिष्टं वाक्यमेवात्र वाक्यार्थस्य च वाचकम्। पदान्तरप्रवेशेन विशिष्टे वाच्यवाचके॥
पटवद्वाक्यभेदश्च वाक्यार्थश्चापि भिद्यते। अवान्तराणां वाक्यानां स्मारकत्वं तथा परे॥
वाक्यमेकं हरिश्चैको वेदवाक्यार्थरूपधृक्। अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च॥
त्रयोऽपि वैदिका भिन्ना नानाधर्मयुतास्तथा। सादृश्येऽपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः॥
(त.दी.नि.२।१५०-१६०)

प्रकाशानुसारी भावार्थ :

काल कर्म स्वभाव माया और भगवान् का पञ्चीकृत रूप रूपप्रपञ्च है; परन्तु नामप्रपञ्चमें इनकी अपेक्षा नहीं रहती. जीवात्माके साथ क्रियाशक्तिके रूपमें जुड़नेकेलिये प्राण रूप धारण करनेवाला परमात्मा ही सुषुम्णाके मार्गसे नादात्मक शब्दब्रह्मके रूपमें अभिव्यक्त होता है(१५०).

नामसृष्टिमें इस शब्दब्रह्मके अनेक अंश — स्वर और व्यञ्जन आदिके भेदवशात् — निष्पन्न हो जाते हैं. वर्ण नित्य और व्यापक होते हैं. जहां वे अभिव्यक्त नहीं हो पाये ऐसे देशमें भी स्वाभाविक अनेक रूपोंमें विद्यमान तो रहते ही हैं. ब्रह्मके भीतर १.सत् २.चित् और ३.आनन्द के भेदकी तरह शब्दब्रह्मके भीतर भी १.वर्ण २.पद और ३.वाक्य के भेद समझने चाहिंये. वर्ण और पद नित्य ही माने गये हैं. वाक्य, जबकि, लौकिक होनेपर अनित्य होते हैं परन्तु वैदिक वाक्य नित्य होते हैं; क्योंकि भगवान् स्वयं ही इस रूपमें प्रकट हुवे हैं. कुछ चिन्तकोंके अनुसार अर्थवान् केवल पद ही होते हैं, वर्ण या वाक्य नहीं — अन्य चिन्तकोंके अनुसार वाक्य भी अर्थवान् होते ही हैं. अपने मतमें तो वर्ण भी अर्थवान् ही माने गये हैं; क्योंकि सारे वाच्यार्थ रूपोंको धारण करनेवाले तो भगवान् ही हैं. मूलतः तो सर्वरूपधारक भगवान्के वाचक होनेसे सभी वर्ण-पद सर्वार्थवाचक ही होते हैं. जागतिक सर्वरूपोंकी ब्रह्मात्मकता, जैसे सदंश चिदंश और/अथवा आनन्दांश के निजशक्तिद्वारा आविर्भाव-तिरोभाववश परिगृहीत नहीं हो पाती है, वैसे ही, वर्ण-पदोंमें भी सर्वरूपवाचिका अखण्डशक्ति

सङ्कुचित=तिरोहित हो कर तत्तद् नियतार्थकी वाचिका खण्डशक्तिके रूपमें लोकव्यवहारार्थ आविर्भूत हो जाती है. यहां आकर व्याकरण कोश तथा देश-देशमें भिन्न-भिन्न भाषाभेदके जनक वाग्व्यवहार की उपयोगिता सामने आती है(१५१-१५४).

गौण-मुख्य स्वरूपके भेदवशात् पदोंमें गौणभावापन्न वर्णोंकी और इसी तरह वाक्योंमें गौणभावापन्न पदोंकी अर्थवाचकता तिरोहित हो जाती है. वाक्यावयवभूत पद, स्वतन्त्र पदोंकी तरह, स्वार्थके वाचक न होनेपर भी वाक्यार्थघटक स्वार्थके स्मारक तो बन ही सकते हैं. अन्यथा स्वार्थबोधनके बाद कृतकृत्य हो जानेवाले पदोंको पदान्तरोंकी आकाङ्क्षा ही न रहती हो तो पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थका बोध असम्भव हो जानेके कारण उनके द्वारा वाक्यार्थबोधजननरूप व्यापार भी शक्य नहीं रह पायेगा. आकाङ्क्षा आदि अङ्ग भी वाक्योंके ही अङ्ग होते हैं—पदोंसे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं होता, यदि वाक्यके अन्तर्गत वे प्रयुक्त न हुवे हों तो. इसके अलावा यह और विचारणीय है कि शब्दके प्रकृतिभागसे स्वार्थबोधन कर देनेके बाद, प्रत्ययभागसे जो कुछ अर्थ बोधित होता है, वह केवल पुनरुक्ति या केवल अर्थान्तर ही तो नहीं होता. दोनों ही स्थितिओंमें वाक्यार्थ असमञ्जस हो जायेगा. वैसे तो प्रकृतिभागसे ही स्वार्थबोधनद्वारा कृतकृत्य हो जानेवाले पदोंको प्रत्ययभागकी भी आकाङ्क्षा होनी तो नहीं चाहिये. इस आकाङ्क्षा और उसकी पूरकता के तथ्यको ध्यानमें लेनेसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्ययभागके सहित प्रकृतिभागवाले पद ही आकाङ्क्षा जगानेवाले होते होनेसे, वाक्योंमें

शुद्ध प्रकृतिभाग गौणतया केवल स्मारक ही रह जाता है; अतएव "प्रकृति-प्रत्यय अपना-अपना अर्थ एकसाथ ही प्रकट करते हैं परन्तु उसमें प्रत्ययांशके अर्थकी कुछ प्रधानता रहती है" इस नियमकी सङ्गति भी बैठ जाती है[यह नियम वाक्यार्थको ही लक्ष्यमें रख कर गढ़ा गया है कि वाक्यार्थबोधजननमें प्रत्ययांशसमर्पित अर्थ प्रधान होता है]. इससे सिद्ध होता है कि वाक्यार्थका वाचक वाक्य ही होता है, पद नहीं; परन्तु वाक्यावयवतया प्रयुक्त पद वाक्यार्थके अवयवोंके वाचक अवश्य हो सकते हैं(१५५-१५६).

इस तरह, अनन्त प्रकारके वाक्योंके अनन्त प्रकारके अर्थोंमें वाक्यशक्ति कैसे गृहीत हो पायेगी, ऐसी आशङ्काका समाधान भी असम्भव नहीं रह जाता है. उच्चार्यमाण वर्णोंकी अनेकविधता किसी एक पदके एकत्वकी और तन्मूलक नियत अर्थमें उस पदकी शक्तिके ग्रहणमें कभी बाधा नहीं डालती. इसी तरह ही अनेकविध पदोंके आवापोद्वापके कारण प्रतीत होते वाक्योंके अनन्त प्रकारोंके बावजूद, तत्तद् वाक्यार्थोंमें तत्तद् वाक्योंकी शक्ति भी गृहीत हो पाती है. विभिन्न वाक्योंके घटक तत्तत् पदोंद्वारा स्मारित तत्तत् पदार्थोंकी स्मृतिका सहयोग लेकर वाक्याङ्गभूत आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि नूतन-नूतन अर्थोंमें नूतन-नूतन वाक्योंकी शक्तियोंके ग्रहणार्थ सक्षम हो पाती हैं. वाक्यमें पद पदार्थके वाचक न होकर केवल स्मारक ही रह जाते हैं. इसी तरह महावाक्योंमें भी अवान्तरवाक्य स्व-स्ववाक्यार्थके वाचक न रह कर केवल स्मारक ही रह जाते हैं(१५७-१५८).

इस तरह विचारनेपर समझमें आ सकता है कि

> सम्पूर्ण वेद एक ऐसा महावाक्य है कि जिसका महावाक्यार्थ एकमात्र स्वयं भगवान् श्रीहरि हैं. वेदके जो अवान्तरवाक्य हैं, या जो पद और वर्ण हैं, वे सभी भगवान्के छोटे-बड़े अंशोंके वाचक यथायथ छोटे-बड़े अंशरूप शब्द हैं. इन्हें केवल तात्पर्यवृत्ति अथवा पर्यवसानवृत्ति द्वारा भगवद्वाचक मान लेनेकी भूल नहीं करनी चाहिये; परन्तु शक्तिसङ्कोचवशात् ही ये अन्यान्य अर्थोंके वाचक बनते हैं, वह भी इसीलिये कि स्वयं परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने ही अपनी सत्ता चेतना और आनन्दरूपता को लीलार्थ अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंमें सङ्कुचित किया है. वैदिक वाक्य, वैदिक पद और वैदिक वर्ण लौकिक वर्ण-पद-वाक्योंसे भिन्न ही होते हैं. वैदिक वर्ण-पद-वाक्योंसे लौकिक वर्ण-पद-वाक्योंकी श्रवण-गोचर या वाणीगोचर ध्वन्यात्मिका सदृशता तो सम्भव है परन्तु ऐक्य नहीं. (१६०).

एक ओर शुद्धाद्वैतमत और दूसरी ओर वर्ण-पद-वाक्योंमें लौकिक और वैदिक होनेके भेदकी स्वीकृति में एक विरोधाभास झलक रहा है. इस विरोधाभासका उपशमन ब्रह्मके स्वरूपनिरूपण तथा लीलानिरूपण की दो शैलियोंको हृद्गत करनेपर ही शक्य है. ब्रह्मकी सर्वकारणावस्था या सर्वशेषावस्था के निरूपणप्रसङ्गमें स्वरूपनिरूपणकी शैली अखण्डब्रह्मवादानुकारिणी रखी जाती है. ब्रह्मकी लीलावस्थाके निरूपणप्रसङ्गमें स्वरूपनिरूपणकी शैली सखण्डब्रह्मवादानुकारिणी रखी जाती है. इससे कुछ तारतम्यके साथ ब्रह्मकी लीला, जो स्वयं नाम-रूप-कर्मोंके ऐच्छिक भेदोंके प्राकट्यद्वारा सम्पन्न होती है, उसमें जैसे एकत्वात्यन्ताभावरूप भेद अस्वीकार्य है उसी तरह द्वित्वात्यन्ताभावरूप अभेद भी अस्वीकार्य ही माना गया है. अतः इसी ऐच्छिक द्वित्व या भेद

की विवक्षाके वश लौकिक और वैदिक वर्णोंका, पद-पदार्थोंका; तथा वाक्य-वाक्यार्थोंका भेद स्वीकारा जाता है.

महाप्रभुके इस मतका, सर्वांशमें तो नहीं परन्तु अधिकांशमें तो अवश्य ही, वाक्यपदीयकारद्वारा उद्धृत प्रथम मतके साथ सामञ्जस्य स्फुट ही झलक रहा रहा है. इस तथ्यके विमर्शार्थ वाक्यपदीयकी ये कारिकायें अवलोकनीय हैं:—

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥
प्रयोगदर्शनाभ्यासाद् आकारावग्रहस्तु यः।
न स शब्दस्य विषयः स हि यत्नान्तराश्रयः॥
(वा.प.२।११९-१२०)

इन दोमेंसे प्रथम श्लोकमें तो कोई विप्रतिपत्ति सोची नहीं जा सकती है. अन्तिममें आकारावग्रहको जो "प्रयोग और दर्शन के अभ्यासमूलक" कहा गया है उसमें, पूर्वनिरूपणानुसार, लीलार्थ अङ्गीकृत नाम रूप एवं कर्मों में ब्रह्मकी निज सत्ता चेतना तथा आनन्दरूपता के सङ्कोचकी पृष्ठभूमिको बिसराया न जाता हो तो कोई आपत्ति नहीं आती. इसी तरह आकारावग्रहको जो शब्दव्यापारका अविषय माना है, वह शक्तिसङ्कोचकी प्रक्रियाको स्वीकारनेवाले वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है. वैसे शब्दव्यापारेतररूप यत्नान्तरोंके सहयोगको अस्वीकृत करना भी आवश्यक नहीं लगता.

इसके बाद प्राप्त होती है वाक्यार्थविचारकी तुलना. इस सन्दर्भमें भी वाक्यपदीयकारद्वारा उद्धृत आठ मतोंका उद्देशविधिसे एक बार अवलोकन उपकारक होगा. वे आठ मत इस तरह हैं: १.आख्यातशब्दपक्ष २.सङ्घातपक्ष ३.तद्गतजातिपक्ष ४.अनवयवैक-शब्दपक्ष ५.अनेकपदक्रमपक्ष ६.बुद्धिकल्पितपदानुक्रमपक्ष ७.आद्यपदपक्ष तथा ८.साकाङ्क्षपदसमुदायपक्ष.

महाप्रभुकी प्रतिपादनशैलीको देखनेपर उनका मत स्पष्टतया यही लगता है कि आप अन्तिमपक्षके समर्थक हैं: साकाङ्क्षपदोंका समुदाय वाक्य होता है; तथा साकाङ्क्ष एवं समुदित पदोंसे घटित वाक्य एक नूतन अखण्ड वस्तु है, केवल पदोंका सङ्घातमात्र नहीं. अतएव कोशगत निराकाङ्क्ष 'घट' पदको स्वातन्त्र्येण स्वार्थबोधनमें सक्षम माना गया है; जबकि वाक्य—"घटम् आनय"—गत निराकाङ्क्ष 'घट' पदकी स्वार्थस्मारकता स्वीकार्य होनेपर भी स्वार्थवाचकता स्वीकार्य नहीं है.

::वेद=साध्यसिद्धोभयरूपमहावाक्य तथा श्रीहरि=महावाक्यार्थ::

इस विस्तृत विवेचनाको हृदयंगम करनेपर सम्पूर्ण वेद एक ऐसा महावाक्य है कि जिसका महावाक्यार्थ स्वयं ब्रह्म है—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"; और उस अखण्ड महावाक्यार्थभूत ब्रह्ममें नाम-रूप-कर्मके अर्थखण्ड या कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड यों द्विविध काण्डोंके शब्दखण्ड एकत्वात्यन्ताभावरूप भेदके साधक नहीं हो सकते. इसी तरह महावाक्यार्थभूत ब्रह्मकी स्वरूपगत अखण्डता लीलार्थ प्रकटित नाम-रूप-कर्मखण्डोंके द्वित्वात्यन्ताभावकी साधिका भी हो नहीं सकती. महावाक्यरूप वेदका एकत्व भी कर्मकाण्डादि काण्डभेदोंका विलोपक नहीं होता. मूलमें "मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् एतावान् सर्ववेदार्थो" [पूर्वोदाहृतभागवतवचन]का आशय इस तरह परिपुष्ट हो जाता है. अतएव महाप्रभु निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं: "वाक्यमेकं हरिश्चैको वेदवाक्यार्थरूपधृग् अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च"(त.दी.नि.२।१५९).

एतदर्थ देश-काल-स्वरूप-कृत त्रिविध परिच्छेदसे रहित ब्रह्मका स्वरूपगत अखण्डैक्य; और स्वयंके ही इस स्वरूपमें सर्वथा स्वयंके ही सर्वभवनसामर्थ्य तथा सत्यसङ्कल्प के वश प्रकट हुयी लीलामें अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके खण्ड यों विरुद्धधर्माश्रय ब्रह्मके निरूपक वादको 'ब्रह्मवाद' कहा जाता है. ब्रह्मकी सत्ता कालातीत सत्ता

है; जबकि ब्रह्मकी लीला कालमें प्रकट हुयी है. वैसे तो काल भी स्वयं ब्रह्ममें ही लीलार्थ प्रकट हुवा माना गया है.

मध्यकालीन यूरोपीय दार्शनिक बारुक स्पिनोज़ाने सर्वकालवर्तिता तथा कालातीतता यों दो रूपोंमें नित्यताका निरूपण किया है (द्र.दी एथिक्स १।१।८). बर्ट्रेन्ड रसेलने भी अपने प्रारम्भिक चिन्तनमें Being और Existent का प्रभेद दिखलाया था. वह भी देशकालातीत और देशकालवर्ती द्विविध सत्त्वोंकी ही स्वीकृति थी. महाप्रभु भी कुछ ऐसे ही अर्थोंमें ब्राह्मिक सत्त्व और जागतिक सत्त्व का तारतम्य प्रतिपादित करना चाहते हैं. काल कर्म स्वभाव द्रव्य और चेतना के विविध रूपोंमें स्वयं ब्रह्म ही प्रकट हुवा है, अतएव ब्रह्मकी सत्ताके ये परिच्छेदक नहीं हो सकते हैं— प्रत्युत ये स्वयं ब्रह्मोपादानक हैं. अतः इनकी सत्ता ब्रह्मसे परिच्छिन्न है.

बर्ट्रेन्ड रसेलने अपनी प्रौढावस्थामें Logical Atomism तार्किक परमाणुवादका सिद्धान्त प्रस्तुत कर अपनी पूर्वधारणाओंका छोड़ दिया था. बौद्ध दर्शनकी तरह ही इस नूतन तार्किक परमाणुवादके अनुसार द्रव्य (Matter)को मानस प्रत्ययोंका केवल सङ्घात मान लिया गया. तब प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि मानसिक प्रत्ययोंका स्वरूप क्या-कैसा है? बर्ट्रेन्ड रसेलने इसका समाधान मानस प्रत्ययको 'द्रव्यजन्य निर्विकल्प प्रत्यक्षानुभूतिओंका सङ्घात' कह कर खोजना चाहा! इसे सङ्क्षेपमें उनके प्रसिद्ध उपहासवचन— "What is matter? Never mind! What is mind? Does not matter!"— के आधारपर सुस्पष्टतया समझा जा सकता है. यह तो थोड़ा-बहुत बौद्धोंके जैसा अपोहवादी प्रत्युत्तर ही था कि द्रव्य अमानस होता है और मानस प्रत्यय अद्रव्यात्मक. महाप्रभुका उत्तर इस विषयमें जिज्ञास्य हो तो कहना पड़ेगा कि तत्त्वतः द्रव्य मनोमयात्मक भी हो सकता है और तत्त्वतः मानस प्रत्यय द्रव्यात्मक भी हो सकते हैं. रूप-नाम-कर्मतः, वैसे, दोनों अलग-अलग

ही प्रकट हुवे हैं. अतएव यदि पूछा जाये कि What are both? तो महाप्रभुका सुस्पष्ट उत्तर पुनः इस विषयमें यही मिलेगा कि द्रव्य मनोमयात्मक होता है और मन द्रव्यात्मक! क्योंकि औपनिषद सिद्धान्त तो यही है—“भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा, अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्” (भ.गी.७।४-५) अतः “सर्वं सर्वमयम्” (नृ.ता.उ.९). यों देखा जा सकता है कि स्वरूपतः अनिरुक्त तत्त्व [या बर्ट्रेन्ड रसेलके शब्दोंमें ‘Neither mental nor material being’] अर्थात् अमानस-अद्रव्यात्मक सत्त्व स्वेच्छया लीलार्थ अनेकधा मानस प्रत्ययात्मना एवं बाह्य द्रव्यात्मना विभक्त हुवा है.

इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियग्राह्य या पदग्राह्य तत्तद् रूपोंकी असत्ता स्वतःसिद्ध न होकर सर्वदा परतःसिद्ध ही होती है, देशकृत कालकृत अथवा स्वेतरवस्तुस्वरूपकृत. अतएव केवल ‘शश’ और केवल ‘शृङ्ग’; अथवा केवल ‘वन्ध्या’ और केवल ‘सुत’ पद कभी असत्त्वबोधक नहीं हो पाते. नियत असाहचर्यद्योतक पदोंका सङ्घात ही बाह्य असत्त्वका बोधक बन पाता है. प्रत्यक्षानुभूति भी कभी तो बाधित होती है, एतावता सकल प्रत्यक्ष अनुभूतियोंको भ्रान्ति माना नहीं जा सकता. ऐसे ही अतिपरोक्षवृत्तिवाले पदोंके भी वाच्य अर्थ केवल अतिपरोक्ष हैं एतावता उन्हें असत्त्वबोधक नहीं माना जा सकता है.

अतः इन्द्रियों अथवा पदों द्वारा समर्पित अर्थोंके साथ सत्ताप्रतिभासकी जो नियति प्रस्तुत होती है, उसके मूलमें रहे त्रिविध परिच्छेदसे रहित सद्द्रव्य अर्थात् ब्रह्म के अन्वेषणार्थ हमें प्रवृत्त करना ही महाप्रभुके इस ‘पत्रावलम्बन’ ग्रन्थके प्रणयनका प्रमुखतम प्रयोजन है.

::साध्यविधायक पूर्वकाण्ड—सिद्धाभिधायक उत्तरकाण्ड::

नाम रूप और कर्म की कालिकी सत्ता और इनके उपादानभूत

ब्रह्मकी कालातीत सत्ता के बीच सत्ताद्वैत, अर्थात् कोई एक ही सत्ता दो तरहसे अनुभूत होती है, ऐसी स्वीकृति महाप्रभुके ब्रह्मवादी शुद्धाद्वैतमतमें पर्यवसित हो जाती है. और यदि सत्ताका द्वैत, अर्थात् कालातीत सत्ताको पारमार्थिक और कालिकी सत्ताको व्यावहारिक/प्रातिभासिक स्वीकारते हैं तो ऐसी स्वीकृति श्रीशङ्कराचार्यके मायावादी केवलाद्वैतमतमें पर्यवसित हो जाती है. दोनों आचार्योंके मतोंमें कालातीत सत्ताके ‘‘एकमेवाद्वितीय’’ होनेमें कोई अन्तर नहीं हैं परन्तु कालिकी सत्ता पारमार्थिकी है या अपारमार्थिकी इस विषयमें मतभेदका सागर लहरा रहा है! कालातीत सत्ताके अद्वैतमें कालिकी सत्ताका द्वैत चाहे ऐच्छिक पारमार्थिक माना जाये या मायिक अपारमार्थिक कुछ न कुछ विरोधाभास तो प्रकट होता ही है. वाल्लभ वेदान्त इस विरोधाभासका परिहार ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रयतया प्रस्तुत करके देना चाहता है. शाङ्कर वेदान्त, जबकि, मायाको अघटितघटनापटीयसीके रूपमें प्रस्तुत करके देना चाहता है. वाल्लभ वेदान्तमें ‘माया’ नामक तत्त्व स्वीकार्य न हो ऐसा नहीं है, क्योंकि ‘‘रूपं-रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्, त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतवा’’ (ऋ.सं.३।३।२०३) ‘‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते. युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति (बृ.उ.२।५।१९) जैसी श्रुतिओंके आधारपर सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया तो मान्य है ही. वह ब्रह्मकी ही शक्ति होनेसे ब्रह्मस्वरूपान्तःपातिनी और तत्सङ्कल्पानुवर्तिनी है. इसी तरह शाङ्कर वेदान्तको ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयता सर्वथा अस्वीकार्य हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इतरवादियोंकी युक्तियोंके निराकरणार्थ तो स्वयं श्रीशङ्कराचार्य भी—‘‘तस्मात्तार्किक-चाटभट-राजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च... ‘तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके’ इत्यादि विरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यश्च’’ (बृ.उ.भा.२।१।२०) वचनमें ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय मानते ही हैं; परन्तु पारमार्थिक रूपमें तो ब्रह्मके सर्वथा निर्धर्मक होनेके

कारण ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय हो ही नहीं सकता है. अतः ब्रह्मका विरुद्धधर्माश्रय होना शाङ्कर सिद्धान्त न होकर प्रतिवादिमतके निराकरणार्थ एक युक्तिमात्र है. यहां आकर दोनों वेदान्तोंका पार्थक्य स्फुट हो जाता है.

ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेके सिद्धान्तकी स्वीकृतिके कारण, वाल्लभ वेदान्तमें, उत्तरकाण्डप्रतिपाद्य सिद्धब्रह्म और पूर्वकाण्डप्रतिपाद्य साध्यब्रह्म=कर्म के बीच कृदन्त आख्यात='गन्ता अस्ति' और तिङन्त आख्यात='गच्छति' जितना ही अन्तर सिद्ध होता है. यद्यपि विषयभेदमूलक पूवोत्तरमीमांसाका परस्पर पार्थक्य समझाते हुवे श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—"भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्. इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्"(ब्र.सू.भा.१।१।१). अर्थात् पूर्वमीमांसाका विषय धर्म तो 'भव्य' अर्थात् पुरुषकी कृतिसे पैदा होनेवाला तथा जिज्ञासाकालमें अविद्यमान होनेसे अनित्य साध्यवस्तु होता है; जबकि उत्तरमीमांसाका विषय ब्रह्म तो 'भूत' अर्थात् नित्य सिद्धवस्तु होनेसे पुरुषकी कृतिसे उसका कुछ लेना-देना नहीं है. महाप्रभु, परन्तु, "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्"(श्वे.उ.३।१४) वचनका अवलम्बन करके ब्रह्मकी ही तरह कर्मको भी आविर्भाव-तिरोभावशाली होनेपर भी नित्य ही स्वीकारते हैं:—

> विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्तिः उद्गतः तत् कर्म प्रकटं तावद् यावत् फलसमापनम्...यथा कालो रूपम् अक्षरस्य तथा कर्मापि; परम् एतावान् विशेषः—कालः स्वतएव प्रकटो अयन्तु पुरुषैः विधिनिषेधप्रकारेण प्रकटीक्रियते. अतः कालापेक्षया लोकानां हिताहितप्रदाने विशिष्यते. अयञ्च क्रियारूपो धर्मिणो धर्मे प्रवेशात्. कालवत् न स नित्यप्रकटः किन्तु फलदानपर्यन्तमेव.
>
> (त.दी.नि.२।११०).

भावार्थ : विधि-निषेधके भेदसे क्रियारूप शक्तिवाले भगवान्‌का जो रूप प्रकट होता है, उसे 'कर्म' कहा जाता है. कालकी तरह कर्म भी अक्षरब्रह्मका एक रूप है, दोनोंके बीच अन्तर यही है कि काल स्वतः प्रकट होता है जबकि कर्मको पुरुष अपने शास्त्रतः विहित अनिषिद्ध या निषिद्ध आचरणोंद्वारा प्रकट करता है. कालकी तुलनामें हिताहितके प्रदानमें कर्मकी अपनी कुछ विशेषता होती है. इस कर्मको 'क्रियारूप भगवान्' कहनेका अभिप्राय यही है कि धर्मके भीतर धर्मी प्रविष्ट हुवा है, यह सूचित करना है. दूसरा अन्तर यह है कि काल नित्य प्रकट होता है, जबकि कर्म केवल फलदान पर्यन्त ही प्रकट रहता है.

अतः वाल्लभ वेदान्तके अनुसार सिद्ध और साध्य के बीच कामचलाउ भेद तो अवश्य है परन्तु अमिट भेद नहीं होता है. जैसे बहती नदीके जल और उसके साथ जुड़े जलहृदके स्थिर जल के बीच कामचलाउ भेद तो होता है परन्तु दोनोंके बीच अमिट भेद नहीं हो सकता. इसी तरह पूर्वकाण्डमें अवस्थित न तो सिद्धवस्तुबोधक वचनोंके पदार्थोंको और न वाक्यार्थोंको ही अनभिप्रेत माननेकी कोई आवश्यकता है. अतएव उत्तरकाण्डमें भी अवस्थित न तो साध्यवस्तुबोधक वचनोंके पदार्थोंको और न वाक्यार्थोंको ही अनभिप्रेत माननेकी कोई आवश्यकता रह जाती है.

::कबन्धमीमांसा या राहुवेदान्त का द्वन्द्व और उसका समाधान::

अतः वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंको सर्वथा इतरेतरनिरपेक्ष स्वीकारनेवालोंके मतोंके एक ध्रुवके विपरीत पूर्वोत्तर मीमांसाओंके

जैमिनिसूत्र और बादरायणसूत्रों को भी पूर्वोत्तरभावसे निबद्ध एकग्रन्थ माननेवालोंका दूसरा ध्रुव उभरता है. श्रीरामानुजाचार्य वेदान्तसारमें कहते हैं:—

> यहां यह 'अथ' शब्द आनन्तर्यार्थक है, 'अतः' शब्दसे पूर्वमें प्रयुक्त होनेसे. आरम्भ होने जाती ब्रह्मजिज्ञासा वेदार्थविचारका एकदेश है. अतः वेद पढ़े हुवे पुरुषको कर्मके प्रतिपादनसे आरब्ध होते वेदोंके बारेमें कर्मविचार पहले करना चाहिये, अतः 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र कहा गया. अपने प्रकृति या विकृति रूपोंद्वारा कर्म धर्मार्थकामरूप पुरुषार्थोंका साधन बनता है... इस तरह वेद तो पुरुषार्थोंका उपदेश देनेवाला होनेसे; और सारे विहित कर्म पुरुषकी त्रैवर्गिक कामनाओंके पूरक होनेसे, केवल कर्म तो त्रिवर्गरूप फलके ही साधक होते हैं, ऐसा निश्चित होता है. वेदके एकदेशरूप वेदान्तभागमें केवल कर्मोंका फल अल्प होता है और ब्रह्मज्ञानका फल अनन्त एवं स्थिर होता है, ऐसा आपाततः देख कर... कुछ पुरुषोंको ब्रह्मजिज्ञासा पैदा हो जाती है... यही तो श्रुति भी कहती है कि ''परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिश्श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं, तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्'', 'ब्राह्मणः'=वेदाभ्यासरतः, 'कर्मचितान्'=कर्मोंसे सम्पादित, 'लोकान्'=क्षयिष्णु आराध्योंकी आराधनारूप कर्मसे सिद्ध होनेके कारण क्षयस्वभाववाले

लोकोंकी, 'परीक्ष्य'=कर्ममीमांसाद्वारा परीक्षा कर-के..." (वे.सा.१।१।१).

अतः, श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार, न केवल कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड ही अपितु कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा भी पूर्वोत्तरभावसे बंधी हुयी एकग्रन्थात्मिका सिद्ध होती हैं.

इस सन्दर्भमें मूलतः "ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वाणां मुण्डमुण्डं नाधीते वेदमाहुस्तमज्ञं शिरश्छित्त्वासौ कुरुते कबन्धम्" (शा.आ.१४।१) वचनानुसारी श्रीवेङ्कटनाथाचार्य वेदान्तदेशिकका प्रस्तुत श्लोक उल्लेखनीय हो जाता है :—

मीमांसायाः कबन्धं कतिचन जगृहु राहुकल्पं शिरोऽन्ये
किन्तैरन्तर्विरोधप्रमुषितमतिभिर्बाह्यकल्पैर्भ्रमद्भिः।
स्वाध्यायाध्यायकात्स्न्र्ये स्वविधिपरविधिप्रेरणा तावदास्तां
कृत्स्नापातप्रतीतौ किमिति कृतधियः कृत्स्नचिन्तां न कुर्युः॥
प्राधीतस्यैकरूपप्रयतननियमादेकरूपोपकाराद्
विद्यास्थानैक्यसिद्धेः क्रमनियतयुताकाङ्क्षयैकप्रबन्ध्यम्।
अध्यायादिष्विवावान्तरविषयफलाद्यन्यतात्राप्यभेत्त्री
तत्तुल्यः कर्तृभेदः कलिबलकलुषैः कल्पितोऽर्थे विरोधः॥
(अधि.सारा.उपो.१०-११).

अर्थात् "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"की अध्ययनविधि अथवा "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत"की अध्यापनविधि के कारण अधीत वेदकी शब्दराशि पूर्वोत्तरकाण्डोंमे विभक्त होनेपर भी वेदात्मना एक ग्रन्थ होती है कि नहीं? अधीत शब्दराशिके अर्थको समझनेकेलिये आवश्यक अङ्गभूत विद्या मीमांसा है कि नहीं? वेदके एकत्वकी तरह ही पूर्वोत्तरकाण्ड होनेके रूपमें एक नियत क्रम है कि नहीं?

यदि इन सभी प्रश्नोंका उत्तर 'हां'में ही देना पड़ता हो तो जैसे अध्यायभेदवश विषयभेद ग्रन्थभेदका नियामक नहीं हो पाता, ऐसे ही पूर्वोत्तरमीमांसाओंके सूत्रोंमें दिखलायी देता विषयभेद या मतभेद भी दोनों मीमांसाओंके सूत्रोंके भिन्न-भिन्न ग्रन्थ होनेका हेतु बन नहीं सकता.

अतः उपनिषदोंके अभिप्रायकी परवाह किये बिना, वेदके मन्त्र-ब्राह्मणोंके अभिप्रायके चिन्तनमें प्रवृत्त होनेवाले विचारकोंको 'कबन्धमीमांसक'; तथा मन्त्र-ब्राह्मणोंके अभिप्रायकी परवाह किये बिना, उपनिषदोंके अभिप्रायके चिन्तनमें प्रवृत्त होनेवाले विचारकोंको 'राहुवेदान्ती', इस श्लोकमें श्रीवेदान्तदेशिक कहना चाहते हैं!

इस सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्तके दृष्टिकोणको समझ लेना अब प्रासङ्गिक होगा. महाप्रभुका कहना है:—

> अपने-आपमेंसे रूपप्रपञ्च जो प्रकट किया, उसमें अपने अंशरूप दैवी जीव कहीं आसक्त ही न रह जायें, एतदर्थ उनकी रूपासक्तिको शिथिल करनेकेलिये ही श्रुत्यात्मक नामोंको भी परमात्माने अपने-आपमेंसे प्रकट किया (त.दी.नि.२।१८).

महाप्रभुके अनुसार सकल वेदोंकी समग्र शब्दराशि, न केवल एक अलौकिक ग्रन्थ है अपितु वह भगवान्का नामात्मक स्वरूप ही है. अतः श्रीवेदान्तदेशिकका उपालम्भ थोड़े-बहोत अंशोमें तो वाल्लभ वेदान्तको भी उपयुक्त ही लगता है. फिरभी महर्षि जैमिनिरचित सूत्रोंकी तथा महर्षि बादरायणरचित सूत्रोंकी मीमांसात्वेन एकशास्त्रता या एकवाक्यता मान्य होनेपर भी दोनों मीमांसासूत्रोंकी एकग्रन्थता वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है. पूर्वोत्तरकाण्डात्मना विभक्त श्रौतवाक्यार्थोमें उठते सन्देहोंके निराकरणार्थ विचारशास्त्र होनेके कारण ही दोनोंका समान अभिधान 'मीमांसा' प्रयुक्त होता

है. इनमें एकको 'पूर्वमीमांसा' और दूसरेको 'उत्तरमीमांसा' जो कहा जाता है, वह स्वकीय पूर्वोत्तरताकी किसी नियतिके कारण नहीं; प्रत्युत अपने-अपने विचार्यभागोंके पूर्वोत्तर काण्डात्मना अवस्थित होनेके कारण ही. अर्थात् ''पूर्व जो मीमांसा वह पूर्वमीमांसा'' और ''उत्तर जो मीमांसा वह उत्तरमीमांसा'' विग्रह सिद्धान्ताभिप्रेत नहीं है. सिद्धान्ताभिप्रेत विग्रह तो यही है: ''पूर्वकाण्डीय श्रुतिवचनोंकी मीमांसा=पूर्वमीमांसा'' और ''उत्तरकाण्डीय श्रुतिवचनोंकी मीमांसा=उत्तरमीमांसा''

अतएव महाप्रभु कहते हैं:—

> पुरुषार्थपर्यवसायी वेदः; पुरुषार्थाश्च चत्वारः. तत्र साक्षात् पुरुषार्थद्वयं: सुखं दुःखाभावश्चेति. तत्र सुखं 'स्वर्गा'दिपदेन उच्यते, दुःखाभावो 'मोक्ष'पदेन. तयोः साक्षाद् अङ्गं धर्मः, आत्मचिन्तनस्यापि धर्मत्वात्...अतएव न ज्ञानस्य पुरुषार्थेषु गणना. धर्मस्य च साधनम् अर्थः. अतः पश्वादिरर्थो यागसाधनम्. यागश्च धर्मः कामसाधनं; ज्ञानसहितो मोक्षसाधनञ्च. एवं साक्षात् परम्परया चत्वारः पुरुषार्था भवन्ति(त.दी.नि.प्र.२।-१६).
>
> भावार्थ: समग्रतया वेद पुरुषार्थके निरूपणार्थ प्रकट किया गया है. ये पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम और मोक्ष के भेदवशात् चार प्रकारके होते हैं. ये चारों ही सुख और दुःखाभाव रूप दो स्वतःपुरुषार्थोंके साधक होते हैं. सुख अमृतत्वरूप, शाश्वत आत्मसुखरूप या क्षयिष्णुलोकादिरूप भी होता है. दुःखाभाव मोक्षरूप होता है. इन दोनोंका साक्षाद् अङ्ग=साधन धर्म ही होता है; क्योंकि मोक्षसाधक आत्मचिन्तनको भी 'परमधर्म' कहा गया है. अतएव

> ज्ञानको अलगसे पुरुषार्थ नहीं कहा गया है. धर्मका साधन अर्थ होता है; अतएव पशु आदि अर्थोंको यागसाधन समझना चाहिये. याग कामसाधनरूप धर्म है; परन्तु ज्ञानसहित=निष्काम याग मोक्षसाधन भी बन जाता है. यों साक्षात् परम्परया चार पुरुषार्थ होते हैं.

इस स्पष्टीकरणको सुननेके बाद तो ऐकशास्त्र्यवादिओंको ग्रन्थभेदकी बात अवश्य अटपटी सी ही लगनी है. इसे, परन्तु, थोड़ी धीरजके साथ विचारना पड़ेगा: पौराणिक इतिवृत्तके आधारपर द्वापरान्तमें महर्षि बादरायण वेदव्यासने तथा उनके शिष्य महर्षि जैमिनिने वेद-वेदान्तके वचनोंमें उभरते संशयोंके निरसनार्थ पूर्वोत्तर मीमांसासूत्रोंका प्रणयन किया, यह तो पुराणप्रामाण्यवादी होनेके कारण रामानुज और वाल्लभ दोनों वेदान्तसम्प्रदायोंको स्वीकारना ही पड़ेगा (द्र.: त.दी.नि.२।२५-२७). अतः इससे पहले भी अर्थावबोधपर्यन्त वेद-वेदान्तरूप श्रौत शब्दराशिका अध्यापन या अध्ययन चलता नहीं था यह तो कहा नहीं जा सकता. अतः इस तथ्यपर ध्यान देनेसे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि पूर्वमीमांसा या उत्तरमीमांसा मेंसे किसी भी एक सूत्रग्रन्थको "स्वाध्यायोऽधेतव्यः" विधिद्वारा प्रयुक्त अर्थात् विध्याक्षिप्ततया तो स्वीकारा ही नहीं जा सकता है. ऐसी स्थितिमें समानविध्याक्षिप्त 'कृत्स्नापातप्रतीति'की कथा तो बहोत दूरकी ही लगती है. सूत्रप्रणयनसे पौर्वकालिकी दोनों सूत्रोंकी अनावश्यकता अर्थात् अन्यथासिद्धि ही विध्याक्षेपबलको हर लेती है. सूत्रोंके प्रकट होनेके बाद, सूत्रकारोंके प्रति असाधारण गौरवभावके वश ही, सूत्रानभिप्रेत स्वमनःकल्पित श्रुत्याशय तो आर्षशास्त्रोंके अनुगामिओंको मान्य नहीं हो पाता. एतावता इनका अध्ययन या अध्यापन भी विध्याक्षिप्त ही मानना युक्तियुक्त नहीं लगता.

इसके अलावा एक यह तथ्य भी विचारणीय ही है कि महर्षि जैमिनि तथा महर्षि वेदव्यास ने वेदार्थकी मीमांसाकेलिये इन उभयविध सूत्रोंका प्रणयन किसी शाखाविशेषगत वचनार्थोंकी मीमांसाके रूपमें नहीं किया है. अतः इस आधारपर सर्वशाखासाधारण श्रौत शब्दराशिके अध्ययनके विधायक—“स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” वचनमें ‘स्वाध्याय’ पदका अर्थ वेदकी स्वकीयशाखाके अध्ययनके रूपमें तो ले सकता है परन्तु अनधीत शाखीय वचनोंमें सन्देहोद्भवके अप्रासङ्गिक होनेसे इस वचनद्वारा सूत्राध्ययन कैसे आक्षिप्त हो सकता है? इस विरोधाभासको लक्ष्यमें रख कर यह देखना होगा कि भाट्टमतद्वारा मीमांसाका अध्ययन वेदकी उक्त स्वशाखाध्ययनकी विधिद्वारा आक्षिप्त स्वीकारा जाये, या प्राभाकरमतद्वारा मीमांसाका अध्ययन “उपनयीत...अध्यापयीत” इस अध्यापनकी विधिके वशात् अध्यापनांग जो अर्थावगतिपर्यन्त वेदाध्ययन होता है उस हेतुके कारण स्वीकारा जाये, या शाङ्करमतद्वारा वेदान्तसूत्रोंका अध्ययन भी वेदाध्ययनविधिद्वारा आक्षिप्त माना जाये; अथवा न अध्ययनविधिद्वारा आक्षिप्त और न अध्यापनविधिद्वारा ही प्रत्युत स्वशाखीय वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंकी अधीत शब्दराशिके निःसन्दिग्ध अर्थबोधार्थ रागप्राप्त ही पूर्वोत्तरमीमांसाओंका अध्ययन रामानुजमतद्वारा जो स्वीकारा गया उसे माना जाये, इनमेंसे कोई भी कल्प सुसङ्गत नहीं लगता है.

अतः सिद्ध हो जाता है कि इन तीनों-चारों प्रतिपादनशैलिओंमें जिस एक महत्त्वपूर्ण तथ्यकी उपेक्षा की गयी है, वह यही है कि इन मतोंके अनुसार वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंके अध्ययनाध्यापन “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” विधिमूलक स्वशाखीय होते हैं. पूर्वोत्तरमीमांसा-सूत्र, जबकि, किसी शाखाविशेषके वचनोंमें उभरते सन्देहोंके निरसनार्थ नहीं स्वीकारे गये हैं; अपितु सामान्यतया सभी शाखाओंसे अनेकविध वचनोंको चुन कर उन्हें अधिकरणाङ्गतया विषयवाक्य बनाया गया है. न केवल वाल्लभ वेदान्तको अपितु सभीको ही ऐसा मान्य

है. स्वकीय एक शाखाके पूर्वोत्तरकाण्डोंकी अधीत शब्दराशिके निःसन्दिग्ध अर्थावबोधकेलिये पूर्वमीमांसा और/अथवा उत्तरमीमांसा के सूत्रोंके अध्ययनको विध्याक्षिप्त या रागाक्षिप्त माना जाये इतनी सी बात तो कथञ्चित् समझमें आ जाती है. अनेक, परन्तु, जो अनधीत शाखाओंके वचनोंको इन मीमांसाओंमें विचारविषय बनाया गया है उन शब्दराशिओंके तो अध्ययन किये बिना भी यदि मीमांसाका अध्ययन विध्याक्षिप्ततया या रागाक्षिप्ततया प्राप्त हो जाता हो तो स्वकीय शाखाके भी अध्ययनकी आक्षेपलभ्य पूर्वनियति तो सिद्ध नहीं हो पायेगी—और वाचनिकी नियति तो स्वयं ही स्वीकारी नहीं गयी है. इस तरह मीमांसाध्ययनकी विध्याक्षिप्तता या रागाक्षिप्तता स्वीकारनेवालोंने स्वयं ही आक्षेपबलकी क्षीणता स्पष्ट कर दी है. वाल्लभ वेदान्त, अतएव, अर्थज्ञानको विध्याक्षिप्त या रागाक्षिप्त न मान कर ‘‘निष्कारणं ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’’ वचनद्वारा कण्ठोक्त अर्थात् साक्षाद् विहित ही होनेके कारण वाचनिकी नियतिका विषय ही मानता है. उक्त महर्षिओंद्वारा वेदार्थसन्देहवारक सूत्रोंके प्रणयनके बाद स्वमनःकल्पित हेतुओंके आधारपर अर्थावगतिका प्रयास अनुचित होनेसे अर्थज्ञानविध्याक्षिप्त इन सूत्रोंका अध्ययन स्वीकारा गया है.

अतएव ‘‘धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन करणात्मना इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति’’(द्र.: अभिनवदेशिक श्रीउत्तमूरवीरराघवाचार्य-रचित ‘परमार्थभूषण’ पृ.१८२) वचनके आधारपर वेदशास्त्रके ज्ञानको अङ्गी मान कर मीमांसाशास्त्रके ज्ञानको उसका अङ्ग मान कर चलें; तथा इसी तरह ‘‘ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्’’(प्रतिवादिभयंकरपीठा-धीश श्रीअनन्ताचार्यस्वामिरचित ‘ऐकशास्त्र्यमीमांसा’ पृ.१२-२५) वचनके आधारपर ‘धर्म’ पदको केवल अनुष्ठेय क्रियामात्रपरक न मान कर कर्मब्रह्मोभय-साधारण वेदार्थतया स्वीकारके जैमिनिसूत्रोंकी तरह बादरायणसूत्रोंको भी एकवचनान्त ‘मीमांसा’ पदद्वारा विवक्षित

मान कर चलें, तब भी, ऐकग्रन्थ्य नहीं परन्तु ऐकशास्त्र्य ही सिद्ध होता है. सूत्र वृत्ति भाष्य वार्तिक या व्याख्या आदिके बीच ग्रन्थपार्थक्य रहनेपर भी ऐकशास्त्र्य तो निर्विवाद स्वीकार्य होता ही है. वेदान्तके तत्तत् सम्प्रदायोंमें बादरायणसूत्रोंकी तरह ही स्वस्वसम्प्रदायाचार्यादिद्वारा विरचित भाष्यादि ग्रन्थ भी वेदार्थके यथार्थज्ञानको प्राप्त करनेकेलिये इतिकर्तव्यताके रूपमें मान्य करने ही पड़ेंगे. एतावता सूत्र और भाष्य को एक ग्रन्थ मान लेना या तत्तत् सम्प्रदायोंके भाष्योंके अध्ययनको भी अध्ययनविधि / अध्यापनविधि द्वारा आक्षिप्त मानना उपपन्न नहीं हो सकता. वेदके काण्डोंकी पूर्वोत्तरभाववाली क्रमनियतिको मीमांसाके साथ भी बांधनेपर पूर्वमीमांसासूत्रोंपर भाष्य लिखे बिना उत्तरमीमांसासूत्रोंपर भाष्य प्रकट करना अनिर्णायक अपूर्ण या अधूरे भाष्य लिखनेके दोषारोपणका प्रसञ्जक होगा. प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें जैसे मङ्गलाचरण नहीं किया जाता वैसे ही ब्रह्मसूत्रभाष्यके आरम्भमें भी मङ्गलाचरणकी अनावश्यकताका प्रमाण बनेगा. आधुनिक अध्ययन या अध्यापन भी यदि ‘‘अथातो धर्मजिज्ञासा’’से प्रारम्भ कर ‘‘अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात्’’ पर्यन्त नहीं होते तो उनमें असम्पूर्णाध्ययन या असम्पूर्णाध्यापन के दोष भी स्वीकारने पड़ेंगे. प्रबन्धैक्य मान्य रखनेपर भी आद्योपान्त भाष्य न लिखना — आद्योपान्त अध्ययनाध्यापनकी परम्पराको न निभाना स्वयंमें इस बातका प्रमाण बन सकता है कि किसी तरहके पौर्वापर्य क्रमका जो आभास हो रहा है उसे क्रमनियतिका प्रमाण नहीं माना जा सकता.

पूर्वोदाहृत ‘‘मीमांसा पूरयिष्यति’’में ‘‘मीमांसे पूरयिष्यतः’’ न कह कर एकवचनके प्रयोगको एकग्रन्थ होनेका हेतु माननेपर ‘‘पुराणं हृदयं स्मृतम्’’में भी प्रयुक्त एकवचनको अठारह पुराणोंकी एकग्रन्थताका प्रमाण मानना पड़ेगा.

वेदके पूर्वोत्तरकाण्डगत वचनोंकी मीमांसाके हेतु प्रवृत्ति एकाकितया न महर्षि जैमिनिकी ही दृष्टिगोचर होती है और न

महर्षि बादरायणकी ही. अतएव दोनों ही सूत्रग्रन्थोंमें अन्यान्य सहयोगी ऋषिओंके साथ दोनोंके मतभेदोंका उल्लेख भी उपलब्ध होता है. यह इस तथ्यका डिंडिमघोष है कि महर्षि जैमिनिके अध्यक्षभावोपेत कर्तृत्वमें पूर्वमीमांसासूत्रोंका प्रणयन हुवा है तथा महर्षि बादरायणके अध्यक्षभावोपेत कर्तृत्वमें वेदान्तसूत्रोंका प्रणयन हुवा है. अतएव—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः...तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"—"जातिं तु बादरायणो..." (जै.सू. १।१।५—६।१।८) जैमिनिसूत्रोंमें सूत्रकारने महर्षि बादरायणके अभिप्रायान्तर या मतान्तर का जैसे उल्लेख किया है वैसे ही बादरायणसूत्रोंमें महर्षि जैमिनिके भी अभिप्रायान्तर या मतान्तर का उल्लेख भी सूत्रकारने किया ही है:—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः(ब्र.सू.१।२।२९).
मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः(ब्र.सू.१।२।३०).
अन्यार्थन्तु जैमिनिः...(ब्र.सू.१।४।१८).
धर्मं जैमिनिरतएव (ब्र.सू.३।२।३९).
परामर्शं जैमिनिः...(ब्र.सू.३।४।१८).
तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि... (ब्र.सू.३।४।४०).

इन सूत्रोंके अवलोकन करनेसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वेदान्तवाक्योंके अर्थनिर्धारणार्थ महर्षि बादरायण व्यास एकाकितया प्रवृत्त नहीं हुवे हैं अपितु अन्य भी ऋषिओंकी विचारगोष्ठीके आयोजनपूर्वक ही वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंकी मीमांसा सम्पन्न की गयी है. अतएव जिस ऋषिका मत जब विचारगोष्ठीके सर्वमान्य मतसे पूर्णतया या आंशिक रूपमें अलग पड़ा है, वहां उस ऋषिके भिन्न मतका उल्लेख नामोल्लेखपूर्वक किया गया है. इसीसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जहां पृथक्तया मतोल्लेख नहीं किया गया है वहां विचारगोष्ठीके सभी सदस्योंके बीच

एकमत न सही कुछ न कुछ मौनौचित्य भी रहा ही होगा. अतएव आत्रेय आश्मरथ्य औडुलोमि काशकृत्स्न कार्ष्णाजिनि बादरि आदि विचारगोष्ठीके अन्यान्य सदस्योंके नामोल्लेखकी तरह स्वनामोल्लेख भी कहीं-कहीं किया ही गया है.

जैसे कि :—

तदुपर्यपि बादरायणः...(ब्र.सू.१।३।२६).
भावं तु बादरायणोऽस्ति हि (ब्र.सू.१।३।३३).
पूर्वन्तु बादरायणो...(ब्र.सू.३।२।४१).
पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः(ब्र.सू.३।४।१).

इन सूत्रोंमें स्वनामोल्लेख सूत्रकारने किया ही है. साराका सारा ग्रन्थ ही यदि उपनिषद्वाक्योंका केवल स्वाभिमत निष्कृष्टार्थ ही हो तो केवल कुछ ही सूत्रोंमें स्वनामोल्लेख करनेकी क्या आवश्यकता थी? एक खुलासा इस प्रसंगपर आवश्यक हो जाता है कि प्राचीन भाष्यकारोंको यह मान्यता अभीष्ट है कि नहीं यह गवेषणीय विषय है फिर भी ऐसा प्रतीत तो होता ही है. प्रकृतमें इतना तो निश्चित ही है कि वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंकी मीमांसामें दोनों ही महर्षिओंकी प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है. शास्त्रभेदवादी श्रीशङ्कराचार्य भी ब्रह्मसूत्रभाष्य (१।४।१८)में इतना तो स्वीकारते ही हैं कि कौषीतकी ब्राह्मणके बालाकी-अजातशत्रुके संवादका वर्ण्यविषय जीव प्राण या ब्रह्म मेंसे कौन है, इस विवादमें आचार्य जैमिनिके मतके अनुसार ब्रह्मप्रत्तिपत्तिकेलिये ही यहां जीवका परामर्श किया गया है. यही बात ऐकशास्त्र्यवादी श्रीरामानुजाचार्य भी यहां कह रहे हैं. अतः दोनों भाष्यकारोंको इतना तो मान्य है ही कि महर्षि जैमिनि भी उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मकी मीमांसामें महर्षि बादरायण व्यासके सहयोगी तो हैं ही. क्योंकि पूर्वमीमांसाके किसी भी सूत्र या अधिकरण में यह विचार उपलब्ध नहीं होता. साथ ही साथ यह भी सुस्पष्टतया झलक

ही रहा है कि महर्षि जैमिनिके इस निरूपणके बारेमें विचारगोष्ठीके अन्य सदस्योंका जो भी अभिप्राय रहा हो महर्षि बादरायणको कोई उल्लेखनीय विप्रतिपत्ति नहीं दिखलायी देती. अतः दोनों ही महर्षि जब दोनों मीमांसाओंमें अन्यान्य ऋषिओंकी तरह एक-दूसरेके साथ मतभेद रखनेके बावजूद परस्पर सहयोगी भी हैं ही, तब एकके जैमिनिदर्शन और दूसरेके बादरायणदर्शन होनेके रूपमें शास्त्रभेद कैसे हो सकता है? इसी तरह पारस्परिक मतभेदको दरसानेवाले नामोल्लेखोंके कारण ग्रन्थैक्य भी कैसे हो सकता है? अर्थात् ये दो अतिवादी ध्रुव प्रामाणिक नहीं हो सकते हैं!

इसके बाद आती है: पूर्वोत्तरकाण्डोंमें विभक्त श्रौत वचनोंके सन्देहग्रस्त आशयको समझनेकेलिये समानतया उपकारक होनेकी बात. यह भी, वैसे तो सर्वथा मान्य ही है, फिरभी इसे पूर्वोत्तर मीमांसाओंकी एकग्रन्थताकी साधिका नहीं मानी जा सकती. क्योंकि ऐसा माननेपर वेदके षडङ्गों एवं पुराणों को भी समानोपकारी होनेके कारण एकग्रन्थतया स्वीकारना पड़ेगा. न केवल उपकारिता और न केवल क्रमनियति ही, प्रत्युत समानोपकारिताविशिष्ट क्रमनियतिको हेतु माननेपर तो भाष्यलेखन तथा आधुनिक अध्ययनाध्यापनमें उस नियतक्रमके अनिर्वाहके दोषकी आपत्ति दुरुद्धर होगी.

“अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा, चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात्पञ्चविधो हरिः” (त.दी.नि.२।२) वचनद्योतित रीतिसे वाल्लभ वेदान्तमें ब्रह्मको क्रियाशक्तियुक्त और कर्मको ब्रह्मात्मक स्वीकारनेके कारण पूर्वोत्तर काण्डोंके प्रतिपाद्य विषयोंमें आत्यन्तिक भेद तो सिद्ध नहीं हो पाता; फिरभी इस विषयैक्यको अधिकाधिक शास्त्रैक्यका ही नियामक अथवा उभयविध शास्त्रोंको अपेक्षित परस्पर एकवाक्यताकी आवश्यकताका ही नियामक माना जा सकता है. इसे ग्रन्थैक्यका नियामक नहीं माना जा सकता. अन्यथा सूत्र-वृत्ति-भाष्य-वार्तिक-व्याख्या रूपी एक ही विषयके प्रतिपादक अनेक ग्रन्थोंकी अनेकता भी अमान्य करनी पड़ेगी.

शाङ्कर मत भी मूलतः शास्त्रभेद स्वीकार नहीं सकता है, इस विषयमें 'ऐकशास्त्र्यमीमांसा' तथा 'परमार्थभूषण' नामक उल्लिखित ग्रन्थोंके लेखक दोनों उद्भट विद्वानोंकी प्रबल उपपत्ति भी अधिकांशमें शास्त्रैक्यसाधिका ही हैं ग्रन्थैक्यसाधिका नहीं. फिर भी विशेषतः ग्रन्थैक्यसाधिका कुछ उपपत्तिओंके बारेमें वाल्लभ वेदान्तके अभिप्रायको विचार लेना अप्रासङ्गिक नहीं होगा.

ऐकशास्त्र्यमीमांसाकार कहते हैं:—

> [क]पूर्वकाण्डीय वचनोंमें निरूपित कर्मको— "इन कर्मोंद्वारा आराध्य कौन है?" ऐसी आकाङ्क्षा है. इसी तरह उत्तरकाण्डीय वचनोंमें निरूपित ज्ञानको— "पूर्वकाण्डविहित कर्मोंका उत्तरकाण्डमें अङ्गी कौन है?" ऐसी आकाङ्क्षा है. परस्पराकाङ्क्षाओंके पूरक होनेके कारण पूर्वोत्तरमीमांसाओंके बीच पौर्वापर्यरूप क्रमविशेषकी नियामिका एक विशेष सङ्गतिका बोध होता ही है. इस तरह विशिष्ट सङ्गतिवाली एक विशिष्टार्थकी प्रतिपादिका होनेसे पूर्वोत्तरमीमांसाओंकी एकग्रन्थता सिद्ध हो जाती है. केवल जैमिनि और बादरायण यों दो विभिन्न कर्ताओंद्वारा पूर्वोत्तरमीमांसासूत्रोंका विरचित होना इनके भिन्न-भिन्न ग्रन्थ होनेका नियामक नहीं हो पाता; क्योंकि कादम्बरी जैसे अनेक ग्रन्थ दो या अधिक कर्ताओंद्वारा लिखे गये भी उपलब्ध होते ही हैं (ऐकशा.मी. पृ. २ तथा २५).

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार यहां यह तो उभयवादिसम्मत ही है कि सकाम कर्म, जो पर्याप्त रूपेण पूर्वमीमांसामें अनुष्ठेयतया विचारे गये हैं, भगवदाराधनारूप नहीं होते; और निष्काम कर्म

भी भगवदाराधनाकी बुद्धिसे अनुष्ठित होनेपर ही अथवा भगवदर्पित होनेपर ही भगवदाराधनारूप होते हैं.

अन्यथा:—

त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
(भ.गी.२।४५).

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र इवाम्भसा॥
(भ.गी.५।१०).

त्रैविद्या मां सोमपा पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ति।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा सर्वलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(भ.गी. ९।२०-२१).

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
नतु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोपि माम्॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरूष्व मदर्पणम्॥
(भ.गी.९।२४, २५ तथा २७).

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्मचैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥
(भ.गी.१७।२६-२७).

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।
(भ.गी.१८।४६).

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
तएवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥
(भाग.१।५।३४).

ऐसे पृथक् विधानोंकी आवश्यकता ही खड़ी न हो पाती. इन वचनोंके आधारपर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पूर्वकाण्डोक्त 'त्रयीधर्म' त्रैगुण्यविषयक होनेसे क्षयिष्णु स्वर्गादिरूप फल अथवा तत्तद् देवताओंके प्रापक होते हैं—परब्रह्मप्रापक नहीं. अतः उनका विचार भी त्रैगुण्याधिकारिओंकेलिये ही आवश्यक होगा, निस्त्रैगुण्याधिकारिताकी सिद्धिकेलिये ब्रह्मविचारार्थ प्रवृत्त होनेवाले अधिकारिओंकेलिये उपादेयतया तो नहीं. अतः पूर्वमीमांसाके सूत्रोंमें इस विषयमें रखा गया मौन ही उसके भिन्न ग्रन्थ होनेका प्रमाण बन जाता है. यज्ञ-तप-दानरूप कर्मोंको 'सत्' कह कर भगवदर्थ अनुष्ठित कर्मोंको अलगसे 'सत्' कहना स्वयंमें इस तथ्यका प्रमाण बन जाता है कि शास्त्रप्रशस्त यज्ञ-दान-तप भी अपने सभी रूपोंमें तदर्थ ही अनुष्ठित होते हों ऐसा नहीं. इन कर्मोंको निष्कामबुद्ध्या भगवदर्पित करनेपर ही, क्षयिष्णु कर्मबन्धनोंसे जीवको मुक्तिके प्रदानद्वारा, ये भगवत्प्राप्तिके उपाय बन सकते हैं. वह तो यज्ञ-दानरूप पूर्वकाण्डोक्त कर्म ही नहीं; प्रत्युत वर्णाश्रमधर्मरूप धर्मसूत्रोक्त या स्मृत्युक्त कर्म भी भगवदर्पणबुद्धिसे किये जानेपर, जीवात्माके कर्मबन्धनोंको तोड़नेमें सक्षम हो ही पाते हैं. एतावता वर्णाश्रमधर्मनिरूपक सूत्र या स्मृति रूपी ग्रन्थोंके साथ भी बादरायणसूत्रोंकी एकग्रन्थता क्या स्वीकारी जा सकती है? सकाम कर्मोंके हेयतया ज्ञानार्थ यदि जैमिनिसूत्रोंको बादरायणसूत्रोंके साथ एककाय माना जाता हो तो तब तो अर्थपुरुषार्थके निरूपक तथा कामपुरुषार्थके निरूपक सूत्रोंको भी बादरायणसूत्रोंके साथ एककाय स्वीकारना पड़ेगा! स्वयं श्रीरामानुजाचार्य भी इतना तो स्वीकारते ही हैं कि ब्रह्मसूत्रकारके अनुसार ब्रह्मोपासना स्वतः मोक्षप्रापिका नहीं होती अपितु स्वयं ब्रह्म ही उपासनासे प्रसन्न हो कर मोक्षप्रापक होता है. इस मतमें महर्षि जैमिनिको विप्रतिपत्ति यह है कि जैसे लोकमें कृषि आदि कर्म या दान आदि कर्म साक्षात्/परम्परया स्वतः ही फलप्रापक होते हैं, वैसे ही ब्रह्मोपासनाको भी स्वफलप्रदानरूप व्यापारमें

उपासकके अनुष्ठानरूप व्यापारकी ही अपेक्षा रहती है, उपास्य ब्रह्मके अनुग्रहादिरूप व्यापारकी नहीं.

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—

> सम्प्रति पूर्वपक्षम् आह "धर्मं जैमिनिरतएव"'... शास्त्रात् च यागदानहोमोपासनरूपधर्ममेव फलप्रदं जैमिनिः आचार्यो मन्यते... 'तु' शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः. पूर्वोक्तं परमपुरुषस्यैव फलप्रदत्वं भगवान् बादरायणो मन्यते (ब्र.सू.भा.३।२।३९-४०).

अतः स्वयं महर्षि जैमिनि, श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार, जब ब्रह्मोपासनाके मोक्षरूप फलकी प्राप्तिमें भी आराध्य ब्रह्मके व्यापारकी अपेक्षा स्वीकारते नहीं हैं—यथाशास्त्र अनुष्ठित ब्रह्मोपासनाके उपासकव्यापारको ही पर्याप्त मानते हैं तो महर्षिजैमिनि-मीमांसित कर्मोको अपने आराध्यकी अपेक्षा है ऐसा स्वीकार्य नहीं हो पाता. "स स्वर्गः स्यात्, सर्वान् प्रति अविशिष्टत्वात्" (जै.सू.४।३।१५) सूत्रके अनुसार मीमांस्य कर्मोका साधारण फल स्वर्ग है नकि भगवदाराधना या आराध्य ब्रह्मका प्रसादन. अतः न तो कर्मोकी आराधनारूपता पूर्वमीमांसाभिमत कल्प है और न जैमिनिमीमांसित कर्मोको आराध्यकी कोई अपेक्षा सिद्ध हो पाती है. यहां अविस्मरणीय है श्रीरामानुजाचार्य कर्मज्ञानसमुच्चयवादी भी नहीं हैं. अतः उत्तरमीमांसाके द्वारा निर्धारणीय विषय—कर्मोके भगवदाराधनबुद्ध्या अनुष्ठान—को पूर्वमीमांसापर हठात् थोपना ऐकशास्त्र्यके उपपादनको शिथिल बना देता है. क्योंकि न केवल पूर्वमीमांसोक्त कर्म प्रत्युत ऐहिक-पारलौकिक सकल कर्मोको भी भगवदाराधनाकी बुद्धि रख कर सम्पन्न करना चाहिये यह तो उभयवाद्यभिमत कल्प है ही.

अतः सिद्ध होता है कि श्रुतित्वेन वेद और वेदान्त एक ही शास्त्र हैं, अतः उनके विचारार्थ प्रवृत्त पूर्वोत्तरमीमांसाद्वयी भी

एक ही शास्त्र हैं. एतावता जैमिनिसूत्रों और बादरायणसूत्रों का एकग्रन्थ होना सिद्ध नहीं हो पाता. इसी आशयमें प्राचीन वेदान्तिओंके—"संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः" (द्र.ऐकशा.मी.पृ.३) जैसे वचनोंमें शास्त्रैकत्व ही कहा गया ग्रन्थैकत्व नहीं.

ऐकशास्त्र्यमीमांसाकार यह भी कहते हैं:—

> [ख]बादरायणसूत्रोंमें प्रत्यध्याय सूत्रगत पदखण्डोंकी तथा ग्रन्थान्तमें ग्रन्थसमाप्तिद्योतक सम्पूर्ण वाक्यकी पुनरावृत्तिकी जो शैली उपलब्ध होती है, वह शैली जैमिनिसूत्रोंमें दृष्टिगोचर नहीं होती है. अतः इससे भी सिद्ध हो जाता है कि महर्षि जैमिनि स्वरचित सूत्रोंमें अपने ग्रन्थकी समाप्ति द्योतित नहीं करना चाहते हैं. अतएव महर्षि जैमिनिरचित "अथातो धर्मजिज्ञासा"सूत्रसे प्रारब्ध ग्रन्थ महर्षि बादरायणरचित "अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात्" सूत्रके साथ ही समाप्त होता है (ऐकशा.मी.पृ.२७).

यह हेतु बहोत दमदार नहीं लगता, क्योंकि दोनों सूत्रकारोंको अपने-अपने सूत्रग्रन्थोंकी एककायता यदि अभीष्ट होती तो बादरायणसूत्रोंकी अध्यायसमाप्तिकी द्योतिका—सूत्रगत पदखण्डोंके पुनरावृत्तिकी—शैलीका जैमिनिसूत्रोंमें भी निर्वाह अधिक उपयुक्त होता. उसके अनिर्वाहके कारण भी ऐकग्रन्थ्य सन्दिग्ध बन जाता है.

अतएव परमार्थभूषणकारकी यह युक्ति कि—

> [ग]कर्तृभेद विषयभेद अथवा एक ही ग्रन्थको मिल-जुल कर लिखनेकी संयुक्तप्रतिज्ञाका कहीं उपलब्ध न होना ग्रन्थभेदका नियामक नहीं होता,

> क्योंकि कादम्बरी दो कर्ताओंद्वारा लिखी गयी होनेपर भी एक ही ग्रन्थ माना जाता है, सर्वदर्शनसंग्रहमें विषयभेद होनेपर भी उसे अनेक ग्रन्थोंका संग्रह नहीं माना जाता है (प.भू.पृ. १७६).

यह वैसे तो ठीक ही है फिर भी शास्त्रैक्य या प्रतिपाद्य विषयोंकी परस्परापेक्षा या परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव ये भी ग्रन्थैक्यके प्रबल हेतु नहीं लगते हैं. उपनिषदोंको स्ववाक्यबोधजननार्थ वाक्यार्थ-मीमांसाकी अपेक्षा है तथा वैयासिकी मीमांसाको विचार्य वचनोंके रूपमें उपनिषदोंकी भी अपेक्षा है ही. दोनों ही वेदान्तशास्त्रीय ग्रन्थ ही हैं फिर भी एतावता दोनोंकी एकग्रन्थता सिद्ध नहीं हो पाती.

परमार्थभूषणकार यह भी कहते हैं:—

> [घ]पूर्वमीमांसामें क्रमनियामक जो छह श्रुति पाठ स्थान आदि स्वीकारे गये हैं, उन सभी अङ्गोके विचार करनेपर भी, उदा.,''परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्'' (मु.उ.१।२।१२) वचनके आधारपर दोनों मीमांसाओंका पौर्वापर्य श्रौत ही सिद्ध होता है (प.भू.पृ.१८४).

इन हेतुओंकी सुविशद परीक्षा अद्वैततत्त्वसुधाकार श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीजीने ग्रन्थके द्वितीय भागमें की ही है. इसमें प्रदत्त सभी युक्ति तो वाल्लभ वेदान्तको यथावद् मान्य नहीं हो पायेंगी, फिर भी परस्पर युक्ति-प्रतियुक्तिओंके कोटिक्रम प्रकृत विषयको भलीभांति बुद्धिगत करनेलिये अवलोकनीय तो हैं ही. विस्तारभीतिवश यहां उन सभी युक्तिओंका विमर्श शक्य नहीं है.

फिरभी परमार्थभूषणकारकी यह एक बात अवश्य उल्लेखनीय

है:—

> [ङ]कर्मचित इहलोक अथवा कर्मचित परलोक के क्षयिष्णु होनेके स्वभावकी परीक्षा करके ही ब्रह्मजिज्ञासार्थ प्रवृत्त होनेका नियत श्रौत क्रम ही इस वचनमें निरूपित किया गया है (प.भू. वहीं).

श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्री उसका प्रत्यालोचन करते हैं कि उक्त श्रुतिवचनमें केवल लोकपरीक्षणकी ही बात है पूर्वमीमांसाके सूत्रोंके आधारपर पूर्वकाण्डीय वाक्यार्थपरीक्षणकी नहीं (अ.त.सु. : पृ.५१२).

यहां थोड़ा सा अवश्य ही कुछ विवक्षित है और वह यह कि कर्मचित लोकोंकी क्षयिष्णुताका बोध पूर्वमीमांसाके सूत्रोंके आधारपर तो शक्य नहीं है—वह तो उपनिषदैकगम्य रहस्य है. अतः इस हेतुके बलपर तो कर्ममीमांसाकी नियतपूर्वता सिद्ध नहीं होती. फिरभी अन्य अनेक अङ्गोंकी तरह ही कर्ममीमांसाजन्य बोध भी इस निर्वेदजनक उपायके अङ्गतया स्वीकारना तो पड़ेगा ही.

अद्वैततत्त्वसुधाकारका यह कथन कि यहां केवल लोकपरीक्षण ही उपदिष्ट हुवा है, पूर्वकाण्डीय वाक्योंके निष्कृष्ट तात्पर्यका परीक्षण नहीं, इस विषयमें भी यह उल्लेखनीय हो जाता है कि पूर्वकाण्डोक्त फलकी नित्यताके प्रतिपादक वचनोंकी संगति भी उपनिषदोक्त कर्मफलकी अनित्यताके बोधक वचनोंके साथ बैठानेका उत्तरदायित्व तो दोनों ही मीमांसकोंके गलेपतित है. अतः केवल लोकपरीक्षण या केवल ब्रह्मपरीक्षण से काम नहीं चल पायेगा. तत्तत्काण्डपठित वचनोंके निष्कृष्ट तात्पर्योंका परीक्षण अर्थात् उभयमीमांसा तो करनी ही पड़ेगी! श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—"वेद स्वयं ही श्रेयःसाधनरूप अग्निहोत्रादि कर्मोंके फल अनित्य होते हैं ऐसा कहते हैं 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (छा.उ.८।-

१।१६) और 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै.उ.२।१) वचनमें परमपुरुषार्थकी सिद्धि वेदान्तजन्यबोधसे स्वीकारते हैं. अतः ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये'' (ब्र.सू.भा.१।१।१). स्पष्ट है कि इस युक्तिको प्रमाणित करनेवाले दोनों ही वचन वेदान्तके ही हैं. ''अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनो सुकृतं भवति''(आप.श्रौ.सू.८।१।१) सदृश वचनोंका भी विचार किये बिना सहसा केवल वेदान्तके ही दोनों वचनोंके आधारपर समग्र वेदार्थका निष्कर्ष निकाल लेनेपर वह विश्वसनीय नहीं हो पाता है. श्रीशङ्कराचार्यके अनुसार न तो इन दोनों मीमांसाओंमें अङ्गाङ्गिभाव है, न एकमें अधिकारिताके सिद्ध होनेपर ही दूसरीमें अधिकारलाभ होता है, न दोनोंसे प्राप्त होते फल और दोनोंमें जिज्ञास्य विषय ही एक हैं, अतः दोनोंका पूर्वोत्तरभाव नियततया सिद्ध नहीं होता है (द्र. : ब्र.सू.भा.१।१।१). इसके विपरीत ''यह तो नहीं माना जा सकता कि प्रयाजादिकी तरह आश्रमकर्म ब्रह्मविद्याके फलदानमें किसी भी तरहका सहकार दे सकते हैं, न तो ब्रह्मविद्या विधिका विषय हो सकती है और न ब्रह्मविद्याका फल ही विधिसाध्य हो सकता है.'' (ब्र.सू.भा.३।४।३३) ऐसे स्पष्टीकरणके बावजूद इतना तो श्रीशङ्कराचार्यने भी स्वीकारा ही है कि ''ब्रह्मविद्याको भी सारेके सारे आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा रहती ही है... क्योंकि उत्पन्न होनेके बाद ब्रह्मविद्याको अपने फलको सिद्ध करनेमें अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रहती परन्तु स्वयं ब्रह्मविद्याको उत्पन्न होनेमें आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा रहती ही है.'' (ब्र.सू.भा.३।४।२६) अतः यथास्वीकृत रूपमें ही उपकारिताको लक्ष्यमें रख कर चलें तो भी शाङ्कर वेदान्त ऐसे नहीं कह सकता है कि अमीमांसित आश्रमकर्मोंकी ही केवल अपेक्षा है कर्ममीमांसाकी नहीं. अमीमांसित कर्मोंका भलीभांति अनुष्ठान शक्य न होनेपर ब्रह्मविद्याको निजोत्पत्तिमें अपेक्षित कारणसामग्री उपलब्ध न हो पायेगी. यदि अमीमांसित कर्मोंके अनुष्ठानकी वैधता स्वीकार ली जाती है तो अमीमांसित उपनिषद्वचनोंसे ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति भी गलेपतित होगी ही. अन्यथा

ब्रह्मजिज्ञासाके औचित्यका उपपादन—"विचार किये बिना जो कुछ भला-बुरा लगता हो उसे स्वीकार कर चलनेवाला तो श्रेयोमार्गसे भटक कर अनर्थको पा सकता है."(ब्र.सू.भा.१।१।१) विधान भी निरर्थक सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि उत्पन्न हो जानेपर ब्रह्मविद्याको न तो स्वाध्यायकी, न आश्रमकर्मोंकी; और न वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनकी भी अपेक्षा रह जाती है, अतः या तो ब्रह्मजिज्ञासा भी न करनी चाहिये या फिर कर्मजिज्ञासा भी करनी तो पड़ेगी ही. अन्यथा "ब्रह्म हि ज्ञानेन आप्तुम् इष्टतमत्वात् प्रधानम्. तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासाकर्मणि परिगृहीते यैः जिज्ञासितैः विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तानि अर्थाक्षिप्तान्येव" (ब्र.सू.भा.१।१।१) स्वीकृतिके विपरीत ब्रह्मज्ञानाङ्गभूत उपासनाओंका विचार भी निरर्थक सिद्ध होगा! अतः शास्त्रैक्य तो स्वीकारना ही पड़ता है. यह शास्त्रैक्य ग्रन्थैक्यापादक नहीं होता यह तो हम देख ही चुके हैं. अतः उपदिष्ट कर्मचित-लोकपरीक्षणमें भी कर्ममीमांसाकी किसी न किसी तरहकी आवश्यकता तो रहती ही है. यह आवश्यकता भी, परन्तु, अन्यान्य अङ्गभूत शास्त्रोंकी तरह ही इस ब्रह्मसूत्र ग्रन्थके साथ एककायताका प्रमाण नहीं मानी जा सकती है. एतावता मीमांसाओंका पूर्वोत्तरभाव नियत नहीं हो जाता. अङ्ग्यपेक्षित सकल अङ्गोंका, यथाशास्त्र नियतानियतक्रमसे, उपादान किसी न किसी तरह तो अपेक्षित होता ही है. मीमांसा भी, अतएव पूर्वकाण्डीया हो या उत्तरकाण्डीया, वेदार्थपरिज्ञान रूपी अङ्गीकी स्वरूपसिद्धिमें इतिकर्तव्यतया अपेक्षित तो है ही. अतएव वेदकी स्वशाखीय शब्दराशिके अक्षरग्रहणके बाद केवल स्वशाखीय वचनोंके ही निष्कृष्ट तात्पर्यज्ञानसे प्रयोजनसिद्धि नहीं हो पाती. अस्वशाखीय वचनोंके भी निष्कृष्ट अभिप्रायके बोधार्थ दोनों ही मीमांसा करनी पड़ती हैं. निःसन्दिग्ध प्रवृत्ति या निवृत्ति तभी शक्य होनेसे, दोनोंमें सर्वशाखोपसंहारके अधिकरण प्रायोजित हैं ही. दोनोंमेंसे कोई भी एक मीमांसा अपने-आपको किसी एक शाखासे प्रतिबद्ध बना

कर प्रवृत्त नहीं होती. एतावता जिन-जिन शाखाओंके वचनोंको विचार्यविषयतया चुना गया है, उन सभी शाखाओंकी नियतपूर्वभाविता नहीं स्वीकारी गयी है, फिरभी एकवाक्यता अवश्यविचारणीय मानी ही गयी है. अतएव ‘‘यथोक्तं ऋग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणम् अस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे’’ (ब्र.सू.भा.१।१।२) स्वीकारनेवाला शाङ्कर वेदान्त सहसा यह कैसे कह सकता है कि दोनों काण्डोंमें निरूपित विषय और फल में भेद है. अतएव महाप्रभु पूर्वकाण्डोक्त कर्मको ब्रह्मात्मक और उत्तरकाण्डोक्त ब्रह्मको काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषरूप पञ्चात्मक भी और पञ्चाश्रयीभूततया पञ्चविलक्षण भी स्वीकारते हैं: द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्’’ (सि.मु.३).

महाप्रभुके अनुसार, अतएव, ‘‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’’ वचनगत ‘स्व’ पदका अर्थ स्वशाखा नहीं लिया गया है और न ‘अध्येतव्य’ पदमें ‘तव्य’ प्रत्ययको ही विध्यर्थक स्वीकारा गया है:—

काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिरुच्यते।।
वाक्यत्रयं तथा वेदेऽनारभ्योक्तमेव हि:।।५।।
एकार्थता तु सर्वत्र विशेषोऽप्युच्यते स्फुटः।।
‘स्वाध्याय’ शब्दो वेदे हि रूढो योगेऽपि वर्तते।।६।।
सुष्ठ्वासमन्तादध्येयः शोभनं नियमैर्युतः।।
देशे काले गुरौ स्वस्मिन्नपेक्ष्यन्ते गुणा इह।।७।।
‘आ’सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते।।
शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाध्येयो हि वैदिकैः।।८।।
अपर्णताद्यपहतपाप्मादिसकलैर्गुणैः।।
प्रजापतिर्मुखैर्वेदो यथा हि पठितः पुरा।।९।।
तादृग्गुणविशिष्टोऽत्र वेदः ‘स्वाध्याय’ उच्यते।।

‘तव्य’स्त्वावश्यके प्रोक्तो न विधिर्ज्ञातृबोधनात्।१०॥
(पत्रा.५-१०).

भावार्थ: दैवी जीवोंको उनके पुरुषार्थोंका बोधप्रदान यह वेदके दोनों काण्डोंका प्रयोजन है. इस प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये तीन बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है:—

[१]अबोध बालकोंको उपनयनदीक्षा प्रदान करके गुरु वेदाध्यापन करता है.

[२]इस वेदाध्यापनमें शब्दराशिके उच्चारणानुच्चारण करवा देनेसे तो वेदोंका प्रयोजन सिद्ध हो नहीं जाता, अतः सन्देहरहित शब्दराशि और वाक्यतात्पर्य दोनोंके ज्ञानका विधान अपेक्षित है.

[३]इस तरह वेदाध्ययनके सम्पन्न हो जानेपर ‘स्वाध्याय’ पदके रूढ़ार्थ ‘वेद’की तरह यौगिक अर्थ— “सु + आ + अध्येय =स्वाध्याय” — भी ‘पङ्कज’ शब्दकी तरह उपपन्न हो जाता है.

ये बातें क्रमशः १.अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत”, २.ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च”, ३“स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” श्रुतिवचनोंद्वारा निरूपित होती हैं. ‘स्वाध्याय’ शब्द वेदके अर्थमें जैसे रूढ़ है वैसे ही इसके यौगिक अर्थका भी विचार करनेपर कुछ महत्त्वपूर्ण पहलु इसके सामने आते हैं. अध्येय=वेदके साथ ‘सु’[=भलीभांति] जोड़नेसे यह ध्वनित होता है कि वेदके अध्ययनमें देश-काल-अध्यापक-अध्ययनार्थीके शास्त्रोक्त सभी नियमोंको निभानेपर ही वेद ‘सु + अध्येय’ गुणवान् बन पाता है अन्यथा

नहीं. 'आ'[=पूर्णतया] जोड़नेपर अध्येय=वेदके शब्दोंके बारेमें या अर्थोंके बारेमें या अनुष्ठानके बारेमें सन्देहरहित ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता ध्वनित होती है. इस तरह 'स्वाध्याय'पदसे सूचित गुणयुक्त वेदाध्ययनके विधानार्थ 'अध्येतव्यः'पद प्रयुक्त नहीं हुवा है प्रत्युत वेदको स्वाधीत बनानेकी आवश्यकताके बोधनद्वारा वेदके माहात्म्य तथा फल के सूचनार्थ ही.

अतएव महाप्रभु कहते हैं:—

इदानीम् अनुष्ठाने कः प्रकारः, केन अनुष्ठेयः, किम् इच्छया व्यवस्थया वा इति सन्देहे निर्णयम् आह:—

प्रकारभेदे पूर्वं तु विकल्पो ह्यैच्छिको मतः।
अधुना नियतः शाखाभेदात्तत्तदधीतिषु॥

'प्रकारभेदे' इति, ब्रह्मादीनाम् ऐच्छिकएव, आधुनिकानां व्यवस्थितः इति अर्थः.

कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः।
तेषां भिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि॥
कर्मशाखागताश्चक्रे निर्णयः पृथगेव हि॥

...तर्हि एकएव अर्थः प्रयोजनं वाच्यं च स्याद्, अन्यथा एकवाक्यता न भवेदिति. तत्र आह 'निर्णयः पृथगेव हि' इति. तेषां पाठार्थमेव एकवाक्यता निर्णयस्तु पृथगेव व्यासेन कृतः. अतो ज्ञायते वाच्यैकत्वं प्रयोजनैकत्वं च काण्डद्वयस्य नास्ति इति. द्वितीयस्यापि अर्थावबोधपर्यन्तम् अध्ययनं, स्वाध्यायविधिनैव तस्यापि परिग्रहात्. अन्यथा ब्रह्मणि सन्देहाभावात् निर्णयो व्यर्थः स्यात्. अतः काण्डद्वयं भिन्नमपि

एकत्र पठितम्, अंशतः परस्परोपकारार्थं च. आधिभौतिकैः यज्ञैः चित्तशुद्धिः, वेदान्तैः जीवस्वरूपविज्ञानम् इति. मुख्यरूपत्वसिद्ध्यर्थं तु पृथक् निर्णयः इति 'हि' शब्दार्थः (त.दी.नि.२।२७-२८).

भावार्थः शाखाविभाजनसे पूर्व कर्मोंमें प्रकारभेद दरसानेवाली विधिओंके आधारपर ऐच्छिक विकल्प मान्य था; परन्तु शाखाविभाजनके बाद अब स्वशाखानुसरण नियत बन गया है. कर्मकाण्डकी ही तरह उपनिषदोंद्वारा निरूपित ब्रह्मस्वरूपके बारेमें भी प्रकारभेद पाया जाता है. अतः अवश्यकर्तव्य वेदाध्ययनार्थ यदि पूर्वकाण्डका ही अध्ययनाध्यापन रखा जाता तो सहज सम्भव था कि उपनिषदोंको पढ़े विना पूर्वकाण्डके ही अध्ययनाध्यापनसे लोग कृतकृत्यता मान लेते. अतः दोनों एकसाथ पढ़े-पढ़ाये जाते हैं. एतावता एकवाक्यताका हौवा खड़ा करके दोनों काण्डोंका सर्वथा एक ही विषय; अथवा दोनोंका सर्वथा एक ही प्रयोजन, स्वीकार लेना उचित नहीं. वैसे दोनोंका अध्ययन अर्थबोधपर्यन्त करना अपेक्षित होता है; और इसकी आवश्यकताको "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वचननिर्दिष्ट अध्ययनके प्रकारका अनुसरण करनेपर सरलतया समझा भी जा सकता है. अन्यथा शब्दमात्रका पाठ करने या न करने पर अर्थज्ञान ही न हो पानेके कारण ब्रह्मके बारेमें किसी भी तरहका सन्देह शक्य न हो पायेगा. अतएव भिन्न होनेपर भी दोनों काण्डोंका पाठ साथ-साथ ही पढ़ा जाता है. वैसे अंशतः दोनों एक-दूसरेके उपकारक तो हो ही सकते हैं, यथा, आधिभौतिक यज्ञोंसे चित्त शुद्ध होता

है और वेदान्तके श्रवण-मननसे यज्ञफलभागी बननेवाले जीवके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान भी, ब्रह्मके वेदान्तके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय होनेके बावजूद. अतः इसी तरह ब्रह्मके भी वास्तविक स्वरूपके अङ्गीभूत ज्ञानजननमें अपेक्षित अङ्गभूत कर्मोंके श्रौत स्वरूपका तथा उन कर्मोंके कर्तृरूप जीवके भी वास्तविक श्रौत स्वरूपका ज्ञान अङ्गभूत होता होनेसे ये दोनों ही मीमांसा परस्पर उपकारक होती ही हैं. मुख्यरूपताके निरूपणकेलिये तो महर्षि बादरायणने पृथक् निर्णय ब्रह्मसूत्रोंद्वारा दिया ही है.

::शास्त्रैक्यस्वरूपनिष्कर्षः::

इस तरह हमने देखा कि पूर्वोत्तर मीमांसासूत्रोंकी एकशास्त्रता एक ग्रन्थ होनेके रूपमें तो स्वीकार्य नहीं हो पाती, अतः प्रसंगवशाद्, अब यह विचारणीय होता है कि—

[१]विषयैक्य. [२]प्रयोजनैक्य.

[३]अधिकार्यैक्य = उपदेशकैक्य/उपदेश्यैक्य/उपदेशप्रवृत्तिप्रकारैक्य.

[४]साधनस्वरूपैक्य. [५]फलैक्य.

ऐकशास्त्र्यके इन अनेक रूपविकल्पोंमेंसे किसके बारेमें वाल्लभ वेदान्तका क्या अभिप्राय है?

[१]विषयैक्य, उभयमीमांसाओंका, वाल्लभ वेदान्तको जैसे मान्य है ऐसे ही दोनोंके विषयोंमें अवान्तरभेद भी मान्य है ही. आरम्भमें ही यह तो हम देख ही चुके हैं कि श्रौतविधान श्रौताभिधान या श्रौतापोहन में सर्वत्र एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही श्रौतार्थतया वाल्लभ वेदान्तको अभिमत है. तब प्रश्न उठता है कि दोनों मीमांसाओंके विषय भिन्न-भिन्न कैसे हो सकते हैं? उत्तरतया ज्ञातव्य यह है कि क्योंकि वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म स्वयं सर्वभवनसमर्थ और सत्यसङ्कल्प होनेके कारण अनेकविध नाम-रूप-कर्मात्मना प्रकट

हुवा है, अतएव उस ब्रह्मके कर्मात्मक स्वरूपका वर्णन जैसे वेदके पूर्वकाण्डमें हुवा है, वैसे ही नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्के कर्ता एवं उपादान होनेके रूपमें ब्रह्मके स्वरूप और उसके ज्ञानको प्राप्त करनेके उपायोंका वर्णन वेदके उत्तरकाण्डमें अर्थात् उपनिषदोंमें हुवा है. अतएव ब्रह्मसूत्रकार ‘‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’’ कह कर जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षण-प्रमाणके निरूपणार्थ ‘वेदान्तगम्यत्वात्’ कहने बजाय ‘‘जन्माद्यस्य यतः - शास्त्रयोनित्वात्’’ शब्दप्रयोग करते हैं. सो इन भिन्न-भिन्न रूपोंके प्रतिपादक वचनोंकी मीमांसा होनेके अर्थमें दोनोंमें विषयभेद भी सिद्ध होता है और एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके ही दो रूप वेदके दो काण्डोंके प्रतिपाद्य होनेसे अर्थात् वेदार्थतया मीमांस्य होनेसे ऐक्य भी कहा ही जा सकता है.

अतएव महाप्रभु कहते हैं:—

> क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी यज्ञः एकः तथा ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्म द्वितीयः...यतः क्रियाज्ञानवान् हरिः... ननु काण्डद्वयेऽपि क्रिया ज्ञानं च प्रतिपाद्यते नतु क्रियावान् ज्ञानवान् वा. तत् कथम् उच्यते—‘‘एकैकस्मिन्नंशे एकैकं काण्डम्’’ इति? तत्र आह...क्रियावान् क्रियायां प्रविष्टो अतः क्रियैव प्रतीयते. वस्तुतस्तु क्रियावान्, ‘‘यज्ञो वै विष्णुः’’ इति श्रुतेः (त.दी.नि.२।१०).
>
> भावार्थ: क्रियारूप धर्ममें यज्ञरूप धर्मीका अन्तर्भाव मान कर ही धर्मका विधान पूर्वकाण्डमें किया गया है और इसी तरह ज्ञानरूप धर्ममें ब्रह्मरूप धर्मीका अन्तर्भाव मान कर ज्ञानका निरूपण उपनिषदोंमें हुवा है. क्रिया-ज्ञानरूप उभयविध शक्तिओंसे विशिष्ट शक्तिमान् श्रीकृष्णका निरूपण गीता-भागवतका प्रतिपाद्य विषय है... यहां एक

> शंका उठती है कि दोनों ही काण्डोंमें क्रिया और ज्ञान तो उपलब्ध होते हैं परन्तु क्रिया या ज्ञान शक्तिमान् श्रीकृष्णका निरूपण तो उपलब्ध नहीं होता; फिर एक-एक काण्डमें एक-एक अंशका प्रतिपादन है ऐसा कैसे कहा जा सकता है? उत्तर: जहां केवल क्रिया या ज्ञान शक्तियां प्रकट होती हों वहां शक्तिमान् अपनी शक्तिओंमें अन्तर्लीन रहता है [तथा जहां केवल शक्तिमान् प्रकट होता हो वहां शक्तिओंको शक्तिमान्में अन्तर्लीन मान कर ही चलना चाहिऐ].अतएव "यज्ञो वै विष्णुः" जैसे श्रुतिवचन उपलब्ध होते ही हैं.

इस तरह तत्त्वके मूल स्वरूपमें अभेद और लीलार्थ परिगृहीत अवान्तररूपोंमें भेद को मान्य रखनेकी शुद्धाद्वैतनीतिका अनुसरण करनेपर अवशिष्ट अन्य मुद्दोंको भी समझ पाना सरल हो जाता है.

[२]प्रयोजनैक्यके सन्दर्भमें यह अवगन्तव्य है कि मूल प्रयोजन दोनों ही मीमांसाओंका वेदवाक्यार्थमें सन्देहवारणद्वारा दैवी जीवोंका उद्धार ही है:—

> अतः सर्ववेदार्थज्ञानाय उभयं ज्ञातव्यम् इति आह...उभयोर्हि परिज्ञाने सर्ववेदार्थनिर्णयः(त.दी.नि.-२।३१).
>
> भावार्थ: पुरुषार्थोपदेशरूप वेदवाक्योंके अर्थोंको समग्रतया जाननेकेलिये उभयमीमांसाओंका अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि दोनोंको भलीभांति समझनेपर ही सकल वेदार्थका निःसन्दिग्ध ज्ञान कोई पा सकता है.

फिरभी एक मीमांसामें साध्य=अनुष्ठेय कर्मोंके श्रुतिविहित स्वरूपके बारेमें सन्देहवारक उपदेशद्वारा और दूसरी मीमांसामें उपनिषदुक्त सिद्धवस्तु ब्रह्मके यथार्थ ज्ञानके सन्देहवारक उपदेशद्वारा उद्धारोपयोगिता सिद्ध होती है. केवल मीमांसाके श्रवणमात्रसे मोक्षपुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो जाती.

शाङ्करवेदान्तका अभिप्राय इस विषयमें यों है कि अप्रत्यक्षविषयके बारेमें शब्दजन्य ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं हो सकता है परन्तु स्वयंप्रकाश वस्तुके बारेमें या प्रत्यक्षज्ञानकी विषयीभूत वस्तुके बारेमें होनेपर शब्द भी अपरोक्षज्ञानजनक हो सकता है. उदाहरणतया आंखोंसे दिखलायी देता वृक्ष पीपल है या बरगद यह समझ न पानेपर कोई वृक्षभेदको जाननेवाला— "यह बरगद है" ऐसा बोले तो इन शब्दोंसे ही वृक्षके बरगद होनेका अपरोक्षज्ञान सिद्ध हो जाता है.

शाङ्करवेदान्तकी इस धारणाके निराकरणार्थ महाप्रभु कहते हैं:—

> 'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ प्रत्यक्षसामग्र्याः बलवत्त्वाद्, देहादेः प्रत्यक्षत्वात्, स्वदेहमपि पश्यन् 'दशमोऽहम्' इति मन्यते न तथा प्रकृते, मननिदिध्यासनविधीनाम् आनर्थक्यप्रसङ्गात्" (ब्र.सू.भा.१।१।१).

अर्थात् वाल्लभवेदान्तको इस विषयमें यह अनुपपत्ति लगती है कि किसी "दसवें तुम स्वयं हो" इस वाक्यमें दस व्यक्तिओंकी गिनतीमें भूल करनेवालेके, अथवा "यह बरगद है" इस वाक्यमें वृक्षके बरगद होनेके, जो लक्षणघटक गुण होते हैं वे तो स्वमनोग्राह्य या चक्षुर्ग्राह्य ही होते हैं. अतः तदुपदेशक शब्दोंके सहयोगको पा कर मन या आंख ही उन गुणोंको ग्रहण करनेमें सक्षम हो जाते हैं, अर्थात् शब्दसे अपरोक्षज्ञानके प्रकट होनेकी यहां

कोई तुक ही नहीं है. आत्मचेतनाकी स्वयंप्रकाशताको तो मान्य रखनेपर भी, इस स्वयंप्रकाश चेतनाके एकमेवाद्वितीयता या सकलद्वैतभ्रमाधिष्ठानता आदिरूप जो ब्राह्मिक गुण शाङ्करवेदान्तको अभिप्रेत हैं, वे यदि स्वयंप्रकाशताके साथ भासित होते हों तो ब्रह्मकी वेदैकगम्यता निरस्त हो जायेगी. श्रौतोपदेशको श्रवण कर लेनेपर भी ये गुण यदि भासित न होते हों तो मानना पड़ेगा कि तथाभिमत श्रौतसिद्धान्तके रूपमें ही ये गुण समझमें आते हैं अपरोक्षज्ञानतया नहीं. अतः इस वेदान्तवाक्यार्थकी मीमांसाका अव्यवहित फल ब्रह्मसाक्षात्कार ही है, ऐसा स्वीकारा नहीं जा सकता है. क्योंकि वाक्यार्थबोधके जननार्थ वाक्यश्रवण या वाक्यार्थमनन रूपी व्यापारमें ही वाक्यार्थमीमांसा अङ्गभूत हो सकती है, ब्रह्मसाक्षात्कारकेलिये आवश्यक साधनरूप अवशिष्ट निदिध्यासनमें इसका साक्षाद् उपयोग शक्य नहीं.

अतः—

१. ''तत्त्वमसि''
२. ''अहं ब्रह्मास्मि''
३. ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''

इन श्रुतिवचनोंके शब्दोंके श्रवणमात्रसे परोक्ष ब्रह्मज्ञान ही प्रकट हो सकता है—अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान नहीं. इन तीनों ही वचनोंमें १.त्वम् २.अहम् ३.इदं-सर्वम् प्रत्यक्षतया अवगत ही उद्देश्यांश हैं, जिनके बारेमें ब्रह्म होनेके श्रौत विधानसे इनके ब्रह्मात्मक होनेका परोक्षज्ञान ही प्रकट होता है, विधेयांशके श्रुत्येकगम्य होनेसे. महाप्रभु कहते हैं कि प्रत्यक्षज्ञानके विषयीभूत देवदत्तके बारेमें कोई ''यह देवदत्त वन्ध्यापुत्र है'' ऐसा विधान करे तो उद्देश्यांशके प्रत्यक्ष होनेके कारण; और विधेयांशके अत्यन्त असद् होनेपर भी, शब्दजन्य परोक्षबोध तो शक्य बन ही जाता है. इस उदाहरणका विचार करनेपर ''तत्त्वमसि'' सदृश वचनोंके श्रवणसे भी परोक्ष ब्रह्मज्ञानके उत्पन्न होनेमें कोई अनुपपत्ति हो नहीं सकती. अतः उक्तश्रुतिवचनोंसे

जन्य ज्ञान अपरोक्षज्ञान नहीं परन्तु परोक्षज्ञान ही होता है. शाङ्करवेदान्तके सुलझे हुवे किसी भी मान्य आधुनिक अमुमुक्षु विद्वान्‌को "तत्त्वमसि" महावाक्यका शाङ्करवेदान्तको अभिप्रेत अर्थ निःसन्दिग्धतया क्या ज्ञात नहीं हो सकता? एतावता उसे ब्रह्मसाक्षात्कार सिद्ध हो गया ऐसा तो स्वीकारा नहीं जा सकता है.

श्रवणमात्रसे, अतः, मुक्तिलाभको वेदान्तमीमांसाके प्रमुख प्रयोजनके रूपमें मान्य करनेके बजाय परम्परया मुक्त्युपयोगी सन्देहरहित परोक्ष शाब्दज्ञानकी प्राप्तिको प्रमुख प्रयोजनके रूपमें मान्य करना वाल्लभ वेदान्तको अभीष्ट है:—

> 'जिज्ञासा' पदेन च एतद् ज्ञापयति ब्रह्मज्ञानं पुरुषार्थसाधनत्वाद् इष्टं, तदिच्छापूरणाय विचारः आरभ्यते इति. यस्मात् कर्मादिभ्यो ज्ञानमेव [परम]पुरुषार्थसाधनम् इत्यतः तज्ज्ञानाय विचारो अधिक्रियते इति (ब्र.सू.भा.१।१।१).
>
> भावार्थ: '[ब्रह्म]जिज्ञासा' पदके प्रयोगद्वारा यह बात समझायी जा रही है कि पुरुषार्थके साधन होनेके कारण ब्रह्मज्ञान अभिलषित है और इसी अभिलाषाकी पूर्तिकेलिये प्रस्तुत वेदान्तवाक्यार्थविचार प्रवृत्त हो रहा है. क्योंकि यज्ञादिरूप कर्मादिकी तुलनामें ब्रह्मज्ञान परमपुरुषार्थका साधक होता है. अतः ब्रह्मके सन्देहरहित ज्ञानकी प्राप्तिके हेतु ब्रह्मनिरूपक वेदान्तवाक्योंके अर्थोंका विचार प्रवृत्त होता है.

संसारासक्तिको शिथिल बना कर जीवको मुक्तिमार्गकी ओर अग्रसर करना दोनों ही मीमांसाओंका समान प्रयोजन होनेपर भी पूर्वमीमांसानिरूपित कर्मोके निष्काम अनुष्ठानसे प्राप्त होती मुक्ति

शाश्वत आत्मसुखानुभूतिरूपा होती है जबकि उत्तरमीमांसानिरूपित ब्रह्मज्ञानसे प्राप्त होती मुक्ति ब्रह्मानन्दानुभूतिरूपा होती है. अतः अवान्तरप्रयोजन पुनः भिन्न-भिन्न हो जाते हैं (द्र.त.दी.नि. २।१-८,१०४ तथा ३१२-३१४)

[३]अधिकार्यैक्यके अन्तर्गत एक विचारसम्भावना यह है कि दोनों मीमांसाओंका उपदेश करनेवाला कोई एक है या अनेक? दूसरी विचारसम्भावना यह है कि दोनों मीमांसाओंका श्रवण करनेवाला एक ही होना चाहिये या विभिन्न भी हो सकते हैं? तीसरी, अथवा, विचारसम्भावना यह भी हो सकती है कि दोनों मीमांसाओंको प्रकट करनेवाले महर्षि जैमिनि और बादरायण ने आपसी सहयोगसे ही इस कार्यमें प्रवृत्त होना स्वीकार कर मीमांसाप्रणयन किया है, इसलिये दोनोंका एक्य है या नहीं. इस तरह तीन कल्प सोचे जा सकते हैं:—

क.उपदेशकैक्य
ख.उपदेश्यैक्य
ग.उपदेशप्रवृत्तिप्रकारैक्य

क. इस विषयमें महाप्रभु कहते हैं: जैमिनिः कर्मतत्त्वज्ञो निर्णयं पूर्व उक्तवान्, व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञ उत्तरे निर्णयं जगौ (त.दी.नि.२।३०). अतः दोनों मीमांसाओंमें दोनोंके परस्पर सहयोगी होनेके तथ्यको स्वीकारनेपर भी दोनों मीमांसाशास्त्रोंके उपदेशकोंका ऐक्य तो कोई भी नहीं स्वीकारता.

ख. दैवी जीवोंकेलिये प्रकट किये गये वेदके वास्तविक अभिप्रायको समझानेकेलिये प्रणीत मीमांसाके सच्चे अधिकारी त्रैवर्णिक दैवी जीव ही हो सकते हैं परन्तु उन दैवी जीवोंके भीतर भी उत्तम मध्यम तथा मन्द अधिकारिओंके अवान्तरभेद तो हो ही सकते हैं. उत्तमाधिकारिओंको तो कभी वेदवचनोंके आशयमें सन्देह होता ही नहीं है फिर भी वेदवचनाशयके उनके सन्देहरहित बोधको सुदृढ़ कर देना भी उत्तमाधिकारिओंके सन्दर्भमें मीमांसाका एक

अन्यतम प्रयोजन है. वेदवचनाशयके बारेमें मन्द-मध्यमाधिकारिओंके हृदयमें तो स्वस्वाधिकारानुरूप सन्देह उभरते ही हैं, अतः उनके सन्देहोंका निवारण ही मीमांसाका मन्द-मध्यमकोटिका प्रयोजन है (द्र.त.दी.नि.२।२९ तथा ब्र.सू.भा.१।१।१).

ग. उपदेशप्रवृत्तिप्रकारैक्य तो दोनों महर्षिओंके बीच सर्वथा मतैक्य ही होता तो मान्य हो सकता था. वह तो दोनों सूत्रग्रन्थोंमें प्रकट हुवे आपसी मतभेदके ही कारण मान्य नहीं हो पाता है. महाप्रभु इन दोनों ऋषिओंकी वेदवाक्यार्थोंके विचारोपदेशकी प्रवृत्ति या रीति की विवेचना करते हुवे कहते हैं कि महर्षि बादरायण व्यास केवल शब्दबलके आधारपर मीमांसार्थ प्रवृत्त हुवे हैं, जबकि महर्षि जैमिनि शब्दबल और अर्थबल दोनोंके आधारपर मीमांसार्थ प्रवृत्त हुवे हैं (द्र.पत्रा.कारि. २१ तथा ब्र.सू.भा.१।२।२८). स्वाभाविकतया यह उपदेशप्रवृत्तिके प्रकारैक्यके हेतुको शिथिल बना देती है. इस विषयमें श्रीवेदान्तदेशिकका कहना है कि दो श्रुतिओंमें परस्पर विरोधाभास प्रकट होनेपर जैसे सन्दर्भभेद खोज कर समन्वय स्थापित किया जाता है, वैसी ही नीति यहां भी अनुसरनी चाहिये. इस विषयमें महाप्रभुकी स्पष्ट घोषणा यही है कि व्याससे विरुद्ध न होनेपर ही जैमिनिके वचनोंको प्रमाण मानना चाहिये : "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि...चकाराद् जैमिनिसूत्राणि च. 'एव'कारेण व्याससूत्राविरोधेनैव तदङ्गीकरणम्" (त.दी.नि.१।७).

[४-५]साधनस्वरूपैक्य तथा फलस्वरूपैक्य का विचार वैसे तो विषयैक्य और प्रयोजनैक्य के विचारसे गतार्थ हो ही जाता है सो पुनरुक्ति अनावश्यक है फिर भी इतना इस विषयमें और मननीय तथा सुस्पष्टतया निर्धारणीय है :—

> भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्तु-
> रेव. तत्र हेतुः—तदभिव्यक्तौ सत्यां षोढा विहितः
> चेद् अभिव्यक्तो भवति... मर्यादायां क्रममोक्षएव

> फलं; सद्योमुक्तिस्तु अतिकृपया. ब्रह्मज्ञानाभावे तु पञ्चात्मकाद् भगवतः स्वर्गसुखं भवति... सच स्वर्गो द्विविधः... सत्त्वाकारान्तःकरणे सर्वेहानिवृत्तौ यद् आत्मसुखं प्रकटीभवति तद् अग्निहोत्रादिसाध्यम्. सर्वदेवानाम् अधिकृतानां तुष्टौ आध्यात्मिकत्वे यागस्य जाते आत्मानन्दः प्रकटो भवति. एतदभावे तु भौतिकत्वे स्वर्गलोको भवति. (त.दी.नि.२।४-५).
>
> भावार्थ: पूर्वकाण्डोक्त कर्मोका यथाविधि अनुष्ठान करनेवाला यदि ब्रह्मज्ञानयुक्त भी हो तो भगवदानन्दरूप फल मिलता है. सामान्य मर्यादा इस बारेमें क्रममुक्ति ही मिलनेकी है परन्तु अतिकृपालु होनेपर भगवान् सद्योमुक्ति भी प्रदान करते हैं. ब्रह्मज्ञान न होनेपर पञ्चात्मक कर्मरूप भगवान् स्वर्गसुख प्रदान करते हैं... यह स्वर्ग पुनः दोमेंसे किसी एक प्रकारका हो सकता है... अन्तःकरणके सात्त्विक हो जानेपर — सारी कामनाओंके निवृत्त हो जानेपर — जो आत्मसुख प्रकट होता है वह अग्निहोत्रादि कर्मोसे साध्य फल होता है. कर्माधिकारी सभी देवताओंके सन्तुष्ट होनेपर अनुष्ठित याग आध्यात्मिक कक्षाका सिद्ध हो जाता है, ऐसा कि जिससे आत्मानन्दरूप फल प्राप्त होता है. अन्यथा अनुष्ठित यागके भौतिक कक्षाके रह जानेपर लोकरूप क्षयिष्णु स्वर्गसुख मिलता है.

पूर्वकाण्डमें निरूपित सकाम कर्मोकी फलप्रापकता कर्मोकी स्वतःसिद्ध सामर्थ्यके कारण न हो कर उत्तरकाण्डोक्त जो ब्रह्म है उसके कर्मात्मना प्रकट होनेके कारण सिद्ध होती है. इन्हीं पूर्वकाण्डोक्त कर्मोंके ब्रह्मज्ञानरहित निष्काम अनुष्ठान करनेपर या

ब्रह्मज्ञानसहित निष्काम अनुष्ठान करनेपर क्रमशः आत्मसुखरूप स्वर्ग या ब्रह्मानन्द रूप फलोंके भी ये साधन बन सकते हैं. यह कर्मफलव्यवस्था जैमिनिमीमांसित कहां है? यह तो वेदान्तसिद्धान्त ही है. अतः दोनोंमें सर्वथा एक ही स्वरूप साधनोंका समझाया गया हो ऐसा भी स्वीकारा नहीं जा सकता है. इसके अलावा न तो पूर्वकाण्डके अधिकतमांशमें और न पूर्वमीमांसामें ही ब्रह्मज्ञानरूप साधन और उसकी प्राप्तिके उपायोंकी ही कोई चर्चा है. निष्कर्षरूपेण आत्यन्तिक साधनस्वरूपैक्य या आत्यन्तिक फलस्वरूपैक्य न तो पूर्वोत्तर काण्डदृष्ट्या उपपन्न होता है और न पूर्वोत्तर मीमांसादृष्ट्या ही.

::वेद और वेदान्त का भेद अभेद या तादात्म्य::

इस तरह हम देख सकते हैं कि पूर्वोत्तरमीमांसाओंका ऐकशास्त्र्य हो या न हो परन्तु हर सूरतमें श्रुतिवचन होनेके रूपमें वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंका ऐकशास्त्र्य सभी को मान्य है ही. यहां यह एक शङ्का उठ सकती है कि स्वयं उपनिषद् अपने-आपको वेदोंसे पृथक् वेदान्ततया घोषित क्यों करते हैं?

यथा :—

> क. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते (मु.उ.१।१।९).
>
> ख. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति...एषा वेदोपनिषत् (तै.उ.१।११।१-४).
>
> ग. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं...सोऽहं भगवो

मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्...(छा.उ.७।१।१-३).

घ. यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः (म.ना.उ.१०।८).

ये और एसे अन्य भी अनेक भेदोल्लेखोंमें— "सभापति महोदय! तथा उपस्थित सज्जनो और सन्नारिओ!" की विशेषोल्लेखकी शैलीका अनुसरण समझना चाहिये. अन्यथा 'वेदान्त' पदका प्रयोग भी उपनिषदोंकेलिये शक्य नहीं रह जायेगा, क्योंकि जो स्वयं वेद ही न हो वह वेदका अन्तिम भाग कैसे हो पायेगा? इसके अलावा "सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति...तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" (क.उ.१।२।१५) जैसे वचनोंके आधारपर वेदवेद्य ब्रह्मका ही निरूपण उपनिषदोंको भी अभिप्रेत है. अतएव ब्रह्मयज्ञके निरूपणमें "यत् स्वाध्यायम् अधीयीत एकामपि ऋचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः सन्तिष्ठते यदृचोऽधीते... यद्यजूंषि...यत्सामानि... यद् ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि..." (तैत्ति.आर.२।१०) कह कर ब्राह्मण और वेद को भी पृथक्-पृथक् गिनाया गया है जबकि महर्षि जैमिनि "शेषे ब्राह्मणशब्दः" (जै.सू.२।१।८) सूत्रद्वारा मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही भागोंका वेद होना निरपवादतया स्वीकार रहे हैं. मुख्य बात तो यही है कि जिस परम्पराके द्वारा एक निश्चित शब्दराशिको वेदत्वेन मान्य रखा गया है, वही परम्परा उपनिषदोंको भी वेदत्वेन मान्य रखती ही है, ऐसी स्थितिमें एकका वेदत्व सन्दिग्ध माननेपर दूसरेका भी वेदत्व सन्दिग्ध ही बन जायेगा (द्र.पत्रा.कारि.२९-३०).

अतः वेद और वेदान्त का ऐकशास्त्र्य परम्परातः सर्वमान्य है, अतएव, वेदविहित वेदाध्ययनके अन्तर्गत उपनीत द्विजोंकेलिये वेदान्तका भी अध्ययन आवश्यक कर्तव्य माना गया है.

::विध्यर्थमीमांसा::

इस वेदविहित वेदाध्ययनके प्रसङ्गवशात् पहले विधिवाक्य और विधिवाक्यार्थ के स्वरूपोंकी मीमांसा कुछ थोड़ी-बहोत आवश्यक

हो जाती है. विधिका सामान्य स्वरूप क्या है? अर्थात् अश्वगमनरूप तथ्यके साथ ''यह अश्व जा रहा है'' सदृश वचनोंका प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव या प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध माना जाता है. ऐसे ही तथा-तथाभिमत कृतिसाध्यता अवश्यकरणीयता इष्टाभ्युपायता या बलवदनिष्टाननुबन्धिता आदि अर्थोंमेंसे अन्यतम या इन सभी अर्थोंके समन्वित रूपोंवाले कर्मानुष्ठानके साथ विधिवाक्योंका भी क्या प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध होता है? अथवा शासित प्रजाजनसे या छोटे बच्चोंसे जैसे शासकगण या माता-पिता अपना मनमाना काम हठात् करवा ही लेते हैं, वैसे ही वाक्यार्थके अवगत होनेपर विधिवाक्य भी क्या कृतिसाध्यरूप अवश्यकरणीयरूप इष्टाभ्युपायरूप या बलवदनिष्टाननुबन्धिरूप कर्मानुष्ठान करवा ही लेते हैं? अर्थात् कर्मानुष्ठान या कर्मानुष्ठाता के और विधिवाक्य के बीच भी क्या जन्य-जनकभाव या प्रवर्त्य-प्रवर्तकभाव सम्बन्ध है?

विधिविवेककार श्रीमण्डन मिश्रने इस मौलिक प्रश्नको बहोत ही मननीय शब्दोंमें उपस्थापित किया है:—

> प्रमाणं ही शब्दः प्रतिज्ञायते बोधकञ्च प्रमाणम्. तत्र प्रवृत्तिहेतुं कञ्चन अर्थातिशयम् अवगमयन् शब्दः चोदनात्वेन प्रमाणताम् अश्नुते. स्वयमेवतु प्रवृत्तेः कारकः तां प्रमाणताम् अपजह्यात्, नहि कारको हेतुः प्रमाणम् अपितु ज्ञापकः (वि.वि.का.२).
>
> भावार्थ: प्रमाण तो सभी बोधक ही होते हैं और शब्दके बारेमें वह ''प्रमाण है'' ऐसी प्रतिज्ञा भी की जा रही है. अतः शब्दको प्रमाण मानना हो तो स्वीकारना पड़ेगा कि वह हमें किसी कर्ममें प्रवृत्त करानेवाले किसी हेतुविशेषका बोधक होता है. ऐसा स्वीकारनेपर ही शब्दको प्रवर्तक

> प्रमाणके रूपमें स्वीकारा जा सकता है. प्रवृत्तिकारक हेतुका बोधक बननेके बजाय शब्द स्वयं ही यदि प्रवृत्तिकारक हेतु बन जाता हो तो शब्दकी प्रमाणता ही निरस्त हो जायेगी; क्योंकि कारकहेतुको कोई भी प्रमाण नहीं मानता—प्रमाण तो ज्ञापकहेतु ही होता है.

अत: यह विचारणीय बन जाता है कि विधिवाक्य किसी कृतिसाध्यरूप इष्टसाधनरूप या बलवदनिष्टाननुबन्धिरूप किसी कर्तव्यमें श्रोताको प्रवृत्त ही कर देते हैं अथवा ऐसे कर्तव्यका केवल बोध पैदा करते हैं?

पत्रावलम्बन (कारि.१२वीं)के विवरणमें श्रीपुरुषोत्तमजी— ''अत्र 'नियोग' पदोक्त्या प्राभाकरमतस्य अस्मिन् स्थले साधुत्वं बोधितम्'' कहते हैं. इससे प्रश्न उठता है कि महाप्रभुके मतमें नियोग ही क्या विध्यर्थतया स्वीकारा गया है और क्या ठीक उसी रूपमें जिस रूपमें प्राभाकरमीमांसकोंको मान्य है?

वैसे तो 'नियोग' 'प्रेरणा' 'प्रवर्तन' 'आज्ञा' या 'विधि' ये सभी पर्यायवाचक शब्द हैं फिरभी प्राभाकरोंने 'नियोग' पदकी कुछ पारिभाषिक विशेषता इस तरह समझानी चाही है:—

> [१]'लिङ्' आदि प्रत्ययोंद्वारा नियोगार्थका अभिधान होता है [अर्थात् इष्टसाधनताका नहीं]. उस 'लिङ्' प्रत्ययके साथ प्रकृतिके रूपमें जुड़े धातुपदका अर्थ नियोगका विषय बनता है. अन्यान्य पद उस नियोगविषयके विशेषण नामधेय और नियोज्य का अभिधान करनेवाले बन कर नियोगार्थकी प्रतीतिमें व्यापृत होते हैं.
>
> [२]'लिङ्' आदि प्रत्ययोंद्वारा कार्यरूप अपूर्वका

> अभिधान होता है. अनुष्ठानके बिना तो किसी कर्मकी कार्यरूपता निभ नहीं पाती. कर्ताके बिना किसी कर्मका अनुष्ठान उपपन्न नहीं हो पाता. अधिकारकी प्रतीतिके बिना कर्ममें किसीको भी अपने कर्ता होनेका बोध नहीं हो पाता. नियोगार्थरूप कर्ममें अधिकार तो नियोज्यका ही हो सकता है. अतः जो कोई ''यह मेरा कर्तव्य है'' ऐसे समझ पाता है वही स्वकीय कर्तव्यके साधनरूप कर्मको 'मेरा-कर्म' माननेके कारण उस कर्मका अधिकारी बन पाता है.
>
> (प्रकरणपञ्चिका-शास्त्रपरिच्छेद)

''विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् लोट् च'' (पाणि.सू.३।३।१६१-२)सूत्रोंके महाभाष्यके—''विधिः नाम प्रेषणम्. अधीष्टं नाम सत्कारपूर्विका व्यापारणा. ...यत् नियोगतः कर्तव्यं तत् निमन्त्रणम्, ...अधर्मः प्रत्याख्यातुः. आमन्त्रणे कामचारः.'' वचनकी व्याख्या करते हुवे प्रदीपकार कहते हैं कि भृत्य आदिको किसी क्रियामें नियोजित करना 'विधि' है और किन्हीं आदरणीय गुरुजनोंको किसी काम करनेकी विनती करना 'अधीष्ट' कहलाता है. उद्योतकार यहां एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण यह भी देते हैं कि महाभाष्यकार क्योंकि प्रवर्तनाके पर्यायतया 'व्यापारणा' पदका प्रयोग कर रहे हैं इस कारणसे 'लिङ्' या 'लोट्' प्रत्ययोंका अर्थ इष्टसाधनताका ज्ञान नहीं हो सकता है, अन्यथा 'णिच्' प्रत्ययसे इनका भेद ही सिद्ध नहीं होता ऐसे आशङ्कापरक भाष्यवचनसे विरुद्ध हो जायेगा.

एतदर्थ ''हेतुमति च'' (पाणि.सू.३।१।२६)सूत्रकी व्याख्यामें 'णिच्' और 'लोट्'-'लिङ्' प्रत्ययोंके प्रयोगभेदके रहस्यको समझाते हुवे जो महाभाष्यकारने विवेचन प्रस्तुत किया है वह मननीय

है :—

> “आप मुझसे कुछ पूछें!” ऐसी विनती जब शिष्य गुरुको करता हो तो “शिष्य गुरुसे प्रश्न करवा रहा है” ऐसा णिजन्त प्रयोग उपपन्न नहीं होता. क्योंकि शिष्य तो विनती ही कर रहा है पूछना या न पूछना गुरुकी इच्छापर निर्भर है. अतः उल्लिखित ‘लोट्’ या ‘लिङ्’ प्रत्ययोंके प्रयोगके उदाहरणोंमें प्रश्न करवानेकी क्रियाके कर्ताके रूपमें शिष्य विवक्षित नहीं हो पाता है.

यहां यह अवधेय है कि [१]‘णिच्’ प्रत्ययके उदाहरणानुवाद, यथा, “मालिक नोकरसे काम करवाता है” तथा [२]‘लिङ्’-‘लोट्’ प्रत्ययोंके उदाहरणानुवाद, यथा, “तुम काम करो!” यों इन दोनों ही प्रत्ययोंके उदाहरणानुवादोंमें सामान्यतया सन्दर्भोपात्त क्रियाका प्रवर्तक एक प्रयोजक-कर्ता होता है और दूसरा उसकेद्वारा प्रवृत्त होनेवाला प्रयोज्य-कर्ता होता है. फिरभी [१]‘णिच्’के उदाहरणमें प्रयोज्य-कर्ताके सक्रिय होनेका बोध होता है जबकि [२]‘लिङ्’-‘लोट’के उदाहरणमें प्रयोज्य-कर्ताके सक्रिय होनेका बोध नियततया विवक्षित नहीं होता. अतएव श्रीभर्तृहरि कहते हैं :—

प्रेषणाध्येषणे कुर्वन् तत्समर्थानि चाचरन्।
कर्तैव विहितां शास्त्रे हेतुसंज्ञां प्रपद्यते॥
द्रव्यमात्रस्य तु प्रैषे पृच्छ्यादेर्लोड् विधीयते।
सक्रियस्य प्रयोगस्तु यदा स विषयो णिचः॥
(वा.प. : ३।साध.समु.१२५-१२६).

इसकी व्याख्या करते हुवे श्रीहेलाराज कहते हैं कि ‘लिङ्’-‘लोट्’ प्रत्ययोंके प्रयोगमें प्रयोज्य-कर्तृतया विवक्षित पुरुषमें आधीयमान कर्तृत्व प्रतीत होता है. प्रयोजक-कर्ताद्वारा दी जाती जिस तरहकी प्रेरणाका बोध ‘लिङ्’-‘लोट्’ प्रत्ययोंद्वारा होता है वह प्रेरणा

धात्वर्थोपाधिद्वारा द्योतित होती है, धातुप्रत्ययसे वाच्य नहीं. क्योंकि वास्तविक प्रेरणादानरूप व्यापार तो वैसे धातु-प्रत्ययरूप शब्दोंके प्रयोग करनेवाले प्रयोजक-कर्तामें निहित होता है, अतएव, भूत भविष्य या वर्तमान कालमेंसे किसी भी कालके साथ उसे जोड़ा नहीं जाता है. 'णिच्' प्रत्ययके प्रयोगमें प्रयोजक-कर्ताद्वारा प्रयोज्य-कर्ताको दी जाती प्रेरणा इस प्रत्ययका वाच्य ही बन जाती है. अतएव उस क्रियाके आश्रयभूत भूत भविष्य या वर्तमान मेंसे किसी एक विवक्षित कालके साथ जोड़ कर ही उसे बोला जाता है.''

अतएव यद्यपि प्रवर्तनात्वरूप धर्म विधि निमन्त्रण आमन्त्रण या अध्येषण चारों ही में समान है, फिरभी अर्थछायाके जो भेद होते हैं, वे प्रवर्तक वक्ताके काकुके कारण प्रकट होते हैं, शब्दसामर्थ्यवश नहीं. एतावता उन्हें शब्दवाच्य न भी मानें परन्तु उनसे विरुद्धार्थ भी तो वाच्य हो नहीं सकता! एक डकैत जैसे स्वर या ध्वनि में किसी निरीह पथिकको उसका माल-समान सामने रख देनेकी प्रवर्तना करता है, अर्थात् धमकी देता है, वैसे स्वरोंमें न तो किसी ब्राह्मणको कोई गृहस्थ श्राद्धभोजनार्थ आमन्त्रित=प्रवर्तित करता होता है, न एक मित्रको ही दूसरा मित्र भोजनार्थ आमन्त्रित=प्रवर्तित करता है, न ही माता अपने पुत्रको भोजन करनेकेलिये इन ऐसे स्वरोंमें मनुहार=प्रवर्तना करती है; और न एक नोकर ही अपने मालिकको भोजन करनेका समय हो जानेसे उठ कर भोजनार्थ पधारनेकी विनती=अध्येषणा ही इन उल्लिखित स्वरोंमें कभी करता होता है. ऐसी स्थितिमें 'लिङ्' या 'लोट्' प्रत्ययोंसे श्रोताके कर्तव्य, इष्टसाधन या बलवदनिष्टाननुबन्धी कर्मका निरूपण अथवा आदेश अनुदेश समादेश उपदेश अनुनय या विनती इनमेंसे किसी एक ही प्रकारके अर्थ या इन सभी अर्थोंके समुच्चय का दुराग्रह युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है. सभी उदाहरणोंमें अलग-अलग अर्थोंकी छाया

प्रतीत होती ही हैं. किसी प्रसङ्गमें प्रयोज्य-कर्ता प्रयोजक-कर्ता अर्थात् वक्ताके आधीन होता है तो अन्य प्रसङ्गमें अपराधीन भी. पराधीनता भी सर्वत्र एकरूपा नहीं होती, क्योंकि वह भी आध्यात्मिक मानसिक बौद्धिक शारीरिक सामाजिक आर्थिक आदि अनेक कारणोंसे प्रयुक्त हो सकती हैं. तदनुसार प्रयोज्य-प्रयोजक कर्ताओंके सम्बन्धोंमें और तन्मूलक प्रवर्तानाओंकी अर्थछायामें अन्तर होता ही है. अतएव आवश्यक नहीं एक मालिक जब अपने नोकरको अपने किसी कामको करने [उदा. भोजनकी थाली लाने या पहननेके वस्त्र लाने]की आज्ञा देता है तो नोकरको उसके कृतिसाध्य कर्मका, उसके इष्टसाधन कर्मका; या उसके अवश्यकर्तव्यका विधान कर रहा होता है. नोकर भी जब आदेशानुसार अपेक्षित वस्तुको अपने मालिकके सामने ला कर प्रस्तुत करते हुवे विनती करता है कि ‘‘मालिक! भोजनकी थाली परोस दी है. आप भोजन करने पधारिये!’’ तो मालिकको उसकी कृतिसे साध्य कर्ममें, या इष्टसाधनरूप कर्ममें; अथवा अवश्यकर्तव्यरूप कर्ममें प्रवर्तित करना चाहता है, ऐसा स्वीकारना कठिन है. वह तो, क्योंकि, स्वयं ही उसकी आज्ञासे प्रवृत्त हुवा है. उसके निवेदनका अर्थ प्रवर्तना होना भी आवश्यक नहीं प्रत्युत मालिककी प्रवर्तनाके अनुसार कर्मके सम्पन्न हो जानेकी मालिकको सूचना देना ही हो सकता है. अन्यथा ‘लिङ्’-‘लोट्’ प्रत्ययान्त धातुशब्दके प्रयोगके असामान्य न होनेसे. अतः उल्लिखित अर्थोंमेंसे किसी एक अर्थका दुराग्रह वक्ताके बोलनेकी ध्वनिसे व्यक्त होते भावोंसे सर्वथा विरुद्ध जान पड़ते हैं.

कर्ताकी व्याख्या करते हुवे व्याकरण-सूत्रकारने जो ‘‘स्वतन्त्रः कर्ता, तत्प्रयोजको हेतुश्च’’ (पाणि.सू.१।४।५४-५५) परिभाषा निर्धारित की है उसके अनुसार महाभाष्यकारका आशय कुछ इस तरह है :—

यदि कोई स्वतन्त्र हो तो उसे प्रयोज्य नहीं

> बनाया जा सकता और यदि कोई प्रयोज्य है तो उसे 'स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता, 'प्रयोज्य' भी कहना और 'स्वतन्त्र' भी कहना तो वदतोव्याघात लगता है. यह आशङ्का, परन्तु, अनुचित है, क्योंकि जिसमें कर्तृत्व हो उसे ही कुछ काम करनेको कहा जा सकता है और किसीके कहनेपर कुछ काम करनेवाला ही 'प्रयोज्य-कर्ता' कहलाता है. अन्यथा स्वतःकर्तृत्वरहित दण्डादि साधनोंको 'करण' ही कहा जाता है, 'प्रयोज्य-कर्ता' नहीं.

इस शङ्काके सन्दर्भमें वाल्लभवेदान्तका जो दृष्टिकोण है उसका अणुभाष्यकारके शब्दोंमें अनुसन्धान करना उपयोगी होगा :—

> कर्ता जीवएव. कुतः? शास्त्रार्थवत्त्वात्. जीवमेव अधिकृत्य वेदे अभ्युदयनिःश्रेयसफलार्थं सर्वाणि कर्माणि विहितानि, ब्रह्मणो अनुपयोगात्—जडस्य अशक्यत्वात् कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव. तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत्, नतु जडगतम् इति. अतो "नान्योतोऽस्ति" इति सर्वकर्तृत्वं घटते. कुतः एतत्? तच्छ्रुतेः, तस्यैव कर्तृत्व-कारयितृत्वश्रवणात्—"यमधो निनीषति तमसाधु कारयति" सर्वकर्ता सर्वभोक्ता सर्वनियन्ता इति सर्वरूपत्वात् न भगवति दोषः (अणुभा. २।३।३३-४१).
>
> भावार्थ: जीव कर्ता होता ही है. क्योंकि सारे कर्म, जो अभ्युदय या निःश्रेयस के उपायतया विहित हैं, वे जीवकेलिये ही तो हो सकते हैं—परमेश्वर या जड़वस्तु केलिये तो वे सारे कर्म अनावश्यक या अशक्य ही होते हैं. जीवका यह कर्तृत्व भी मूलतः तो ब्रह्मगत ही होता है किन्तु क्योंकि जीव स्वयं ब्रह्मका अंश है अतः

> ब्रह्मके अन्य गुणोंकी तरह वह भी जीवमें अंशरूपेण विद्यमान रहता है. ब्रह्मके अलावा दूसरा कोई भी द्रष्टा श्रोता मन्ता या विज्ञाता हो ही नहीं सकता ऐसा सर्वकर्तृत्व श्रुतिमें सुस्पष्ट कहा गया है. ब्रह्मका ही कर्ता-कारयिता होना भी श्रुतिप्रोक्त है— "अधोनिनीषावश असाधु कर्म जीवसे वही करवाता है." भगवान् सर्वरूप हैं अतः सर्वकर्ता सर्वभोक्ता और सर्वनियन्ता भी हो ही सकते हैं.

इससे यह सिद्ध होता है कि जीव कर्ता होनेके कारण किसी अंशमें स्वतन्त्र है, तो अंश होनेके कारण किसी अंशमें अस्वतन्त्र भी. स्पष्ट है कि सृष्टिलीलामें जीवात्माको कभी करचरणादिरूप आत्मीय करणतया भी कुछ कर्म भगवान् करवाते हैं, उदाहरणतया, "मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्...मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा" (भ.गी.११।३३-३४) और कहीं प्रयोज्य-कर्तृतया— "एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति (कौ.उ.३।८). यद्यपि व्याकरणशास्त्र कर्तृ-करणके पार्थक्यको सुपरिभाषित रखना चाहता है, जिसे अन्यान्य सन्दर्भोंमें वाल्लभवेदान्तको भी मान्य रखना ही पड़ेगा. फिरभी ब्रह्म-जीवके सम्बन्धनिर्धारणका जहां प्रश्न उठता है, वहां पदसाधुत्वनिर्धारक व्याकरणशास्त्रकी तुलनामें उपनिषद्वाक्योंके अर्थसाधुत्वके निर्धारक उत्तरमीमांसाके प्रामाण्यपर अवलम्बित होना वाल्लभवेदान्तको अभिप्रेततर लगता है.

वाक्यार्थनिश्चयमें उभरती असम्भावना-विपरीतभावनाओंके निराकरणार्थ यह उपपत्ति विचारी जा सकती है: हमारे श्वासोच्छ्वासकी क्रिया इच्छातन्त्र नहीं होती प्रत्युत हमारी इच्छाके बिना, स्वभावसे ही वह चलती रहती है; फिरभी प्राणायामसाधनाकी प्रक्रियामें उसे हम इच्छातन्त्र भी बना ही सकते हैं. इसी तरह जीवात्मा भी अपने स्वाभाविक तथा आंशिक कर्तृत्वके बलपर ही इष्टानिष्टविषयोंके

प्राप्तिपरिहारके उपायोंके अनुष्ठानोंमें स्वतः ही प्रवृत्त होती रहती है, फिरभी परमात्मा जब चाहे तब अपनी दिव्येच्छाके आधीन भी किसी जीवात्माको बना कर यथेष्ट बोध इच्छा या प्रवृत्ति से सम्पन्न बना ही सकता है. अश्व जैसे स्वतः चलने-विचरने स्वातन्त्र्यसे सम्पन्न होनेपर भी सारथीके निर्देशोंके आधीन भी चलता ही है तद्वत्.

अतएव विधिके अनेकविध कर्तव्य, इष्टसाधन; या बलवदनिष्टाननुबन्धी उपाय आदि होनेके रूपोंमें जिन एकाङ्गी अर्थोंकी कल्पना की गयी हैं उन अर्थकल्पकोंने मानवकी स्वभावगत आध्यात्मिक एवं मानसिक जटिलताओंकी उपेक्षा करके ही वैसी अर्थकल्पनायें की हैं, ऐसा लगता है. इसे सिद्ध करना हो तो दो अतीव प्रसिद्ध श्लोक ही पर्याप्त हैं :

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापकर्मणि वै रताः ! ।।
जानामि धर्मं नच मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं नच मे निवृत्तिः
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।।

जहां अपने इष्ट या कर्तव्य रूप उपाय और प्राप्य के बीच एकरूपता होती है वहां तो ऐसे एकांगी विध्यर्थ प्रामाणिक भी सिद्ध हो सकते हैं; परन्तु प्राप्यवस्तु और तदुपाय के बीचमें जब पुरुषको एक इष्ट और दूसरा अनिष्ट लगता हो, तब जो विरोधाभास उभरता है, उसकी व्याख्या करने ये विध्यर्थ सर्वथा अकिञ्चित्कर सिद्ध हो जाते हैं. बहुधा छोटे बच्चोंको जैसे अपने इष्टानिष्टका भी दृढ़ निश्चय नहीं होता, मतिचाञ्चल्यके कारण, वैसे ही मतिमान् शास्त्रज्ञ प्रौढ़ पुरुषोंको भी अलौकिक विषयोंमें अनेकधा चञ्चला मतिके दुर्विपाकवश इष्टनिर्धारण या कर्तव्यनिर्धारण में भी दृढ़ताका अभाव दरसाते हुवे पाया जाता है. ऐसी स्थितिमें, अर्थात् इष्टानिष्टके व्यवस्थित निर्धारणके अभावमें, 'लिङ्'-'लोट्' प्रत्ययोंके साथ जोड़ कर भी किसी आख्यातपदार्थका निरूपण

शास्त्र करता भी हो पर एतावता इष्टसाधनताका ज्ञान होना आवश्यक सिद्ध नहीं होता. शास्त्रीय नियोगमें श्रद्धा रखनेवालोंको प्रामाण्यश्रद्धाके वश ही अपने बारेमें शास्त्राभिप्रेत कर्तव्यका बोध तो हो सकता है; परन्तु एतावता बोधानुसारिणी इच्छा या निश्चयात्मकमति का भी होना सुनिश्चित नहीं होता.

::वाल्लभवेदान्तानुसारिणी विध्यर्थमीमांसा::

प्रकृत विषयके अनुसरणार्थ अब यह पुनःस्मरणीय हो जाता है कि ऐसी स्थितिमें श्रीपुरुषोत्तमजीने—"अत्र 'नियोग' पदोक्त्या प्राभाकरमतस्य अस्मिन् स्थले साधुत्वं बोधितम्" (पत्रा.वि.१२) जो प्रतिपादन किया है, उसका आशय क्या समझना ?

इसका समाधान यों सोचा जा सकता है कि इसे अध्यापनविधिप्रयुक्त वेदाध्ययनके बारेमें सहमतिके रूपमें ही केवल स्वीकार लेना चाहिये. एक और सम्भावना, अथवा, यह भी विचारी जा सकती है कि विधिप्रत्यय प्रवर्तक न होनेपर भी नियोगार्थ [कृत्युद्देश्य / कृतिसाध्य] का प्रत्यायक / प्रतिपादक होता है, केवल इतनी सी ही सहमतिके रूपमें भी इसे लिया जा सकता है.

यहां एक बात जो उल्लेखनीय है वह यह कि "साध्यवस्तुके बारेमें ही वेदका प्रामाण्य है सिद्धवस्तुके बारेमें नहीं" ऐसे प्राभाकरमतके साथ सम्पूर्ण असहमतिके बावजूद "लिङादिशब्दस्य प्रवर्तकत्वे सर्वएव तच्छ्राविणो नियमेन प्रवर्तेरन्. नच एवं दृश्यते, कस्यचित् कदाचित् प्रवृत्तेः. लिङादिव्यापारस्यतु प्रवृत्तिहेतुत्वाश्रयणं देवाः प्रतिपद्यन्तां पिशितचक्षुषो मानुषाः वयं न इयतीं प्रमाणभूमिम् अवगाहितुं क्षमाः" (प्र.प. : वाक्या.मातृ.) कह कर जो श्रीशालिकनाथ मिश्रने भाट्टमताभिमत भावनाका प्रत्याख्यान किया है वह तो वाल्लभवेदान्तको भी सर्वथा अभिमत होगा ही. भावनाके अस्वीकारपूर्वक, फिरभी, नियोगकी जो प्रवृत्तिकारणता बिरदायी गयी है, उसके बारेमें तो वाल्लभवेदान्त

भी यही दोहराना चाहेगा कि "पिशितचक्षुषो मानुषाः इयतीं नियोगाख्यामपि प्रमाणभूमिम् अवगाहितुं नैव क्षमाः." अतएव महाप्रभु कहते हैं—"...'मम एतत् कार्यम्' इत्यादिज्ञानं कृत्वा प्रवर्तनात् कारणत्वम् इति आशङ्क्य आह 'कार्यतादिपरिज्ञानम् उत्पाद्य एषः [कृष्णः] प्रवर्तयेत्."(त.दी.नि.२।१७७) कथमपि वैदिक नियोगकी फलमुखी प्रवर्तकता आचार्यचरणाभिप्रेत तो नहीं ही है, कण्ठोक्त निराकरणसे विरुद्ध होनेके कारण. अस्तु!

अतः जिस अर्थमें भाट्ट या अन्य विचारक भावना या प्रवर्तना को विध्यर्थक प्रत्ययोंका विषय मान रहे हैं, उस अर्थमें वह वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है. क्योंकि विधि निमन्त्रण आमन्त्रण या अधीष्ट चारों ही अर्थोंमें एक अनुगत प्रवर्तनात्वरूप धर्म अनुगत माना गया है. अतः चारों ही अर्थोंमें प्रयुक्त 'लिङ्' या 'लोट्' प्रत्ययोंके प्रयोगोंको भी इष्टसाधनताका उपदेश मानना तो बड़ी ही विचित्र परिस्थितिकी कल्पना करना है. छोटे बच्चोंको जागरण स्नान वस्त्रधारण भोजन शयन करने अथवा उपद्रव या कोलाहल न करनेकी आज्ञा माता-पिता देते रहते हैं. ये जागरणादि क्रियायें या उपद्रव-कोलाहलसे निवृत्ति बच्चोंकेलिये कृतिसाध्य हैं, या उनके इष्टकी प्राप्तिके उपाय=साधन हैं; अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धी हैं, ऐसी जटिल बात समझानेका तात्पर्य माता-पिताका होना आवश्यक नहीं लगता. स्वयं माता-पिताको, प्रत्युत, जो कुछ बालकोंसे करवा लेना अभीष्ट होता है, उसीकी अभिव्यक्ति वे आज्ञावाचक शब्दोंद्वारा करते रहते हैं. बहुधा ऐसी स्थितिमें जब बालक 'लिङ्'-'लोट्' प्रत्ययोंसे बसमें नहीं आता तब 'णिच्' प्रत्ययका प्रयोग भी माता-पिताको करना ही पड़ता है! 'णिच्' प्रत्ययार्थकी असकृद् आवृत्तिसे पनपी परवशताकी मति ही अन्तमें बच्चोंको 'लिङ्'-'लोट्' प्रत्ययोंके अर्थोंको भलीभांति समझ पानेवाले बना देती है!!

एक विचारणीय प्रश्न यह भी यहां उठता है कि 'लिङ्'-'लोट्'

प्रत्ययोंके विधि निमन्त्रण आमन्त्रण और अधीष्ट रूपी चारों ही उदाहरणोंमें प्रयोजक कर्ता अर्थात् प्रवर्तक वक्ताके इष्टका निरूपण मानना या प्रयोज्यकर्ताके इष्टका निरूपण मानना ?

प्रथमकल्प तो, अकारण ही, किसीने भी स्वीकारा ही नहीं है अतः अविचारणीय ही है. द्वितीयकल्पमें गुरुजनसदृश आदरणीय कर्ताओंको उनके कर्तव्यका या इष्टसाधनताका बोध शिष्यजन प्रदान करे इससे अधिक तो अकल्पनीय और हो ही क्या सकता है !

अतएव महाप्रभु निबन्धमें विध्यर्थके छहों पक्षोंका सुस्पष्ट शब्दोंमें प्रत्याख्यान करते हुवे कहते हैं:—

> ब्रह्मवादव्यतिरिक्तेषु शब्दश्रवणान्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ कारणता शब्दस्य अवसीयते. तत्र षट् पक्षाः सम्भवन्ति : १.स्वरूपम् २.अभिप्रायज्ञानम् ३.भावना ४.अभिधा ५.आज्ञा ६.इष्टसाधनताज्ञानम् इति. तान् सर्वान् एकहेलया स्वमतेन दूषयति : कृष्णस्यैव प्रवर्तकत्वं न विध्यर्थस्य इति. काकतालीयतया पूर्वभावो न हेतुत्वसाधकः. अव्यभिचारस्तु विध्यादीनां नास्ति. ननु दृश्यते 'मम इष्टं' — 'मम एतत् कार्यम्' इत्यादिज्ञानं कृत्वा प्रवर्तनात् कारणत्वम्, इति आशङ्क्य आह : कार्यतादिपरिज्ञानम् उत्पाद्य एषः प्रवर्तयेत्... इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वं तदा स्याद् यदि अनिष्टसाधनतां ज्ञात्वा निवर्तेत. विषभक्षणे युद्धे द्रुमात्पतने प्रवृत्तिः दर्शनात्... अतो भगवानेव यथेष्टं यथैव प्रवर्तयते तथा ज्ञानम् उत्पाद्य प्रवर्तते. वस्तुतस्तु न किञ्चिद् इष्टं न किञ्चित् साध्यम् इति अर्थः... अतो वेदे सर्वस्यापि स्वरूपप्रतिपादकत्वात् न प्रवर्तकत्वं किन्तु सर्वस्यापि साधनं फलं च आह. तावतैव प्रवर्तकत्वं यदि तदा 'ओम् !' इति ब्रूमः. फलमुखप्रवृत्तिः

चेत् सर्वानेव प्रवर्तयेत्, ततश्च नरकादिकं न भवेत्. अतो दृष्टादृष्टारिष्टदर्शनात् न वेदः प्रवर्तकः (त.दी.नि.२।१७७-१८०).

भावार्थ: ब्रह्मवादातिरिक्त सभी मतोंमें शब्दोंको सुननेके बाद पैदा होती प्रवृत्तिमें शब्दोंकी ही कारणता मानी जाती है. यहां छह पक्ष सम्भव हैं:—

१.प्रवर्तक वचनोंका स्वरूप.

२.लौकिक वाक्योंमें वक्ताके तात्पर्यका ज्ञान; और किसी पुरुषद्वारा रचित न होनेके कारण, वैदिक वाक्योंमें उन शब्दोंमें ही निहित अभिप्रायका ज्ञान.

३.आख्यातनिरूपिता आर्थी भावना.

४.भाट्टमतके अनुसार 'लिङ्'प्रत्ययनिष्ठा शाब्दी भावना.

५.प्राभाकरमतके अनुसार कार्यरूप अपूर्वका नियोग.

६.नैयायिकमतके अनुसार किसी कामके [बलवदनिष्टाननुबन्धी] इष्टसाधन [और कृतिसाध्य] होनेका ज्ञान.

इनमेंसे किसी भी अर्थमें विधिका प्रवर्तक होना हमें मान्य नहीं है. क्योंकि प्रवर्तक तो सभीके अन्तर्यामी परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही होते हैं. विध्यर्थ नहीं. काकतालीयन्यायसे किसी तरहके विध्यर्थज्ञानका किसी प्रवृत्तिसे पूर्वभावी होना, उसके कारण होनेका प्रमाण नहीं बन सकता है. क्योंकि इनमेंसे किसी भी तरहके विध्यर्थज्ञानका प्रवृत्तिसे अव्यभिचार सिद्ध नहीं होता. "यह मुझे इष्ट है"

अथवा ''यह मेरा कर्तव्य है'' ऐसे ज्ञानके कारण जो प्रवृत्त होते हैं उन्हें भी वैसा ज्ञान सर्वबुद्धिप्रेरक परमात्माकी प्रेरणावश ही पैदा होता है. अनिष्टसाधनताके ज्ञानके कारण कोई अनिष्ट कार्योंसे निवृत्त हो पाता होता तो इष्टसाधनताके ज्ञानको हमारी प्रवृत्तिका नियत जनक स्वीकारा जा सकता था. लोग तो विष खाने, युद्ध करने या पेड़से छलांग लगाने भी उद्यत हो जाते हैं [और बादमें पछताते भी हैं!]... अतः भगवान् ही अपनी इच्छाके अनुसार जैसा ज्ञान जिसकी बुद्धिमें प्रकट करके जैसे किसीको प्रवर्तित करना चाहते हैं वैसी समझके अनुसार वह प्रवृत्त हो जाता है. वस्तुतः तो कहां किसे क्या इष्ट है या क्या किसीकेलिये साध्य यह कह पाना कठिन है... अतः वेदके सभी वचन स्वरूपप्रतिपादक [अर्थात् ज्ञापक ही] ही होते हैं प्रवर्तक [अर्थात् कारक] नहीं; किन्तु ऐसे सभी विधिवचनोंमें कौनसे साधनसे कौनसा फल साध्य होता है या किस फलको पानेको कौनसा साधन किसे-कब-कैसे अपनाना चाहिये यह दिखाना ही केवल अभिप्रेत है. तत्तत् फलसाधनभावको जान कर कोई प्रवृत्त हो जाता हो तो हो जाये! इसे अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है; फिरभी सभी पुरुषोंको फलमुख प्रवृत्तिमें लगा पाये ऐसी सामर्थ्य वेदवचनोंमें स्वीकारनेपर तो सभीको प्रवृत्त होना चाहिये था! फिर तो किसीको भी नरक भी नहीं होना चाहिये था! अतः, दृष्टादृष्ट अरिष्टके बारेमें भी मनुष्यकी प्रवृत्ति दिखलायी देती होनेसे,

वेदको प्रवर्तक माना नहीं जा सकता है.

जैसा कि हम कह चुके हैं कि इस विवादमें जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है वह यही कि 'लिङ्'-'लोट्' प्रत्ययान्त आख्यातपदके उच्चारणकर्ताका कारयितृत्व केवल आन्तरिक प्रेरणा देनेके रूपमें ही होता है अर्थात् वह कर्तव्यबुद्धिजनक या कर्मानुष्ठानरुच्युद्बोधक ही होता है. क्रिया अथवा प्रयत्न के जनकतया अभिप्रेत नहीं होता. जबकि 'णिच्' प्रत्ययान्त आख्यातपदके द्वारा निरूपित कारयितृत्व प्रेरकत्वरूपेण विवक्षित होनेके अलावा क्रिया या प्रयत्न के भी जनकतया विवक्षित होता है. अतः वेदादि शास्त्रोंका प्रवर्तकत्व प्रथमकोटिका समझना चाहिये और परमात्माका द्वितीयकोटिका. अतएव पूर्वोदाहृत उपनिषद्वचनमें कण्ठतः निरूपित हुवा है कि "एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषते (कौ.उ.३।८). वेदादि शास्त्रोंके शब्दोंमें उन्निनीषा या अधोनिनीषा की सामर्थ्य स्वीकारी नहीं जा सकती. वह तो परब्रह्म परमेश्वरकी ही अनन्यसाधारण सामर्थ्य है.

महाप्रभुने ब्रह्मके भेदोपभेदोंवाले तीन रूपोंका निरूपण किया है:—

मूलरूप

क.परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण
ख.सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिलयोपादान अक्षरब्रह्म
ग.जड़जीवान्तर्यामी नारायण

सृष्टिस्थितिलयाधिदेवरूप

क-१.श्रीकृष्णके गुणावतार ब्रह्मा रजोगुणाधिष्ठातृदेव
क-२.श्रीकृष्णके गुणावतार विष्णु सत्त्वगुणाधिष्ठातृदेव
क-३.श्रीकृष्णके गुणावतार रुद्र तमोगुणाधिष्ठातृदेव

कालकर्मस्वभावप्रकृतिव्यष्टिपुरुषात्मकाक्षरब्रह्मसामर्थ्य

ख-१.काल
ख-२.कर्म
ख-३.स्वभाव

जड़जीवनियामक ब्रह्माण्डविग्रह अन्तर्यामी

ग-१.तत्तद् ब्रह्माण्डमूर्ति समष्टि अन्तर्यामी
ग-२.तत्तज्जीवात्मान्तःस्थित व्यष्टि अन्तर्यामी
ग-३.समष्टि-पुरुष
(द्र. : त.दी.नि.२।१२१ तथा सुबो.३।९।१४-२०).

परमात्माके द्विविध — अन्तर्यामी तथा वेद — रूपोंकी विवेचना करते हुवे महाप्रभु कहते हैं कि स्वयं अपने या जीवात्माओंके स्वभावके अनुरूप भगवान् अन्तर्यामी बन कर सभी जीवात्माओंको नाना प्रकारसे प्रेरित करते हैं. दोनों ही स्थितियोंमें प्रेर्यधर्ममें [या प्रेर्यधर्मसे] आविष्ट बन जाते हैं... परन्तु भक्तिसे पूत अन्तर्यामी कभी अन्यथा प्रेरित नहीं करते. भक्तिपूत अन्तर्यामी तो भक्ति करनेकेलिये ही जीवात्माको प्रेरित करते हैं. क्योंकि सृष्टिप्रवाहमें विभिन्नाधिकारक विभिन्न स्वभावोंके नियमनार्थ रूपग्रहण करनेवाले होनेके कारण भक्तिस्वभावके अनुसरणकारी बननेपर भक्त्यर्थ ही प्रेरणादायक बन जाते हैं, ताकि भक्तिप्रवाह अक्षुण्ण बना रहे. अन्तर्यामीका ही काम बहिर्यामी बन कर काल करता है. इन दोनोंका तारक या मारक होना जीवके स्वभाव-कर्मपर निर्भर है. अतएव शुद्ध स्वभाव और कर्म की सिद्धिकेद्वारा दोनोंको अमारक बनाना आवश्यक होता है. लोकमें जैसे किसी अपराधीको एक हाथसे पकड़ कर दूसरे हाथसे दण्डित किया जाता है, वैसे ही भगवान् भी अन्तर्यामी रूपी हाथसे पकड़ कर काल रूपी हाथसे दण्डित करते हैं. अतः अन्तर्यामी और काल दोनोंको अनुकूल बनाना हो तो अन्तर्यामीको भक्तिद्वारा तथा कालको

वेदोक्त धर्मके अनुष्ठानद्वारा अनुकूल बनाया जा सकता है (द्र.सुबो.३।५।४).

अन्तर्यामी, वाल्लभवेदान्तमें, णिजन्त प्रयोगद्वारा निरूपणीय प्रयोजक-कर्ता या क्रियाप्रवर्तक होता है. वेद विधि-निषेधरूप लिङाद्यन्त प्रयोगद्वारा निरूपणीय तत्तत् फलसाधक कर्मोंका प्रबोधक ही केवल होता है. अतः अन्तर्यामिओं और वेदवाक्यों का प्रेरक होना अलग-अलग प्रकारका है. अधोनिनीषावश अन्तर्यामी अधर्मार्थ प्रेरित कर सकता है. देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मोंकि बारेमें उत्सर्ग अपवाद या प्रतिप्रसव के विधि-निषेधोंके प्रभेदोंके कारण, अधिकारभेदवश किसी एक ही कर्मकी धर्मरूपता या अधर्मरूपता की सम्भावनाके बावजूद, वेदादिशास्त्रोंद्वारा अधर्मप्रेरणाकी बात तो कभी सोची ही नहीं जा सकती है.

दुःखाभावः सुखञ्चैव पुरुषार्थद्वयं मतम्।
मोक्षः कामस्तयोरङ्गं धर्मो ह्यर्थेन साधितः॥
साधनञ्च फलञ्चैव हरिर्वेदे निरूप्यते।
तदभिव्यक्तितः सर्वं पुरुषार्थस्वरूपतः॥
रूपप्रपञ्चकरणादासक्तस्वांशवारणे।
श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव सः॥
(त.दी.नि.२।१६-१८).

भावार्थ : दुःखाभाव और सुख ये दोनों ही फलरूप पुरुषार्थ होते हैं. मोक्ष दुखाभावरूप होता है और काम स्वर्गादि सुखरूप होता है. इन्हें सिद्ध करनेका उपाय या साधनरूप पुरुषार्थ धर्म होता है. आत्मचिन्तन भी धर्मका ही एक प्रकार है, अतएव ज्ञानकी पुरुषार्थोंमें पृथग्गणना नहीं की जाती. धर्मके साधनार्थ ही अर्थ अपेक्षित होता है. इस तरह साक्षात् या परम्परया चार पुरुषार्थ माने जाते हैं. यज्ञ-यागादिक

> कामसाधनीभूत धर्म है परन्तु ज्ञानसहित [अर्थात् निष्काम=ब्रह्मज्ञानसहित] मोक्षसाधन भी बन सकता है. इस तरह साधन-फलात्मक भगवान् श्रीहरिका ही वेदमें निरूपण किया गया है. क्योंकि भगवान् साधन-फलरूप उभयात्मक होते हैं, अतः वेदके अनुसार भगवान्की अभिव्यक्ति की जाये तो सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं. इस विचित्र रूपप्रपञ्चमें जीवको अल्पज्ञानशक्तिके स्वभाववश होती भ्रान्तियोंके निवारणार्थ भगवान्ने श्रुतिरूप शब्दराशिको प्रकट किया. यद्यपि यह कार्य अन्तर्यामीद्वारा भी सिद्ध किया जा सकता था; परन्तु कर्मफलभोक्ता जीवात्माके अभोक्ता साक्षी सहयोगी बन कर ही जीवात्माके साथ-साथ ही हर समय रहते होनेसे, भीतर साथ रह कर यह कार्य करनेके बजाय बाहरसे आगन्तुक श्रौतज्ञानके रूपमें भीतर प्रविष्ट हो कर, इस कार्यको करना अधिक लीलोपयोगी होता है.

::लीलाहेतुक और विध्याधीन्यहेतुक कर्मोंका विभेद::

यहां यह आशङ्का हो सकती है कि एक ही परमात्मा यदि जीवात्माकी भ्रान्तिनिवारण करना चाहता हो तो भ्रान्ति पैदा करनेवाली सृष्टि प्रकट ही क्यों करता है? और यदि ऐसी सृष्टि प्रकट की ही है तो उस भ्रान्तिको दूर क्यों करना चाहता है?

ब्रह्मसूत्रकार इसका समाधान—“लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (ब्र.सू.२।१।३३) द्वारा देते हैं. इस सूत्रकी व्याख्या करते हुवे भाष्यकार कहते हैं—“लोकमें भी किसी कार्यका कोई प्रयोजन दिखलायी न देता हो, फिरभी आनन्दके साथ कोई उस कार्यको

सम्पन्न करनेमें तल्लीन हो तो, ऐसे कार्यको लीला माना जाता है. लीलाका कोई प्रयोजन नहीं होता—लीलारूपा कृति स्वयंमें प्रयोजन होती है. ईश्वरकी लीलाके बारेमें तो लीलाकर्ताके ईश्वर होनेके कारण भी प्रयोजन पूछा नहीं जा सकता है!''

चेतनाचेतनात्मक जगत्की उत्पत्ति यदि जड़ कारणसे हुयी होती तो कारणीभूत द्रव्यका कर्तृनिरपेक्ष स्वभाव ही, जैन-बौद्ध विचारोंके अनुरूप, उत्पादव्ययात्मक स्वीकारा जा सकता था. जगत्में केवल चैतन्य ही भासित हो रहा होता तो किसी चेतनामें मायिकामायिक वासनावश उभरती-डूबती कल्पनाओंके रूपमें भी जगत्को स्वीकारा जा सकता था. इसके विपरीत हमारी चेतना स्वयं ही, जब किसी वस्तुके चेतन तो किसी वस्तुके अचेतन होनेकी साक्षी बनती है, तब इसे केवल जड़रूप या केवल कल्पनारूप मानना भी शक्य नहीं है. हमारे भीतर भासित होते चैतन्यका पारमार्थिक अद्वैत और भासित होते अचैतन्यका अपारमार्थिक द्वैत माननेकी तर्कलाघवमूलक विचारनीति तो भेदभावपूर्ण है. क्योंकि ऐसे तर्कलाघववश तो अचेतनका पारमार्थिक द्वैत और चैतन्यमें भासित होते अद्वैतका अपारमार्थिक होना भी स्वीकारा जा सकता है.

उपनिषद्का सुस्पष्ट उद्घोष तो अतएव यही है:—

> स तपस्तप्त्वा पुनरेव वरुणं पितरमुपससार—"अधीहि भगवो ब्रह्म" इति. तं होवाच— "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व! तपो ब्रह्म!!" इति. स तपोऽतप्यत. स तपस्तप्त्वा "आनन्दो ब्रह्म", इति व्यजानाद्, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इति (तै.उ.३।५-६).
>
> भावार्थ: वारुणि भृगु अपने पिता वरुणके पास जा कर पुनः बोला—"भगवन्! मुझे ब्रह्मके बारेमें

> कुछ समझाईये". वरुणने उसे समझाया—"तपःपूर्वक ब्रह्मको जाननेका प्रयत्न करो! तप ही ब्रह्म है!!" उसने तप किया और तप करनेपर वह जान पाया—"आनन्द ही ब्रह्म है. आनन्दसे ही सारे प्राणी पैदा होते हैं, पैदा होनेपर आनन्दके कारण ही अपना जीवन जी पाते हैं; और आनन्दकी ओर ही प्रयाण करके उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं.

सृष्टिके उत्पत्ति स्थिति और लय तीनोंमें केवल आनन्दकी ही अभिन्ननिमित्तोपादानता इस सृष्टिके केवल जड़स्वभावके परिणाम या केवल चेतनमें उभरी दुःखद कल्पना होनेका निराकरण तो करती ही है, साथ ही साथ, सृष्टिके लीलारूप होनेका भी सबसे बड़ा प्रमाण है: आनन्दसे प्रकट होती, आनन्दरूपा तथा आनन्दैकपर्यवसानी कृति 'लीला' कहलाती होनेसे!

हां, यह उसी परमानन्दरूप परमात्माकी लीलाकथा है कि जिसके बारेमें उपनिषद् सुस्पष्ट शब्दोंमें यह भी निरूपण करता है कि "न साधुना कर्मणा भूयान् नो एव असाधुना कनीयान् (कौ.उ.३।८). कर्मनियम यदि अटल होता तो परमात्मा भी कैसे उस नियमसे मुक्त हो सकता है? कर्मनियम जैसा यदि कोई नियम ही न होता तो जीवात्मा भी कृताकृत कर्मोंके बन्धनोंसे मुक्त होनी चाहिये थी! इससे सिद्ध होता है कि अनेकविध नाम अनेकविध रूप के प्राकट्यकी तरह अनेकविध कर्मोंके अनेकविध फलोंका भी कोई लीलात्मक नियम तो सृष्टिमें प्रकट हुवा ही है. निश्चित ही यह उस सर्वभवनसमर्थ ब्रह्मका लीलावैलक्षण्य है कि जिसकी लीलाकी रसानुभूतिके दुर्लभ लाभ पानेवालोंकेलिये उपनिषद् कहता है: आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति. एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति (तै.उ.२।९).

अतएव ब्रह्मज्ञानीका यदि वेदविधिके आधीन होना नियत न हो तो स्वयं ब्रह्मको किसी विधिके आधीन कैसे माना जा सकता है! इसी कारणसे महाप्रभु कहते हैं कि सर्वरूप होनेके कारण परमात्मा हमारा अन्तर्यामी बन कर हमें पुण्य या पाप किसी भी ओर प्रेरित करे एतावता वह दोषभाग् नहीं बनता. क्योंकि उसकी दृष्टिसे तो सभी कुछ आनन्दात्मक ही होता है. अतएव जगत्में अनुभूत होती भिन्नता अनित्यता क्षुद्रता या दुःख आदि सभी कुछ उसी परमात्माके ही लीलात्मक अनेक रूप हैं. अर्थात् परमात्माका आनन्द ही इन रूपोंमें प्रकट हुवा है—आनन्द पानेकेलिये परमात्माने इन्हें प्रकट नहीं किया. सकल प्राणियोंमें अन्तःस्थित अन्तर्यामी परमात्मा जीवोंको धर्माधर्ममें प्रवर्तनरूप यह व्यापार जो करता है वह जैसे आनन्दात्मक है वैसे ही प्राणियोंके बहिःस्थित बहिर्यामी वेदका भी धर्ममें प्रवर्तनरूप और अधर्मसे निवर्तनरूप व्यापार भी आनन्दात्मिका लीला ही है. इस लीलात्मक तथ्यकी अपरोक्षानुभूति यदि होने लग जाये तो इस धारणाके बारेमें हृदयमें उठते दोषारोपणके भाव अथवा दोष भी निश्चय ही आनन्दात्मिका लीला ही लगने लगेंगे!

अतएव "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" (ब्र.सू.३।२।५)के भाष्यमें महाप्रभु कहते हैं कि आनन्दांशके तिरोहित [=छिपे हुवे—नष्ट नहीं] हो जानेके कारण परमात्मव्युच्चरित चिदंशोंमेंसे ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य आदि दिव्य पारमात्मिक गुण भी तिरोहित हो जाते हैं. इन गुणोंके तिरोहित होनेके कारण चिदंश ईश्वरांश होनेपर भी अनीशता=पराधीनताके स्वभावको प्रकट करने लग जाता है. सर्वसमर्थका अंश होनेपर भी निर्वीर्य दुःखी बन जाता है. परमश्रेष्ठ तत्त्वका अंश होनेपर भी अनेक प्रकारकी हीनताओंसे भर जाता है. देश-काल-स्वरूपकृत परिच्छेदरहित तत्त्वका अंश होनेपर भी जन्म-जरा-व्याधि-मृत्यु आदि विपत्तियोंको झेलनेवाला बन जाता है. सर्वज्ञका अंश होनेपर भी जन्म-मरणोंके आवर्तनोंमें

मिलते-खोते देहोंमें अपने अहंकारको सीमित रखनेवाला अज्ञानी बन जाता है. आत्माराम और आप्तकाम अर्थात् स्वयंसिद्ध वैराग्यगुणवाले एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अंश होनेपर भी तत्तद् जन्मोंमें अस्थायितया प्राप्त होते देहोंसे मिलते-बिछुड़ते पति-पत्नी मातापिता-सन्तती बन्धु-बान्धवों तथा आवास वसन आभूषण आदि विषयोंमें ममता रखनेवाला विषयासक्त बन जाता है. अतः जीवात्माकी कृतिमें न तो उसका अन्तर्निगूढ़ आनन्दस्वभाव प्रकट हो पाता है और न ही उसकी कृतियोंको, अतएव, 'लीला' ही कहा जा सकता है. ऐसे जीवात्माको लौकिक आज्ञा भय कृति कामना अहन्ता और ममता रूपी हेतुओंके आधीन होना ही पड़ता है. अतएव जीवात्माकी दीनजनोचित स्वभावसिद्ध आज्ञानुकारिता, भीरुजनोचित भयनिवर्तनोपायपरता, हीनजनोचित कृतानुकारिता, कामिजनोचित कामपूरकोपायपरता, विविधाभिमानोचित अहन्तानुकारिता या संसारिजनोचित ममतानुकारिता रूपी पराधीनताको लक्ष्यमें कर शास्त्र भी जीवात्माके अभ्युदयनिःश्रेयस्के साधनोंका निरूपण तत्तद् विधियोंद्वारा करता है. हम देख चुके हैं कि परमार्थतः कैसा फल अभीष्ट होना चाहिये और उसके साधन क्या-कैसे होते हैं, शास्त्रके विधि-निषेध केवल यह जता सकते हैं, उसमें प्रवृत्त नहीं कर सकते. वह तो अन्तर्यामितया भीतर बिराजमान परमात्माका ही सामर्थ्य है. इस विषयमें जीवात्मा स्वयं भी अपने पारमार्थिक इष्टबोधके अनुसार बहुधा प्रवृत्त नहीं हो पाती! जबतक उस परमात्माके साथ जीवात्मा अपने नैसर्गिक तादात्म्यका अनुभव नहीं कर पाती तबतक उसके भीतर पारमात्मिक आनन्द प्रकट नहीं हो पाता. उसके अभावमें वे दिव्य ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान या वैराग्य भी प्रकट नहीं हो पाते. अतः निष्प्रयोजन आनन्दोच्छलनके अभाववश ही उसकी कृति लीलात्मिका नहीं हो पाती. अतएव श्रुतिओंमें कहा गया है:—

> 'आत्मा'इत्येव उपासीत. अत्र हि एते सर्वे एकं
> भवति... तदिदम् अप्येतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्मास्मि'

> इति, स इदं सर्वं भवति. तस्य ह न देवाश्च अनाभूत्या ईशते, आत्मा हि एषां स भवति (बृ.उ.१।४।७-१०).
>
> अथ य आत्मा स सेतुः विधृतिः एषाम् असम्भेदाय. न एतं सेतुम् अहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युः न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानो अतो निवर्तन्ते अपहतपाप्मा हि एष ब्रह्मलोकः (छा.उ.८।४।१).
>
> भावार्थ: उसकी उपासना आत्माके रूपमें ही करनी चाहिये. क्योंकि यहां ये सभी कुछ एक हो जाते हैं... यह तो अब भी है कि जो अपने-आपको ब्रह्मके रूपमें जान पाता है वह सर्वरूप हो जाता है. देवभी उसे नीचा नहीं दिखा सकते. क्योंकि ब्रह्मको जाननेवाला देवोंकी भी आत्मा बन जाता है!
>
> यह जो आत्मा है वह इन लोकोंको अभिन्नतया जोड़ देनेवाला सेतु है. इस सेतुके पार जानेवालोंमेंसे जरा मृत्यु शोक या सुकृत-दुष्कृत के सारे दोष निवृत्त हो जाते हैं. ऐसा अपहतपाप्मा यह ब्रह्मलोक है!

परमानन्दरूप ब्रह्मसे तादात्म्यकी अनुभूति तिरोहितानन्द जीवात्माके कर्तृत्वको ऐश्वर्य सामर्थ्य श्रेष्ठता निष्कामता ज्ञान और वैराग्य धर्मोंसे परिपूर्ण बनाती हुयी आनन्दको उच्छलित करनेवाली लीलात्मकतासे मण्डित कर देती है. इस अवस्थामें जीवात्मा भी विधिबन्धनोंसे ऊपर उठ जाता है. क्योंकि किसी तरहके सुख या दुःखनिवृत्ति रूपी फलको पानेको वह कोई कृति नहीं करता परन्तु पुनःप्रकट हुवा आनन्द ही केवल अब उसकी कृतियोंमें प्रकट होने लग जाता है! और विधि तो कौन से फलको पाना हो तो कौन

सा साधन अपनाना चाहिये यही तो बताती है. अतः आनन्दके प्रकट न होनेपर विधिबोधित सुकृत-दुष्कृतोंका बन्धन अकाट्य ही होता है. अस्तु.

::अध्यापनविधि या/और अध्ययनविधि::

यहां अब यह विचारणीय हो जाता है कि वेद-वेदान्तका अध्ययन किस श्रुतिवचनके द्वारा विहित है? क्या "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वचनद्वारा अथवा "...ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत" वचनद्वारा?

इस समग्र चर्चाके मूल, श्रीप्रभाकर मिश्र तथा श्रीकुमारिल भट्ट के शाबर भाष्यके व्याख्यानभेदमें, अर्थात् पूर्वमीमांसाके प्रस्थानभेदमें निहित हैं. बादमें शाङ्कर वेदान्ती भी इस विवादमें प्रमुख चर्चाकारोंके रूपमें जुड़ गये. इन पूर्ववर्ती विचारकोंकी युक्तिओंके सन्दर्भको निर्धारित कर लेना महाप्रभुके अभिप्रायको भलीभांति समझनेमें सहायक होगा ही.

वैसे सर्वप्रथम तो श्रीशबराचार्यने जो "अथातो धर्मजिज्ञासा" सूत्रगत 'अथ' पदकी व्याख्या करते हुवे कहा है उसे भी देख लेना न केवल उचित होगा अपितु आवश्यक भी है ही:—

> आचार्य जैमिनिने उस धर्मजिज्ञासामें प्रवृत्त होनेको 'अथ' शब्दका प्रयोग किया है कि जो जिज्ञासा वेदाध्ययनके बिना सम्भव ही न हो.
>
> क्यों?
>
> इसलिये कि अनेकविध वेदवाक्योंके ही तो यहां विचार होने जा रहे हैं...
>
> शास्त्रोंमें इस तरह कहा गया है—"वेदमधीत्य स्नायाद्". अतः वेदाध्ययनके बाद स्नान करने जानेवाला बीचमें ही यदि इस धर्मजिज्ञासामें कहीं उलझ गया तो स्नान करनेकी इस शास्त्राज्ञाका

> अतिक्रमण होगा; और शास्त्राज्ञाका उल्लङ्घन तो हो नहीं सकता.
>
> यहां यह भी कहा जा सकता है कि आज्ञोल्लङ्घन तो करना ही पड़ेगा क्योंकि अन्यथा सप्रयोजन या अर्थवान् होनेपर भी वेद निष्प्रयोजन या निरर्थक सिद्ध होंगे, क्योंकि कर्मोका उपदेश ही तो वेदका प्रयोजन या अर्थ है; और वेदके अध्ययनमात्र कर लेनेसे कर्मफल मिल जाता है ऐसा तो आदरणीय याज्ञिक वृन्द भी मानते नहीं हैं... अतः वेदाध्ययनके सम्पन्न हो जानेपर धर्मकी जिज्ञासा करनी ही चाहिये ऐसा 'अथ' शब्दके कारण सिद्ध होता है. हम भी यह तो नहीं कहते कि "अन्य किसी कर्मके बाद धर्मजिज्ञासा नहीं की जा सकती"; किन्तु "वेद पढ़नेके बाद, तुरत ही समावर्तनके स्नान कर लेनेके बजाय, धर्मकी जिज्ञासा पहले करनी चाहिये" यही 'अथ' शब्दद्वारा विवक्षित अर्थ लगता है (शा.भा.१।१।१).

हम देख सकते हैं कि सूत्रकार अथवा भाष्यकार दोनोंमेसे किसीने भी यह खुलासा नहीं दिया है कि मीमांसामें प्रवृत्त होनेसे नियततथा पूर्वभावी वेदाध्ययन "उपनयीत तमध्यापयीत" वचनद्वारा प्रयुक्त है अथवा "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वचनद्वारा प्रयुक्त है. अतः प्राभाकर प्रस्थान और भाट्ट प्रस्थान के बीच इस विषयमें मतभेद उठ खड़ा हुवा, जिसमें प्राभाकर प्रस्थान अध्यापनविधिप्रयुक्त वेदाध्ययन स्वीकारता है तथा भाट्ट प्रस्थान अध्ययनविधिप्रयुक्त. दोनों ही प्रस्थानोंमें इस चर्चाको जोरशोरसे उठानेवालोंमें प्राभाकर प्रस्थानके प्रकरणपञ्चिकाकार श्रीशालिकनाथ मिश्र तथा प्रभाकरविजय-कार श्रीनन्दीश्वर; तथा कौमारिल प्रस्थानके शास्त्रदीपिका एवं

न्यायरत्नमाला के कर्ता श्रीपार्थसारथि मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं.

इस विवादमें वेदाध्ययनको स्वाध्यायविधिप्रयुक्त माननेवालोंको एक बात कभी भूलनी नहीं चाहिये कि वेदाध्ययनको आवश्यक कर्तव्य बनानेवाला वचन भी स्वयं वेदविधिरूप ही है. अतः विधिजन्य कर्तव्यबोधसे पूर्व ही वेदाध्ययनके सम्पन्न हो जानेपर तो विधिव्यापार ही कुण्ठित हो जाता है:—

वैदिकं निखिलं कर्म विधिबोधविवर्जितम्।
वेदोक्तकर्मसामान्याद् मत्कृताध्ययनं यथा!।।

यदि कहा जाये कि विधिबोधरहित पुरुषद्वारा अनुष्ठित होने मात्रसे कोई कर्म अविधिप्रयुक्त=अवैध सिद्ध नहीं हो जाता है. ऐसी स्थितिमें तो अप्राप्तप्रापकतया अभिमत 'लिङ'दिप्रत्ययके ज्ञानको शाब्दभावनाके व्यापारतया अमान्य करना पड़ेगा. न केवल इतना अपितु श्रीपार्थसारथि मिश्रने पहले अर्थज्ञानार्थ वेदाध्ययननियमकी जो बात स्वीकारी वह भी असिद्ध हो जायेगी:—

> यद्यपि अध्ययन अर्थज्ञानार्थ किया जाता है यह तो विधिके बिना अन्य प्रमाणोंसे भी सिद्ध है; फिरभी यथाविधि अध्ययनद्वारा ही वेदार्थज्ञानको पानेके नियमके विधानार्थ प्रस्तुत वचन है. अतः निरर्थक नहीं हो सकता है(न्या.र.मा.१।३६).

श्रीपार्थसारथि मिश्रने, बादमें शास्त्रदीपिकामें, इस विषयमें अपना दृष्टिकोण जो बदल दिया उसे भी देख लेना आवश्यक लगता है:—

> ज्ञानस्वरूप या क्रत्वपूर्व के बारेमें तो नियम

> हो नहीं सकता है. इस विषयमें हमारा कहना यह है कि हम तो दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं कर रहें हैं. हमारा तो केवल यही कहना है कि अग्निहोत्रादिके अनुष्ठानोंमें अधीतवेद त्रैवर्णिकोंका ही अधिकार होता है अनधीतवेद शूद्रोंका नहीं. यह अधिकारनियम इस अध्ययनविधिके प्रयोजनतया सिद्ध होता है. क्योंकि अध्ययनविधिके अभावमें वेदविद् तो कर्मानुष्ठानार्थ मिलेंगे नहीं, अत: वेद न जाननेवालोंको भी अग्निहोत्रादि शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठानका अधिकारी मानना पड़ेगा. अन्तमें वेद-वेदार्थकी जानकारीके बिना अनुष्ठानके भी सम्भव न होनेसे, अर्थाक्षिप्त वेदविद्यामें चारों ही वर्णोंका अधिकार सिद्ध हो जायेगा. अध्ययनविधिके रहनेपर, जबकि, वेदविद् त्रैवर्णिकोंका ही वह अधिकार सिद्ध होगा अन्य किसीका नहीं. क्योंकि "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यम्" वचनके बलपर यह अवगत होता है कि उपनीत त्रैवर्णिक ही अक्षरग्रहण करके अध्ययनादिकी परम्पराद्वारा अर्थज्ञानके अधिकारी होते हैं. इस तरह वेद पढ़े हुवे त्रैवर्णिकोंके रहते अग्निहोत्रादिकी विधियां तत्तत् कर्मोंके अनुष्ठानार्थ किसी अत्रैवर्णिकको वेदाध्ययनार्थ उत्सुक नहीं बना पायेंगी (शा.दी.१।१।१).

इस विधानमें पूर्वाङ्गीकृत पक्ष छोड़ दिया है. पूर्वोक्त नियमविधिके विषयको यहां सुधारा गया है. फिरभी ये दोनों ही — अध्ययननियम और अधिकारितानियम — असिद्ध हो जाते हैं. क्योंकि आचार्य या ऋत्विक् को विधि, इतिकर्तव्यता या मन्त्र आदि सब कुछ अवगत हों तो काम तो चल ही सकता है. फिर वेदाध्ययनका आयास कोई क्यों करना चाहेगा! रोगनिवृत्तिकेलिये चरक या

सुश्रुत के अध्ययनमें कालक्षेप करनेके बजाय कुशल चिकित्सकको निदान एवं चिकित्सा की दक्षिणा दे कर स्वस्थ हो जाना अधिक सुकर होता है. अथवा आधुनिक वाल्लभ सम्प्रदायमें, जैसे, आचार्योपदिष्ट स्वस्वगृहमें स्वस्वतनु-वित्त-परिजनोंके विनियोगपूर्वक भगवत्सेवाके स्वधर्मनिर्वाहके बजाय सिद्धान्तनिरपेक्ष अर्थलोलुप आचार्यवंशज तथा सिद्धान्तानभिज्ञ धर्मभीरु अनुयायिवर्ग दोनों ही भगवद्‌भजनार्थ वित्तोपार्जन एवं वित्तार्पण को ही पुष्टिभक्तिकी श्रेष्ठतम विधा मान बैठे हैं, तद्वत्!

"अग्निहोत्रादिकर्मोंकी विधि वेदके विधिभागके जानकार अनुष्ठाताकी अपेक्षा नहीं रखती, वेदविधि होनेके कारण, अध्ययनविधिकी तरह." अनुमानद्वारा कोई अवेदवित् पुरुष भी, वेदविधिबोधित किसी भी साधन या फल के अभीष्ट होनेपर, वैदिककर्मका अधिकारी सिद्ध हो जायेगा!

अतः अर्थज्ञान या अधिकारिता या अन्य भी किसी विषयके नियमार्थ इस वचनको स्वीकारनेपर गुरुमुखपाठित विधिका बोध तो आवश्यकतया मान्य करना ही पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें श्रीपार्थसारथि मिश्रद्वारा निरूपित रीतिसे पिता आदि गुरुजनोंकी अभिलाषाका ज्ञान होनेपर या उनकी प्रेरणाके वश या आज्ञाके वश ही—"द्विजबालक होनेके नाते मेरेलिये वेदाध्ययन स्वयं वेदविहित अनिवार्य कर्तव्य है"—ऐसा सामान्यज्ञान तो द्विजबालकको अवश्य हो सकता है. इस सामान्य ज्ञानवाले बालकको विशेषजिज्ञासा भी हो ही सकती है. अतएव गुरूपसत्तिकी शक्यताको अस्वीकार करनेका भी कोई कारण नहीं बनता. फिरभी इन्हीं कारणोंसे विधिकी अप्राप्तप्रापकता जो निरस्त हो रही है, इस आपत्तिसे उद्धार कैसे हो पायेगा? अतः इस आपत्तिके रहते स्वाध्यायविधिका प्रवर्तनासामर्थ्य तो कुण्ठित होगा ही. न्या.र.मा.में श्रीपार्थसारथि मिश्र कहते हैं:—

[क]रोगविशेषकी निवारक किसी औषधिको

> जाननेवाले हितैषी उससे मिटनेवाले रोगसे ग्रस्त अपने प्रियजनको समझा-बुझा कर भी वह औषधि दे ही देते हैं, ऐसे ही शास्त्रज्ञ पिता या अन्य हितैषी भी अबोध बालकको "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" विधिबोधित कर्तव्य समझा कर वेदाध्ययनमें प्रवृत्त कर ही देंगे. स्वयं उनके शब्दोंमें — [१]यद्यपि न अत्यन्तापरिज्ञातो अर्थो ज्ञातुम् इष्यते, नापि सर्वात्मना ज्ञातः; तथापि केनचिद् आत्मना ज्ञातः केनचिद् जिज्ञास्यते. [२]अध्ययनसाध्यम् अधिकारम् अवगच्छद्भिः हितकारिभिः पित्रादिभिः अनुष्ठाप्यमानस्य अध्ययनस्य तत्प्रयुक्तिता किं न उपपद्यते? यदिच अवश्यम् अनुष्ठात्रैव प्रयोजको ज्ञातव्यः ततो अध्यापनविधिरपि बालेन तेन अज्ञायमानः प्रयोजको न स्यात्"(न्या.र.मा.१।२६).

यह तो नितान्त विस्मयजनक विधान है! क्योंकि प्रकृतमें अनुष्ठाता उपनयनकर्ता आचार्यत्वकी कामना रखनेवाला है सो उसे तो प्रयोजक ज्ञात है ही. बालक तो उपनयन-संस्काररूप कर्मका अनुष्ठाता नहीं है प्रत्युत संस्कार्य ही है. इसके अलावा यह भी विचारणीय है कि वेदाध्ययन हो रहा है पिता या अन्य किसी ऐसे ज्येष्ठ पुरुषद्वारा अनुष्ठापित; और फिरभी है वह बालकके स्वाध्यायाध्ययनकी विधिसे प्रयुक्त ही! ऐसी स्थितिमें प्रष्टव्य होता है कि पूर्वानधिगत वेदाध्ययनरूप वैध स्वकर्तव्यका बोध ज्येष्ठपुरुषोंकी अभिमति आकांक्षा या अनुष्ठापना के रूपमें बालकको प्रथम होता है कि वेदविधि-विहिततया? यदि ज्येष्ठपुरुषोंकी अभिमत्यादिके रूपोंमें होता हो तो विधिके बजाय ज्येष्ठपुरुषोंके स्वविषयक अभिप्राय या प्रयत्न ही उस बालकके स्वकर्तव्यबोधके जनक बनेंगे. अतः विधिकी कर्तव्यबोधकरणता इतरकारणान्तरित होनेसे अन्यथासिद्ध हो

जायेगी. यदि कहा जाये कि स्वयं वेदाध्यापन भी स्वाध्यायविधिप्रयुक्त है अतः अधीत बालकको अध्ययनके पश्चात् ज्येष्ठ पुरुषोंद्वारा अनुष्ठित वेदाध्यापनके मूलतया स्वाध्यायविधिका मूलप्रमाणतया बोध हो ही जायेगा, अतः विधिनैरर्थक्य नहीं. तब तो स्वविषयक कर्मके बोधकतया प्रथमोपस्थित जो उपनयनपूर्वकाध्यापन उसकी विधिसे प्रयुक्त जो अध्यापन तदनुकूल अध्ययनार्थीकी प्रवृत्ति न स्वीकार कर उपननीयमानोदासीन जो अध्ययनविधि तत्प्रयुक्त अध्यापनमें [तुलनीय : न तावता परप्रयुक्तत्वम् अनुष्ठाने सम्भवति, स्वकीयादेव अधिकाराद् अनुष्ठानलाभात्. न्या.र.मा.१।१७] उपनीयमान बालकके प्रवृत्त होनेका कारण क्या ?

यदि कहा जाये कि अध्यापनार्थ विधिकी कोई भी अपेक्षा नहीं है. क्योंकि अध्यापन तो आजीविकाके उपायतया लोकसिद्ध ही है :—

> [ख]न अध्यापनमिदं वाक्यं विधातुं क्षमते यतो
> द्रव्यार्जनार्थं प्राप्तत्वात् (न्या.र.मा.१।२७).

इस विषयमें यह अवधेय है कि आजीविकोपार्जनार्थ लोकसिद्ध अध्यापन आचार्यत्वाधायक तो हो ही नहीं सकता. क्योंकि "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः, सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते. एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः, योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते" (म.स्मृ. २।१४०-१४१) इस वचनके आधारपर पारिभाषिक वैदिक आचार्यत्व न तो लोकसिद्ध होता है और न वृत्त्यर्थ ही. अतएव इसके व्याख्याकार मेधातिथि कहते हैं—" 'वृत्त्यर्थं'=जीविकार्थं, न आचार्यकरणविधिवशेन, स उपाध्यायो न आचार्यः. अन्येन उपवीतं यः कृत्स्नमपि वेदम् अध्यापयति न असौ आचार्यः उपनीयापि यः कृत्स्नं वेदं न अध्यापयति सोऽपि न आचार्यः". इसके अलावा प्रभाकरविजयकार श्रीनन्दीश्वरकी—

“आचार्यत्वके लौकिक होनेपर भी दक्षिणादि स्वीकारनेके अधिकारतया स्मृतिविहित होनेसे द्रव्योपार्जनकी नियमविधिकी तरह उसे समझना चाहिये” (प्र.वि.प्र.नि.) युक्ति भी भाट्टमतका मननीय निराकरण लगती है. अर्थात् आजीविकोपार्जनके उपायतया अध्यापनके लोकप्राप्त होनेपर भी अन्य उपायोंके बजाय याजन अध्यापन या प्रतिग्रह द्वारा ही आजीविकोपार्जनके शास्त्रीय नियमके अङ्गतया ही अध्यापनका विधान क्यों घड़ा नहीं जा सकता? “षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः” (म.स्मृ.१०।७६) वचनद्वारा भी इसी नियमका सङ्केत मिलता तो है ही.

अध्ययनविधिद्वारा प्रयुक्त होनेसे हितैषी ज्येष्ठ पुरुष वेदाध्ययनके अनुष्ठापनमें जैसे प्रवृत्त होते हैं, ऐसे ही अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्यापन भी बड़ोंका कर्तव्य है, सो बड़ोंके प्रति आदरभाववश तथा हितकामनावश ही बालक भी क्यों प्रवृत्त नहीं हो सकता?

कुछ और भी शङ्कायें यहां अध्यापनविधिपक्षमें उठायी जाती हैं.

यथा:—

> [ग]अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्यापनमें प्रवृत्ति स्वीकार भी लें तो किसी ऐसे परोपकारी बालकका तदर्थ प्रस्तुत होना अनिवार्य नहीं. (वहीं)

इन आक्षेपोंके समाधानार्थ इस विषयमें भी कुछ कल्पनायें की जा सकती हैं कि बालकने बड़ोंके मुखसे पहलेसे सामान्यतया सुना हुवा हो सकता है कि “स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्” (तै.उ.१।११।१) वचनबोधित वेदाध्यापन तो वेदविज्ञोंका अवश्यकर्तव्य है. “सो जब भी कोई वेदविज्ञ वेदप्रवचन करता हो तब वहां उपस्थित होना चाहिये”, ऐसा भी, सुन रखा होनेसे वेदाध्ययनार्थी

बालकको वह अपना कर्तव्य लगेगा ही [तुलनीय:प्रथमं तावद् ‘‘धर्माधर्मौ ज्ञातव्यौ’’ इति वृद्धेभ्यः श्रुत्वा, तद् ज्ञातुम् इच्छन्—स्वाध्यायाध्ययनविधिना तादर्थ्येन विहितम् अध्ययनमपि तेभ्यएव अवधार्य, अधीते वेदम्. ततो अव्युत्पन्नस्य अधीतादपि वेदाद् अर्थज्ञानानुदयात् ‘‘किम् अनेन उच्यते!’’ इति पुनः अन्यादृशी १.जिज्ञासा जायते. तद्वशेनच व्युत्पत्त्युपाये निगम-निरुक्त-व्याकरणादि-श्रवणे यतते. ततश्च पदार्थज्ञानाद् वाक्यार्थः प्रतीयमानः न्यायानवधारणात् संशयितो भवति. ततः पुनः २.वाक्यार्थविशेषजिज्ञासा भवति. तदिदं पश्चात्तनं जिज्ञासाद्वयम् अभिप्रेत्य ‘‘अथातो धर्मजिज्ञासा’’ इति उक्तम्. न्या.र.मा.१।१२]. सो जैसे अध्ययनविधिसे विहित होनेकी बात बड़ोंके मुखसे सुन कर बालक ‘‘स्वाध्यायविधि’’प्रयुक्त वेदाध्ययनमें प्रवृत्त हो सकता है वैसे ही अध्यापनविधिसे प्रयुक्त अध्ययनमें क्यों प्रवृत्त नहीं हो सकता है? अध्यापनके बिना स्वतोऽध्ययनको वैध अध्ययन तो माना नहीं गया है. अतः वेदाध्यापनको लोकसिद्ध आजीविकोपाय माना नहीं जा सकता.

> [घ]यदि आचार्यद्वारा उपनीत होनेके कारण उपनीतव्यापारतया वेदाध्ययनको आवश्यक माना जाये तो वह भी सम्भव नहीं है. क्योंकि उपनयन द्विजबालकका संस्कार है सो आत्मसंस्काररूप अध्ययनमें ही अङ्ग हो सकता है, परसंस्काररूप आचार्यत्वाधायक अध्यापनमें नहीं; और अङ्ग न होनेपर वेदाध्ययन वेदाध्यापनाक्षिप्त हो नहीं पायेगा (वहीं).

आचार्योपनीत द्विजबालकके व्यापारतया वेदाध्ययनकी प्राप्तिके सन्दर्भमें तर्क दिया गया है कि आत्मसंस्काररूप होनेसे उपनयन आत्मार्थ ही होता है, अन्यव्यक्तिमें आचार्यत्वाधानार्थ नहीं. यहां, परन्तु, प्रयोज्यकर्त्रनुष्ठित यज्ञोपवीतार्थ उपगमन और वेदाध्ययन

आत्मसंस्कारसिद्ध्यर्थ हो ही सकते हैं, एतावता प्रयोजककर्त्रनुष्ठित उपनयन और वेदाध्यापन आचार्यत्वसिद्ध्यर्थ क्यों नहीं माने जा सकते?

श्रीपार्थसारथि मिश्र कहते हैं:—

> [ङ]अतः अध्ययनकर्ताके संस्कारद्वारा अध्ययनाङ्ग ही उपनयन होता है फिरभी आनुषङ्गिकतया उससे आचार्यत्व भी सिद्ध हो जाता है, जैसे छेना बनानेको दूधमें मिलाये जाते जामनसे वाजी द्रव भी सिद्ध हो जाता है. एतावता उसे आचार्यत्वकी सिद्धके ही लिये तो स्वीकारा नहीं जा सकता (न्या.र.मा.१।२७).

पाणिग्रहणसंस्कारमें पाणिदानरूप कर्म—"वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः" (म.स्मृ. २।६७) वचनबलात् कन्याके आत्मसंस्कारार्थ होनेपर भी पाणिग्रहणकर्ता पुरुषमें पतित्वाधायक अर्थात् गृहस्थके कर्मोंके अधिकारका आधायक क्या नहीं होता? विवाह कन्याकेलिये उपनयनस्थानीय तो होता ही है: विवाहएव स्त्रीणां वैदिकः संस्कारः उपनयनम्(वहीं.मेधातिथि) — 'वैदिको' वेदाधिगमार्थम् उपनयनरूपः (वहीं. सर्वज्ञनारायण). इसी तरह उपगमन वैदिककर्माधिकारिताधायक वेदज्ञानप्राप्त्यर्थ हो सकता है; तथा उपनयन नित्यकर्मतया विहित षट्कर्मान्तर्गत अध्यापनार्थ क्यों नहीं हो सकता?

स्मृतिचन्द्रिकाकारने विप्रकर्तव्यके रूपमें विहित वेदाभ्यासके बारेमें अनेक शास्त्रवचन उद्धृत किये हैं:—

वेदाभ्यासं ततः कुर्यात् प्रयत्नाच्छक्तितो द्विजः।
जपेदध्यापयेच्छिष्यान् धारयेद्वै विचारयेत्॥
(कू.पु..२।१८।५३).

....................वेदाभ्यासो विधीयते।

वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः ॥
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ।
(द.स्मृ.).

इनके अवलोकन करनेपर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि उपनयनाध्यापनाहित आचार्यत्व वेदविद् ब्राह्मणका लौकिक गुण-धर्म नहीं प्रत्युत शास्त्रविहित अवश्यनिर्वाह्य गुण-धर्म है. अतएव अध्यापन भी अवश्यकर्तव्यतया प्राप्त है, केवल आजीविकोपार्जनके लोकसिद्ध उपायतया नहीं. अतः यदि अध्ययनके अध्यापनविधिप्रयुक्त होनेपर अध्ययनार्थी बालककी तदर्थ प्रवृत्ति नियत न रह जाती हो तो अध्ययनविधिप्रयुक्त स्वीकारनेपर अध्यापककी प्रवृत्ति भी नियत न रह जायेगी. यदि अध्यापनके बिना अध्ययनके शक्य न होनेसे अङ्गतया अध्यापन आक्षिप्त होता हो तो अध्ययनके बिना अध्यापनके भी शक्य न होनेसे अङ्गतया अध्ययन भी आक्षिप्त होगा ही. यदि वह आजीविकार्थ लोकसिद्ध होनेसे विध्यपेक्षा नहीं रखता हो तो स्वतः पुस्तकावलोकनद्वारा भी वेदाक्षरग्रहण और अर्थावगति भी लोकसिद्ध होनेसे वहां भी विध्यपेक्षा निरस्त हो जायेगी. अध्ययनविधिप्रयुक्त स्वकर्तव्यके बारेमें बड़ोंके मुखसे सुन कर प्राप्त हुवा स्वकर्तव्यबोध यदि अध्ययनविधिका सहकारी कारण बनता हो तब तो अध्ययनके अध्यापनविधिप्रयुक्त होनेपर भी वह सहकारी बनेगा ही.

यह भी कहा जाता है कि—

> [च]अङ्गताबोधक श्रुत्यादि प्रमाणोंके अभावके कारण भी वेदाध्यापनके अङ्गतया वेदाध्ययन मान्य नहीं हो सकता है. क्योंकि अङ्ग होनेके कारण यदि वेदाध्ययनको वेदाध्यापनप्रयुक्त माना जाता है तो वेदाध्यापनप्रयुक्त अङ्गता सिद्ध नहीं की

जा सकेगी, दुरुद्धर अन्योन्याश्रयदोषसे ग्रस्त होनेके कारण(वहीं).

इस अन्योन्याश्रयदोषके निराकरणार्थ यह अवधारणीय है कि अध्ययनकर्ताके अभावमें अध्यापनक्रियाका अनुष्ठान सामान्यतया तो शक्य नहीं हो पाता. ऐसे ही अध्यापनकर्ताके अभावमें विहिताध्ययनक्रियाका भी अनुष्ठान अशक्य हो जाता है. अतः परस्परस्वरूपघटक होनेके कारण अध्ययनाध्यापनका लोकसिद्ध नित्यसम्बन्ध है. अङ्गताबोधक श्रुत्यादि प्रमाणोंकी अपेक्षा वस्तुके दृष्टोपकारकतावच्छिन्न अङ्गत्वकेलिये नहीं होती — वह तो अदृष्टोपकारकतावच्छिन्न अङ्गत्वकेलिये ही होती है. पुरोडाशप्रकृतिरूप व्रीहिके दृष्टस्वरूपात्मक अङ्गत्वको श्रुत्यादि प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं होती. ‘‘श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते’’ वचनसिद्धा अङ्गताबोधक श्रुत्यादि प्रमाणोंकी अपेक्षा अदृष्टस्वरूपात्मक अङ्गत्वकेलिये ही होती है. अन्यथा वेदाध्ययनाङ्गत्वेन मीमांसाध्ययनप्रयुक्ति और वेदाध्ययनविधिप्रयुक्त मीमांसाध्ययनकी वेदाध्ययनाङ्गता का विधान भी इसी तरहके दोषसे ग्रस्त विधान क्यों न मान लिया जाये? वैसे तो प्रमाणलक्षणमें भी किसी ज्ञानके अनधिगताबाधितार्थविषयक होनेपर उसके प्रामाण्यकी सिद्धि होगी और ज्ञानके प्रामाण्यके सिद्ध होनेपर ही ज्ञानविषयके अनधिगताबाधितार्थ होनेकी सिद्धि हो पायेगी यों सर्वत्र अन्योन्याश्रयदोष दुरुद्धर हो जायेगा. इस तरहके दोषोद्भावनके उत्साहमें जिस एक महत्त्वपूर्ण तथ्यको भुला दिया जाता है वह यह है कि अनधिगताबाधितार्थविषयक होनेसे ज्ञानके प्रामाण्यकी सिद्धि कारकहेतुनिरूपिता उत्पत्तिरूपा होती है; और ज्ञानप्रामाण्यके बलपर ज्ञेयवस्तुकी अनधिगतार्थता एवं अबाधितार्थता ज्ञापकहेतुनिरूपिता ज्ञप्तिरूपा होती है. अतः अन्योन्याश्रयका प्रश्न ही नहीं उठ सकता. ठीक इसी तरह अध्ययनमात्रकी अध्यापनाङ्गता ज्ञप्तिनिरपेक्ष अध्यापनस्वरूपघटकतया होती है; जबकि वेदाध्यापनविधि-

प्रयुक्त वेदाध्ययनकी वेदाध्यापनाङ्गता वेदाध्यापनज्ञापननिरूपिता वेदाध्ययनज्ञप्तिरूपा होती है. यह न स्वीकारनेपर वेदाध्ययनविधिप्रयुक्त वेदाध्ययन और वेदाध्ययनप्रयुक्त वेदाध्ययनविध्यध्ययन के निरूपणमें भी अन्योन्याश्रयदोषको दुरुद्धर मानना पड़ेगा. अतएव :—

> अनवबुद्धार्थस्तु अवबोधविधिः न अवबोधे प्रवर्तयति, तदर्थबोधः चेद् विध्यपेक्षः; न तत्र सएव प्रवर्तयति अनवबुद्धार्थत्वाद्, इतरेतराश्रयं स्यात्— तदर्थबोधात् प्रवृत्तिः प्रवृत्तस्य च अर्थबोधइति. तस्माद् विध्यन्तरम् अपेक्षितव्यमिति अनवस्था (ब्र.सि.३।२).
>
> भावार्थ : जिसे वेदार्थके अध्ययनकी विधिकी जानकारी ही न हो वह तो वेदार्थके अध्ययनमें प्रवृत्त हो नहीं पायेगा; और वेदार्थका अध्ययन करना चाहिये यह पुनः यदि विधिवशात् ही ज्ञात हो पाता हो तो यह विधि स्वयं तो किसीको प्रवृत्त कर नहीं पायेगी, अनवगत होनेके कारण ही, अन्योन्याश्रय दोष उभरता होनेसे— अध्ययनविधिके अवगत होनेपर वेदविधिबोधार्थ प्रवृत्ति और वेदविधिबोधार्थ प्रवृत्तको अध्ययनविधिकी जानकारी मिलती होनेसे. एतदर्थ अन्य किसी विधिको बीचमें लाया गया तो अनवस्था दोष और उठ खड़ा होगा..

इस दोषके निराकरणार्थ श्रीमण्डन मिश्रने भी यही स्वीकारा है :—

> अप्रवृत्तोऽपि हि स्वाध्यायाध्ययनविधिवाक्याध्ययने पुरुषान्तराधीतात् ततः तस्य च अन्येषां च वाक्यानाम् अध्ययने प्रवर्तते, शाखान्तरीयाङ्गोपसंहार इव श्रवणमात्रात्; न खलु स्वाधीतवाक्यमेव प्रवर्तयति...(वहीं).

> भावार्थ : ‘‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’’ विधानके वश ही स्वाध्यायाध्ययन-विधिवाक्यके अध्ययनमें प्रवृत्त न होनेवाला भी पुरुषान्तरद्वारा अधीत अध्ययनविधायक वचनके समेत अन्य भी विधिवचनों के अध्ययनमें प्रवृत्त हो सकता है. शाखान्तरीय अङ्गोंके स्वकर्मानुष्ठानमें उपसंहारार्थ जैसे अन्यपुरुषाधीत वेदवाक्य स्वयं पढ़े गये न होनेपर भी, अर्थात् उनके बारेमें केवल दूसरेके मुखसे सुना होनेपर भी, वे वाक्य प्रवर्तक हो सकते हैं. अतः आवश्यक नहीं स्वयं अपने पढ़े हुवे वेदवाक्य ही प्रवर्तक होते हों और अन्यद्वारा पढ़े हुवे नहीं.

स्पष्टतया यहां देखा जा सकता है कि अन्योन्याश्रयदोषका परिहार गुरुसे भिन्न किसी पुरुषके मुखसे सुन कर स्वाध्यायाध्ययनविधि-समेत अवशिष्ट वेदके अध्ययनमें प्रवृत्तिके निरूपणद्वारा ही दिया जा रहा है. हम कह ही चुके हैं कि ऐसी स्थितिमें पौरोहित्यमें रुचि रखनेवाले कतिपय ब्राह्मणोंकेलिये ही वेदाध्ययन आवश्यक रह जायेगा सभी ब्राह्मणोंकेलिये नहीं. क्योंकि परपुरुषाधीत वेदवचन भी प्रवर्तक तो हो ही सकते हैं! फिर तो गुरुमुखसे स्वशाखाध्ययनकी प्राथमिकता, स्वशाखात्यागपूर्वक परशाखाध्ययनका निषेध, स्वशाखोक्तरीत्या कर्मानुष्ठानकी प्राथमिकता, स्वशाखीयकर्मोके त्यागपूर्वक परशाखीयकर्मोके अनुष्ठानका निषेध; और स्वशाखामें अनाम्नात स्वशाखीयकर्माविरोधि परशाखोक्त अङ्गोंका स्वकर्मानुष्ठानमें उपसंहार आदिके स्मृतिचन्द्रिकाके संस्कारकाण्डमें संगृहीत इन स्मार्त उत्सर्गापवादोंकी कोई सङ्गति ही नहीं रह जायेगी :—

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः॥
(ना.स्मृ.).

संस्कारवद्भिः कर्तव्यं वेदस्याध्ययनं द्विजैः।
शुद्धस्य फलवत् तत् स्याद् अन्यथा निष्फलं स्मृतम्॥
(लघुव्या.स्मृ.).

पारम्पर्यागतो येषां वेदस्सपरिबृंहणः।
तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा॥
यच्छाखीयैस्तु संस्कारैस्संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।
तच्छाखाध्ययनं कुर्यात् त्यागेन पतितो भवेत्॥
अधीत्य शाखामात्मीयां परशाखां ततः पठेत्।
स्वशाखां यः परित्यज्य पारक्यमधिगच्छति।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वकर्मसु साधुभिः॥
(व.स्मृ.).

यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि च।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत्॥
(कात्यायनवचन).

इन वचनोंके अवलोकनसे इतना तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि वेदाध्ययन ब्राह्मणोंकेलिये केवल कर्मानुष्ठानके अधिकारकी सिद्धिके अङ्गतया ही विहित नहीं अपितु अवश्यानुष्ठेय कर्मतया भी विहित है. अतः गुरुमुखसे अश्रुतवेदके अध्ययनार्थ प्रवृत्त होनेपर स्वयं अध्ययनरूप कर्मका अनुष्ठान भी अवैध ही बन जाता है.

वेदाध्यापनविधिप्रयुक्त वेदाध्ययनमें न ऐसे कोई दोष और न अन्योन्याश्रयदोष ही होता है; तो उसके दुरुद्धर होनेकी कल्पना तो स्वयंमें एक दुर्निवार्य दुराशा ही लगती है.

इसके अलावा यह भी विचारणीय है ही कि अज्ञायमान विधि भी यदि कर्ममें प्रयोजक बनती हो तो अनुपनीत अनधीत पुरुषोंका भी तत्तत् कर्ममें अधिकार स्वीकारनेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये? अनुष्ठापक ऋत्विजोंमें तो ज्ञान रह ही सकता है!

अतएव अध्यापनविधिप्रयुक्त वेदाध्ययनके पक्षके आलोचनार्थ

न्या.र.मा.के कर्ताने जो उपहास किया है:—

> [छ]बड़ोंके मुखसे—"सच्चे इष्टानिष्टका बोध वेद पढ़ कर ही जाना जा सकता है" ऐसा सुन कर वेदार्थज्ञान प्राप्त करनेकी कामना रखनेवाले बच्चे गुरुके पास जाते ही हैं. "स्वाध्यायोऽध्येतव्य:" वचनविहित होनेके कारण उनकेलिये अवश्यकर्तव्यरूप वेदाध्ययन उन्हें गुरु भी कराता ही है, वेदार्थका ज्ञाता होनेके कारण. फिरभी "स्वाध्यायोऽध्येतव्य:" विधि किसे वेदाध्ययन करनेको कह रही यह निश्चित न होनेके कारण अध्यापनविधिप्रयुक्त ही वेदाध्ययन स्वीकारनेका दुराग्रह रखनेवाले गुरु[श्रीप्रभाकर मिश्र]के बारेमें चिन्ता करनेके बजाय ऐसी अटपटी बात करनेवालेको लोग गुरु मानना ही क्यों छोड़ नहीं देते! हमें तो यही अधिक शोचनीय विषय लगता है!!(वहीं).

इस उपहासके विषयमें यही कहा जा सकता है कि साधारण मनुष्यके रूपमें जनमे वेदार्थजिज्ञासुको तो "स्वाध्यायोऽध्येतव्य:" वचनकी जन्मसिद्ध जानकारी हो नहीं सकती. जिन वेदार्थविज्ञोंको इस वचनकी जानकारी हो सकती है वे भी यदि कोई जिज्ञासु अनुपनीत है तो उसे उपनयन संस्कारसे पहले संस्कृत करना चाहेंगे सो गायत्री मन्त्रका ही उपदेश सर्वप्रथम उसे देंगे नकि "स्वाध्यायोऽध्येतव्य:" विधिका [द्रष्टव्य : न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्, नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते. म.स्मृ.२।१७१-१७]. फिरभी वेदके संहिता ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् भागोंका क्रमशः अध्ययन करनेपर यह वचन भी, विलम्बसे ही सही, पर कभी न कभी तो पढ़नेमें आ ही सकता है. सो इससे

पहले वेदाध्ययन समारब्ध हो ही गया होनेसे वचन अप्राप्तका प्रापक विधिरूप नहीं रह पायेगा. अध्यापक गुरुको चाहिये कि वह “ ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ वचनके अर्थानुसन्धानपूर्वक वेदाध्ययन कराये — ‘अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत’ वचनके अर्थानुसन्धानपूर्वक नहीं” ऐसा निषेधवचन खोजना तो गुरूपहास करनेवालोंका ही परम कर्तव्य लगता है!

कल्पसूत्रोंमें भी “गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत्” (शा.गृ.सू.२।१।१) “गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत” (आ.गृ.सू.४।१०।२) यों अध्यापकको उद्देश्य करके ही उपनयन करनेका विधान दृष्टिगत होता है. इसी तरह “आचार्यः ॐकारं प्रयुज्य अथ इतरं वाचयति...” (शा.गृ.सू.२।५।११) “पुरस्तात्प्राङ्ङासीनः कुमारः दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पादमन्वारभ्याह ‘सावित्रीं भो अनुब्रूहि’ इति तस्मा अन्वाह ‘तत्सवितुः’ इति” (आ.गृ.सू.४।११।८-९) “ब्रह्मचारी असि...आचार्याधीनो भव, वेदम् अधीष्व” (बो.गृ.सू.२।५।४५) ऐसे अनेकानेक वचनोंमें उपगमनकर्ता और उपनयनकर्ता को बोलनेके अलग-अलग वचनोंके सूचनपूर्वक अध्यापकको ही उद्देश्य कर आचार्यकर्तृक वेदमन्त्रोच्चारणानुच्चारण करानेका विधान उपलब्ध होता है. सामान्यतया जिसे उद्देश्य बना कर “सत्यं वद” कहा जाता है, “मानृतं वद” भी उसे ही उद्देश्य बना कर कहा हुवा मानना चाहिये. इसे यदि स्वीकारते हैं तो “गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत्” विधि यदि ब्राह्मणकुमारको उद्देश्य बना कर प्रवृत्त हुयी हो तो क्या “आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः... अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीकाः भवन्ति. नैनानुपनयेयुः, नाध्यापयेयुः, न याजयेयुः, नैभिर्व्यवहरेयुः” (शा.गृ.सू.२।१।१-१३) “नानन्तेवासिने प्रब्रूयात् नासंवत्सरवासिने नाप्रवक्त्रे ” (ऐ.आ.२।६।१२) जैसे निषेधवचन भी ब्राह्मणकुमारको ही नियोज्य मान कर कहे गये हैं! यहां उपगमन अध्ययन एवं यजन का निषेध तो कथञ्चित् सोचा भी जा सकता है परन्तु व्रात्यके साथ व्यवहार न रखनेकी अथवा जो संवत्सरस्थायी अन्तेवासी

न हो उसे उपदेश न देनेकी बात स्वयं व्रात्यको या अनन्तेवासीको तो कही नहीं जा सकती है. अतः "स्वयं व्रात्य ही किसी अव्रात्यके साथ किसी भी प्रकारका व्यवहार न रखे, या असंवत्सरस्थायी अनन्तेवासी ही किसी उपदेशकसे पढ़ने न जाये " ऐसा अर्थ सोचनेपर, जो व्रात्य होगा वह या तो अव्रात्योंके साथ व्यवहार रखता होगा तो इस विधिका उसे ज्ञान होगा याफिर अन्तेवासीको ही किसी उपदेशकसे वेद-वेदाङ्गोंके अध्ययन करनेपर ही यह कर्तव्य समझमें आ सकता है. दोनों ही स्थितियां विरोधाभासपूर्ण लगती हैं. अतः सोचनेको बाधित होना पड़ता है कि व्रात्यके साथ व्यवहार रखनेका निषेध अव्रात्योंको किया जा रहा है. इसी तरह अनन्तेवासीको न पढ़ानेकी बात उपदेशार्थीको ही कही जा रही है. तब केवल व्यवहारविषयक विधि ही क्यों अन्य भी विधियां व्रात्य या अनन्तेवासी के बजाय अव्रात्य उपदेशकको ही उद्देश्य बना कर कही गयी क्यों न मान लेनी चाहिये? ऐसी स्थितिमें वेदाध्ययनके अध्ययनविधिप्रयुक्त होनेका समर्थन प्रकरणानुपात्त वाक्यार्थमीमांसा ही लगती है.

इस वाक्यार्थमीमांसामें जिस एक महत्त्वपूर्ण तथ्यकी अक्षम्य उपेक्षा की गयी है, वह तथ्य यह है कि यह वचन किस प्रकरणमें पठित है, इसका विचार किया ही नहीं गया है. "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वचन तैत्तिरीयारण्यकके द्वितीय प्रपाठकमें तथा शतपथब्राह्मणके ग्यारहवें काण्डके पञ्चमाध्यायके छठ्ठे और सातवें ब्राह्मणोंमें उपलब्ध होता है. वैसे भाष्यकार श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि स्वाध्यायब्राह्मण काठकशेष है, अतः वहां भी अवलोकनीय तो है ही, फिरभी जिन रूपोंमें तैत्तिरीयशाखा तथा माध्यन्दिनशाखा में यह वचन उपलब्ध होता है उन रूपोंमें तो निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि उपनीयमान द्विजकुमारको उद्देश्य बना कर वेदाध्ययन या वेदाध्यापनकी यह विधि हो ही नहीं सकती

है. क्योंकि उपनीत एवं अधीतवेद द्विजाधिकारक जो पञ्चमहायज्ञ १.देवयज्ञ २.पितृयज्ञ ३.भूतयज्ञ ४.मनुष्ययज्ञ और ५.ब्रह्मयज्ञ होते हैं, उनमेंसे अन्तिम ब्रह्मयज्ञके सन्दर्भमें यह वचन पठित है:—

> [१]प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञो, अप्रसृतो अनुपवीतिनो. यत्किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजतएव तत्. तस्माद् यज्ञोपवीत्येव अधीयीत याजयेद् यजेत वा. [२]अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भु अभ्यानर्षत् ते ऋषयो अभवन्. तद् ऋषीणाम् ऋषित्वम्. तां देवताम् उपातिष्ठन्त यज्ञकामाः. ते एतं ब्रह्मयज्ञम् अपश्यन् तम् आहरन् तेन अयजन्त... यत् स्वाध्यायम् अधीयीत एकामपि ऋचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः सन्तिष्ठते ...यद् ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा... ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामाद् अछदिर्दर्श... दर्भाणां महद् उपस्तीर्य उपस्थं कृत्वा प्राङ् आसीनः स्वाध्यायम् अधीयीत... प्रज्ञातयैव प्रतिपदा छन्दांसि प्रतिपद्यते... ग्रामे मनसा स्वाध्यायम् अधीयीत दिवा नक्तं वा... उत तिष्ठन् उत व्रजन् उत आसीन उत शयानो अधीयीतैव स्वाध्यायं... [३]...स्वाध्यायमधीते तपएव तत्. तपो हि स्वाध्यायइति... ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छति... [४]तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वौ अनध्यायौ यद् आत्मा अशुचिः यद् देशः... यएवं विद्वान्... स्वाध्यायम् अधीते... सर्वान् लोकान् अनृणो अनुसञ्चरति... यः तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति. यदिं शृणोति अलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् इति. तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यो... यावतीर्वै देवताः ताः सर्वा वेदविदि

ब्राह्मणे वसन्ति. तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवेदिवे नमस्कुर्याद्. न अश्लीलं कीर्तयेद्. एताएव देवताः प्रीणाति. [५]रिच्यतइव वा एष प्रेव रिच्यते यो याजयति प्रति वा गृह्णाति. याजयित्वा प्रतिगृह्य वा अनश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदम् अधीयीत. त्रिरात्रं वा सावित्रीं गायत्रीम् अन्वातिरेचयति. वरो दक्षिणा वरेणैव वरं स्पृणोति. आत्मा हि वरः! (तै.-आ.२।१-१६).

भावार्थ: [१]यज्ञोपवीतीका यज्ञ प्रसृत होता है जबकि अयज्ञोपवीतीका अप्रसृत. यज्ञोपवीती जो कुछ जपता है उसे यज्ञ ही समझ लेना चाहिये. अतः यज्ञोपवीतीको ही अध्ययन याजन या यजन करना चाहिये. [२]तपोनिरत अजन्मा पृश्निओंके समक्ष स्वयम्भु ब्रह्म स्वयं प्रकट हुवे. अतएव उन्हें ऋषित्व प्राप्त हुवा. यही तो ऋषिओंका ऋषित्व होता है कि यज्ञकामी हो कर उन्होंने देवताओंका उपस्थान किया. उन ऋषिओंने इस ब्रह्मयज्ञको पा कर इसका अनुष्ठान किया. उन्होंने जब ऋचाओंका अध्ययन किया तो वे ऋचायें देवताओंकेलिये दुग्धकी आहुति बन गयी... ऋक् यजु या साम के एक भी मन्त्रका जो अध्ययन किया जाता है वह 'ब्रह्मयज्ञ' कहलाता है... ऐसे ही ब्राह्मण इतिहास पुराण कल्प गाथा...का भी... ब्रह्मयज्ञ करनेवालेको घरोंके छपरे दिखलायी देने बन्द हो जायें, गामसे उतनी दूर जा कर, दर्भोंका आसन बिछा कर, पूर्वाभिमुख बैठ कर, स्वाध्यायका अध्ययन करना चाहिये... यह स्वाध्याय नित्य नूतन-नूतन पाठोंके अध्ययनक्रमसे करना चाहिये... गांवमें रहनेवालेको

> मनमें ही स्वाध्याय करना चाहिये. दिनमें या रातमें... खड़े हो कर, बैठ कर, चलते या लेटे हुवे, कैसे भी स्वाध्याय करे परन्तु करना अवश्य चाहिये... [३]जो स्वाध्यायका अध्ययन करता है वह तप ही करता है. स्वाध्याय तप ही तो है... स्वाध्याय करनेवाला ब्रह्मसायुज्यको पा लेता है... [४]यह यज्ञ दो ही स्थितिओंमें स्थगित होता है. एक तो कर्ता स्वयं जब अशुचि हो या देश जब अशुचि हो... इसे समझनेवाला... सभी लोकोंमें सभी ऋणोंसे मुक्त हो कर परिभ्रमण कर पाता है... जो मैत्री निभानेवाले मित्रका त्याग करता है, उसका वाणीमें कोई भी भाग नहीं रह जाता. ऐसा व्यक्ति जो कुछ सुनता है मिथ्या ही सुनता है. वह अपने सुकृतके मार्गको कभी जान नहीं पाता. अतएव स्वाध्यायका अध्ययन करना चाहिये... जितने भी देवता हैं वे वेदविद् ब्राह्मणमें बसते हैं. अतः वेदविद् ब्राह्मणोंको प्रतिदिन नमन करना चाहिये. उनके बारेमें कोई अनुचित बात नहीं करनी चाहिये. इससे सभी देव प्रसन्न हो जाते हैं. [५]जो याग करवा कर दक्षिणा लेता है या प्रतिग्रह करता है वह रीता हो जाता है. अतः उपवास रख कर तीन बार वेदका स्वाध्याय करना चाहिये. अथवा तीन रात तक सावित्री-गायत्रीका जप करनेसे यह रीतापन दूर हो सकता है. जो कुछ दक्षिणा मिलती है वह अच्छी बात है परन्तु सबसे श्रेष्ठ वरदान है—आत्माका रीता न होना!

इस वचनके [१]अंशमें अयज्ञोपवीतीका वेदाध्ययन याजन

और यजन में अनधिकारी होना तथा स्वाध्यायका यज्ञरूप होना घोषित किया गया है. [२]अंशमें यज्ञोपवीतीकेलिये ब्रह्मयज्ञका विधान और उसकी इतिकर्तव्यता समझायी गयी है. [३]अंशमें स्वाध्याय न केवल यज्ञरूप है किन्तु तपोरूप भी है यह समझाया गया है. [४]अंश वही है कि जहां "स्वाध्यायाऽध्येतव्यो" वचन उपलब्ध होता है—सुस्पष्टतया प्राथमिक अध्ययन यहां विवक्षित हो ही नहीं सकता. [५]अंशमें स्वाध्याय केवल यज्ञ-तपोरूप ही नहीं अपितु प्रायश्चित्तरूप भी है, सो इस प्रायश्चित्तरूप स्वाध्यायके बारेमें विधान और इतिकर्तव्यता का निरूपण इस अंशमें किया गया है.

इसी तरह माध्यन्दिनशाखीय वचनमें भी "पञ्चैव महायज्ञाः. तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्ब्रह्मयज्ञ इति" कह कर "अथ ब्ब्रह्मयज्ञः. स्वाध्यायो वै ब्ब्रह्मयज्ञस्तस्य वा एतस्य ब्ब्रह्मयज्ञस्य व्वागेव जुहूर्म्मन उपभृच्चक्षुर्द्ध्रुवा मेधा स्रुवं सत्त्यमवभृथः स्वर्गो लोक उदयनं य्यावन्तः ह वा इमाम्पृथिवीं वित्तेन पूर्णान्ददँल्लोकञ्जयति...य्य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते. तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" ऐसा स्पष्ट निरूपण किया गया है. अतः सिद्ध होता है कि यहां भी स्वाध्यायविधि वेदविविदिषुके प्राथमिक अध्ययनको लक्ष्यमें रख कर नहीं कही गयी है प्रत्युत अधीतवेद ऐसे विद्वान्को ही पञ्चमहायज्ञरूप उसके आवश्यक कर्तव्योंका निर्देश यहां दिया गया है.

अतएव महाप्रभु कहते हैं:—

'स्वाध्याय'शब्दो वेदे हि रूढो योगेऽपि वर्तते।।६।।
सुष्ठ्वासमन्तादध्येयः शोभनं नियमैयुतः।।
देशे काले गुरौ स्वस्मिन् अपेक्ष्यन्ते गुणा इह।।७।।
'आ' सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते।।
शब्दे ह्यर्थे ह्यनुष्ठाने तथाध्येयो हि वैदिकैः।।८।।

अपर्णताद्यपहतपाप्मादिसकलैः गुणैः ॥
प्रजापतिमुखैर्वेदो यथाहि पठितः पुरा ॥९॥
तादृग्गुणविशिष्टोऽत्र वेदः 'स्वाध्याय' उच्यते ॥
(पत्रा.६-९)

> भावार्थ: 'स्वाध्याय' शब्द वैसे तो वेदके अर्थमें रूढ़तया स्वीकारा जाता है फिरभी इसे प्रस्तुत यौगिक अर्थमें भी स्वीकारना चाहिये : सु + आ + अध्याय = स्वाध्याय. 'सु' उपसर्गद्वारा अध्ययनके स्थल और समय के अपेक्षित गुण और इसी तरह अध्यापक और अध्ययनार्थी के जो अपेक्षित गुण होते हैं उनका सूचन किया जा रहा है. 'आ' उपसर्गद्वारा यह सूचित हो रहा है कि वेदके शब्द, अर्थ और अनुष्ठान में कहीं किसी तरहकी शङ्का न रह जाये इतनी अच्छी तरहसे वैदिकोंको वेद पढ़ना चाहिये. जैसे पूर्वकालमें ऋषिओंने ऋणरहित हो कर प्रजापतिके मुखसे निष्पाप वेदाध्ययन किया वैसी ही रीतिसे पढ़नेपर वेदको 'स्वाध्याय' कहा जा सकता है.

अस्तु, इनके अवलोकन करनेसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि प्राथमिक गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण रूपी वेदकी शब्दराशिके ग्रहणके बारेमें तो यह "स्वाध्यायोऽध्येतव्यो" वचन हो नहीं सकता है. भाट्टमीमांसकोने माना है कि न तो प्राथमिक शब्दराशिग्रहणात्मक यह अध्ययन निरर्थक हो सकता है और न अध्ययनविधि ही अदृष्ट फलार्थ हो सकती है. इस सन्दर्भमें यह उल्लेखनीय हो जाता है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वचनके बारेमें—"तथापि न विधेः आनर्थक्यं नियमार्थत्वात्" (न्या.र.मा.१।३६) निरूपणद्वारा नियमविधि माननेवालोंने इसी वचनके साथ घण्टाघोषपूर्वक समभिव्याहृत

अनेक फलनिर्देशों— “तएनं तृप्ता आयुषा तेजसा वर्चसा श्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन च तर्पयन्ति... ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छन्ति... वरेणैव वरं स्पृणोति. आत्मा हि वरः!” (तै.आ.२।१०-१६) की घोर उपेक्षा की है!

यद्यपि श्रीपार्थसारथि मिश्र इस सन्दर्भमें एक उल्लेखनीय शङ्का-समाधान अवश्य करते हैं:—

> [ज]आद्येत्वध्ययने नैव काचिदस्ति फलश्रुतिः।
> धारणे जपयज्ञे च फलश्रुतिरियं यतः॥
>
> ननु अन्यार्थाद् अध्ययनात् प्रतीयमानो अर्थो न विवक्षित-इति कथं विचाराभ्यनुज्ञा? नैष दोषो, अर्थप्रतिपादकस्यापि अदृष्टार्थाध्ययनसम्भवात्. यथा तावत् सिद्धान्तएव “याजयित्वा प्रतिगृह्य वा अनश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदम् अधीयीत” इति प्रायश्चित्तार्थेऽपि अध्ययने विहिते न वेदस्य अविवक्षितार्थता आपद्यते, तथा स्वर्गार्थेऽपि अध्ययने द्रष्टव्यम् (न्या.र.मा.१।३५).

हम देख सकते हैं कि इस लीपापोतीसे प्रस्तुत शङ्का समाहित नहीं हो पाती है. १.अक्षरग्रहणात्मक २.जप-धारणात्मक ३.विचारात्मक ४.अध्यापनात्मक ५.प्रायश्चित्तात्मक यों स्वाध्यायाध्यनके अनेक प्रकारोंमेंसे जैसे २.जप-धारणरूप स्वाध्यायोंकी ही यहां विधि भी है और फलश्रुति भी. वैसी कोई भी, १.वेदाक्षरग्रहणरूप अर्थात् गुरुमुखोच्चारणानुच्चारणरूप, अध्ययनकी अनुष्ठानविधि या फलश्रुति कण्ठतः कही गयी यहां तो उपलब्ध नहीं होती है! फिरभी, “प्राथमिक अध्ययनकी केवल फलश्रुति नहीं है” ऐसा कहना मूल मुद्देसे बातको बरगलानेकी नीति लगती है.

क्योंकि :—

१. यस्तित्याज सखिविदं सखायं
न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति।
यदिं शृणोत्यलकं शृणोति
नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थामिति।।
२. तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यो.
३. यं-यं क्रतुमधीते तेन-तेनास्येष्टं भवति.
४.अग्नेर्वायुरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति.
(तै.आ.२।१५).

यहां हम देख सकते हैं कि इस वचनके चारमेंसे १.अंशमें वेदका एक सच्चे मित्रके रूपमें बखान कर मित्रत्याग करनेवालेकी निन्दा की गयी है. यह निन्दा स्वयं इस तथ्यकी और सङ्केत करती है कि प्राथमिक अध्ययनकी प्रक्रियाद्वारा मित्रत्वेन अङ्गीकृत वेदका त्याग कर देनेवालेके बारेमें यह है. अर्थात् अधीतवेदका स्वाध्याय न करना अनुचित माना गया है. ३.अंशमें अक्षरग्रहण तथा अर्थावगति की क्रमिक प्रक्रियाद्वारा कर्मानुष्ठानसे इष्टप्राप्तिका वर्णन अभिप्रेत नहीं है प्रत्युत जपात्मक स्वाध्यायका अवान्तरफल ही निरूपित हुवा है. ४.अंशमें जपात्मक स्वाध्यायका मुख्यफल निरूपित किया गया है. अतः इस तरहके उपक्रमोपसंहाररूप दो वचनोंके कोष्ठकमें आनेवाले २.“स्वाध्यायोऽध्येतव्यः”अंशमें निरूपित अध्ययनके बारेमें “आद्ये तु अध्ययने नैव काचिद् अस्ति फलश्रुतिः” कहना सर्वथा अप्रसक्तप्रतिषेध ही लगता है.

श्रीभास्कराचार्य, प्रतीत होता है कि इसी कारणसे, दो महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण इस वचनके अपने भाष्यमें देते हैं :—

१.यहां ‘स्वाध्यायब्राह्मणम्’ इस समाख्याके कारण
स्वाध्यायका ही विधान अपेक्षित है, अतएव आरम्भके

> अनुवाकोंमें स्वाध्यायापेक्षित यज्ञोपवीत और सन्ध्योपासना का विधान हुवा है. अतः शुचि हो कर स्वाध्यायका अध्ययन करना चाहिये. इस शुचिताकेलिये ही प्रायश्चित्तोंका भी विधान यहां किया गया है...
>
> २.कुछ इसे प्राथमिक वेदाध्ययनका भी विधान मानते हैं[!].
>
> (तै.आ.भा.२।९ तथा २।१५)

इन सारे तथ्योंके अवलोकन करनेसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि यदि प्राथमिक अध्ययनकी प्रयुक्ति यहां खोजनी हो तो वाचनिकी तो वह हो नहीं पायेगी. अतः उपनयनसंस्कारविधि तथा स्वाध्यायजपधारणविधि यों दो विधियोंसे विहित दो कर्मोसे सन्दंष्ट या नियत मध्यपाती होनेसे—अर्थात् उपनयनके पश्चात् प्राथमिक वेदाध्ययनके बिना अधीतवेदावर्तनरूप स्वाध्याय सम्भव न होनेसे—स्वाध्यायाध्ययनकी विधिद्वारा उपनयनोत्तर वेदाक्षरराशिग्रहण भी आक्षेपलभ्य मानना हो तो "उपनयीत-अध्यापयीत" बोलनेवाली प्रत्यक्षश्रुतिका त्याग करके आक्षेपलभ्य प्राथमिक अध्ययनको स्वीकारनेमें कौन सा पुरुषार्थातिशय सिद्ध हो जाता है, यह विचारणीय विषय है. वेदविहित न हो तो नियमेन वेदाध्ययनके न करनेके कारण उपनीत व्यक्तिके प्रत्यवायी होनेका भय लगता है, अर्थात् उस प्रत्यवायसे बचानेकेलिये अध्ययनविधिप्रयुक्त अध्ययन स्वीकारना आवश्यक लगता है, ऐसा विचारनेवालेको बताना पड़ेगा कि क्यों इसी तरह नित्यकर्मान्तर्गत अध्यापन न करनेपर वेदविज्ञ भी प्रत्यवायी नहीं हो सकता? इस बारेमें ये वचन अवधेय हैं: "यो हि विद्याम् अधीत्य अर्थिने न सम्प्रदद्यात् स कर्मानर्हः स्यात्" (स्मृ.च.वसिष्ठवचन) — "संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं न निर्दिशेद् हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरुः" (स्मृ.च.यमवचन). केवल

अर्थार्थित्व ही गुरुकी अध्यापनकर्मार्हताका निकष माना जाये तो "मुझे अर्थापेक्षा नहीं" कहनेमात्रसे उल्लिखित वचनोंसे सिद्ध होते प्रत्यवायका परिहार शक्य होनेसे ये वचन निरर्थक सिद्ध होंगे. न केवल ये अपितु अन्य भी "नापरीक्षितं याजयेत् नाध्यापयेत् नोपनयेत्" (विष्णुस्मृति २८।३) तथा "सततं प्रातरुत्थाय दन्तधावनपूर्वकं स्नात्वा हुत्वाथ शिष्येभ्य कुर्यादध्यापनं नरः" (स्मृ.च.यमस्मृति) ऐसी अनेक अध्यापनकी इतिकर्तव्यताबोधक विधियां निरर्थक सिद्ध होंगी. यदि लोकसिद्ध अर्थार्थीके ही ये नियम हों तो सभी अर्थार्थियोंपर लागू होंगे केवल वेदाध्यापकपर नहीं. अतः अर्थार्थी वेदाध्यापकके ये नियम हों और अर्थार्थिता उपाधिवश प्रायश्चित्तरूप भी न हों, तो सिद्ध हो जाता है कि वेदाध्यापकत्व केवल अर्थार्थिताप्रयुक्त लोकसिद्ध गुणधर्म नहीं हो सकता है. अर्थार्थी ही केवल गुरु या आचार्य होनेका अधिकारी होता तो "आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः, आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः" (म.स्मृ. २।१०९) वचनमें शिष्यका केवल अर्थद होना पर्याप्त था, अन्य नवविध शिष्योंको अध्यापन करनेकी आज्ञा धर्मविधि नहीं होनी चाहिये थी. यहां व्याख्या करते हुवे मेधातिथि कहते हैं—"ब्रह्मचारिधर्मप्रसङ्गेन अध्यापनविधिः अयम् उच्यते". इसी स्मृतिवचनके मूलतया किसी व्याख्येय श्रुतिवचनकी कल्पना करनी हो तो वह "उपनयीत-अध्यापयीत" से उचिततर वचन और कौन सा हो सकता है? किसी भी रूपमें इसे लिया जाये, इतना तो निश्चिततया प्रतीत होता है कि अध्ययनकी तरह अध्यापन भी नियत कर्तव्य है, उपनीत ब्राह्मणकेलिये दोनोंका ही यथाविधि अनुष्ठान आवश्यक होनेसे. "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वचन प्राथमिक अध्ययनका तो सर्वथा अनिरूपक तथा अविधायक ही लगता होनेसे अध्यापनविधिप्रयुक्त वेदाध्ययन ही समीचीन पक्ष है. स्वाध्यायप्रकरणमें उपनयन और स्वाध्यायाध्ययन के बीचमें स्वाध्यायप्रतिबन्धक पापोंके प्रायश्चित्तार्थ कूश्माण्डहोमके विधान—

"कूश्माण्डैर्जुहुयाद् यो अपूतइव मन्यते... यथा भ्रूणहैवमेष भवति योऽयोनौ रेतस्सिञ्चति...तस्मान्मुच्यते" (तैत्ति.आर.२।८)इस तरहके दुष्कृत्योंकी सम्भावना सात-आठ वर्षके बटुक बालकके बारेमें प्रसक्त ही नहीं मानी जा सकती है.

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।।
नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
(म.स्मृ. २।१०५-६)

इस स्मृतिगत "नैत्यके नास्त्यनध्यायो" और तैत्तिरीयारण्यकगत [४]तस्य वा एतस्य यज्ञस्य द्वौ अनध्यायौ यद् आत्मा अशुचिः यद् देशः... तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यो" वचनकी एकार्थतासे अधिक स्फुटतर और कौना सा एकार्थ हो सकता है! इससे भी सिद्ध होता है कि यह प्राथमिक अध्ययनार्थ विधि है ही नहीं.

अतएव यहां मनुस्मृतिमें, स्वाभाविकतया क्रम भी यही दिखलाया गया है :—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत।।
उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च।।
अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः।।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिस्स्मृतः।
(म.स्मृ. २।६८-७०).

एक और बात जो इस सन्दर्भमें नितान्त अविस्मरणीय है

वह यह कि स्वाध्यायब्राह्मणके १६वें अनुवाक्‌में "त्रिः स्वाध्यायं वेदम् अधीयीत" कह कर श्रुतिने यह बिलकुल उजागर कर दिया है कि 'स्वाध्याय' वेदादि शास्त्रोंका विशेषण होनेके कारण जब विशेष्यरहित प्रयुक्त होता है तो अधीत वेदादि सकल शास्त्रोंके वाचकतया योगरूढ़ होता है. जब 'वेद'रूप विशेष्यके साथ 'स्वाध्याय'पदका विशेषणतया प्रयोग किया जाता है तो, यह पद अधीतांशेतर अनधीत वेदांशका; तो कभी वेदेतर शास्त्रोंका व्यावर्तक भी हो सकता है. अतः कोई आवश्यकता नहीं है कि 'स्वाध्याय'पदको नियततया वेदवाचक ही लेना. इससे भी सिद्ध हो जाता है कि वेदाक्षरग्रहणात्मक प्राथमिक अध्ययन यहां विवक्षित नहीं है.

महाप्रभुने जो " 'स्वाध्याय' शब्दो वेदे हि रूढ़ो योगेऽपि वर्तते, सुष्ठ्वासमन्तादध्येयो... 'आ' सर्वतः पुनस्तत्र यथा शङ्का न जायते" (पत्रा.६-८) निरूपण किया है, उसे केवल— "सु + आ + अध्यायः = स्वाध्यायः" रूपी यौगिकार्थकी विवक्षामें ही स्वीकारना चाहिये. अन्यथा वेदरूप अर्थमें ही रूढ़ प्रयोग स्वीकार करनेवालोंको, अर्थात् "स्वशाखीयो वा स्वेन वा + अध्येयो वेदः = स्वाध्यायः" व्युत्पत्तिका आग्रह रखनेवालोंको, बताना पड़ेगा कि "स्वेन अध्येयाः वेदस्मृतीतिहासपुराणागमादयः स्वाध्यायः" व्युत्पत्ति क्यों ली नहीं जा सकती? स्वाध्यायविधिके प्रकरणमें तो ये सभी पठित हैं. यदि "ऐसी व्युत्पत्ति भी ली जा सकती है" ऐसा स्वीकार लिया जाये, तब वेदाक्षरोंके प्राथमिक ग्रहणको 'स्वाध्याय' पदके अर्थतया लिया नहीं जा सकेगा. इसके अलावा 'ब्रह्माञ्जलि'पूर्वक वेदाध्ययनका नियम वर्णित होनेसे, 'स्वाध्याय'को गुरुमुखसे अक्षरग्रहणके अर्थमें स्वीकारनेपर, उठते-बैठते हुवे या लेटे-चलते हुवे दिन या रात में इनका अध्ययन गुरुकी सन्निधिमें सोचा भी कैसे जा सकता है!

वेदविधिप्रयुक्त वेदाध्ययनरीतिके अङ्गभूत संस्कारकी समाख्या —

'उपगमन' न हो कर 'उपनयन' होना—स्वयंमें इस बातका प्रमाण है कि अध्ययनविधिप्रयुक्त वेदाध्ययन नहीं किया जाता है प्रत्युत अध्यापनविधिप्रयुक्त ही.

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥
(ऋ.सं.१०।८५।३६).

भगस्ते हस्तमग्रहीत सविता ते हस्तमग्रहीत।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव!॥
(अथर्व.शौ.सं.१४।१।५१).

इन वचनोंसे द्योतित एक ही पाणिग्रहणसंस्कारके कारण वरमें पतित्व तथा वधूमें पत्नीत्व रूपी दो धर्मोंका आधान होता है; और इन उपाधियोंके वश मिलते स्वस्व-कर्मानुष्ठानके अधिकारोंका प्रापण भी. अन्यथा यहां भी प्रश्न उठ सकता है कि पाणिदानप्रयुक्त पाणिग्रहण अङ्गानुष्ठान है या पाणिग्रहणप्रयुक्त पाणिदान अङ्गानुष्ठान है. यदि पाणिग्रहणविधिप्रयुक्त पाणिदानकर्मकी अङ्गता हो तो प्रयुक्ति सम्भव नहीं, अन्योन्याश्रयदोष यहां भी दुरुद्धर हो जायेगा. अङ्गत्वमूलक विधिप्रयुक्ति कि विधिप्रयुक्त अङ्गत्व!

निष्कर्षतः एक ही उपनयन संस्कार अध्यापकके प्रवचनरूप कर्तव्यका निर्वाहक भी तथा आचार्यत्वका आधायक भी हो सकता है. इसी तरह उपनीयमानके वेदाध्ययनका भी निर्वाहक तथा वेदविहित कर्मोंके अधिकारका प्रापक भी हो ही सकता है.

::शाङ्कर दृष्टिकोण और उसका विमर्श::

शाङ्करोंमें इस विषयका ऊहापोह करनेवालोंमें उल्लेखनीय हैं: ब्रह्मसूत्रके शाङ्कर भाष्यके ऊपर 'पञ्चपादिका' व्याख्या और

उसपर 'विवरण' व्याख्या लिखनेवाले श्रीपद्मपादाचार्य और श्रीप्रकाशात्ममुनि. बादमें पूर्वोत्तरमीमांसा-वादनक्षत्रमालाके लेखक श्रीअप्पय दीक्षितका नाम भी उल्लेखनीय है ही.

पञ्चपादिकाकार और विवरणकार ने आक्षेपोपक्रम कुछ यों किया है :—

> [क] ''उपनयीत-अध्यापयीत'' वचन तो उपनयन और अध्यापन करनेके विधानद्वारा चरितार्थ हो जाता है. अतः आचार्यत्व स्वयं तो इस विधिवाक्यका विधेय हो नहीं सकता है(प.पा.वि.१।१।१).

हम देख चुके हैं कि वेदाभ्यासके अन्तर्गत १.वेदस्वीकरण २.वेदार्थविचार ३.वेदकी शब्दार्थराशिका अभ्यास ४.जप और ५.वेदाध्यापन यों पांचों ही बातोंका नियत कर्मतया अनुष्ठान आवश्यक माना गया है. इसी तरह वेदके अनभ्यासकी निन्दा भी की गयी है : अनाभ्यासेन वेदानां... मृत्युः विप्रान् जिघांसति (म.स्मृ.५।४). अतः ब्राह्मणके ब्राह्मण्यका निर्वाहक होनेसे वेदाध्यापन भी नित्यकर्म है और अनुपनीतकेलिये वेदाध्यापनके निषिद्ध होनेसे उपनयन भी वेदाध्यापनाङ्ग है. यह मुख्यकल्प है परन्तु अनुकल्प यह भी सम्भव है ही कि अध्ययनार्थीके स्वोपनीत न होनेपर परोपनीतको भी वेदाध्यापन किया जा सकता है. उस स्थितिमें आचार्यत्व सिद्ध होता है कि नहीं इस विषयमें—''यः तर्हि अनुपनेता कृत्स्नवेदाध्यापकश्च तस्य किं लक्षणम् ? नासौ आचार्यः नापि उपाध्यायः. नचापि नामान्तरं तस्य श्रुतम् ! उच्यते, ''अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्य...'' इत्यनेन गुरुः असौ आचार्याद् न्यूनः उपाध्यायादपि अधिकः'' (मेधातिथि २।१४१) वचनद्वारा श्रीमेधातिथिने सारी स्पष्टतायें कर ही रखी हैं.

अतः ''उपनयीत-अध्यापयीत'' विधि है और ''उपनयनसंस्कार-

दानपूर्वक वेदाध्यापन करानेवाला आचार्य होता है'' यह लक्षण है. यों विधि-लक्षणकी एकवाक्यताके आधारपर आचार्यलक्षणघटक तत्त्वोंका विधान जब उपलब्ध हो ही रहा है तब लक्ष्यरूप आचार्यत्वको ही विधेय क्यों नहीं माना जा सकता? ''लक्षणसत्त्वे लक्ष्यसत्त्वं लक्ष्यसत्त्वे लक्षणसत्त्वम् = एकतराभावे अन्यतराभाव:'' रूपा समव्याप्ति तो लक्ष्य और लक्षण के बीच परस्पर होती ही है. अत: या तो आचार्यत्वका मनुस्मृत्युक्त लक्षण अस्वीकार्य है ऐसे कहना चाहिये या फिर लक्षणघटक तत्त्वोंके विधानमें लक्षणका और तद्द्वारा लक्ष्यका विधान भी अकाम गलेपतित होता ही है.

> [ख]''सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणन — व्ययेषु नियः'' (पाणि.सू.१।३।३६) सूत्रके अनुसार—'उपनयीत' इस आत्मनेपदका प्रयोग आचार्यकरणरूप अर्थमें हुवा है. एतावता उसके साथ जुड़े विध्यर्थक 'लिङ्' प्रत्ययका अर्थ भी आचार्यकरण ही होता है ऐसा तो माना नहीं जा सकता. अत: इसे विधिपदाभिधेय भी स्वीकारा नहीं जा सकता है(वहीं).

आचार्यकरणार्थक आत्मनेपद 'तङ्'के लिङादेशरूप होनेके बावजूद, यदि आचार्यत्व विधिपदाभिधेय न हो पाता हो तो उसका मतलब यह होगा कि 'लिङ्' प्रत्ययस्थानीय 'तङ'देश हुवा ही नहीं. तब तो अर्थविशेषयुक्त आत्मनेपदका लिङादेश होना ही निरर्थक सिद्ध हो जायेगा. फिर तो आत्मनेपदके प्रयोग करनेपर कर्तृगामिक्रियाफलका बोध भी नहीं हो पायेगा. सामान्य 'लिङ्' प्रत्ययका अभिधेय जो कुछ होता हो वह हो पर उसके स्थानपर आचार्यकरणार्थक आत्मनेपदके 'तङ्'के आदेशके बाद उसका

''उपनयनद्वारा आचार्यत्व सम्पादित करना चाहिये'' ऐसा विशिष्ट अर्थ क्यों नहीं निकल सकता है?

> [ग]इस आचार्यत्वको नियोगफल भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''जो आचार समझाता हो उसे 'आचार्य' कहते हैं'' परिभाषाके अनुसार, एक द्विजकुमार किसी वेदविज्ञ पुरुषके पास जब आचार और वेदादि समझने जाता है तब ही, अर्थात् द्विजकुमारद्वारा बनाये जानेपर ही, कोई वेदविज्ञ पुरुष आचार्य बन पाता है. अतः आचार्यत्व लौकिक गुणधर्म ही सिद्ध होता है(वहीं).

वेदाध्यापनक्रियाके प्रयोजककर्ता वेदज्ञानार्थीद्वारा आहित आचार्यत्व यदि लौकिक होता हो तो लिखित-मुद्रित पुस्तकके द्वारा वेदमें वैदुष्य प्राप्त करनेवाले जैन या बौद्ध पुरुषसे वेदाध्ययन करनेवाले किसी अनुपनीत व्यक्तिके वेदाध्ययनको संस्कारतया मान्य रखना कि नहीं? यदि नहीं तो अध्यापनोंके इन दोनों प्रकारोंके बीच एकको लौकिक और दूसरेको अलौकिक स्वीकारना ही पड़ेगा. फलतः ऐसे अलौकिक अध्यापनमें अध्यापक बननेवाला पुरुष स्वयं लौकिक हो सकता है परन्तु उसका अध्यापकत्व लौकिक नहीं हो पायेगा. अन्यथा आहवनीयाग्नि और लौकिकाग्नि में भी भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा.

वैसे यह तो स्वयं जो श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं उससे भी विरुद्ध जाती बात ही है. क्योंकि '''स्वाध्यायो' अध्ययनं, 'प्रवचनम्' अध्यापनं... स्वाध्यायाधीनं हि अर्थज्ञानम्, अर्थाज्ञानायत्तं च परं श्रेयः, प्रवचनं च तदविस्मारणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च''(तै.उ.भा.९।१) तथा ''... ताभ्यां न प्रमदितव्यम्. ते हि नियमेन कर्तव्ये.'' (तै.उ.भा.११।१) वचनोंके आधारपर अध्यापन भी नित्यनियत कर्तव्य

ही सिद्ध होता है. अतः नित्यनियत भी मानना और अनित्य भी मानना तो वदतोव्याघात दोष होगा. इससे सिद्ध हो जाता है कि नित्यकर्मतया विहित अध्यापनप्रयुक्त आचार्यत्वका ही वृत्त्यर्थनियमन पञ्चपादिकाकारोद्धृत वचनका विषय है, नकि केवल वृत्त्यर्थ ही वेदाध्यापनका नियमन.

पञ्चपादिकाकारने यह जो कहा कि वृत्त्यर्थ आचार्यकरण नित्य भी हुवा तो वह नित्यता भी अर्थेषणाप्रयुक्त नित्यता होगी विधिप्रयुक्त नहीं, वह भी श्रीशङ्कराचार्यके ही उपरिनिर्दिष्ट वचनोंके कारण निरस्त होती जान लेनी चाहिये.

> [घ]प्रथम आचार्यके दिवङ्गत हो जानेपर, अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्ययन स्वीकारते हैं तो, दूसरे किसीको आचार्य बनाया नहीं जा सकेगा. क्योंकि जो अधिकारी होता है वह अपने कर्मकी सिद्धिकेलिये अनुष्ठानके समय एक साधनके उपलब्ध न होनेपर प्रतिनिधिका चयन करके अभीष्टकर्मको यथाकथञ्चित् सम्पन्न कर लेता है; परन्तु यदि अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्ययन स्वीकारते हैं तो जिस नियोज्यके कारण कर्मानुष्ठान प्रारम्भ हुवा उस नियोज्यके ही न रहनेपर उसका प्रतिनिधि कैसे खोजा जा सकेगा? (वहीं)

पञ्चपादिकाकारकी इस युक्तिके समर्थनार्थ विवरणकारने कुछ और भी अनुपपत्तियां अध्यापनविधिपक्षके विरोधार्थ प्रस्तुत की हैं. उन सबका सार कुछ यों है:—

> [घ-१]यदि उपनयन, वेदाध्ययनाङ्ग न हो कर, अध्यापनाङ्ग हो तो किसी उपनयनकर्ता-वेदाध्यापक आचार्यके दिवङ्गत होनेपर अन्य कोई आचार्यत्वकामी

> वेदज्ञ अन्योपनीतको वेद पढ़ा नहीं पायेगा, पुनरुपनयनके अप्राप्त होनेसे. [घ-२]कोई अर्थकामी, धनलाभार्थ, यदि वेद पढ़ाने उद्यत भी हो जाये तो बिचारे दरिद्र वेदाध्यनार्थीका क्या होगा? [घ-३]सत्यकाम जाबाल स्वतः चला कर ही गौतम ऋषिके पास उपगत हुवा था—गौतम ऋषिने सत्यकाम जाबालका उपनायन नहीं किया था.
>
> इससे यही सिद्ध होता है कि उपनयन वेदाध्ययनाङ्ग होता है और अतएव अध्ययनविधिप्रयुक्त ही उसे स्वीकारना चाहिये(वहीं).

इन सभी उपपत्तियों और अनुपपत्तियों को देते समय जिस तथ्यकी घोर उपेक्षा हुयी है, वह यह है कि सभी वेदविज्ञोंको इनमें अर्थलोभावतार मान कर चला गया है. सो भी ऐसे कि साधारण व्यक्तिको वेदाध्ययन करानेवालोंमें ही अश्रद्धा हो जाये! अन्यथा स्वाध्यायब्राह्मणमें निरूपित ब्रह्मयज्ञकी महत्ताको जाननेवालेके बारेंमें ऐसी युक्तियां अनवसरपराहत ही माननी चाहिये. वाचनिकी व्यवस्था जब इस विषयमें मिलती ही है तो अनेकविध उत्प्रेक्षाओंको करते रहनेसे कोई लाभ भी नहीं होगा.

प्राथमिक वेदाध्ययनको अध्यापनविधिप्रयुक्त माननेका अर्थ ऐसा तो हो नहीं सकता कि प्राथमिक अध्ययनोत्तरभावी वेदाध्ययन भी अर्थात् प्रत्येक वेदाध्ययन अध्यापनविधिप्रयुक्त ही स्वीकारना चाहिये. प्राथमिक वेदाध्ययन गुरुमुखद्वारा होता है, ऐसा स्वीकारनेका यह तो अर्थ कभी सोचा भी नहीं जा सकता कि प्रथमाध्यापकके अध्यापनसे अतिरिक्त वेदाध्ययन ब्राह्मणकेलिये कर्तव्यरूप ही न रह जाता हो. उदाहरणतया ‘‘सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ समापनं न विद्यते कर्मणो जीवसंयोगात्’’ (जै.सू.१०।२।२३) सूत्रमें जैसे सिद्धान्तित किया गया है कि मृत्युकामी यजमानके मरणके बाद भी ‘सर्वस्वार’

नामक यज्ञका अनुष्ठान ऋत्विज अधूरा नहीं छोड़ सकते उसे पूरा तो करना ही पड़ता है, वैसे ही अध्यापकके दिवङ्गत होनेपर अध्ययनार्थी भी वेदाध्ययनको निरन्तर क्यों नहीं रख सकता? वैसे विवाहसंस्कारके भी बारेमें यह हम देख ही चुके हैं कि पाणिग्रहण वरकर्तृक होता है तथा वरको जैसे वह गृहस्थाधिकारक कर्मोंका अधिकारी बनाता है, वैसे ही वधूको भी वही पाणिग्रहण कर्म, उपनयनस्थानीय होनेसे, द्विज तथा धर्मपत्नी=यज्ञकर्ममें सहभागिनी होनेकी अधिकारिणी बनाता ही है. ठीक इसी तरह उपनयनके कारण अध्यापनार्थीमें आचार्यत्व तो अध्ययनार्थीमें अध्ययनाधिकारपूर्वक वैदिककर्मोंके अनुष्ठानका अधिकार भी क्यों सिद्ध नहीं हो सकता? यदि हो सकता हो तो उस प्राप्त अधिकारके ही कारण वह अवशिष्ट वेदाध्ययनार्थ आचार्यान्तरोपगमन भी क्यों नहीं कर पायेगा(घ)? स्वोपनीतको वेदाध्यापनके अनुकल्पतया अन्योपनीतको भी वेदाध्यापन कर्तव्यतया प्राप्त ही है, आचार्यत्वाधायक न होनेपर भी, दशविध अध्याप्योंको धर्मतः वेदाध्यापनकी विधिके कारण(घ-१). जो दरिद्र अध्ययनार्थी हो वह भी यदि शुश्रूषु हो तो उसे भी वेदाध्ययन कराना ही चाहिये ऐसा नियम भी है ही. अध्ययनविधिप्रयुक्त अध्ययन और अर्थार्थिताप्रयुक्त अध्यापन स्वीकारनेवालोंके पक्षमें भी दरिद्र अध्ययनार्थी कैसे वेद पढ़ पायेगा इस बाबतकी व्यवस्थित चिन्ता की नहीं गयी है(घ-२). सत्यकामने स्वयं ही उपगमन किया था गौतम ऋषिने उसका उपनायन नहीं किया, यह तो ठीक है. विचारणीय, परन्तु, यह है कि ऐसे तो साधनचतुष्टयकी सम्पत्तिके बिना भी ब्रह्मज्ञानोपदेशके पूर्वकालिक प्रसङ्ग वर्णित हैं ही यथा, रैक्व-जानश्रुति जनक-याज्ञवल्क्य आदिके. अतः साधनचतुष्टयको भी वेदान्तविचारके नियतपूर्ववृत्ति माननेका आग्रह छोड़ देना कि नहीं?. वैसै "बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे" (छा.उ.४।४।२) वचनके पर्यालोचनसे यह भी प्रतीत होता है कि जब जाबाल सत्यकामने गौतमके पास अध्ययनार्थ

जानेकी अपनी अभिलाषा द्योतित की होगी तब जबाला युवती नहीं रही होगी. ऐसी स्थितिमें स्वयं जाबाल भी कदाचित् युवक हो ही गया होगा. बीस-पचीस वर्षका न भी हुवा हो पर सोलहके आसपास तो अवश्य हुवा होगा ही. अतः बाल्यावस्थानुरूप जो पराधीनता होती है वैसी पराधीनता जाबालके उदाहरणमें सोची या मानी नहीं जा सकती. ऋषि गौतमने भी— ‘‘नैतद् अब्राह्मणो विवक्तुमर्हति. समिधं, सौम्य!, आहर. उप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति. तम् उपनीय...’’ (छा.उ.४।४।५) वचन कह कर जाबालका उपनयन अपने आर्षकर्तव्यबोधानुसार किया था; न तो अर्थार्थितया और न केवल सत्यकाम जाबालकी उपसत्तिके कारण ही. सहज सम्भव है कि ऋषि गौतम उन्हें अब्राह्मण जानते तो उपसन्न या उपागत होनेपर भी उपनयन न करते और न अध्यापन ही. इससे भी इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि अध्ययनविधिप्रयुक्त न तो गौतम ऋषिने उपनयन किया और न अध्यापन ही! अतः ऋषि गौतमने जो अध्यापनार्थ उपनयन किया वह स्वयंके कर्तव्यबोधवश ही किया गया सिद्ध होता है, यह उन्हें ‘‘उपनयीत-अध्यापयीत’’ विधिवशात् ही स्फुरित हुवा होना चाहिये लगता है. इसके अलावा जैसे एक सत्यकामके मातृगोत्रीय होनेसे सभी वेदाध्ययनार्थिओंका मातृगोत्रीय होना आवश्यक नहीं, ऐसे ही एक सत्यकामने स्वयं उपगमन किया एतावता सभी बाल्यावस्थामें अवस्थित द्विजबालकोंका आचार्यकृत उपनयनसे पूर्व ही उपगमन भी आवश्यक नहीं माना जा सकता है(घ-३).

अतः प्राथमिक वेदाध्ययन अध्यापनविधिप्रयुक्त होता है एतावता वेदाध्यन करनेवालेको अधीतवेदके आवर्तनरूप स्वाध्यायको भी अध्यापकद्वारा किये गये वेदोच्चारणके केवल अनुच्चारणके रूपमें ही करना चाहिये, ऐसा अर्थ भी अध्यापनविधिप्रयुक्त प्राथमिक अध्ययनको स्वीकारनेसे तो निकल नहीं सकता. कारण स्पष्ट ही है कि प्राथमिक अध्ययन ही अध्यापनविधिप्रयुक्त माना गया

है सभी अध्ययन नहीं. उदाहरणतया प्राथमिक भाषाज्ञान बालकको अपने बड़ोंके द्वारा बोली जाती भाषाका ही होता है, एतावता उस एक भाषाको बोल पानेसे विकसित हुवे सामर्थ्यके कारण बड़ोंद्वारा न बोली जाती कोई दूसरी भाषा भी कोई बालक सीख तो सकता ही है. अतएव उपनयनके अवसरपर अनुत्प्रेक्षित हेतुओंके कारण, बादमें कभी आपतित आचार्यमरणरूप प्रतिबन्धोंके कारण, अवशिष्ट वेदाध्ययनको सम्पूर्ण करनेकी विधियोंको न अनुसरनेकी बात अध्यापनविधिप्रयुक्तिके तात्पर्यके रूपमें मानी नहीं जा सकती है. प्राथमिक अध्ययनकी बात तब इतनी क्यों तानी जाती है? यह समझमें नहीं आता!

अतएव बालकके पराधीन होनेकी, क्रीड़ा आदि निष्प्रयोजन कार्योंमें भी प्रवृत्त रहनेकी; तथा गुरुजनोंद्वारा ताड़नोपलालनद्वारा भी बालकसे स्वाभीष्ट कार्य करवा लेनेकी शक्यताओंके विचार करनेपर पञ्चपादिकाकारकी इस अधोनिर्दिष्ट युक्तिमें विशेष कुछ विचारणीय नहीं रह जाता है:—

> [ङ]१.‘‘एतया ग्रामकामं याजयेद्’’ वचनविहित कर्ममें प्रधानकर्ता तो ग्रामकामी यजमान ही होता है; फिरभी, विधि गौणकर्ताके वाचकतया वापरी गयी है. इसी तरह २.‘‘अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत’’ प्रयोग भी गुरूपगमनरूप कर्मके प्रधानकर्ताके कर्तव्योपदेशतया ही लेना चाहिये, क्योंकि दोनों ही वाक्योंमें निरूपित गौणकर्ता तो अर्थार्थितया अपने-अपने कर्मोंमें स्वतः ही प्रवृत्त हो जायेंगे(वहीं).

क्योंकि स्वाध्यायप्रकरणमें ही याजनके कारण प्रकट हुवे रीतेपनको भरनेकेलिये अनशनपूर्वक स्वाध्यायावर्तन करनेको कहा

गया है परन्तु अध्यापनकेलिये तो स्वयं श्रुति ही "स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्" कहती होनेसे और इसी रूपमें वह श्रीशङ्कराचार्यको भी मान्य होनेके कारण याजन और अध्यापन सर्वथा समान नहीं माने जा सकते. हम देख चुके हैं कि पाणिग्रहणरूप संस्कार न केवल वर अथवा न केवल वधू को संस्कृत करनेको होता है, अपितु दोनोंको ही विवाहसंस्कारमें दीक्षित करना इसका प्रयोजन होता है. उपनयनपूर्वक वेदाध्यापन भी, वैसे ही, उपनयनकर्ता अध्यापकमें आचार्यत्वका और उपनीतमें वेदाध्ययनके अधिकाराधानपूर्वक वैदिककर्माधिकारका आधायक क्यों नहीं हो सकता? यदि वेदादि शास्त्रोंके अध्ययनाध्ययापनका यह सम्बन्ध केवल अर्थार्थिता और अर्थदानक्षमता मूलक ही होता तो अज्ञान अनध्यापन और पतनीयसेवा के अलावा अन्य किसीभी कारणवश आचार्यत्याग करनेवालेमें पातित्यदोष जो कहा गया है वह नहीं लगना चाहिये था. गौतमधर्मसूत्रमें, जबकि, सुस्पष्ट शब्दोंमें ऐसा दोषनिर्देश किया ही गया है: अज्ञानाद् अनध्यापनाद् ऋत्विगाचार्यौ पतनीयसेवायां च हेयौ, अन्यत्र हानात् पतति (गौ.ध.सू.३।३।१२-१३). क्योंकि पञ्चपादिकाकार अर्थदाताको ही प्रधानकर्ता मान रहे हैं, अतः अर्थदानेच्छारूप निमित्तके अभाववश उपनयनाध्यापनमें प्रयोज्य या गौण कर्ताके त्यागमें दोष नहीं लगना चाहिये था! क्योंकि अध्याप्यत्वेन या अध्यापकत्वेन वरण जब विधिप्रयुक्त न हो कर अर्थोपार्जनेच्छा और अर्थदानक्षमता के द्वारा प्रयुक्त होता हो, तब तो तत्तदिच्छारूप निमित्तोंके लोपवश नैमित्तिक अध्यापनत्याग या आचार्यत्याग भी दोषरूप नहीं होने चाहिये थे.

श्रीअप्पय दीक्षितद्वारा, वैसे, अतीव व्यवस्थित रीतिसे १३ कोटिक्रमोंमें इसी विषयका सुविशद विचार किया गया है परन्तु उल्लिखित [क]-[ङ] कोटिक्रमोंसे उन १३ कोटिक्रमोंके गतार्थप्रायः होनेसे उस विस्तारमें जाना अब अपेक्षित नहीं लगता है.

इस विषयके निष्कर्षतया एकाद बात और भी उल्लेखनीय

लगती है :—

> अथाधिविद्यम्. आचार्यः पूर्वरूपम्. अन्तेवास्युत्तर-
> रूपम्. विद्या सन्धिः. प्रवचनं सन्धानम्. इत्यधिविद्यम्.
> (तै.उ.१।३।२-३).

> आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
> तं रात्रिस्तिस्रः उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ।।
> (अथर्व.शौ.सं.११।५।३).

इन श्रुतिवचनोंमेंसे प्रथम वचनमें तथाकथित प्रधानकर्ताके अध्ययनरूप कर्मको 'सन्धान' कहने-माननेके बजाय तथाकथित गौणकर्ताके प्रवचन=अध्यापनरूप कर्मको ही—"प्रवचनं सन्धानम्" शब्दन्यासपूर्वक कण्ठतः स्वीकारा गया है. इस अंशके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यद्वारा स्वीकृत अर्थ—"सन्धीयते अनेन इति सन्धानम्"के पर्यालोचन करनेपर भी उपनयन और अध्यापन ही आचार्य और अन्तेवासी के सन्धानतया प्रतीत होते हैं उपगमन या अध्ययन नहीं. फिरभी अध्ययनविधिद्वारा ही प्रयुक्त वेदोंके अध्ययनका दुराग्रह रखना ही "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वचनको अध्ययनविधि माननेकी धारणामें पर्यवसित होता है. इसी तरह द्वितीय श्रुतिवचनमें भी अथर्ववेदसंहिता स्पष्ट शब्दोंमें उपनयनकर्ता आचार्यका प्रधानकर्तृत्व ही निरूपण कर रही है नकि प्रयोज्यकर्तृत्व.

::अध्यापनाध्ययनबोधक तीनों वचनोंकी वाल्लभमीमांसा::

श्रीमहाप्रभु, अतएव, अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्ययन स्वीकार कर उस वचनकी मीमांसा यों प्रस्तुत करते हैं :—

> काण्डद्वयार्थसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायविधिरुच्यते।।

वाक्यत्रयं तथा वेदेऽनारभ्योक्तमेव हि ।।५।।
एकार्थता तु सर्वत्र विशेषोऽप्युच्यते स्फुट: ।।
.... ।।
ज्ञातृज्ञापनतासिद्ध्यै द्वितीयं वाक्यमीर्यते ।।११।।
वसुरुद्रादित्यवर्षै: त्रयो वर्णा: क्रमाद् द्विजा: ।।
अध्याप्या इति तस्यापि नियोग: श्रुतिचोदित: ।।१२।।
पराधीनतया बाले न विधि: श्रुतिचोदित: ।।
तथाध्यापनसिद्ध्यर्थं तृतीयं वाक्यमीर्यते ।।१३।।
साङ्गेऽधीते तथा ज्ञाते स्वाध्यायस्तस्य सिध्यति ।।
अध्यापनप्रयुक्तं हि प्रथमं 'लिङ्'प्रयोगत: ।।१४।।
आत्मनेपदत: स्वस्य स्यातां वृत्तिश्च सेत्स्यति ।।
.... ।।
'तव्य'स्त्वावश्यके प्रोक्तो न विधिर्ज्ञातृबोधनात् ।।१०।।
'स्वाध्याय'पदतो ज्ञेयं तन्माहात्म्यं फलं तथा ।।
.... ।।
स्वातन्त्र्ये वयसा जाते तस्यावश्यकमीर्यते ।।१५।।
मर्यादाभङ्गत: केचित्कृत्ये विध्यर्थतां जगु: ।।
शब्दार्थमनपेक्ष्यैव निर्णयं च स्वबुद्धित: ।।१६।।
अध्यापनप्रयुक्तं हि तस्मादध्ययनं मतम् ।।
एतर्ह्यपि तथैवैतन्न कार्या कल्पना तत: ।।१७।।
(पत्रा.५,११-१५ तथा १०,१५-१७).

भावार्थ: वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंके अध्ययनका प्रयोजन सिद्ध हो एतदर्थ स्वाध्यायका प्रकार समझाते हैं. इस विषयमें तीन प्रकारके वचन वेदमें उपलब्ध होते हैं:—

[क] "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत".
[ख] "साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च".
[ग] "स्वाध्यायोऽध्येतव्य:".

[यहां वेदाध्ययनविषयक वचनोंका क्रम मूल पत्रावलम्बनगत क्रमके अनुसार नहीं किन्तु प्रस्तुत लेखकद्वारा योजित है.]

ये तीनों वचन किसी प्रकरणविशेषगततया तो उद्धृत किये नहीं जाते हैं फिरभी इन्हीं तीन वचनोंमें इसी विषयका प्रतिपादन स्वीकारा गया है; अतः ये विचारणीय बन जाते हैं. वैसे तो तीनों ही वचन एक वेदाध्ययनकी ही बात करते हैं; फिरभी तीनों वचनोंमें कुछ-कुछ विशेष पहलु भी वेदाध्ययनके दिखलाये गये हैं जैसे कि :—

[क]"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत" वचन जिसने वेदादि शास्त्र पढ़ रखे हैं उसके कर्तव्यका निरूपण करता है. ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णोंके बालकोंका क्रमशः आठवें ग्यारहवें और बारहवें वर्षमें उपनयन करके उन्हें वेदादि शास्त्र पढ़ाने चाहिये. यह वेद पढ़े हुवोंकेलिये अवश्यकर्तव्यतया श्रुतिविहित हुवा है. बालक तो सभी पराधीन ही होते हैं अतः वे जिनके आधीन हों उन्हें यह बात कही जा रही है, स्वयं बालकको नहीं.

[ख]"साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" वचनमें वेद पढ़े हुवे ब्राह्मणको यह कहा जा रहा है कि वेदाध्यापनरूप कर्तव्यके निर्वाहार्थ साङ्गोपाङ्ग अधीतवेदका अध्ययन और वेदार्थज्ञानका विचार करते रहना चाहिये. स्वाध्याय सिद्ध होनेपर ही अध्यापनरूप कर्तव्य भलीभांति निभ पाता है.

अतः साङ्गोपाङ्ग वेदका प्राथमिक अध्ययन अध्यापनप्रयुक्त ही होता है. वेद पढ़नेवाले ब्राह्मणको वेदादि शास्त्रोंके शाब्दिक पारायणके साथ-साथ

अर्थावगति भी स्थिर रहे एतदर्थ शास्त्राध्यापन करते रहना चाहिये, ''उपनयीत-अध्यापयीत'' [अर्थात् क.वचन]में 'लिङ्' प्रत्ययके साथ ही साथ आत्मनेपदका भी जो प्रयोग हुवा है, उससे भी यही सिद्ध होता है. इसीसे आजीविका भी उपार्जित हो ही जाती है.

[ग]''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' वचन यह जतानेकेलिये है कि वयस्क हो जानेके कारण स्वतन्त्र हो जानेपर वेद पढ़नेवालेकेलिये अध्ययनकालमें अधीत वेदादि शास्त्रोंका नियमपूर्वक आवर्तन तथा अध्यापन रूपी स्वाध्याय करते रहना आवश्यक होता है. स्वाध्याय कैसे अध्येतव्य होता है, यह बात तो वही जान सकता है, जिसने वेद पढ़ रखा हो. अतएव इस वचनमें वेदाध्ययनकी विधि नहीं स्वीकारी जा सकती. 'स्वाध्याय' पदद्वारा, पूर्वनिरूपित प्रकारसे अर्थात् यथानियम वेदाध्ययन करना, अधीत वेदका आवर्तन; और आवर्तित वेदका बादमें अध्यापन करते रहनेसे, वेदाध्ययनका वर्णित माहात्म्य और फल सिद्ध हो पाता है.

''स्वाध्यायोऽध्येतव्यो'' वचनगत 'अध्येतव्य' पदमें 'तव्य' प्रत्यय विध्यर्थक नहीं प्रत्युत आवश्यकार्थक अर्थात् स्तुत्यर्थ ही है. क्योंकि वेद पढ़े हुवे पुरुषको यह वेदके स्वाध्याय करते रहनेका माहात्म्य समझानेकेलिये प्रयुक्त हुवा है. स्वाध्यायप्रपाठकमें वर्णित प्रकारसे वेदके शब्दों और अर्थों का अभ्यास करते रहनेसे वेदका माहात्म्य प्रकट हो कर वह फलप्रद भी हो जाता है... यह स्वाध्याय वयसा स्वतन्त्र होनेके बाद भी आवश्यक ही होता है.

> कुछ विचारक इस 'तव्य' प्रत्ययको विध्यर्थक मानते हैं परन्तु ऐसी मनघड़न्त मान्यताके कारण सारी शब्दमर्यादा और वाक्यार्थमर्यादा का लोप हो जाता है. अतः अध्यापनप्रयुक्त ही वेदाध्ययन स्वीकारना चाहिये. वर्तमानमें भी आप्त गुरुजनोंद्वारा ही बालकको उपनीत एवं अध्यापित किया जाता है, फिर निरर्थक ही कल्पित अर्थोंको प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता क्या!

इस तरह वेदके प्राथमिक अध्ययनके बारेमें महाप्रभुके मतके निष्कर्षतया यह कहा जा सकता है कि वेदाध्ययन केवल अर्थज्ञानार्थ ही नहीं होता और इसी तरह वेदाध्यापन भी केवल अर्थोपार्जनार्थ ही नहीं होता, जैसी कि भाट्ट मीमांसकोंने तथा शाङ्कर वेदान्तियोंने कल्पना की है. दोनों ही नित्यकर्तव्यरूप हैं. इस नित्य कर्तव्यतया अधीत साङ्गोपाङ्ग वैदिक शब्दराशिमें न केवल संहिता ब्राह्मण आरण्यक एवं उपनिषद् अपितु शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष पुराण तथा मीमांसा आदि भी अध्येतव्य होते ही हैं.

::समग्र वेदकी एकवाक्यताका तुलनात्मक स्वरूप::

समग्र वेदकी अर्थमीमांसाके इन कोटिक्रमोंपर आरोहण करते-करते जब हम इस सोपानपर पहुंचते हैं, तब यह विचारणीय हो जाता है कि इस तरहके लचीले शास्त्रैक्य एवं लचीले ही शास्त्रभेद के कारण वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंमें किसी तरहकी एकवाक्यता स्वीकारनी आवश्यक है अथवा नहीं?

> [१]'एकवाक्यता' पदका एक सामान्य अर्थ तो किन्हीं दो वाक्योंका परस्पर विसंवादितारहित होना

ही होता है.

केवल इतनी सी ही जिज्ञासा तो प्रस्तुत सन्दर्भमें अप्रासङ्गिक ही होगी! क्योंकि "इह भूतले घटोऽस्ति" वाक्यकी "इह भूतले घटो नास्ति" वाक्यके साथ जैसी विसंवादिता होती है, वैसी "इह भूतले पटोऽस्ति" वाक्यके साथ विसंवादिता सिद्ध नहीं होती है. क्योंकि भूतलपर एककालावच्छेदेन घट और पट दोनों ही विद्यमान हो सकते हैं. इसी तरह पूर्वकाण्डोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे तत्तद् विधिसमभिव्याहृत फल मिलते हों और उपनिषदुक्त उपासनाओंसे या श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे तत्तत् फल या आत्मसाक्षात्कार सिद्ध हो जात हो, तो ऐसा कहने-सोचनेसे किसी भी तरहकी कोई विसंवादिता नहीं उभरती है.

> [२]इसी तरह एक अन्य अर्थ "विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वम्"रूप भी सम्भव है. अर्थात् जब एक वाक्य या एकाधिक वाक्योंसे घटित एक महावाक्य "[क]श्रीकृष्ण श्रीनन्दके व्रजमें थे [ख]तब कंसने ही श्रीकृष्णको लानेको अक्रूरको व्रज भेजा था. [ग]व्रजसे मथुरा आनेपर श्रीकृष्णने कंसको मारा" से किसी एक विशिष्ट अर्थ—कंसवधरूपक्रियाके कर्ता कंसप्रेषित अक्रूरके द्वारा व्रजसे मथुरानीत श्रीकृष्ण हैं—ऐसे एक तथ्यका बोध हो जाता है. अतः ऐसे बोधजनन करनेवाली शब्दावलीमें एकवाक्यता मानी जा सकती है.

स्पष्ट है कि इस अर्थमें भी एकवाक्यता सर्वथा अभिमत होनेपर भी प्रस्तुत सन्दर्भमें जिज्ञास्य नहीं है. क्योंकि "यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे... सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानाङ्गमीर्यते" (त.दी.नि.१।११-१२) वचनमें ऐसी एकवाक्यता स्वीकारी ही जा

चुकी है. यहां तो उस तथ्यको सामने लाना अतीव अभिप्रेत है कि जिसके कारण दो पृथक्-पृथक् वाक्योंके अर्थोंका विचार एकसाथ ही करनेको हमें बाधित होना पड़ता है. एतदर्थ इस सन्दर्भमें 'एकवाक्यता'के जो अर्थ उभर कर सामने आते हैं उन्हें भी विचार लेना आवश्यक है.

यथा :—

> [३]एकवाक्यता=किन्हीं दो ऐसे वाक्योंमें रहनेवाला गुणधर्म है कि जिस कारणसे किसी एक वाक्यको सुननेपर उठनेवाली आकाङ्क्षा दूसरे वाक्यको सुननेपर ही पूरी हो पाती हो. उदाहरणतया : ''[क]उपनिषदोंमें कर्मकर्ताके स्वरूपभूत आत्माकी प्रशंसा है'' इस एक वाक्यको सुननेपर दूसरा—''[ख]मन्त्र विधि और अर्थवाद रूपी पूर्वकाण्डीय वचनोंद्वारा प्रतिपादित रीतिके अनुसार किया जाता कर्म धर्मरूप होता है.'' वाक्य सुने बिना सुननेवालेको प्रथम वाक्यार्थके बारेमें कर्ताको अपने कर्तव्यको जाननेकी आकाङ्क्षा पूर्ण नहीं हो पाती है.
>
> [४]एकवाक्यता=किन्हीं दो ऐसे वाक्योंमें रहनेवाला गुणधर्म है कि जिस कारणसे दो वाक्योंको एकसाथ सुननेपर एक ही अर्थ समझमें आता हो परन्तु अलग-अलग सुननेपर दोनों ही वाक्योंके अर्थ अधूरे लगते हों. उदाहरणतया : ''[क]कर्म और ज्ञान दोनों ही शास्त्रविहित मुक्त्युपाय हैं'' और ''[ख]अतः कर्म और ज्ञान का समुच्चय आवश्यक होता है''. इन दो वाक्योंमेंसे क्योंकि प्रथम वाक्यमें

कर्म-ज्ञान मुक्त्युपाय हों तो हों एतावता सुननेवालेको अपने कर्तव्यकी आकाङ्क्षा अधूरी ही लगती है. इसी तरह द्वितीय वाक्यमें–समुच्चय आवश्यक क्यों है?–यह आकाङ्क्षा अधूरी ही रह जाती है. दोनों वाक्योंको जोड़नेपर, जबकि, एक अर्थ जो उभयाकाङ्क्षापूरक है वह स्फुरित हो जाता है.

[५]एकवाक्यता=किन्हीं दो ऐसे वाक्योंमें रहनेवाला गुणधर्म है कि जिस कारणसे दोनों वाक्योंको अलग-अलग सुननेपर दूसरे किसी अर्थकी अपेक्षासे रहित अलग-अलग अर्थ समझमें आते हों फिरभी दोनों वाक्योंको एकदूसरेके साथ जोड़ कर सुननेपर दोनों ही वाक्योंके अर्थ एकदूसरेके पूरक बन जाते हों. उदाहरणतया: ''[क]एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके ही साध्यरूपका विधान वेदके पूर्वकाण्डमें किया गया है'' वाक्य अपने-आपमें परिपूर्ण होनेपर भी ''[ख]एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके ही सिद्धरूपका अभिधान वेदके उत्तरकाण्डमें किया गया है'' इस वाक्यके साथ जोड़ कर देखनेपर ''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'' रूप एक महावाक्यार्थके रूपमें दोनों ही वाक्योंके अर्थ परस्पर पूरक बन जाते हैं.

वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंमें इन [३-४-५]तीन तरहकी एकवाक्यताओंमेंसे किसी एक तरहकी एकवाक्यता स्वीकारना निरतिशय आवश्यक है, अन्यथा अभ्युपगत एकशास्त्रता भी दुर्बोध हो जायेगी.

महाप्रभु, अतएव, कहते हैं:—

तत्र संशयमापन्ना बुद्धिर्वाक्यार्थनिर्णये॥

एकवाक्यत्वसन्देहाद् ऐकार्थ्याभावतः स्फुटम् ।।१८।।
स एकोऽर्थोऽत्र वक्तव्यो यच्छरीरप्रवेशतः ।।
एकार्थतां श्रुतिर्याति तदभावे तु निष्फला ।।१९।।
कुण्ठितैव भवेन्नूनं वेदाध्ययनबोधने ।।
वेदोखिलो धर्ममूलं धर्मो यस्यां मदात्मकः ।।२०।।
एवं पूर्वर्षिभिः प्रोक्तं जैमिनिः प्रथमं स्वयम् ।।
निश्चित्य लोकशिक्षार्थम् अर्थप्राधान्यतस्तथा ।।२१।।
धर्मं विचारयामास प्रामाण्यादिपुरस्सरम् ।।
सन्देहस्तु पुनर्जातो वेदान्तेषु यथा पुरा ।।२२।।
एकवाक्यत्वमेषां हि धर्मकाण्डे कथं भवेत् ।।
धर्मः पञ्चविधो द्वेधा षड्भिः सम्पद्यते तु सः ।।२३।।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मविभेदतः ।।
सर्वो वेदस्तेषु लीनो वेदान्तेषु विचार्यते ।।२४।।
यदेव विद्ययेत्याह ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ एव च ।।
तज्ज्ञानं तेषु हि प्रोक्तं कर्तृशेषास्ततस्तु ते ।।२५।।

(पत्रा.१८-२५).

भावार्थ: वेदके तत्तद् वाक्योंके अर्थोंके विचारमें तत्पर बुद्धिमें यह सन्देह प्रबल रूपमें उभर कर सामने आता है कि [यदि संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् या मन्त्र-विधि-अर्थवाद रूपी अथवा तैत्तिरीय वाजसनेयी काठक आदि अनेक शाखाभेदवाले] अनेक रूपोंमें विभक्त समग्र वेदमें यदि एकवाक्यता ही न हो तो वेदोंका वेदत्वेन कोई प्रामाण्य है कि नहीं! इस तरहके प्रामाण्यके सुनिर्धारित न होनेपर वेदके तत्तत्काण्डीय वाक्योंके प्रामाण्यपर भी ऐसा असर पड़ेगा कि दोनों ही मीमांसा निष्फल सिद्ध हो जायेंगी. अतः ऐसा कोई एक अर्थ हमें खोजना पड़ेगा कि जिसके कारण वेदकी

वेदत्वेन एकवाक्यता समझमें आ पाये ताकि समग्र वेदका प्रामाण्य निभे. समग्र वेदके ऐसे प्रामाण्यका बोध होता हो तभी वेदके अध्ययन या अध्यापन उपादेय लगेंगे. अन्यथा तो अध्ययनविधिप्रयुक्त हो या अध्यापनविधिप्रयुक्त हो वेदाध्ययनमें कोई भी प्रवृत्त होना नहीं चाहेगा. महर्षि जैमिनिने— ''आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्'' (जै.सू.१।२।१) सूत्रद्वारा समग्र वेदको हमारे कर्तव्यके उपदेशार्थ तत्पर प्रमाण मान कर, जिस वेदवचनके द्वारा हमारे किसी कर्तव्यका उपदेश हमें मिलता दिखलायी न देता हो ऐसे वेदवचनको या तो अप्रमाण या हमारे कर्तव्यसे जुड़े देश काल द्रव्य कर्ता मन्त्र कर्म मेंसे किसी एककी स्तुति या निन्दा करनेवाला माननेका उपदेश—''विधिना तु एकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'' (जै.सू.१।२।७) सूत्रमें दिया है. अर्थात् इस रूपमें एकवाक्यता स्वीकार लेनी चाही है. सो उस विचाररीतिको अपनाकर चलें तो वेदके उत्तरकाण्डरूप उपनिषदोंको वैदिक कर्मोंके कर्ताकी प्रशंसा करनेवाला स्वीकार कर एकवाक्यता स्वीकारी जा सकती है. इसके समर्थनार्थ ''यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'' (छा.उ.१।१।१०) और ''ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोः वृणीते'' (आप.श्रौ.सू.३।१८।१) वचन उपलब्ध भी होते ही हैं. ब्रह्मविद्या, क्योंकि, उपनिषदोंमें ही निरूपित हैं इससे यह सिद्ध हो जाता है कि पूर्वकाण्डोक्त कर्मोंके कर्ताका ध्येयरूप भी उपनिषदोंके अनुसार समझना चाहिये.

महर्षि जैमिनिका मत है कि कोई भी विहित कर्म, कष्टसाध्य होनेपर भी, किसी पुरुषको अपने किसी अभीष्ट फलके साधनतया मान्य होनेपर अनुष्ठेय बन सकता है. उस विहित कर्मसे लभ्य फल उस कर्मके अनुष्ठान करनेवाले पुरुषकेलिये होता है. अत: कोई कर्ता विहित और कष्टसाध्य किसी कर्ममें जब विधिवशात् प्रवृत्त होना चाहता है, तब उस कर्मकी या कर्माङ्गभूत अपेक्षित देश-काल-द्रव्यादिकी प्रशंसा अथवा अनपेक्षित देशादिकी निन्दा उस कर्मको करनेमें कर्ताके उत्साहको बढ़ानेवाली होती ही है.

श्रीशबराचार्य कहते हैं:—

> स्तुतिपदोंका अन्वय कहां करना यह यदि खोजा नहीं जाता तो वे निरर्थक सिद्ध होंगे. यह भी तो कहा नहीं जा सकता कि इन्हें निरर्थक ही मान लेना चाहिये. क्योंकि इन वाक्योंके कुछ न कुछ अर्थ तो समझमें आते ही हैं, अत: इन्हें निरर्थक कैसे माना जा सकता है? विधिवाक्य तो निरपेक्षतया अपने अर्थका विधान कर सकते हैं, और अतएव विधिवाक्य ही स्तुतिपदोंके अङ्गी बन सकते हैं; और प्रत्यक्षत: वाक्यशेष होना दिखलायी भी देता ही है. अत: ऐसे स्तुतिपदोंसे विधिद्वारा कहे गये अर्थकी ही स्तुति की जा रही है, ऐसा सिद्ध हो जाता है(शा.भा.१।२।७).

इसी नीतिके अनुसार उपनिषदोंके वचन भी शेषीभूत कर्मविधियोंके शेषभूत वाक्य हैं, ऐसी एकवाक्यता प्राप्त हो जाती है. अपने कर्ममीमांसासूत्रोंमें महर्षि जैमिनिने यद्यपि यह विचार प्रकट नहीं किया है, फिरभी महर्षि बादरायणकृत ब्रह्ममीमांसाके सूत्रोंमें अपने मतभेदके प्रदर्शनार्थ जो वेद-वेदान्तोक्त अनुष्ठानोंके अङ्गाङ्गिभावका

विचार महर्षि जैमिनिके मततया प्रकट किया गया है, उसके पर्यालोचनसे वेद-वेदान्तकी एकवाक्यताके बारेमें भी कुछ न कुछ दिशानिर्देश तो मिल ही जाता है. वैसे यह एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि ब्रह्मसूत्रोंमें जैमिनिमतके उल्लेख करनेवाले सूत्रोंके वास्तविक अभिप्रायके बारेमें विभिन्न भाष्यकारोंके बीच मतैक्य नहीं है; फिरभी ‘‘सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया’’ न्यायेन उन्हें देख लेना उपकारक तो होता ही है.

तदनुसार :—

[१]पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः.
[२]शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथान्येषु इति जैमिनिः.
(ब्र.सू.३।४।१-२).

[१-२]श्रीशङ्कराचार्य इस सूत्रपर व्याख्या करते हुवे कहते हैं कि कर्माधिकारीको द्वार बना कर अर्थात् कर्मान्तर्गततया औपनिषद आत्मज्ञान पुरुषार्थसाधन होता है या स्वतन्त्रतया, इस बारेमें ब्रह्मसूत्रकारका मत है कि औपनिषद आत्मज्ञान कर्मसे स्वतन्त्रतया पुरुषार्थ-साधन होता है; जबकि महर्षि जैमिनिका मत है कि कर्ता होनेके कारण आत्मा कर्माङ्गभूत होती है, अतः आत्मज्ञानको भी कर्माङ्ग ह्नी मानना चाहिये. व्रीहिका प्रोक्षण करनेसे जैसे वह शास्त्रीय कर्ममें उपयोगार्ह बन जाती है, वैसे ही ऐसे ही आत्मज्ञानरूप संस्कारद्वारा शास्त्रीय कर्मोंका कर्ता भी संस्कृत होनेसे प्रशस्त बन जाता है.

किसी भी कर्मप्रकरणमें पठित न होनेपर भी कर्मकर्ताके संस्कारार्थ आत्मज्ञानका कर्मविनियोग कैसे स्वीकारा जा सकता है; और उपनिषदें तो आत्माका अपहतपाप्मा असंसारी ब्रह्मरूप होना दरसाते हैं जो ब्रह्मरूपता कर्मोंमें उपयुक्त नहीं होती! महर्षि जैमिनिके अनुसार इसका समाधान यह है कि उपनिषदोंमें निरूपित

आत्मस्वरूप कर्मकर्ताकी स्तुतिकेलिये हो सकता है तथा किसी भी कर्मप्रकरणमें पठित न होनेपर भी वाक्यवशात् आत्मज्ञानका भी कर्मोंमे विनियोग शक्य हो सकता है.

श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानसे पुरुषार्थरूप ब्रह्मप्राप्ति होती है. वह ज्ञान क्रत्वर्थ नहीं होता ऐसे ब्रह्मसूत्रकारके मतको महर्षि जैमिनि स्वीकारना नहीं चाहते, क्योंकि महर्षि जैमिनिके अनुसार आत्मज्ञान कर्माङ्ग ही होता है, वेदान्तनिरूपित कर्मानुपयोगी स्वरूप तो केवल स्तुत्यर्थ होता है; और श्रौत होनेसे गृहस्थाश्रम ही नित्य होता है. इन्द्रियविकल आदि जो श्रौत कर्मके अनधिकारी होते हैं, उनकेलिये आश्रमान्तरोंकी स्मार्त विधियां सार्थकतया स्वीकारी जा सकती हैं. श्रीभास्कराचार्यके अनुसार ब्रह्मसूत्रकार इस तरहके ज्ञानसमुच्चितकर्मकी पुरुषार्थताके निराकरणपूर्वक कर्मसमुच्चितज्ञानकी पुरुषार्थताके प्रतिपादनार्थ इस अधिकरणको प्रस्तुत करते हैं, नकि शाङ्करवेदान्ताभिप्रेत केवल आत्मज्ञानसे ही मोक्षप्राप्तिके सिद्धान्तोंके निरूपणार्थ.

श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार प्रस्तुत अधिकरण ब्रह्मविद्यासे पुरुषार्थ सिद्ध होता है या विद्याङ्गभूत कर्मसे इस बारेमें विचार करनेकेलिये है. प्रथम मत महर्षि बादरायणका है जबकि दूसरा मत महर्षि जैमिनिका. देहव्यतिरिक्त आत्माके स्वरूपका निरूपण करनेवाले वेदान्तवचन देहत्यागके बाद कर्मफलको भोगनेवाले जीवात्माके ही कर्मोपयोगी संस्कारार्ह स्वरूपके प्रतिपादक हैं, ऐसा महर्षि जैमिनिका अभिप्राय दिखलाते हैं.

माध्ववेदान्तके अनुसार प्रस्तुत अधिकरणमें—कर्ता होनेके कारण आत्मा कर्मशेष होती है अतः उपनिषत्प्रोक्त आत्मज्ञान कर्मकर्ताका संस्काररूप होता है, सो आत्मज्ञानकी फलश्रुति, अतएव, अर्थवाद है—ऐसा निरूपण महर्षि जैमिनिके मतका अन्यथाव्याख्यान है. क्योंकि अपने गुरु महर्षि बादरायणके मतसे विरुद्ध मत महर्षि जैमिनिका हो नहीं सकता. परमात्माका ज्ञान पानेकेलिये कर्मादिका

निरूपण करनेवाले महर्षि जैमिनि परमात्मज्ञानको कर्मशेष कैसे कह-मान सकते हैं! यदि ईश्वरादि देवताओंका अस्तित्व उन्हें मान्य न हो तब तो उद्देश्यके ही असिद्ध हो जानेसे देवतोद्देश्यक द्रव्यत्यागरूप याग भी सिद्ध न हो पायेगा, सो यागविधि भी सभी निरर्थक सिद्ध हो जायेंगी. "देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद् भोजनस्य तदर्थत्वात्" (जै.सू.९।१।६) आदि सूत्रोंमें देवताओंका अस्तित्व भी जब कि स्वीकारा तो है ही. इस तथ्यपर ध्यान देनेसे वेदान्तको अर्थवाद माननेका कोई कारण रह नहीं जाता है. अतः यागको फलार्थ स्वीकारनेकी तरह देवार्थ भी स्वीकारना ही पड़ता है. हां वह फल भले पुरुषार्थ होता हो या हमारी सारी प्रवृत्ति भी भले पुरुषार्थ होती हों. यहां एक आशङ्का यह उठ सकती है कि पूर्वमीमांसामें देवताओंके अस्तित्वका नहीं परन्तु विग्रहवान् स्वरूपका ही अस्वीकार अभिलषित माना जाये. यह बात भी परन्तु उपपन्न होती नहीं है. इन्द्रादि देवताओंका अस्तित्व है यह जिन श्रुतिओंके आधारपर स्वीकारा जाता है, उन्हीं श्रुतिओंके आधारपर उनके विग्रह या अन्य भी गुणधर्म सिद्ध होंगे ही (द्र. : ब्र.सू.भा.त.दी.३।४।१). अतएव श्रीमध्वाचार्यके अनुसार ब्रह्मसूत्रकार इन सूत्रोंद्वारा यह कहना चाहते हैं कि सारी औपनिषद उपासनायें जिस ब्रह्मके दर्शनार्थ उपदिष्ट हुयी हैं उस ब्रह्मदर्शनके लाभसे सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं, जबकि, महर्षि जैमिनिका यहां यह कहना है कि ज्ञान जैसे मोक्षप्रद होता है वैसे ही कर्माङ्ग बननेपर वह ज्ञान स्वर्गादि फलका साधक भी हो सकता है. जैसे लौकिक सुखोपभोगार्थ साधनीभूत धन, उदाहरणतया, यज्ञयागादि कर्मोंका अङ्ग बननेपर स्वर्गादिका साधक भी हो ही सकता है तद्वत्. अतः गुरुशिष्यके बीच किसी तरहके मतभेदकी कोई सम्भावना नहीं है.

विशेषाद्वैतवादी श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके अनुसार इन सूत्रोंमें ब्रह्मज्ञानसे मिलते मोक्षके लाभार्थ श्रौतकर्मोंकी आवश्यकताको महर्षि बादरायण स्वीकारते नहीं हैं, जबकि, महर्षि जैमिनिके अनुसार

औपनिषद ज्ञान वैदिक कर्मोंके कर्ताके संस्कारार्थ होता है और अतएव वेदान्त अर्थवादरूप होता है.

श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार विचारविषयीभूत अधिकारियोंके, जो योगारुरुक्षु युञ्जमान और योगारूढ रूप त्रिविध भेद होते हैं, तदनुसार विद्याओंके भी क्रमशः तीन भेद होते हैं: १.कर्माङ्गभूतविद्या २.कर्मसमुच्चितविद्या ३.प्रधानविद्या. इनमें १.विद्या और २.विद्या परोक्षरूपा होती हैं; और अपरोक्षानुभूतिको प्रकट करनेवाली होनेके कारण पुरुषार्थहेतु बनती हैं. जबकि ३.विद्या साक्षात्काररूपा होनेके कारण साक्षात् पुरुषार्थहेतु बनती है. महर्षि बादरायण तीसरी विद्याके बारेमें उसके स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसाधिका होनेकी बात कहते हैं. महर्षि जैमिनिके मतानुसार, जबकि, वेदान्तविहित उपासनाओंमें उपास्यरूप ब्रह्मकी और उपासनाकर्ता जीवात्माकी तत्तद् उपासनाओंके द्वारा इन दोनोंका कर्माङ्गभूत संस्कार सम्पन्न होता होनेसे उपास्य उपासक तथा उपासना तीनों ही कर्मशेषतया माने गये हैं. यों अधिकारिभेदकी धारणाके वश दोनों महर्षियोंके परस्पर विरोधाभासी निरूपणोंमें विरोधपरिहार शक्य होनेसे वस्तुतः किसी प्रकारका कोई गम्भीर मतभेद है ही नहीं.

सुबोधिनी(२।१।५) तथा अणुभाष्य(३।२।३८) में महाप्रभुने निरूपण किया है कि केवल ब्रह्मज्ञान मात्रसे हमें फल नहीं मिल जाता प्रत्युत श्रवणादिकी प्रक्रियासे ज्ञात ब्रह्म ही फलदान करता है. इसी विचारसूत्रको आगे बढ़ाते हुवे इस भाष्यांशमें, जो महाप्रभुके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा प्रपूरित है, उसमें महर्षि बादरायणका मत यह निरूपित किया गया है कि सर्वात्मभावात्मक भगवान्का स्वरूप न केवल परमफलरूप ही होता है अपितु स्वतन्त्र परमपुरुषार्थरूप भी होता है. अतः जिन्हें भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी हो उन्हें तो किसी साधनान्तरसे मुक्तिकी भी लालसा रह नहीं जाती है. वस्तुतः तो न केवल संसारबन्धनमें फंसे जीव ही अपितु मुक्त जीव भी परमात्माको

पाना चाहते हैं. अत: परमात्माके स्वरूपकी तुलनामें स्वयं मुक्ति भी परमपुरुषार्थरूपा नहीं लगती, उन्हें कि जिन्हें भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी हो. इसके विपरीत महर्षि जैमिनिका मत यहां यह दिखलाया गया है कि स्वयं विष्णु भी यज्ञयागादिद्वारा इज्य होनेके कारण कर्मशेष ही होते हैं[द्र.: यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारः तत्प्रयुक्तः तदर्थत्वात्, संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात् तत्प्रयुक्तं स्यात्... फलदेवतयोश्च. जै.सू.९।१।१-४] अत: औपनिषदिक उपासनाओंद्वारा उपास्य विष्णुके स्वरूपको जान कर किया गया कर्म फलातिशयका हेतु बनता है अत: वेदान्तमें विष्णुमाहात्म्यरूप अर्थवाद निरूपित हुवा है.

[३]कर्मवादी जैमिनिमतकी इस प्रतिज्ञाके साधक हेतुतया महर्षि जैमिनिके ये हेतु ब्रह्मसूत्रकारने गिनाये हैं:—

[क]आचारदर्शनात्, [ख]तच्छ्रुतेः, [ग]समन्वारम्भणात्,
[घ]तद्वतो विधानात्, [ङ]नियमाच्च(ब्र.सू.३।४।३-७).

श्रीशङ्कराचार्यके अनुसार इन सूत्रोंका अभिप्राय कुछ इस तरह है: [क]केवल ज्ञानसे ही यदि सब कुछ सिद्ध हो जाता होता तो क्यों जनक ज्ञानी होनेके बावजूद आयाससाध्य यज्ञयागादिका अनुष्ठान करते या उद्दालक अपने पुत्रको ब्रह्मज्ञान प्रदान करनेको समर्थ होनेके बावजूद गार्हस्थ्य निभाते? [ख]"यदेव विद्यया करोति...वीर्यवत्तरं भवति" वचनमें विद्या भी कर्मका अङ्ग बनती दिखलायी गयी है. [ग]"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" वचनमें फलारम्भमें विद्या और कर्म का परस्पर सहकार वर्णित हुवा होनेसे ज्ञान स्वतन्त्रतया फलसाधक नहीं हो सकता है. [घ]"आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः" वचनमें वेदका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद भी कर्मोंको निभानेकी बात कही गयी है. [ङ]"कुर्वन्नेवेह

कर्माणि जिजीविषेत्...'' वचनमें कर्मको करते ही रहनेका नियम द्योतित हो रहा है.

इस अर्थमें श्रीशङ्कराचार्यके अनुसार महर्षि जैमिनिका मत यही प्रतीत होता है कि उपनिषत्प्रोक्त ब्रह्मविद्या स्वातन्त्र्येण फलदानमें समर्थ कोई अनुष्ठेय कर्म नहीं होनेसे पूर्वकाण्डापेक्षित कर्मकर्ताकी स्तुति करना ही उपनिषदोंका प्रयोजन है.

कर्मसमुच्चितज्ञानवादी श्रीभास्कराचार्य भी जैमिनिमतकी प्रतिज्ञाके साधक हेतुओंका निरूपण करनेवाले ब्रह्मसूत्रोंका यही अभिप्राय दिखलाते हैं. इसी तरह उभयसमुच्चयको अनिवार्य माने बिना दोनों मीमांसाओंका ऐकशास्त्र्य स्वीकारनेवाले श्रीरामानुजाचार्यका भी यही अभिप्राय इन सूत्रोंके बारेमें है.

जैसा कि हमने देख ही लिया है, तदनुसार, श्रीमध्वाचार्य तो महर्षि बादरायण और जैमिनि के बीच किसी तरहका गम्भीर मतभेद स्वीकारने उद्यत नहीं हैं, सो इन हेतुरूप सूत्रोंका अभिप्रेतार्थ माध्ववेदान्तके अनुसार यही होता है कि [क]सिद्ध ज्ञानी देवताओंके भी आचरणमें यज्ञानुष्ठान दिखलायी देता ही होनेसे, [ख]ब्रह्मविद्यासम्पन्न अधिकारीद्वारा किये गये कर्मोंका अनुष्ठान उसे वीर्यवत्तर बनाता है. यों ज्ञान जैसे कर्मका अङ्ग बन सकता है वैसे ही अङ्गी भी. [ग]शरीर मानवीय हो या दैविक हो, शुभाशुभ फलोंके भोगरूप होनेसे, वह होता है शुभाशुभ कर्मोंके आधीन ही. [घ]नित्यकर्म तो कामनारहित ज्ञानीकेलिये भी अवश्यानुष्ठेय ही होते हैं, [ङ]फिरभी भगवदुपासनरूप कर्मोंके अनुष्ठानसे या भगवदर्पणबुद्ध्या अनुष्ठित नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे कर्ता शुभाशुभ फलोंके भोगार्थ कभी लिप्त नहीं होता.

श्रीपति भगवत्पादाचार्य दोनों महर्षिओंके बीच मतभेद तो मानते हैं परन्तु इन सूत्रोंको पूर्वपक्षीय न मान कर सिद्धान्तपक्षीय हेतु ही मानते हैं. अतः सूत्रारूढा तुलनात्मिका दृष्टिसे इस विषयमें कुछ भी विवेचनीय न रह जानेसे विशेषाद्वैतवादी सूत्राभिप्रायोंका

सङ्कलन आवश्यक नहीं रह जाता.

श्रीविज्ञानभिक्षुका मत वैसे तो हम देख ही चुके हैं फिरभी सङ्क्षेपमें उनके मतके अनुसार जैमिनिमतके हेतु यों है: [क]जनकादि ब्रह्मज्ञानियोंने भी कर्माचरणका निर्वाह तो किया ही था, अतः ज्ञानको कर्मशेष मानना चाहिये. [ख]“यदेव विद्यया...” श्रुतिवचनमें तो कण्ठोक्ततया ज्ञानकी कर्मशेषता निरूपित हुयी ही है. [ग]इसी तरह “तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते” श्रुतिवचनमें निरूपित कर्मसमुच्चयका भी एक वैकल्पिक पक्ष निरूपित हुवा है. [घ]समस्त वेदार्थज्ञान प्राप्त करनेके बाद भी कर्मविधान दृष्टिगोचर होता होनेसे या तो ज्ञानको कर्मशेष या कर्मसमुच्चित स्वीकारना आवश्यक है ही. [ङ]“कुर्वन्नेवेह कर्माणि...” तथा “एतद्वै... जरया ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा” वचनोंके विमर्श करनेपर भी यही सिद्ध होता है.

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार ब्रह्मसूत्रकारके मतसे यहां महर्षि जैमिनिका मत अधोनिर्दिष्ट अंशोंमें कुछ भिन्न है: [क]ब्रह्मज्ञानियोंद्वारा सभी एषणाओंके त्यागका निरूपण जिन श्रुतिओंमें मिलता है, वहां कर्मानुष्ठानमें जो असमर्थ होते हैं उनकी बात कही गयी है. अन्यथा जो समर्थ होते हैं उन्हें तो कर्मानुष्ठान निभाना ही पड़ता है. महर्षि जैमिनिके अनुसार ऐसा भी स्वीकारा नहीं जा सकता कि जिन्होंने निभाया है उन्होंने लोकसंग्रहार्थ ही निभाया होगा, क्योंकि वे लोकैषणासे ऊपर उठे हुवे ज्ञानी ही थे. [ख]ब्रह्मज्ञानी होनेपर भी जनकके यज्ञकर्मानुष्ठानमें निरत रहनेके कारण; और [ग] फलारम्भमें श्रुतिद्योतित ज्ञान-कर्मके परस्पर सहभावके कारण भी ज्ञानका स्वातन्त्र्य सिद्ध नहीं होता. [घ]“ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपूर्णमासयोस्तं वृणीते” (आप.श्रौ.सू.३।१८।१) वचनोंमें भी ब्रह्मज्ञानके कारण आर्त्विज्यका अधिकार मिलता दिखलाया गया होनेसे ज्ञानकी कर्माङ्गता सिद्ध हो ही जाती है. [ङ]“आश्विनं धूम्रललामालभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत्” “ऐन्द्राग्नं पुपरुत्सृष्टमालभेत य आतृतीयातपुरुषात्सोमं न पिबेत्” सदृश श्रुतिवचनोंके आधारपर नित्यकर्मोंका त्याग प्रायश्चित्तार्ह

दोषतया परिगणित हुवा होनेसे.

इन जैमिन्युक्त हेतुओंका निरसन महर्षि बादरायणने जिन हेतुओंके आधारपर किया है उन सूत्रोंका तथा उनपर विभिन्न भाष्यकारोंके भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंका भी सङ्कलन अवलोकनीय है :

> [४] [क]अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्,
> [ख]तुल्यं दर्शनम्, [ग]असार्वत्रिकी, [घ]विभागः शतवत्,
> [ङ]अध्ययनमात्रवतः, [च]नाविशेषात्, [छ]स्तुतयेऽनुमतिर्वा,
> [ज]कामकारेण चैके, [झ]उपमर्दं च, [ञ]ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे
> हि (ब्र.सू.३।४।८-१७).

तदनुसार :—

सर्वप्रथम श्रीशङ्कराचार्यका कहना है कि [क]महर्षि बादरायणके अनुसार आत्मस्वरूपके औपनिषदिक निरूपणको अर्थवाद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि पूर्वकाण्डोक्त कर्मोंके अनुष्ठानार्थ जैसी अपेक्षा शरीरी संसारी कर्ता भोक्ता आत्माकी रहती है, उपनिषदोंमें उससे विपरीत स्वरूपवाला निरूपण — आत्माके अशरीरी असंसारी अकर्ता एवं अभोक्ता होनेका — उपलब्ध होता है. [ख]ब्रह्मज्ञानियोंद्वारा अनुष्ठित कर्माचरणके उदाहरणोंके बलपर जो ज्ञानके कर्माङ्ग होनेकी बात कही गयी है, उस बारेमें भी यह जान लेना आवश्यक है कि कुछ ब्रह्मज्ञानियोंने कर्मको निभाया था कुछने नहीं भी. सोपाधिकब्रह्मकी उपासना कर्माङ्ग हो भी सकती हो, एतावता निर्गुण निराकार निर्धर्मक निरुपाधिक ब्रह्मके ज्ञानको कर्माङ्ग नहीं स्वीकारा जा सकता है. [ग]विद्याके साथ किये गये कर्मके वीर्यवत्तर होनेके निरूपणको केवल उद्गीथविद्याके बारेमें मानना चाहिये, सभी

विद्याओंके बारेमें नहीं. [घ]फलारम्भमें विद्या-कर्मके परस्पर सहकारी होनेकी बात जो कही गयी थी, उस बारेमें भी यह जान लेना आवश्यक है कि दोनों ही विभागशः फलदान करते हैं, अर्थात् ज्ञान मोक्षाधिकारीको फलदान करता है और कर्म तदितरोंको फलदान करता है. [ङ]वेदाध्ययन समाप्त करनेके बाद स्वकर्मोंमें तत्पर होनेकी जो बात कही गयी थी, उस बारेमें भी यह जान लेना चाहिये कि महर्षि बादरायणका मत यह नहीं है कि वेदाध्ययन किये बिना भी कोई कर्म कर सकता है. उनका तो मत यही है कि उपनिषदोंमें वर्णित आत्मज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं हो सकता है. जैसे किसी एक कर्मका ज्ञान दूसरे कर्मको कर पानेके अधिकारका प्रदायक नहीं होता तद्वत्. [च]''कर्मोंका निर्वाह आजीवन करना चाहिये'' यह नियम ज्ञानीकेलिये भी है, ऐसा स्पष्टीकरण श्रुतिमें नहीं किया गया है; प्रत्युत अज्ञानीको ही यह बात कही गयी लगती है. [छ]ज्ञानीके ज्ञानकी, अथवा, इसमें प्रशंसा भी विवक्षित हो सकती है कि ज्ञानी यदि कर्म भी कर लेता है, तो भी उसे वह बन्धनरूप नहीं हो पाता है. [ज]कुछ ब्रह्मज्ञानियोंके उद्गारोंका अवलोकन करनेपर कर्म करनेकी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं थी, सो ऐसा भी सिद्ध हो ही जाता है. [झ]कर्मकर्ताके संस्कारार्थ जो वेदान्तज्ञान निरूपित किया गया है, उस वेदान्तज्ञानसे तो क्रिया कारक या क्रियाफल रूप द्वैतघटित साराका सारा कर्मप्रपञ्च ही निरस्त हो जाता होनेसे वह उपपन्न ही नहीं हो पाता. [ञ]इसके अलावा ऊर्ध्वरेताओंके आश्रममें ब्रह्मविद्याका निरूपण भी इस बातका प्रमाण बन ही जाता है कि ब्रह्मज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं हो सकता है.

श्रीभास्कराचार्य भी लगभग इसी तरहका अभिप्राय इन सूत्रोंका स्वीकारते हैं.

श्रीरामानुजाचार्य यहां यह कहते हैं: [क]औपनिषद विद्याओंको पूर्वकाण्डोक्त कर्मोंका अङ्ग माननेवाले महर्षि जैमिनिके साथ महर्षि

बादरायण सहमत नहीं हैं, क्योंकि कर्मानुष्ठाता जीवात्मासे भिन्न और श्रेष्ठतर ऐसे परमात्माके वेद्य होनेका उपदेश इन विद्याओंमें दिया गया है. [ख]जैसे कुछ एक ब्रह्मज्ञानियोंके कर्माचरणमें तत्पर होनेके उल्लेख मिलते हैं, वैसे ही कुछ अन्य ब्रह्मज्ञानियोंके उदाहरण कर्माचरणकी अत्यन्त उपेक्षा करनेके भी मिलते ही हैं. [ग]उद्गीथविद्याके प्रसङ्गमें श्रुतिमें यह जो कहा गया कि जो कुछ विद्याके साथ कर्म सम्पन्न किया जाता है वह वीर्यवत्तर होता है, वहां यह कहना अभिप्रेत नहीं है कि जो कुछ कर्म किया जाता हो उसे विद्याके साथ ही करना चाहिये, अतः उद्गीथविद्याकी प्रशंसाके रूपमें ऐसे वचनोंको स्वीकारना चाहिये. "[घ]विद्या और कर्म दोनों फलदान करते हैं", इस विधानका भी अभिप्राय इतना ही है कि विद्या अपने फलका दान करती है और कर्म अपने फलका. [ङ]कर्मानुष्ठानमें विद्यावान्के अधिकारकी स्वीकृतिके सन्दर्भमें यह जान लेना आवश्यक है कि अध्ययनविधिके कारण वेदार्थबोधमें हमारी प्रवृत्ति होती है, यज्ञयागादि कर्मोंकेलिये किये जाते अग्न्याधानकी तरह वेदाध्ययन भी वेदोंके अक्षरोंके ग्रहणमें ही पर्यवसित हो जाता है. गृहीत स्वाध्याय किसी न किसी तरहके सफल कर्मोंका बोधक बन जाता होनेसे इस विषयमें निश्चित ज्ञान प्रदान करनेवाले कर्मविचार और ब्रह्मविचार के हेतु स्वाध्यायी स्वतः ही प्रवृत्त हो जाता है. अतः जो कर्मार्थी होता है वह कर्ममीमांसामें जैसे प्रवृत्त होता है ऐसे ही मोक्षार्थी भी ब्रह्ममीमांसामें स्वतः ही प्रवृत्त हो जाता है. ऐसी स्थितिमें विद्याको कर्मोंका अङ्ग कैसे माना जा सकता है? [च]इसके अलावा अध्ययनविधिवशात् ही उपनिषदर्थके अवबोधार्थ प्रवृत्ति होती है, फिरभी ब्रह्मविद्याको कर्माङ्ग नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जैसे ज्योतिष्टोमादि कर्मोंके स्वरूपको जान लेनेसे स्वर्ग फल नहीं मिल जाता, वह तो अनुष्ठानसे ही मिल सकता है; ऐसे ही उपनिषदोंके वचनोंमें निरूपित ब्रह्मके स्वरूपको जान लेने मात्रसे मोक्ष नहीं मिल जाता, वह

तो मिलता है उसे पानेके ध्यान-उपासना आदि जो उपाय बताये हैं, उन्हें अपनानेसे ही. अतः वेदके पूर्वोत्तर-काण्डगत वचनोंका अर्थज्ञान और पूर्वोत्तर-काण्डोक्त कर्मानुष्ठान या ब्रह्मज्ञान एक ही तरहके नहीं होते हैं. [छ]आजीवन कर्मत्याग न करनेकी जो बात थी, उससे ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग सिद्ध नहीं हो जाती प्रत्युत कर्म ही विद्याके अङ्गतया सिद्ध होते हैं. [ज]अथवा ब्रह्मविद्यासम्पन्न व्यक्ति कर्म करनेपर भी लिप्त नहीं होता ऐसी विद्याकी स्तुति या ब्रह्मविद्याकी प्रशंसाकेलिये कर्मोंको करनेकी अनुमति ही ऐसे वचनोंमें मान लेनी चाहिये. [झ]यदि ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग ही होती तो "कुछ ऋषिओंने ब्रह्मज्ञानार्थ गार्हस्थ्य और तन्मूलक कर्मोंका त्याग किया था" ऐसा उल्लेख निरर्थक ठहरेगा. [ञ]ब्रह्मविद्याके कारण शुभाशुभ सकल कर्मोंका उपमर्दन हो जाना जो श्रुतिमान्य है वह भी अनुपपन्न हो जायेगा. [ट]अग्निहोत्रादि कर्मोंसे रहित ऊर्ध्वरेताओंके आश्रममें भी ब्रह्मविद्या दिखलायी देती होनेसे भी ब्रह्मविद्याको कर्माङ्ग नहीं माना जा सकता है. "[ठ]त्रयो धर्मस्कन्धा... एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छा.उ.२।२३।१) वचनमें महर्षि जैमिनिके अनुसार संन्यासका विधान नहीं प्रत्युत केवल अनुवाद ही है, जबकि महर्षि बादरायणके अनुसार यहां अनुष्ठेय संन्यासाश्रमका विधान है. [ड]यावज्जीवन कर्मानुष्ठानकी विधि अविरक्त अधिकारीकेलिये तथा आश्रमचतुष्टयक्रमका निर्वाह अथवा यथाकथञ्चित् संन्यासकी विधि विरक्त अधिकारीकेलिये माननी चाहिये. ऐसे तीन अधिक सूत्र इस अधिकरणमें श्रीरामानुजाचार्य स्वीकारते हैं.

श्रीमध्वाचार्यके अनुसार: [क]महर्षि बादरायणके मतकी सत्यता निरवच्छिन्न नभके समान मानी गयी है, जबकि अन्य जैमिन्यादि ऋषियोंके मतोंकी सत्यता प्रादेशमात्रावच्छिन्न नभकी तरह स्वीकारी गयी है. अर्थात् एक समग्र सत्य है जबकि अन्यान्य ऋषियोंके मत सत्यके छोटे-छोटे असमग्र अंश. हम देख चुके हैं कि

सैद्धान्तिक दृष्टिसे रामानुजमतको भी यही अभिप्रेत है और तदनुसारी ही सूत्रार्थोंका आविष्करण श्रीमध्वाचार्यने भी किया है. अतएव अपनी इसी नीतिके अनुसार श्रीमध्वाचार्य इन सूत्रोंका अभिप्राय दिखलाना चाहते हैं. [ख]महर्षि जैमिनिके मतके अनुसार स्वर्गादि तो कर्मसे ही प्राप्त होते हैं फिरभी ज्ञानवशात् स्वर्गसुखमें कुछ आधिक्य हो सकता है. महर्षि बादरायणके मतके अनुसार, जबकि, अपने ज्ञानके बलसे ही स्वर्ग हो अपवर्ग हो या अन्य भी सभी काम ज्ञानियोंके सम्पन्न हो जाते हैं; फिरभी ज्ञानसे मिलते फलोंके तत्तद् उदाहरणोंमें तत्तत् कर्मके कारण न्यूनाधिकता हो सकती है. [ग]श्रीमध्वाचार्य यहां अधिकरणान्तरकी रचनाद्वारा यह शङ्का-समाधान और करते हैं कि ऐसे इस ज्ञानको पानेके सभी अधिकारी होते हैं कि नहीं? इस बारेमें महर्षि बादरायणके मतके अनुसार नहीं होते ऐसा निरूपण करते हैं. [घ]पर विष्णु और अवर ब्रह्मा को छोड़ कर गणना करनेपर अनेकविध देवोंमेंसे जैसे कुल शतससंख्याक ही देवगण [१.वायु + ८.वसु + ११.रुद्र + ४९.मरुत् + १२.आदित्य + १०.विश्वेदेवा + १.बृहस्पति + ३.पितृपति + २.अश्विन् + १.ऋभु + तथा २.द्यावापृथिवी = १००] सोमपान करनेके अधिकारी होते हैं. [ङ]इसी तरह अनेकविध जीवोंमेंसे कुछ ही जीव, उपनीत अधीतवेद शमादिसम्पन्न गुरुभक्तिमान् वैष्णव होनेपर ही, औपनिषद ज्ञान पानेके अधिकारी बन पाते हैं, सभी नहीं. [च]पुनः अधिकरणान्तरकी स्वीकृतिद्वारा श्रीमध्वाचार्य कहते हैं: मनुष्य ऋषि और देवता के भेदवश ब्रह्मज्ञानके अधिकारमें भी तारतम्य होता है. अर्थसे काम, धर्मसे स्वर्ग तथा ज्ञानसे मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं. [छ-ज-झ-ञ]पुनः अधिकरणान्तरकी स्वीकृतिद्वारा श्रीमध्वाचार्य कहते हैं: ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर ही कोई अविहित यथेष्ट आचरण कर सकता है. ज्ञानिकी प्रशंसाकेलिये दी गयी यथेष्टाचारणकी इस अनुमतिको परन्तु यथेष्टाचरणकी विधि नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि पापपुण्यके उपमर्दनकी ब्रह्मज्ञानैकलभ्य सामर्थ्यवशात् ज्ञानिको कामचारकी छूट

है, एतावता कामचारीको ब्रह्मज्ञानकी उपलब्धि सिद्धान्ताभिमत नहीं है. माध्ववेदान्तके अनुसार ब्रह्मज्ञानसे पूर्व कामचार निषिद्ध होनेसे वेदके पूर्वकाण्ड आदि धर्मविधायक वचनोंका यथाविधि अनुसरण अनिवार्य है, इस अर्थमें पूर्वोत्तरकाण्डोंकी एकवाक्यता प्राप्त हो जाती है.

श्रीपति भगवत्पादाचार्यके अनुसार [क]ज्ञान कर्माङ्ग नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्मकर्ता जीवात्मासे श्रेष्ठतर परब्रह्मरूप शिवके आधिक्यका वेदान्तोंमें उपदेश है, ऐसा महर्षि बादरायणको अभिप्रेत है. [ख]कुछ ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा कर्मनिर्वाहके उल्लेखकी तरह कुछ अन्य ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा कर्मत्यागके उल्लेख भी मिलते ही हैं. [ग]जो ''यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति'' वचन है उसका ऐसा अभिप्राय कभी सोचा भी नहीं जा सकता कि जो भी कोई कर्म करना हो उसे विद्याके साथ ही करना चाहिये, क्योंकि वास्तविक अभिप्रेतार्थ यहां यह है कि जो कर्म विद्याके साथ किया जाता है वही कर्म वीर्यवत्तर हो पाता है [अर्थात् विद्या कर्माङ्ग नहीं होती प्रत्युत विद्यारहित कर्म निर्बल होता है यही निरूपण यहां अभिप्रेत है]. [घ]''तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते'' वचनमें भिन्न-भिन्न फल भिन्न-भिन्न विद्या और कर्म के कारण मिलते हैं ऐसा अभिप्राय है. [ङ]कर्मकाण्डोक्त विद्या कर्मकर्ता पुरुषका धर्म बन कर जैसे कर्माङ्ग होती है, ब्रह्मविद्या उस तरह कर्माङ्ग नहीं बनती प्रत्युत परमशिवविषयिणी होनेके कारण शिवप्राप्तिहेतु बन जाती है. [च]''कुर्वन्नेवेह कर्माणि'' वचनमें ज्ञानके कर्माङ्ग होनेका निरूपण नहीं है प्रत्युत मोक्षप्रापक ज्ञानरूप उपायके साथ-साथ विद्याङ्गभूत कर्मोंके निर्वाहकी आवश्यकताका ही निरूपण है. [छ]अतः सर्वदा कर्मानुष्ठानकी अनुमति अर्थात् शिवभावनाके साथ अनुष्ठित नित्य-नैमित्तिक निष्कामकर्म बन्धनकारी नहीं होते सो इस रूपमें यहां विद्याकी स्तुति ही की गयी है. [ज]इसी तरह अन्यान्य वचनोंमें गार्हस्थ्यकर्मत्यागके निरूपण करनेवाले वचनोंका अवलोकन करनेपर

भी विद्याके कर्माङ्ग होनेकी धारणा अप्रामाणिक ही सिद्ध होती है. [झ]अनेकानेक देहप्रापक सांसारिक दुःखोंके मूलभूत पुण्यपापरूप कर्मोंका जिस ब्रह्मविद्यासे उपमर्दन होता है ऐसी ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग कैसे हो सकती है!

श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार [क]महर्षि जैमिनिद्वारा निरूपित कर्माङ्गभूत और कर्मसमुच्चित विद्याओंके अलावा कर्मसे स्वतन्त्र भी एक विद्या महर्षि बादरायणके मतानुसार अभिप्रेत है. यों कुल मिला कर दोनों ही महर्षियोंके मत श्रौत ही हैं. अतः अधिकारिभेदवशात् किसी भी प्रकारके विरोधाभासका कोई प्रसङ्ग यहां उपस्थित नहीं होता. क्योंकि हिरण्यगर्भादि कर्मब्रह्मोभयात्मिका विद्याके उदाहरण हैं, योगारूढ़ सनन्दनादि केवल ब्रह्मविद्याके उदाहरण हैं; तथा अन्य देवगण तथा आरुरुक्षु विद्याङ्गभूत कर्मके उदाहरण माने जाते हैं. [ख]जिन जड़भरत दत्तात्रेय ऋषभदेव आदिके उदाहरणोंमें केवल विद्याका ही प्राधान्य दिखलायी देता है वहां भी उनके ‘‘अव्यक्तलिङ्ग अव्यक्ताचार उन्मत्तवद् आचरणकर्ता’’ होनेका उल्लेख मिलनेके कारण कर्मोंका बाह्य त्याग ही अभिप्रेत मानना चाहिये—आन्तर अग्निहोत्र तो उन्हें करना पड़ता ही है. [ग]कर्मसमुच्चय तथा कर्माङ्गभाव की निरूपिका श्रुति भी सभी तरहके अधिकारियोंकेलिये नहीं हैं. [घ]एक ही विद्या अधिकारिभेदवशात् विभिन्न फलोंको प्रदान करनेवाली हो सकती है [उदाहरणतया ‘‘एक यह भूखा मनुष्य और दूसरा वह कि जो अपने गिरवी रखे हुवे घरके सामानको छुड़ाना चाहता है, इन दोनों जनोंके बीच ये सौ रुपये बांट दो!’’ वचनको सुन कर दोनोंको उनकी अपनी-अपनी आवश्यकताके अनुरूप ही यथायथ बीस या अस्सी रुपये बांट देनेकी बात स्वतः ही सुननेवाला समझ जाता है]. [ङ]गुरुके पास वेदके शब्दार्थग्रहण करनेवालेको कर्ममें तत्पर होनेकी बात जो कही गयी है वह, ऐसे योगारूढ़ कि जिन्हें ब्रह्मसाक्षात्कार हो गया हो उनपर, बन्धनकारिणी नहीं हो सकती है. [च]कर्माङ्ग

विद्याओंका निरूपण ब्रह्मविद्याके निरूपणके अन्तर्गत भी उपलब्ध होता ही होनेसे कर्मकाण्डकी तरह ही वेदान्तमीमांसा भी अपरिहार्य ही है. ब्रह्मज्ञानी यदि कर्म कर पानेमें शक्तिमान् न हो तो उसे एक जघन्याधिकारी माना जा सकता है परन्तु इस अधिकारिभेदके आधारपर विद्यात्रैविध्यको स्वीकारनेवाली विचारप्रक्रियामें वह बहुत विचारणीय नहीं रह जाता है. [छ]यावज्जीवन कर्मनिर्वाहकी बात करनेवाली श्रुति भी ब्रह्मज्ञानीकी स्तुति अथवा उसे कर्मानुमति प्रदान करनेवाली भी मानी जा सकती है. [ज]स्मृतिकार मन्वादि भी भोगापवर्गकी कामना रहनेपर ही कर्मकी आवश्यकता स्वीकारते हैं, निष्काम जीवन्मुक्तोंके लिये नहीं. [झ]एक अन्य वचनके अनुसार कर्मत्याग या कर्मनिर्वाह के बीच अनियम भी निरूपित हुवा है. अतः कर्मरहित केवल विद्याके पक्षमें कोई क्षति नहीं है. [ञ]ऊर्ध्वरेताओंके चतुर्थाश्रमके विचारवश भी विद्याका स्वातन्त्र्य भी श्रौत कल्प ही सिद्ध होता है.

वाल्लभवेदान्तके अनुसार यहां ये युक्तियां दी गयी हैं: [क]परब्रह्मके बारेमें यह कहा जाता है कि ‘‘वह सर्ववशी सर्वेश तथा सर्वप्रशासक है—वह न तो सत्कर्मोंके कारण बढ़ता है और न दुष्कर्मोंके कारण घट ही सकता है—वह ऐसा है कि जिसका साक्षात्कार पानेको वेदानुवचन ब्रह्मचर्य तप यज्ञ अनशनव्रत आदि किये जाते हैं’’. यहां यह ज्ञातव्य है कि कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग की तुलनामें भक्तिमार्ग कहीं अधिक वाञ्छनीय होता है. क्योंकि कर्मप्राप्य मुक्तिमें आत्मानन्दकी अनुभूति होती है तो ज्ञानप्राप्य मुक्तिमें अक्षरब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती है. भक्तिमार्गमें तो, जबकि, पुरुषोत्तमका भजनानन्द ही उपादेयतम होता है. श्रुतियोंमें भी इसे ही श्रेष्ठतम निरूपित किया गया है और महर्षि बादरायणके श्रुत्येकप्रामाण्यवादी होनेके कारण उनका मत, महर्षि जैमिनिके मतसे अधिक, मान्य रखना पड़ता है. परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तमके साथ जिस कर्मकी तुलना भी शक्य न हो ऐसे कर्मका अङ्ग उन्हें कैसे

माना जा सकता है? [ख]ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा अनुष्ठित कर्माचरणके उदाहरणोंके आधारपर भी ब्रह्मको कर्मशेष नहीं स्वीकारा जा सकता है. क्योंकि जिस ब्रह्मके ज्ञानको भी पा लेनेवालोंको यज्ञादिकर्मोंके नियमोंके बन्धनसे मुक्ति मिल जाती बतायी जाती है, वह ब्रह्म स्वयं कैसे यज्ञादिकर्मोंका अङ्ग हो सकता है! [ग]इसके अलावा सभी ब्रह्मज्ञानियोंने कर्मनिर्वाह किया ही हो ऐसा भी तो कहा नहीं जा सकता है. कुछने निभाया है तो कुछने नहीं भी. [घ]तैत्तिरीयोपनिषद्में एकैकोत्तर शतगुणित आनन्दोंका निरूपण मिलता है. इसकी उत्तरावधि अगणितानन्द ब्रह्मको बताया गया है. ब्रह्मको ही आनन्दरूप तथा आनन्ददायी भी माना गया है. अतः ब्रह्मके आनन्दकी जितनी अधिक मात्रा जिसे प्राप्त हुयी हो उसका उतना उत्कर्ष सिद्ध होता है. फलतः आनन्दकी अल्पमात्रावाले जीव कर्मनिरपेक्ष न भी हो पाते हों परन्तु उत्कृष्टमात्रावाले जीव तो कर्मनिरपेक्ष हो ही सकते हैं. [ङ]ब्रह्मिष्ठको कर्मानुष्ठानमें ब्रह्मा होनेका अधिकारी माना गया है, वहां 'ब्रह्मिष्ठ'का अर्थ वेदका ज्ञाता अथवा परोक्षज्ञानी होनेके अर्थमें समझना चाहिये, परब्रह्मके अपरोक्षज्ञानवाले होनेके अर्थमें नहीं. [च]आजीवन कर्मानुष्ठानके विधायक वचनोंकी तरह "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" जैसे वचन भी उपलब्ध होते ही हैं. [छ]'ब्रह्मिष्ठ' पदका परब्रह्म ही अर्थ आग्रहिलतया स्वीकारनेपर दर्शपूर्णमासकी स्तुति करनेको भी यह वचन प्रयुक्त हुवा स्वीकारा जा सकता है कि यह यज्ञ इतना उत्कृष्ट है कि ब्रह्मविद् भी इस यागमें आर्त्विज्य कर सकते हैं. एतावता उन्हें आर्त्विज्य करना ही चाहिये ऐसे नियमका कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता. [ज]श्रुतिवचनोंमें "ब्रह्मज्ञानी कर्मकृत गुणदोषोंसे लिप्त नहीं होता" ऐसा जो कहा गया है, उसे अप्रसक्तप्रतिषेध तो माना नहीं जा सकता; अतः स्वीकारना पड़ेगा कि ब्रह्मज्ञानियोंकेलिये भी किसी न किसी रूपमें कर्मानुष्ठान प्रसक्त तो है ही. वास्तविकता, परन्तु, यहां यही है कि स्वयं

ब्रह्मज्ञानी निजानन्दकी मस्तीमें, या भगवदाज्ञया; अथवा लोकसंग्रहार्थ भी कर्म कर सकता है. और इस रूपमें कर्म तो प्रसक्त माना जा सकता है परन्तु विधिबन्धन एतावता स्वीकार्य नहीं हो पाता. [झ]इस तथ्यसे यह और भी उपपन्न हो जाता है कि द्वैतभान होनेपर ही कर्मानुष्ठान प्रसक्त हो सकता है, अन्यथा ब्रह्मके अखण्डाद्वैतके भान होनेपर तो कर्मभेद, तन्मूलक अधिकारभेद; तथा तदनुष्ठानमूलक फलभेद के सभी द्वैत स्वयं भासित ही होने बन्द हो जाते हैं तो कर्ममें प्रवृत्ति कैसे सम्भव हो पायेगी? [ञ]ब्रह्मचर्याश्रमके बाद जैसे गृहस्थाश्रमका निरूपण मिलता है वैसे ही चतुर्थ संन्यासाश्रमका भी. इस आश्रममें ज्ञानवैराग्य ही प्रमुख साधनाके रूपमें निरूपित हुवे हैं. इससे भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञान नियततया कर्मानुष्ठानका अङ्ग हो नहीं सकता.

इस तरह हम देख सकते हैं कि जैमिनिमततया ब्रह्मसूत्रकारोद्धृत सूत्रोंका सर्वमान्य कोई एक अभिप्राय न होनेपर भी इन दोनों महर्षिओंके अनुसार तत्तत्काण्डोपदिष्ट उपायोंका आपेक्षिक महत्त्व तथा तन्मूलक उभयशास्त्रोंकी एकवाक्यताके कुछ विलक्षण स्वरूप तो हैं ही.

प्रकृत विषयानुसरणार्थ सन्दर्भोपात्त एकवाक्यताका जो प्रथम [अर्थात् आदितः३] सम्भावित अर्थ है, उस अर्थमें महर्षि जैमिनिके निर्देशोंके अनुसार पूर्वोत्तरकाण्डोंकी एकवाक्यता स्वीकारी जा सकती है.

वैसे तो ब्रह्मसूत्र (३।४।२६)के भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यने स्वीकारा है कि ब्रह्मविद्याको भी सारे आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा तो है ही, सर्वथा निरपेक्ष तो वह हो नहीं सकती है. फिरभी विषयभेदमूलक पूर्वोत्तरमीमांसाका परस्पर पार्थक्य समझाते हुवे श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं:—

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकाले अस्ति,

पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्. इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम् (ब्र.सू.भा.१।१।१).

भावार्थ: पूर्वमीमांसाका विषय धर्म तो भावी अर्थात् पुरुषकी कृतिसे पैदा होनेवाला तथा जिज्ञासाकालमें अविद्यमान होनेसे अनित्य साध्यवस्तु होता है; जबकि उत्तरमीमांसाका विषय ब्रह्म तो 'भूत' अर्थात् नित्य सिद्धवस्तु होनेसे पुरुषकी कृतिसे उसका कुछ लेना-देना नहीं होता है.

::वाल्लभवेदान्ताभिमत निष्कर्ष::

वेद-वेदान्तकी एकवाक्यताका यह स्वरूप सर्वथा अनभिप्रेत होनेसे इसके प्रत्याख्यानार्थ महाप्रभु कहते हैं:—

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानीति यथा तथा॥
फलश्रुत्या पूर्वकाण्डसमाप्त्या चावगम्यते॥२६॥
ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति परं वाप्नोति कुत्रचित्॥
वेदमनूच्य आचार्य इत्युक्तोपनिषद्वचः॥२७॥
शास्त्रान्तरेऽप्येवमेव वैदिकानां मतं तथा॥
अतः स्वतन्त्रता वाच्या तथा चेन्नैकवाक्यता॥२८॥
वेदोखिलो धर्ममूलमित्यादिश्च विरुद्ध्यते॥
वैदिकानामभिध्यानं स्वरादिनियमैर्युतम्॥२९॥
वेदाएव नचान्यार्था वाच्या बुद्धिमता क्वचित्॥
(पत्रा.२६-२९).

भावार्थ: भागवतके सप्तम स्कन्धमें एक वचन आता है—"कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठा नृपापरे, स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने ये केचिज्ज्ञानयोगयोः, ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता" (भाग.७।१५।१-२). इस वचनमें ज्ञानयोगमें सन्निष्ठ ब्राह्मणको श्राद्धमें

कव्यदान करना प्रशस्त माना गया है. इस आधारपर कोई ऐसी बात कहे कि ज्ञान-योग श्राद्धभोजनाङ्ग है तो वह कैसी बात होगी! "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छान्दो.उप.१।१।१०) सदृश श्रुतिवचनोंके आधारपर उपनिषद् पूर्वकाण्डोक्त कर्मोके कर्ताके स्तुत्यर्थ होते हैं, ऐसा माननेवाले पूर्वमीमांसकोंकी कल्पना भी इतनी ही अटपटी लगती है. अतः "उपनिषद् पूर्वकाण्डोक्त कर्मोके कर्ताके स्तुत्यर्थ हैं" यों कह कर वेद-वेदान्तकी एकवाक्यता खोजनेका प्रयास विचारसह्य नहीं है.

पूर्वकाण्डके समाप्त हो जानेपर उपनिषदोंमें जिस फलका निरूपण किया गया है, वह कर्मकाण्डीय फलोंसे भिन्न या विरुद्ध हो तो उपनिषदोंको पूर्वकाण्डका अङ्ग माननेकी बात कठिन हो जायेगी. उपनिषद् कहते हैं कि "ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है" (मु.उ.३।२।९) या "ब्रह्मविद् परम तत्त्वको पा लेता है" (तै.उ.२।१). ऐसी स्थितिमें स्वयं महर्षि जैमिनिद्वारा निर्धारित—"कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्" (जै.सू.३।१।४) नियमके अनुसार कर्म जैसे फलार्थ होता है तो ब्रह्मज्ञान भी उपनिषद्वर्णित फलकेलिये ही हो सकता है—पूर्वकाण्डोक्त कर्म या कर्ता की स्तुतिकेलिये नहीं. "वेद पढ़ानेके बाद आचार्य अन्तेवासीको यह उपनिषद् पढ़ाये" (तै.उ.१।११।१) ऐसे वचनोंके कारण भी यह सविशेषतया सिद्ध हो जाता है कि दोनों काण्डोंके साधन-फल तथा शास्त्रके पूर्वोत्तरकाण्डोंमें भी परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होना नहीं

> चाहिये.
>
> यह अङ्गाङ्गिभाव, परन्तु, न स्वीकारनेपर उपनिषदोंको स्वतन्त्र शास्त्र मानना पड़ेगा. अब यदि उपनिषदोंको स्वतन्त्रशास्त्र भी मान लेते हैं तो फिरसे एकवाक्यताकी समस्या असमाहित रह जायेगी!
>
> इसी तरह मनुस्मृतिमें जो "वेदोऽखिलो धर्ममूलं" (म.स्मृ.२।६) कहा गया है, उसके आधारपर या तो उपनिषदोंमें भी धर्मनिरूपण स्वीकार लेना चाहिये या फिर उपनिषदोंको वेदके रूपमें मान्य रखनेका आग्रह छोड़ देना पड़ेगा.
>
> अन्ततः ऐसे भी स्वीकार लेनेसे सारी समस्यायें सुलझ तो नहीं जाती हैं. क्योंकि वेदोंकी तरह उपनिषदोंके उच्चारणमें भी स्वरादिके नियमोंको तथा वेदके रूपमें ही इन उपनिषदोंके अध्ययनादिकी परम्पराको देखते हुवे उपनिषदोंका वेदरूप न होना तो कदापि स्वीकारा नहीं जा सकता है.

एकवाक्यताके ऐसे अस्वीकार्य प्रकारोंको लक्ष्यमें रख कर ही शाङ्खायनारण्यकमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है—"ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वाणां मुण्डमुण्डं नाधीतेऽधीते वेदमाहुस्तमज्ञं शिरश्छित्त्वासौ कुरुते कबन्धम्. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थं, योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मेति" (शा.आ.१४।१-२). इसे किसी विशेष कर्मानुष्ठाताके सन्दर्भमें कहे गये निन्दार्थवादके रूपमें खपाया नहीं जा सकता है. ऐसी एकवाक्यताकी धारणा प्रस्तुत करनेवाले शाबरमीमांसकों तथा शाङ्करवेदान्तिओं के ऊपर रामानुजवेदान्तके द्वारा लगाये गये आरोपके बारेमें तो हम विचार प्रस्तुत कर

ही चुके हैं.

[क]शाबरमीमांसाकी ही तरह वेदके एकांशके प्राधान्यको स्वीकारते हुवे शाङ्करवेदान्तने भी समूचे पूर्वकाण्डको मोक्षसाधनत्वेन अनुपादेय या अधिकाधिक चित्तशुद्धयर्थ ही केवल आरम्भिक अवस्थामें उपादेय मान कर किसी तरहकी एकवाक्यताका आभास प्रस्तुत करना चाहा है. पूर्वोदाहृत ब्रह्मसूत्र (३।४।२६)के भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यने ब्रह्मविद्याकेलिये भी पूर्वकाण्डीय धर्मोकी थोड़ी-बहोत अपेक्षा सुस्पष्ट शब्दोंमें जो स्वीकारी है उसे पुनः एक बार देख लेना उचित होगा :—

> इदम् इदानीं चिन्त्यते किं विद्यायाः अत्यन्तमेव अनपेक्षा आश्रमकर्मणाम् उत अस्ति काचिद् अपेक्षा? इति.
>
> ...उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिद् अन्यद् अपेक्षते उत्पत्तिं प्रतिं तु अपेक्षते. कुतः? यज्ञादिश्रुतेः!... इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति (ब्र.सू.भा.३।४।२६).
>
> भावार्थ : ब्रह्मविद्याको आश्रमकर्मोकी लेशमात्र भी अपेक्षा क्या नहीं रहती या थोड़ी-बहोत कुछ अपेक्षा रहती भी है?
>
> ...यह तो ठीक ही है कि ब्रह्मविद्याके उत्पन्न हो जानेपर उसे फलसिद्धिके हेतु किसी भी कर्मान्तरकी अपेक्षा नहीं रहती. स्वयं, परन्तु, उत्पन्न होनेकेलिये तो इसे भी वर्णाश्रमकर्मोकी अपेक्षा रहती ही है. श्रुतियोंमें भी... यज्ञादि कर्मोको ब्रह्मविद्यामें उपकारी साधनतया दिखलाया ही गया है.

फिरभी ''उपकारीका अङ्ग होना आवश्यक नहीं होता'' इस

भाट्टनीतिके अनुकरणपर या अन्य किसी हेतुवश ही कर्मब्रह्ममीमांसाओंके स्वरूपभेद फलभेद और विषयभेद के कारण पूर्वोत्तरमीमांसाओंका परस्पर पार्थक्य समझाते हुवे श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं:—

> ...न तथा इह क्रमो विवक्षितः, शेषशेषित्वे अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावात्, धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदात् च. अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्च अनुष्ठानापेक्षं—निःश्रेयसफलन्तु ब्रह्मविज्ञानं न च अनुष्ठानान्तरापेक्षम्. भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकाले अस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्. इहतु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं, नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्. चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च—याहि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषम् अवबोधयति. ब्रह्मचोदनातु पुरुषम् अवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषो अवबोधे नियुज्यते. यथा अक्षार्थसंनिकर्षेण अर्थावबोधे तद्वत् (ब्र.सू.भा.१।१।१).
>
> भावार्थ: कर्मब्रह्ममीमांसाओंमें परस्पर न तो अङ्गाङ्गिभाव है और न एकको कर लेनेके बाद ही दूसरेको करनेका कोई प्रामाणिक नियम ही. धर्मब्रह्मजिज्ञासाओंके जिज्ञास्यविषयों और जिज्ञासाफलोंमें भी अन्तर होता है. धर्मको जाननेसे अभ्युदय फल मिल सकता है, यदि यथार्थज्ञानके अनुसार अनुष्ठान किया जाये. ब्रह्मके विज्ञानका फल तो निःश्रेयस होता है और वह विज्ञान अपनेसे भिन्न किसी कर्मके अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं रखता. धर्मजिज्ञासामें जिज्ञास्य विषय भावी होता है जिज्ञासालभ्य ज्ञानकी उपलब्धिके समय विद्यमान

> नहीं होता, क्योंकि धार्मिक पुरुष कर्मका अनुष्ठान जब कर लेता है तभी धर्म पैदा हो पाता है. इस ब्रह्मजिज्ञासामें तो, जबकि, पूर्वसिद्ध ब्रह्म ही जिज्ञास्य बनता है और वह नित्य होनेके कारण किसी अनुष्ठाता पुरुषके व्यापारके आधीन नहीं होता. धर्मकी विधि, जो धर्मका लक्षण है, वह अपने विषयमें पुरुषको नियुक्त करती हुयी धर्मका ज्ञान प्रदान करती है. ब्रह्मज्ञानकी आज्ञा, जबकि, केवल ब्रह्मका बोध ही प्रदान करती है, आज्ञा देनेसे तो ब्रह्मबोध प्रकट नहीं हो पाता है. अतः किसी पुरुषको ब्रह्मज्ञानार्थ नियुक्त नहीं करती. उदाहरणतया आंख और उससे दिखलायी देते विषयका परस्पर संयोग होनेपर किसी भी तरह की आज्ञाके बिना ही चाक्षुष प्रत्यक्ष अर्थात् ज्ञान पैदा हो जाता है ठीक वैसे ही.

हम देख सकते हैं कि शाबरमीमांसकोंने पूर्वकाण्डगत कर्मविधिओंद्वारा प्रेरित कर्मोके अनुष्ठाताकी प्रशंसामें जैसे औपनिषद ब्रह्मको ओझल कर दिया ऐसे ही—

> नहि शास्त्रम् इदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति. किं तर्हि ! प्रत्यगात्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयद् अविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदम् अपनयति (ब्र.सू.भा.१।१।४).
>
> भावार्थ: यह शास्त्र इदन्तया विषय होनेवाले किसी ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं करना चाहता. तो क्या चाहता है! मुमुक्षु-जिज्ञासु पुरुषकी प्रत्यगात्मा होनेके कारण अपनेसे भिन्नतया होते किसी भी तरहके ज्ञानका विषय ब्रह्म नहीं हो सकता है,

> बस, इतने से प्रतिपादनके द्वारा अविद्याकल्पित ज्ञेय ज्ञाता और ज्ञान के भेदोंका निराकरण मात्र करना चाहता है.
>
> ऐसे निरूपणद्वारा शाङ्करवेदान्तने भी उत्तरकाण्डगत ज्ञानोपासनाकी अनेकविध विधिओंद्वारा प्रतिबोधित जो ज्ञानोपासक होता है उसकी प्रशंसामें न केवल उपासना-ज्ञानसे लभ्य अपितु उपासक-ज्ञानीके मुक्त हो जानेपर मुक्तात्माओंद्वारा भी उपसृप्य ब्रह्म (द्र. : मु.उ.२।२।८-३।२।८) को ओझल बना दिया! गन्ता गमन और गन्तव्य की ऐच्छिक भिन्नताओंके आत्यन्तिक विलोपनद्वारा.
>
> अतएव महाप्रभु कहते हैं:—
>
> 'मुक्त'=जीवन्मुक्त जो शरीराध्याससे रहित होते हैं उन्हें 'शर-धनु'न्याय [ॐकारको धनुष्, निजात्माको शर तथा ब्रह्मको लक्ष्य बना कर प्रमादरहित सन्धान करना चाहिये]के अनुसार ब्रह्मसे अपृथक्तया या पृथक्तया ज्ञात जीवको ब्रह्मरूप लक्ष्यमें योजित करना चाहिये, यह बात ब्रह्मको 'उपसृप्य' कह कर सूत्रकार जताना चाहते हैं... फिरभी जो कल्पितमतके अनुसार श्रुतिका अन्यथार्थ निकालते हैं, उनकी तो उपेक्षा करनी ही उचित है, पूर्वोत्तर सन्दर्भके विचारसे सुस्पष्ट श्रुतिसे विरुद्धार्थ कहते होनेके कारण" (ब्र.सू.भा.१।३।२).

अतः प्रतीत होता है "व्यवहारे वयं भाट्टाः"की नीति इस अंशमें भी शाङ्करोंद्वारा अपनायी गयी है. वहां कर्मकर्ताकी स्तुतिकेलिये जगज्जन्मादिकर्ता ब्रह्मके वर्णनको स्तुत्यर्थवाद माना गया, जबकि,

यहां केवल ब्रह्मजिज्ञासाके कर्ताके पारमार्थिकाद्वैतकी स्तुति करनेको जगज्जन्मादिके कर्तारूप ब्रह्मके ऐच्छिक द्वैतको अपारमार्थिक या व्यावहारिक मान कर उसे स्तुत्यर्थवाद जैसा ही विषय बना दिया गया है! इस विषयकी विवेचना कुछ आगे चल कर की जायेगी. अस्तु.

किसी भी स्थितिमें वेद-वेदान्तकी एकवाक्यताका शाङ्करवेदान्ताभिप्रेत प्रकार वाल्लभवेदान्तको सर्वथा अस्वीकार्य ही है यह तो स्पष्ट हो ही जाता है.

[ख]श्रीशङ्कराचार्यसे पूर्वकालीन वेदान्तियोंने तथा उनके कनिष्ठ समकालीन श्रीभास्कराचार्यने भी दोनों काण्डोंके एकवाक्यताकी उपलब्धिके हेतु कर्मज्ञानसमुच्चयका सिद्धान्त मान्य रखा था. सुस्पष्टतया वह एकवाक्यताके दूसरे [अर्थात् आदितः ४थे] अर्थका अनुसरण था.

श्रीभास्कराचार्य कहते हैं:—

> कर्मविचार हो ही चुका है अतः अब ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ होता है... ज्ञान-कर्मके समुच्चयके द्वारा मोक्षप्राप्तिका सिद्धान्त सूत्रकारको अभिप्रेत है... यदि कर्मोका ज्ञान ही न हो तो, हेयकर्म या उपादेयकर्मों का ज्ञान भी न हो पायेगा; और तब कोई यह भी जान नहीं पायेगा कि ब्रह्मविद्याके साथ किस कर्मका समुच्चय करना या किस कर्मका समुच्चय न करना. कर्ममीमांसा कर लेनेपर तो पता चल सकता है कि काम्यकर्म और निषिद्धकर्म हेय होते हैं; अतः नित्यकर्मोके ही साथ ब्रह्मविद्याका समुच्चय करना चाहिये, यह भी समझमें आ सकता है... स्वाध्यायविधि अर्थावबोधमें पर्यवसित होती है, अतः वेद पढ़नेवालेको गुरुकुलमें रहनेपर

अर्थावबोध तो होना ही है. ब्रह्मज्ञान तो, परन्तु, किसी मुमुक्षुको ही हो सकता है और आवश्यक नहीं कि वह गुरुकुलमें रहता ही हो.

ऐसा क्यों?

‘‘यज्ञेन दानेन’’ इस वचनके आधारपर तथा ‘‘शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येद्’’ इस वचनद्वारा विहित उपायान्तरके कारण ब्रह्मज्ञानको उपायान्तरोंकी अपेक्षा रहती है. अब स्वाध्यायविधिद्वारा तो उन उपायान्तरोंका आक्षेप सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य किन्हीं पुरुषों जो कर्मावबोधमें समर्थ हों उनकेलिये भी वह विधि चरितार्थ हो ही सकती है. इसके अलावा आत्मा एक दुर्विज्ञेय तत्त्व है और अन्तःकरण तो रागद्वेषादि वृत्तिओंसे उपहत ही रहता है, अतः ‘‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्माहमस्मि’’ इस तरहके श्रौत अभेदज्ञानकी उत्पत्ति अन्तःकरणमें कैसे सम्भव हो पायेगी? रागद्वेषादि वृत्तिओंके निवृत्त होनेपर उन मनोवृत्तिओंके वश ग्राह्य उपायोंकी जिज्ञासा भी निवृत्त हो जाती होनेसे चारोंमेंसे किसी भी आश्रममें अवस्थित पुरुषको सामान्यतया वेदान्तविधिद्वारा विहित उपायोंमें अधिकारिता प्राप्त हो जाती है. अतः ब्रह्मजिज्ञासा प्रस्तुत की जाती है. वे वेदान्तविधि कौन सी हैं? ‘‘श्रोतव्यो मन्तव्यः...’’—‘‘सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यःश्च’’— ‘‘तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्’’...! यहां एक आशङ्का यह होती है कि यदि ‘‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’’ इस वाक्यको सुननेके बाद ही अध्ययनमें प्रवृत्ति हो पाती हो और अध्ययन करनेपर ही वेदार्थके श्रवणार्थ प्रवृत्ति

हो पाती हो, तब तो इतरेतराश्रय दोष हो गया! ऐसा परन्तु नहीं होता है, क्योंकि अध्ययनविधिके कारण श्रवणादिवाक्य पढ़नेको मिलेंगे; और अध्ययन होता है अध्यापनकी विधिसे प्रयुक्त. कहा ही गया है कि "उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेद्" (ब्र.सू.भा.१।१।१).

कुछ मीमांसक मानते हैं कि कर्मापेक्षित कर्ताके स्वरूपका निरूपण करते होनेके कारण अथवा जपार्थ होनेके कारण वेदान्तवाक्योंको भी सार्थक स्वीकारना चाहिये. दूसरे कुछ मीमांसक, जबकि, यों कहते हैं कि "श्रोतव्यो मन्तव्यः"—"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" विधिओंके विषय होनेके कारण ब्रह्मको 'शास्त्रयोनि' कहा जाता है न कि वेदान्तवाक्योंके प्रमुख प्रतिपाद्यविषय होनेके कारण. अतः ब्रह्मके स्वरूपके प्रतिपादनमें वेदान्तवाक्योंका मुख्य अभिप्राय नहीं हो सकता है.

जैसे परिपूर्ण होनेके कारण प्रकृतिको विकृतिकी अपेक्षा नहीं होती परन्तु अपरिपूर्ण होनेके कारण विकृतिको प्रकृतिकी अपेक्षा रहती ही है, वैसे ही वेदके पूर्वकाण्डको वेदान्तवचनोंकी अपेक्षा नहीं रहती परन्तु वेदान्तको वेदके पूर्वकाण्डीय वचनोंकी अपेक्षा रहती है. क्योंकि स्वयं "तमेतं वेदानुवचनेन..." जैसे वेदान्तवाक्योंमें ही ज्ञानके सहकारितया नित्यकर्मोंका उपदेश उपलब्ध होता है. अतः आत्मज्ञानार्थ प्रवृत्त पुरुषको कर्मके बिना मोक्षकी प्राप्ति हो नहीं सकती, इसलिये ज्ञानके साथ कर्मका समुच्चय आवश्यक होता है (ब्र.सू.भा.१।१।४).

श्रीभास्कराचार्यका यह निरूपण सुस्पष्टतया एकवाक्यताके दूसरे [अर्थात् आदितः ४थे]अर्थका अनुसरण है. हम देख चुके हैं कि वाल्लभवेदान्त मोक्षप्राप्त्यर्थ न तो कर्मज्ञानके समुच्चयकी अनिवार्यता स्वीकारता है और न इस समुच्चयको अशक्य ही मानता है.

[ग]श्रीरामानुजाचार्यका मत तो हम देख ही चुके हैं कि ब्रह्मविद्याको संन्यासाश्रममें पूर्वकाण्डोक्त कर्मोकी अपेक्षा न होनेके कारण ज्ञानकर्मका समुच्चय वहां आवश्यक नहीं माना गया है (द्र. : ब्र.सू.भा.३।४।१७ तथा २५). चतुर्थेतर आश्रमोंमें परन्तु ब्रह्मविद्याको भी पूर्वकाण्डोक्त कर्मोकी अपेक्षा रहती ही है, ऐसा वे भाष्यमें प्रतिपादन करते हैं. ‘‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन’’ वचनमें, यज्ञादि साधनोंद्वारा ब्राह्मण ब्रह्मको जानना चाहते हैं, ऐसा निरूपित हुवा है. इस बारेमें शाङ्करवेदान्तकी धारणा यों है कि यहां ‘विविदिषन्ति’ पदके प्रयोगके कारण पूर्वकाण्डोक्त यज्ञादि साधनोंकी उपयोगिता ब्रह्मविद्याके अङ्गतया नहीं परन्तु चित्तशुद्धिकी प्रणालीके द्वारा ब्रह्मविविदिषाके साधनतया ही होती है. इस धारणाके निरसनार्थ श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं:—

> यज्ञादयो हि विद्याङ्गत्वेन श्रूयन्ते—यज्ञादिना ‘विविदिषन्ति’=वेदितुम् इच्छन्ति. यज्ञादिभिः वेदनं प्राप्तुम् इच्छन्ति इति अर्थः. यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वे सत्येव यज्ञादिभिः ज्ञानं प्राप्तुम् इच्छन्ति इति व्यपदेशः उपपद्यते; यथा असेः हननसाधनत्वे सति ‘असिना जिघांसति’ इति व्यपदेशः. अतो यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वम् अवगम्यते. ज्ञानञ्च वाक्यार्थज्ञानाद् अर्थान्तरभूतं ‘ध्यानोपासना’दि-शब्दवाच्यं विशदतम-प्रत्यक्षतापन्नस्मृतिरूपं निरतिशयप्रियम् अहरहरभ्यासाधेयातिशयम् आप्रायणाद् अनुवर्तमानं मोक्षसाधनम्...-अश्ववत्. गमनसाधनभूतो अश्वः स्वपरिकरबन्धपरिक-

> र्मापेक्षः एवं मोक्षसाधनीभूतापि विद्या नित्यनैमित्तिककर्मपरिकरापेक्षा (ब्र.सू.भा.३।४।२६).
>
> भावार्थ: यज्ञादि कर्म विद्याके अङ्ग माने [भी] गये हैं क्योंकि ‘‘यज्ञादिद्वारा ब्राह्मण ब्रह्मको जानना चाहते हैं’’ ऐसा [भी] उल्लेख मिलता ही है. यदि यज्ञादि साधन ही न हों तो यह उपपन्न नहीं हो पायेगा. उदाहरणतया ‘‘वह उसे तलवारसे मारना चाहता है’’ जैसे वाक्यका प्रयोग वही कर सकता है जो मारनेकी क्रियाका साधन तलवारको मानता हो. यहां इस वाक्यमें मारनेकी केवल इच्छाका साधन तलवारको नहीं माना जा सकता है. अतएव यज्ञादि कर्मोंको भी ब्रह्मज्ञानका साधन स्वीकारना पड़ेगा. यह ब्रह्मज्ञान भी केवल वाक्यार्थज्ञानरूप नहीं होता. ‘ध्यान-उपासना’ आदि शब्दोंद्वारा अभिधेय, विशदतम प्रत्यक्षका रूप ले चुकी ध्रुवा स्मृतिको यहां ‘ब्रह्मज्ञान’ कहा जाता है. यह ध्रुवा स्मृति, निरन्तर अभ्यासके कारण देहपातपर्यन्त अनुवर्तमान रहनेवाली निरतिशय प्रिय अनुभूति, ही मोक्षका साधन बन जाती है. जैसे एक घोड़ा कहीं शीघ्र पहुंचनेका साधन होता है परन्तु लगाम आदि अनेक उपकरणोंसे बंधा हुवा होनेपर ही. इसी तरह ब्रह्मविद्या भी यज्ञादि कर्मकलापोंसे बंध कर ही चतुर्थेतर आश्रममें मोक्षप्रदायिका हो पाती है.

अतएव रामानुजवेदान्तके अनुसार न केवल वेदके पूर्वोत्तरकाण्ड एकशास्त्ररूप हैं अपितु पूर्वोत्तरमीमांसाके सूत्रोंको भी एकग्रन्थात्मक ही माना गया है.

[घ]श्रीमध्वाचार्यने इस विषयमें अपने अभिप्रायको अणुभाष्य तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्पष्ट किया है:—

शुभेन कर्मणा स्वर्गं, निरयं च विकर्मणा, मिथ्याज्ञानेन च तमो, ज्ञानेनैव परं पदं याति. तस्माद् विरक्तः सन् ज्ञानमेव समाश्रयेत् (अणुभा.३।१-२).

अतएव ज्ञानस्य मोक्षदाने न अग्निहोत्राद्यपेक्षा. ब्रह्मतर्के च — "येषां ज्ञानं समुत्पन्नं तेषां मोक्षो विनिश्चितः, शुभकर्मभिः आधिक्यं विपरीतैः विपर्ययः..." इति... सर्वधर्मापेक्षा च ज्ञानस्य उत्पत्तौ, "विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुतेः. यथा गतिनिष्पत्त्यर्थम् अश्वादयो अपेक्ष्यन्ते न विनिष्पन्नगतेः ग्रामादिप्राप्तौ (ब्र.सू.भा.३।४।-२५-२६).

भावार्थ: शुभ कर्मोंके कारण जीवात्मा स्वर्गलोक जाती है, विकर्मोंके कारण नरकलोक जाती है, इसी तरह मिथ्याज्ञानके कारण तमोलोकको; परन्तु ज्ञानके कारण ही केवल परमपदको पा सकती है. अतः विरक्त हो कर ज्ञानका ही समाश्रयण करना श्रेयस्कर होता है.

अतएव मोक्ष प्रदान करनेमें ज्ञानको अग्निहोत्रादि कर्मोंकी अपेक्षा नहीं रहती है. ब्रह्मतर्कमें यही कहा गया है कि जिनमें ज्ञान प्रकट हो जाता है उन्हें तो मोक्ष निश्चित मिलेगा ही. शुभकर्मोंके कारण, परन्तु, उसमें कुछ आधिक्य भी हो सकता है, विपरीतकर्मोंके कारण विपर्यय भी सम्भव है... ज्ञानकी उत्पत्तिमें [वेदाध्ययन इज्या दानादि रूप वर्णधर्म, अग्न्याधान गुरुकुलवास अग्निहोत्र पञ्चयज्ञ तप उपास्ति इत्यादि

> आश्रमधर्म, भक्ति आदि सामान्यधर्म; तथा श्राद्धादि नैमित्तिक धर्म यों] सभी तरहके धर्मोंकी अपेक्षा रहती है. दूरस्थित किसी गाम तक कोई जाना चाहता हो तो अश्वादि साधनोंकी अपेक्षा रहती है परन्तु वहां पहुंचे हुवेको नहीं. इसी तरह ज्ञानकी उत्पत्तिकेलिये सभी साधनोंकी अपेक्षा रहती है परन्तु ज्ञानसे सम्पन्न हो जानेपर किसी साधनकी अपेक्षा नहीं रह जाती है.

इस विशिष्ट सन्दर्भमें वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंकी माध्ववेदान्ताभिप्रेत एकवाक्यताका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है.

[ङ]श्रीपति भगवत्पादाचार्य, श्रीरामानुजाचार्यकी ही युक्तियोंका अनुसरण करते हुवे, संन्यासियोंको मोक्षप्राप्तिकेलिये केवल ब्रह्मविद्या ही पर्याप्त होती है और चतुर्थेतर आश्रमियोंकेलिये सभी धर्मोंकी अपेक्षा रहती है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं.

[च]श्रीविज्ञान भिक्षुके अनुसार, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, विद्याका त्रैविध्य स्वीकारा गया है, वहां परोक्षविद्याके दोनों उदाहरणोंमें एक बाह्यकर्माङ्ग और दूसरी बाह्यकर्मसमुच्चित स्वीकारी गयी हैं. प्रधानविद्यामें, जबकि, बाह्यकर्मोंका तो त्याग परन्तु आन्तर मानसकर्मोंका तो निर्वाह ही आवश्यक माना गया है. फलतः वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंकी एकवाक्यताकी समस्या वेदान्तके इस सम्प्रदायमें बहोत गम्भीर नहीं रह जाती है.

[छ]श्रीमहाप्रभुको अभिप्रेत एकवाक्यताका स्वरूप समझना हो तो पत्रावलम्बनोक्त इस अधोनिर्दिष्ट समीकरणसूत्रपर ध्यान देना पड़ेगा :—

एकवाक्यता = ‘‘वेदोऽखिलो धर्ममूलं’’ + ‘‘धर्मो यस्यां मदात्मकः’’
(पत्रा.२०)

यह जैसा कि प्रारम्भमें ही उद्धृत कर चुके हैं, तदनुसार, “मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्, एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदा, मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति” (भाग.११।२१।४३) वचनके आशयको ही यहां स्फुट किया गया है.

वैसे वाल्लभवेदान्तके अणुभाष्यमें उल्लिखित दोनों सूत्रों और उससे जुड़े पूर्वोत्तरवर्ती सूत्रों के भी भाष्यमें कुछ इतरविलक्षण शैलीमें जो निरूपण मिलता है उसे दृष्टिगत कर लेना उपकारी होगा :—

> यथा “वीरहा वा एष देवानाम्” इति श्रुत्या कर्मत्यागकर्तुः निन्दा श्रूयते एवमेव भगवज्ज्ञानरहितस्यापि सा श्रूयते … तथाहि—“असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः, तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधा जनाः”… वस्तुतस्तु “तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति” इति श्रुत्या ज्ञानसाधनत्वेनैव आश्रमकर्मकरणोक्तेः च न स्वातन्त्र्यं कर्मणो वक्तुं शक्यम्. अतएव शुकस्य न ब्रह्मचर्यादिकमपि, फलस्य जातत्वेन तत्साधनानपेक्षणात्. एवं सति “तमेतं वेदानुवचनेन…” इति श्रुत्येकवाक्यतापि सम्पद्यते. अन्यथा तु विरोध एव (ब्र.सू.भा.३।४।१९).
>
> भावार्थ: जैसे “वीरहा वा एष देवानाम्” श्रुतिवचनमें कर्मत्याग करनेवालेकी निन्दा मिलती है, वैसे ही “असुर्या नाम ते लोकाः… अबुधाः जनाः” वचनमें भगवज्ज्ञानरहितकी भी निन्दा भी मिलती ही है… वस्तुतः तो “तमेतं वेदानुवचनेन … ईप्सन्तः प्रव्रजन्ति” श्रुतिमें ज्ञानके साधनके रूपमें ही कर्मोंको करनेकी बात कही गयी होनेसे

कर्मका स्वातन्त्र्य स्वीकारा नहीं जा सकता है. अतएव श्रीशुकमुनिने ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंके क्रमको निभानेके बाद संन्यास लिया हो ऐसा निरूपण मिलता नहीं है, क्योंकि उन्हें तो जन्मना ही फलसिद्धिसे सम्पन्न होनेके कारण साधनोंकी अपेक्षा नहीं रह गयी थी. इस तरहका अभिप्राय स्वीकारनेपर "तमेतं वेदानुवचनेन..." श्रुतिवचनोंके साथ कर्मत्याग कर देने के श्रुतिवचनोंकी एकवाक्यता भी सिद्ध हो जाती है. अन्यथा दोनों प्रकारके श्रुतिवचनोंमें विरोधाभास झलकता ही रहेगा.

यतो ज्ञानी स्वयमेव यज्ञात्मको जातः अतएव जरामर्याग्निहोत्रे (द्र. : तै.आ.६।६४) अग्निः, तदिन्धनं समिदादीति, तदादाय आज्यादयः, तेषाम् अनपेक्षा उक्ताः... एतेन यद् अन्यस्य यज्ञतासम्पादकं तस्य स्वकार्यसाधने कथं यज्ञापेक्षा भवेद् इति भावः सूच्यते (ब्र.सू.भा.३।४।२४)

भावार्थ: क्योंकि ब्रह्मज्ञानी तो स्वयं यज्ञात्मक हो जाता है अतएव जरामर्याग्निहोत्रके निरूपणमें— अग्नि, उसके समिदादि इन्धन; और इसी तरह आज्यादि हव्यसामग्री आदिकी भी अनपेक्षा दिखलायी गयी है... इससे सिद्ध होता है कि जिस यज्ञात्मक ब्रह्मके अहंग्रहोपासनाजन्य ज्ञानसे उपासक भी यज्ञात्मक हो जाता है, ऐसा ब्रह्मज्ञान यज्ञादिकर्मोंका अङ्ग कैसे हो सकता है!

ज्ञानं प्रति कर्मणः फलोपकारित्वाभावेपि स्वरूपोपकारित्वम् अस्ति न वा?... तत्र न इति पूर्वः पक्षः, गुरूपसत्तितदुपदेशैरेव तत्सम्भवाद्, "आचार्यवान्

पुरुषो वेद'' इति श्रुतेः. अत्र सिद्धान्तम् ... सर्वेषां कर्मज्ञानभक्तीनां पुरुषोत्तमज्ञानोत्पत्तौ अस्ति अपेक्षा... यज्ञादिनिरूपिका श्रुतिरेव प्रमाणं यतः... पुरुषोत्तमएव स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपः तत्प्राप्तिरेव फलम्. तत्र प्रेमभक्तिजं तज्ज्ञानमेव साधनम् इति ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' इत्यादिना ''एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'' इत्यादिश्रुतिसहस्रैः च प्रतिपाद्यते. ''अथेतरे दुःखमेवोपयन्ति'' इति श्रुत्या ज्ञानरहितानां दुःखमात्रप्राप्तिः उच्यते. एवं सति स्वतो पुरुषार्थरूपं यज्ञादिकं सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः यत् निरूपयति तत् सर्वथा पुरुषार्थसाधनत्वेनैव इति मन्तव्यम्. तच्च निष्कामतयैव कृतं तथा. अतएव वाजसनेयिशाखायां ''यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति'' इति उपक्रम्य पठ्यते ''तस्मात् लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणा इति तु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति, न तस्मात् प्राणाः उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'' इत्यादि. अत्र अथ अकामयमानः कर्ता निरूप्यते इति शेषः. यः पुमान् कर्मकृतौ अकामः ततो निष्कामः सन् आत्मकामः निरुपधिस्नेहवान् प्रभौ ततो भगवत्प्राप्त्या आप्तकामो भवति इति अर्थः. अत्र 'यथाकारी' इत्यादिना कर्मकर्तुरेव उपक्रमाद् 'अथाकामयमानः' इत्यनेनापि तथाभूतः सएव उच्यते. एवंसति सत्कर्मणि प्रवृत्त्यर्थं विविधफलानि स्वयमेव उक्त्वा जनान् भ्रामितवान् इति स्वोक्तकरणात् चिरेण दयया निष्कामं करोति सकामतयापि क्रियमाणेन वैदिककर्मणा अनेकजन्मभिः संस्कारविशेषप्रचयेनापि तथा... चकारेण पुष्टौ अङ्गीकृतस्य सर्वानपेक्षा इति

सा समुच्चीयते. अतएव "नायमात्मा..." इत्यादिश्रुतिः न विरुध्यते. ननु ज्ञानद्वारा कर्मादीनामेव फलसाधकत्वम् अस्तु इति शङ्कानिरासाय दृष्टान्तम् आह अश्ववद् इति यथा ...देशातिक्रमे अश्वस्य साधनत्वं नतु तत्सिद्धावपि तथा आधिभौतिकाध्यत्मिकाधिदैविकप्रतिबन्धनिवृत्तावेव तेषां साधनत्वं नतु भगवत्प्राप्तावपि इति अर्थः. इदञ्च मुमुक्षुभक्तविषयकम् इति ज्ञेयम् आत्यन्तिकभक्तिमतां भक्तीतरानपेक्षणात् (ब्र.सू.-भा.३।४।२५).

भावार्थ: ज्ञानसे प्राप्त होते फलमें कर्मकी उपकारिता चाहे न भी हो परन्तु स्वयं फलप्रद बन पाये ऐसे ज्ञानके स्वरूपको सिद्ध करनेमें कर्मोंकी उपयोगिता होती है या नहीं? श्रुतिमें कहा गया है कि जो व्यक्ति आचार्यवान् होता है वही ब्रह्मको जान पाता है. अतः गुरूपसत्ति और गुरुके द्वारा दिये जाते उपदेश से ही ब्रह्मज्ञान सिद्ध हो पाता हो तो कर्मोंकी अपेक्षा क्यों माननी चाहिये! यहां सिद्धान्त यों है कि यज्ञादि साधनोंको विविदिषामें उपयोगी बतानेवाली श्रुतिके आधारपर पुरुषोत्तमके साक्षात्कारमें कर्म ज्ञान एवं भक्ति आदि सभी साधनोंकी उपयोगिता सिद्ध होती है. परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम ही केवल स्वतन्त्र पुरुषार्थरूप होते हैं, क्योंकि उनकी प्राप्ति ही परमफलरूपा होती है. "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" या "एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति" जैसे अनेक वचनोंके आधारपर भगवत्प्राप्तिका साधन प्रेमभक्तिजन्य ज्ञान ही होता है. इसी तरह "अथेतरे दुःखमेवोपयन्ति" जैसे वचनोंके आधारपर जो उसे जान नहीं पाता

उसे दुःख ही केवल मिलता है, ऐसा सिद्ध होता है. अतः स्वतःपुरुषार्थरूप परमात्माका प्रतिपादन हो अथवा यज्ञादिकर्म ज्ञान या भक्ति आदि साधनोंका विधान हो सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुति जो कुछ कहती है उसे सर्वथा पुरुषार्थका उपदेश ही समझना चाहिये. इनका निष्काम अनुष्ठान किये जानेपर परप्राप्ति होती है. वाजसनेयी शाखाके "यथाकारी... ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" वचनमें निष्काम कर्ताका ही प्रतिपादन विवक्षित है. क्योंकि कर्मकर्ताके निष्काम होनेपर ही आत्मकाम=परमात्माके प्रति वह निरुपधिस्नेहवान् हो पाता है. ऐसा निरुपधिस्नेहवान् ही भगवत्प्राप्ति होनेपर आप्तकाम हो पाता है. अतः सत्कर्मोंमें प्रवृत्त करनेको ही भगवान्ने विविध श्रुतिवचनोंमें विविध फलोंका निरूपण किया है. और स्वयमेव दया करके भगवान् इन फलोंकी कामनाओंके चक्करसे छुड़ानेको ही किसी जीवात्माको निष्काम बनाते हैं. अतः वेदोक्त सकाम कर्म करनेवाले जीव भी अनेक जन्मोंमें पुञ्जीभूत होनेवाले शुभ संस्कारोंके कारण कभी किसी जन्ममें निष्काम बन ही जाते हैं... वैसे जिन जीवोंका भगवान्ने पुष्टिभक्त्यर्थ वरण किया हो, उन्हें इस प्रक्रियामेंसे गुजरना नहीं पड़ता. उन्हें तो भगवान्में निरुपाधिक स्नेह स्वतएव प्रकट हो ही जाता है. फलतः "नायमात्मा..."श्रुतिवचनके साथ इस निरूपणकी सङ्गति भी बैठ जाती है... वैसे ये साधन भी आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक प्रतिबन्धोंको निवृत्त करनेमें ही सक्षम हो पाते हैं—स्वयं भगवत्प्राप्तिमें नहीं. जैसे चल कर जहां शीघ्र

न पहुंचा जा सकता हो ऐसे दूरीपर कहीं जाना हो तो अश्व उपयोगी हो सकता है परन्तु जो वहीं रहता हो उसे इस हेतुसे तो अश्व बहोत उपकारी नहीं हो पाता. इसी तरह आत्यन्तिक भक्तिवालोंको भक्तिके अलावा अन्य कुछ पानेकी अपेक्षा ही नहीं होती है. अतः यह सारा निरूपण तो जो मोक्ष पाना चाहते हैं, उनके ही सन्दर्भमें किया गया समझना चाहिये.

ननु... शमादेरेव ज्ञानसाधनत्वम् उच्यते नतु यज्ञादेः इति चेत्, तत्र आह—शमदमाद्युपेतो भक्तिमार्गेपि स्यादेव यद्यपि, तथापि... ज्ञानमार्गीयज्ञानाङ्गतयैव शमादिविधेः... ज्ञानमार्गे तेषाम् अवश्यानुष्ठेयत्वात् तथाविधिः... भक्तिमार्गे स्वतएव शमादीनां सम्भवेपि आवश्यकत्वं न तेषाम् इति भावः (ब्र.सू.भा.३।४।-२६).

भावार्थ: यहां एक शङ्का यह उठती है कि उपनिषदोंमें तो ब्रह्मकी अनुभूतिके साधन शम-दमादि निरूपित हुवे हैं. इस विषयमें यह ज्ञातव्य होता है कि भक्तोंको भी ये शम-दमादि स्वभावसिद्ध तो हो ही सकते हैं फिरभी इन्हें ज्ञानमार्गीय ज्ञानके ही अनिवार्य अङ्ग समझने चाहिये भक्तिमार्गीय ज्ञानके अनिवार्य अङ्ग नहीं.

वाल्लभवेदान्तमें, अतः, कर्मज्ञानके समुच्चयको न तो भास्करवेदान्तकी तरह अनिवार्य माना गया है और न शाङ्करवेदान्तकी तरह असम्भव ही. वैसे भिक्षुवेदान्तकी ही तरह यहां भी व्यवस्थितविकल्प अवश्य स्वीकारा गया है. यह, परन्तु, भिक्षुवेदान्तको अभिप्रेत

विद्यात्रैविध्यकी धारणासे बंध कर नहीं स्वीकारा गया है. वैसे विद्यात्रैविध्यके बारेमें भी वाल्लभवेदान्तको कोई सैद्धान्तिक आपत्ति तो हो नहीं सकती है. फलतः वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंकी एकवाक्यताका वाल्लभवेदान्ताभिमत निष्कृष्ट रूप यही उभर कर सामने आता है कि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादानतया अपने-आपको अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंमें प्रकट करता है, अतः अनेकविध नामों रूपों एवं कर्मों के विकल्प भी ब्रह्मकी सत्ताके साथ तादात्म्यभावापन्न ही होते हैं. जिन नाम-रूप-कर्मोंका ब्रह्मकी सत्ताके साथ तादात्म्य सिद्ध नहीं हो पाता, वहां अचिन्त्यसामर्थ्यवाले ब्रह्मकी केवल निमित्तकारणता या कर्तृता समझ लेनी चाहिये. यह अपोह्यकल्पोंके अन्तर्गत कुछ प्रकारोंके बारेमें आवश्यकतया ध्यान रखने लायक बात है; परन्तु जहां तक विधेय या अभिधेय कल्पोंका सवाल है वहां तो ब्रह्म स्वयं अपनी सत्ता चेतना और आनन्दांश यों तीनों अंशोंके साथ या तीनमेंसे किसी एकांशमें तो अभिन्ननिमित्तोपादान बनता ही है. अतः, उत्सर्गतया, "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (भ.गी.१५।१५) प्रमाणबलके विचारवश ब्रह्म वेदैकगम्य तत्त्व है तथा वेद ब्रह्मैकप्रमेयबोधक प्रमाण है. अपवादतया, परन्तु कभी "न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः...नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन नचेज्यया" (भ.गी.११।४८-५३) सदृश वचनोंके आधारपर, वेदाध्ययन यज्ञ दान तप आदि सभी साधनोंसे अगोचर भी कोई स्वरूप परमात्माका अनुगृहीतैकजनगोचर हो सकता है. पौराणिक अवतारलीला तथा तत्तद् भक्तोंके निजी अनुभव भी इसमें प्रमाणतया मान्य रखने ही पड़ते हैं. अतः न तो वेद और ब्रह्म के बीच प्रमाण-प्रमेयभावके नियमको सर्वथा अपवादरहित नियम ही माना जा सकता है; और न वेदोक्त साधन और ब्रह्मप्राप्ति के बीच साधन-फलभावके नियमको भी अपवादरहित नियम माना जा सकता है. ये सारे नियम ऐसे औत्सर्गिक नियम हैं कि जिनके अपवादरूप अनुग्रह प्रकट करनेकी सामर्थ्य भगवान्में

स्वीकारनी ही पड़ती है. इस लचीले नियमकी सूक्ष्मताको जो समझ पाता है, वही वाल्लभमतके अनुसार वेद-वेदान्तकी परस्पर एकवाक्यतासम्बन्धी अभिप्रायको भी इदमित्थतया हृद्गत कर पाता है.

हम पहले देख ही चुके हैं कि वैदिकोंद्वारा न केवल वेदके पूर्वकाण्डको ही अपितु उत्तरकाण्डको भी 'श्रुति' ही कहा-माना जाता रहा है. अध्ययनसम्बन्धी देशकालाधिकारिताके नियम तथा उच्चारणसम्बन्धी उदात्तादि स्वरोंके नियम भी पूर्वकाण्डकी तरह उत्तरकाण्डमें भी परम्परास्वीकृत ही हैं. अतः वेद और वेदान्त के अर्थोमें आत्यन्तिक भेद या आत्यन्तिक अभेद दोनों ही अमान्य करने पड़ते हैं. तब यह प्रश्न स्वाभाविकतया उभर सकता है कि इस उत्तरकाण्डको 'वेदान्त' क्यों कहा जाता है?

::विभिन्न वेदान्तोंका तुलनात्मक विमर्शः::

सर्वप्रथम इस प्रश्नका समाधान शाङ्करवेदान्तकी दृष्टिसे श्रीशङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्रभाष्यके उपक्रमगत इस अधोनिर्दिष्ट निरूपणके आधारपर यों खोजनेका प्रयास किया जा सकता है:—

> तमेतम् अविद्याख्यम् आत्मानात्मनोः इतरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहाराः लौकिकाः वैदिकाः च प्रवृत्ताः सर्वाणिच शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि... तथाहि "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थाविशेषाध्यासम् आश्रित्य प्रवर्तन्ते. 'अध्यासो' नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः इति अवोचाम. तद्यथा—पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वा इति बाह्यधर्मान् आत्मनि अध्यस्यति, तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं कृशोऽहं गौरोऽहं तिष्ठामि गच्छामि लङ्घयामि च इति... एवम्

अयम् अनादिः अनन्तो नैसर्गिको अध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः. अस्य अनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते. यथाच अयम् अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः (ब्र.सू.भा.१।१।१)

भावार्थ : आत्मा और देहादि-विषयपर्यन्त अनात्मीय पदार्थों के बीच होते आविद्यक इतरेतराध्यासके कारण ही किसी ज्ञानको प्रमाण तो किसी ज्ञेयवस्तुको प्रमेय के रूपमें स्वीकारनेके सारेके सारे व्यवहार, चाहे वे लौकिक हों या वैदिक, प्रवृत्त होते हैं. सभी विधि-निषेध-मोक्षपरक शास्त्र भी इसी तरह प्रवृत्त हुवे हैं... ''ब्राह्मण यज्ञ करे'' कहनेवाले शास्त्र भी हमारी चेतनामें होती वर्ण आश्रम वयोवस्था विशेषकी मिथ्या भ्रान्ति अर्थात् अध्यास जो हमें होते हैं उन्हींके सन्दर्भमें किसी कर्मका विधान या निषेध करते हैं. 'अध्यास' का अर्थ ही होता है : जो जैसा नहीं है उसे वैसा मान लेना. उदाहरणतया पुत्र या भार्या आदिके दुःखी या सुखी होनेपर व्यक्ति, अपनी चेतनासे बाह्यधर्मोंका चेतनापर आरोप लगा कर, अपने-आपको दुःखी या सुखी मान लेता है. देहके धर्मोंका भी आरोप चेतनापर हम लगा देते हैं कि ''मैं स्थूल या कृश या गौरवर्णका हुं'' अथवा ''मैं खड़ा हुं, जाता हुं या लांघता हुं''... यों चेतनाके कर्ता-भोक्ता होनेकी मिथ्या भ्रान्ति पैदा करनेवाले इस अनादि-अनन्त नैसर्गिक अध्यासका अनुभव सभी लोगोंके लिये प्रत्यक्षसिद्ध ही होता है. इस अनर्थके मूलको खतम करना

> हो तो आत्माके एकमेवाद्वितीय होनेके तथ्यकी निरूपिका विद्या प्राप्त करनी पड़ेगी; और इसीलिये सारेके सारे वेदान्त आरम्भ होते हैं. सभी वेदान्तोंका एकमात्र यही अर्थ होता है ऐसा जैसे सिद्ध हो पाये वैसा ही हम भी इस शारीरकमीमांसामें प्रदर्शित करने जा रहे हैं.

श्रीशङ्कराचार्यके इसी अभिप्रायकी प्रकृत विवादास्पदीभूत विषयके साथ आक्षेपगर्भित सङ्गति बैठानेको महाप्रभु उसे अपने कोटीक्रमोंमें इस तरह प्रस्तुत करते हैं :—

> ननु वेदान्तत्वं कथम्? तच्च एवं—लोकसिद्धस्य जगतो लोकप्रतीतिं बाधित्वा ब्रह्मत्वेन अलौकिकत्वं सम्पाद्यतइति अर्धजरतीयन्यायात् तदन्तत्वम्.
>
> ननु लोकनिपुणाः कथं मन्यन्ते? शब्दार्थविचारेण इति ब्रूमः. कथम्? शब्दानाम् अर्थे विचार्यमाणे ब्रह्मैव सर्वं भवति.
>
> ‘घटपटा’दिशब्दाः धर्मवाचकाएव भवितुम् अर्हन्ति. घटत्वादिविशिष्टवाचकाः ह्येते इति लोकप्रसिद्धिः. ‘घटत्वम्’ इति घटगतो धर्मः कश्चिद् यत्सद्भावाद् ‘घट’पदवाच्यता धर्मिणः. ‘‘तस्य भावः त्वतलौ’’ (पाणि.सू.५।१।११९) इति त्वो भावप्रत्ययः. ‘भावः’ इति ‘भू’धातोः घञि रूपम्. ‘भू’धातुः सत्तायां व्याप्तौ वा. उभयथापि व्यापकस्य सतो वा धर्मस्य वाचको भवति. ‘घञ्’च स्वार्थे, अन्यथा अनवस्था स्यात्. तथाच घटत्वं नाम सतः व्यापकस्य वा धर्मः इति उक्तं भवति. एवं पटत्वादिष्वपि. तथाच प्रकृत्यर्थः सन् व्यापको वा यदा भवति तदैव प्रत्ययार्थेन

सह एकवाक्यता भवति. ततश्च सर्वेषाम् एकार्थता स्यात्. अतः आकृतिविशेषव्यङ्ग्याः धर्माः ते भिन्नाएव, शक्तिसङ्कोचेन, व्यवहारसिद्ध्यर्थं अङ्गीकर्तव्याः. तथाच 'घटा'दिशब्दाः 'अरुणा'दिशब्दवद् धर्मवाचकाः.

भावार्थ : वेदके इस भागको 'वेदान्त' क्यों कहा जाता है? एक कारण यह सोचा जा सकता है कि लोकसिद्ध जगत्के बारेमें लौकिक पुरुषोंकी प्रत्यक्षप्रतीति ["मैं ब्राह्मण हुं", " मैं स्थूल हुं" या "मैं खड़ा हुं" इत्यादि जो होती] है उसे लोकानधिगत-ब्रह्मविषयिणी बना कर [अर्थात् ब्रह्मात्मैकत्वविद्याके उपदेशद्वारा "मैं ब्रह्म हुं" ऐसी] अलौकिक बनाते होनेसे वेदके इस भागको 'वेदान्त' कहा जाता है [वैसे "अहं ब्रह्मास्मि"की प्रतीतिमें भी भासित होता 'अहं' तो लोकसिद्ध ही होता है फिरभी 'ब्रह्म' शास्त्रसिद्ध है, अतएव] अर्धजरतीयन्यायसे [अर्थात् एक व्यक्ति युवा या वृद्ध तो हो सकता है परन्तु आधा युवा और आधा वृद्ध तो विचित्र बात है. इसी तरह लोकसिद्ध 'अहं' रूप अर्धांशका बाध करके लोकासिद्ध अर्धांश 'ब्रह्म' रूपका ही शोधन करता होनेसे अथवा भागत्यागलक्षणाकी प्रक्रियाके अवलम्बनके कारण भी] वेदके इस अंशको 'वेदान्त' कहा जाता है.

यहां लोकसिद्ध प्रतीतिकी चर्चा उठी होनेके कारण यह विचारणीय हो जाता है कि लोकप्रतीतिके व्याख्यानमें निपुण विवेचक इस लोकसिद्ध प्रतीतिकी व्याख्या कैसे करना चाहते हैं? वे यदि लोकप्रतीतिके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले शब्दार्थोंकी विचारणा या विवेचना के आधारपर करना चाहते हों तो, ऐसे उन शब्दार्थोंकी विवेचनाओंका तो अवलोकन

करनेपर तो सब कुछ ब्रह्म ही सिद्ध हो जाता है!

उदाहरणतया 'घट' या 'पट' आदि शब्दोंको घटमें या पटमें रहनेवाले घटत्व या पटत्व आदि धर्मोंका वाचक ही माना गया है. अथवा अन्य विवेचक ऐसा भी मानते हैं कि तत्तद् धर्मोंसे विशिष्ट तत्तद् वस्तुओं या व्यक्तियों के वाचक शब्द होते हैं. 'घटत्व' कोई एक ऐसा धर्म है कि किसी धर्मीमें जिसके विद्यमान रहनेपर उस धर्मीको 'घट' कहा जाता है. "तस्य भावः त्वतलौ" नियमके आधारपर 'त्व' प्रत्ययका अर्थ होता है: भाव=होना. यह 'भाव' शब्द भी 'भू' धातुके साथ 'घञ्' प्रत्यय जोड़नेपर बनता है. 'भू' धातुका अर्थ होता है: सत्ता या व्याप्ति. दोनोंमेंसे किसी भी कल्पको स्वीकारनेपर 'भू'के अर्थके प्रत्यायक 'त्व' प्रत्ययका अर्थ होगा: किसी वस्तुका सत् या व्यापक होना. 'घञ्' प्रत्यय तो 'भू' प्रकृतिके अर्थके अलावा दूसरे किसी अर्थका प्रत्यायक नहीं माना जा सकता अन्यथा अनवस्था हो जायेगी. यों 'घटत्व'का अर्थ होगा: कम्बुग्रीवादि आकृतिविशेष-वाली वस्तुका सत् या व्यापक धर्मी होना. इसी तरह 'पटत्व'के बारेमें भी समझ लेना चाहिये है. ऐसी स्थितिमें 'घट' या 'पट' रूपा प्रकृतिके अर्थको जबतक सत् या व्यापक न माना जाये तबतक उसके साथ 'त्व' प्रत्यय जुड़ ही नहीं पायेगा [अर्थात् 'घट' या 'पट' शब्द घटत्व या पटत्व के वाचक नहीं हो पायेंगे]. ऐसी स्थितिमें 'घट'-'पट' आदि सभी शब्दोंको एकार्थी या पर्यायवाचक न

स्वीकारने हों तो वाचकशक्तिके सङ्कोचवशात् तत्तद् रूपोंमें या भिन्न-भिन्न आकृतियोंमें व्यक्त होनेवाली किसी सत् या व्यापक वस्तुकी सत्ता अर्थात् होनेकी बात कहनेवाले ये 'घट'-'पट' आदि शब्द होते हैं, यह स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा शब्दभेदमूलक व्यवहारभेद सिद्ध ही नहीं हो पायेगा[१]. अतः

---

१. इस प्रतिपादनको सुस्पष्ट यौक्तिक सोपानोंमें अधोनिर्दिष्ट रीतिसे समझा जा सकता है. एतदर्थ यह अवधारणीय है कि '...' चिह्नान्तर्गत पदको शब्दके स्वरूपका द्योतक समझना चाहिये तथा '...' चिह्नरहित पदको अर्थवाचकः—

(१)'घटः' = धर्मविशिष्टवस्तुवाचकम्
(२)धर्मः = घटत्वम्
(३)∴ 'घटः' = घटत्वविशिष्टवस्तुवाचकम्
(४)घटत्वं = घटस्य भावः
(५)भावः = (सत्ता ∨ व्याप्तिः)
(६)∴ घटत्वं = (घटसत्ता ∨ घटव्याप्तिः)
(७)∴ 'घटः' = (घटसत्तावाचकं ∨ घटव्याप्तिवाचकम्)
(८)[घटः ≠ (सन् ∨ व्यापकः)] → ~('घट' · 'त्वम्')
(९)'घट' · 'त्वम्'
(१०)∴ घटः = (सन् ∨ व्यापकः)
(११)'पटः' = धर्मविशिष्टवस्तुवाचकम्
(१२)धर्मः = पटत्वम्
(१३)∴ 'पटः' = पटत्वविशिष्टवस्तुवाचकम्
(१४)पटत्वं = पटस्य भावः
(१५)भावः = (सत्ता ∨ व्याप्तिः)
(१६)∴ पटत्वं = (पटसत्ता ∨ पटव्याप्तिः)
(१७)∴ 'पटः' = (पटसत्तावाचकं ∨ पटव्याप्तिवाचकम्)
(१८)[पटः = (सन्∨व्यापकः)] · [घटः=(सन्∨व्यापकः)]
(१९)∴ घटः = पटः
(२०)'घटः' ≠ 'पटः'
(२१)∴ 'घटः' = घटाकारकभाववाचकम्
(२२)∴ 'पटः' = पटाकारकभाववाचकम्

> [पूर्वमीमांसामें ''अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति'' वचनमें जैसे] 'अरुणा' शब्द अरुणवर्णवाली बछड़ीका वाचक न हो कर उसमें विद्यमान आरुण्यवर्णका वाचक स्वीकारा गया वैसे ही सभी शब्दोंको धर्मवाचक स्वीकार लेना चाहिये.

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शाङ्करवेदान्तद्वारा प्रस्तुत धारणा कि वेदके उपनिषद्रूप उत्तरकाण्ड लोकसिद्ध प्रतीतिको बाधित करके लोकमें अनधिगत तथा अबाधित ऐसे ब्रह्मात्म्यैक्यके उपदेशार्थ प्रवृत्त हुवे हैं और तदुपयोगी चित्तशुद्धि वेदके पूर्वकाण्डद्वारा होती है, ऐसी धारणा सुसङ्गत नहीं लगती. क्योंकि किसी एक सद्रूप या व्यापक तत्त्वके ही अनेक नामरूपोंका अभिधान एवं भान लोकसिद्ध शब्दार्थकी प्रतीतिमें हो रहा है, इसका न तो वेदान्तद्वारा बाध शक्य है और न लोकप्रतीतिका अन्यथा कोई व्याख्यान ही.

नाम रूप एवं कर्म यदि सर्वभवनसमर्थ ब्रह्मके सत्यसङ्कल्पद्वारा प्रकट न हो कर अविद्याकल्पित होते तब तो ब्रह्मज्ञानसे इनकी प्रतीतिके बाधित होनेकी बात सुसङ्गत हो सकती थी. शुद्धाद्वैतवेदान्तके अनुसार इन नाम रूप और कर्मों का ब्रह्मके साथ तादात्म्य होनेसे ब्रह्मज्ञानसे विकल्पबुद्धि ही बाधित होती है नाम रूप या कर्म नहीं. परस्पर तादात्म्यभावापन्न इन नाम-रूप-कर्म और ब्रह्म के बीच भासित होते आत्यन्तिकभेदका अवगाहन करनेवाली बुद्धि ही ब्रह्मज्ञानद्वारा बाधित होती है स्वयं नामादि नहीं. अतएव महाप्रभु कहते हैं:—

> यदा अखण्डाद्वैतभाने सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिः 'घटः-पटः' इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति, नतु

> स्वरूपतोपि घटादिपदार्थोपि धर्मी बाध्यते (त.दी.नि.-१।९१).
>
> भावार्थ: ब्रह्मके अखण्डाद्वैतके भान होनेपर, जैसे सुवर्णका ग्राहक सुवर्णनिर्मित सभी वस्तुओंको सुवर्ण ही समझता है वैसे ही, ब्रह्मज्ञानीको भी सभी कुछ ब्रह्मतया ही प्रतीत होने लगता है. सर्वत्र ब्रह्म ही है ऐसा अनुभूत होनेपर घट-पट आदि अवान्तरविकल्पोंका अवगाहन करनेवाली केवल बुद्धि ही बाधित होती है—घट-पट आदि विषय धर्मिस्वरूपेण बाधित नहीं हो पाते.

यहां शुद्धाद्वैतवादकी यह धारणा महाप्रभुने शब्दार्थस्वरूपकी विवेचनाके आधारपर प्रस्तुत की है. इसके वास्तविक अभिप्रायको समझनेमें एक-दो बातोंकी सावधानी बरतनी बहोत आवश्यक है. सर्वप्रथम तो यह कि महाप्रभुके मतमें ब्रह्म यौक्तिक प्रमेय नहीं है सो ऐसी युक्तिके बलपर ब्रह्मको सिद्ध करना यहां महाप्रभुको कथमपि अभिप्रेत नहीं माना जा सकता है. अणुभाष्यके प्रारम्भमें ही, अतएव, महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण दे दिया है कि वेदार्थके अलौकिक होनेसे वह केवल युक्तिके बलपर हरेकको समझमें नहीं आ सकता है. तप, वेदयुक्ति=मीमांसा अथवा परमात्माके प्रसाद के कारण ही कोई बिरले पुरुष उसे समझ पाते हैं. (द्र. : ब्र.सू.भा.१।१।१). ऐसी स्थितिमें यहां प्रतिपिपादयिषित सत् या व्यापक धर्मीमें रहनेवाले धर्मोंकी वाचकताके बलपर प्रत्येक शब्दके शक्यार्थतया ब्रह्मको लोकप्रसिद्ध अर्थ ही नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि यह सत् या व्यापक वस्तु औपनिषद ब्रह्म ही है, यह तो उपनिषदोंके आधारपर ही सिद्ध हो पाता है, केवल इस युक्तिके आधारपर नहीं. अतः प्रमाणव्यवस्थाकी औत्सर्गिकी मर्यादाके लोपका यहां कोई प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता.

दूसरी बात यह है कि यहां महाप्रभु "'घटा'दिपद घटत्वादिके वाचक होते हैं" ऐसी युक्ति जो दे रहे हैं वह इस बारेमें जो अवान्तर मतमतान्तर हैं उनमें अपना अनाग्रह दिखलानेको ही दे रहे हैं.

उदारणतया—प्राचीन वैयाकरण व्याडीका मत था कि शब्द केवल व्यक्तिवाचक ही होते हैं. प्राचीन वैयाकरण वाजप्यायनकी तरह परवर्ती भाट्टोंका भी मत यह है कि शब्द केवल जातिवाचक ही होते हैं. बौद्ध मत यह है कि शब्द केवल अपोहवाचक ही होते हैं. नैयायिकोंका मत यह है कि शब्द जाति आकृति एवं व्यक्ति के वाचक होते हैं. महाभाष्यकार पतञ्जलिका मत यह था कि शब्द चार तरहके होते हैं, अतएव उनके अर्थ भी चार ही तरह के होते हैं: जाति क्रिया गुण एवं प्रयोक्तृमात्राभिप्रेत यदृच्छानिर्दिष्ट केवल वस्तु या व्यक्ति. इन मतोंमेंसे किसी भी मतविशेषके समर्थनके अभिप्रायवश यहां महाप्रभुने यह बात नहीं कही है. क्योंकि शब्दका शक्यार्थ इन तत्तद् मतोंके अनुसार जो कुछ मानना हो मान कर भी चला जाये, तबभी कुछ न कुछ शक्यतावच्छेदक तो प्रस्तुत करना ही पड़ेगा. उस शक्यतावच्छेदकरूप धर्मका बोध तो पुनः 'त्व' या 'तल्' प्रत्ययोंद्वारा ही होगा. ऐसी स्थितिमें 'त्व'-'तल्' प्रत्यय स्वयं यदि भाववाचक हों तो जो भी 'घट'-'पट'-'गो'-'वृक्ष' आदि उनकी पदप्रकृतियां हों उनके वाच्यार्थोंके साथ 'त्व'-'तल्' प्रत्ययार्थ भावका अभेदान्वय तो स्वीकारना ही पड़ेगा. अन्यथा सहोच्चारणको ही बाधितार्थविषयक स्वीकारना पड़ेगा.

निष्कर्षतया यह कहा जा सकता है कि इन अधोनिर्दिष्ट कारिकाओंका आशय ही यहां भी दोहराया जा रहा है:—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यस्सत्त्वानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं सत्त्वेन गृह्यते॥

इन दो कारिकाओंको, यूनानी चिन्तक अरस्तुके निगमनात्मक तर्कके परमाधार तथा अवराधार की तरह, एक दूसरेके साथ जोड़ कर यदि पढ़ा जाये तो महाप्रभुकी निष्कर्षरूपा युक्ति इस अधोनिर्दिष्ट कारिकामें बांधी जा सकती है.

न सोस्ति शाब्दबोधो हि यस्सत्वानुगमादृते।
सत्त्वानुविद्धः सर्वत्र शाब्दबोधो हि जायते॥

यदि सभी प्रत्ययोंमें जैसे शब्दानुगम झलकता है वैसे ही सत्त्वानुगम भी झलकता ही हो तो सभी शब्दोंके वाच्यार्थोंमें भी सत्त्वानुगम नियततया झलकेगा ही. शाङ्करवेदान्तने सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षवादको तो स्वीकारा ही है न केवल इतना ही अपितु अस्ति भाति प्रिय नाम और रूप मेंसे आद्यत्रयको ब्रह्मरूप और अवशिष्ट द्वयको जगद्रूप भी स्वीकारा है (द्र.:सि.ले.सं.२।२-७). ऐसी स्थितिमें ब्रह्मको अवाच्य मानना या वाच्यको मिथ्या मानना कथमपि विचारसङ्गत नहीं लगता है. क्योंकि जागतिक रूपोंमें नाम और सत्त्व का अनुगम स्वीकारनेपर ही अव्यावर्त्यतामूलक पारमार्थिकता सिद्ध होगी. वह सत्त्वकी होगी तो नामकी भी होगी और नामका अनुगम न स्वीकारनेपर सत्त्वका अनुगम भी खण्डित हो ही जायेगा. क्योंकि जो पारमार्थिक सत् होता है उसमें भी 'सत्' नाम या शब्द का अनुगम तो अनुभूत होता ही है. अतः अनुगत होनेसे 'सत्' नाम पारमार्थिक सिद्ध होगा ब्रह्मगत पारमार्थिकसत्त्व शुक्तिगत व्यावहारिकसत्त्व या शुक्तिरजतगत प्रातिभासिकसत्त्व व्यावर्त्यमान होनेसे अपारमार्थिक सिद्ध होंगे!

इस वैषम्यके परिहारार्थ तथा सद् वस्तुके साथ घट-पटादि

आकृतियोंका तादात्म्य स्वीकारनेपर इन आकृतियोंके प्रतीयमान उत्पत्ति-विनाशरूप कालकृत परिच्छेद, देशकृत परिच्छेद तथा परस्परात्यन्ताभावरूप वस्तुकृत परिच्छेद के प्रत्यक्षको बाधित मानना पड़ेगा तब तो सत्त्वानुगम और शब्दानुगम भी बाधित हो जायेंगे. यों शाङ्करवेदान्तको जो अभीष्ट है वह तो सिद्ध नहीं हो पाता!

यों केवलाद्वैतवादके अनुसार वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंकी एकवाक्यताके स्वरूपके विमर्शके बाद अब केवलद्वैतवादके अनुसार इस विषयका विमर्श अवसरप्राप्त होता है. अतएव न केवल वेदके ही पूर्वोत्तर काण्ड अपितु तदितर शास्त्रोंकी भी एकवाक्यताका जो तात्त्विक मानदण्ड श्रीमध्वाचार्य देना चाहते हैं उसे वे महाभारततात्पर्यनिर्णयमें इन शब्दोंमें सङ्कलित करते हैं:—

ऋगादयश्च चत्वारः पञ्चरात्रं च भारतम्।।
मूलं रामायणं ब्रह्मसूत्रं मानं स्वतः स्मृतम्।।३०।।
अविरुद्धं तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा।।
एतद्विरुद्धं यत्तु स्यान्न तन्मानं कथञ्चन।।३१।।
वैष्णवानि पुराणानि पञ्चरात्रात्मकत्वतः।।
प्रमाणान्येव मन्वाद्याः स्मृतयोप्यनुकूलतः।।३२।।
एतेषु विष्णोराधिक्यमुच्यतेऽन्येषु न क्वचित्।।
अतस्तदेव मन्तव्यं नान्यथा तु कथञ्चन।।३३।।
मोहार्थान्यन्यशास्त्राणि कृतान्येवाज्ञया हरेः।।
अतस्तेषूक्तमग्राह्यमसुराणां तमोगतेः।।३४।।
..................................।।
न तस्य कश्चिद्दोषोऽस्ति पूर्णाखिलगुणो ह्यसौ।।
सर्वदेहस्थरूपेषु प्रादुर्भाविषु चेश्वरः।।४०।।
ब्रह्माद्यभेदः साम्यं वा कुतस्तस्य महात्मनः।।
यदेव वाचकं शास्त्रं तद्धि शास्त्रं परं मतम्।।४१।।
निर्णयायैव यत्प्रोक्तं ब्रह्मसूत्रन्तु विष्णुना।।

व्यासरूपेण तद्ग्राह्यं तत्रोक्ताः सर्वनिर्णयाः ।।४२।।
यथार्थवचनानां च मोहार्थानां च संशयम् ।।
अपनेतुं हि भगवान् ब्रह्मसूत्रमचीक्लृपत् ।।४३।।
तस्मात् सूत्रार्थमागृह्य कर्तव्यः सर्वनिर्णयः ।।
सर्वदोषविहीनत्वं गुणैस्सर्वैरुदीर्णता ।।४४।।
अभेदः सर्वरूपेषु जीवभेदः सदैव हि ।।
विष्णोरुक्तानि सूत्रेषु सर्ववेदेऽड्यता तथा ।।४५।।
तारतम्यं च मुक्तानां विमुक्तिर्विद्यया तथा ।।
तस्मादेतद्विरुद्धं यन्मोहार्थं तदुदाहृतम् ।।४६।।
(म.भा.ता.नि.१।३०-४६)

भावार्थ: ऋगादि चार वेद, पञ्चरात्र, महाभारत, मूल रामायण और ब्रह्मसूत्र इतने ग्रन्थ स्वतःप्रमाण मानने चाहियें. इनसे जो कुछ अविरुद्ध वचन हो उसे तो प्रमाण मानना चाहिये परन्तु विरुद्ध वचनोंको कदापि नहीं. वैष्णव पुराण भी पञ्चरात्रात्मक होनेसे प्रमाण ही होते हैं. मन्वादि स्मृतियां भी अनुकूल होनेपर प्रमाण अन्यथा अप्रमाण माननी चाहियें. जिन शास्त्रोंमें विष्णुका आधिक्य निरूपित किया गया हो उन्हें ही प्रमाण मानना चाहिये अन्योंको नहीं. अन्य सभी शास्त्र मोहार्थ उपदिष्ट हुवे हैं, श्रीहरिकी आज्ञाके अनुसार ही. अतः उनमें कही गयी बातें, जिन्हें भगवान् तमोगति प्रदान करना चाहते हों, उनकेलिये हैं... भगवान् ऐसा क्यों करना चाहते हैं यह भी सोचना आवश्यक नहीं है, क्योंकि पूर्णाखिलगुण भगवान्में कोई दोष हो ही नहीं सकता है. भगवान् सभीके देहोंमे अन्तयार्मितया अवस्थित हैं, न केवल इतना अपितु जो कुछ प्रकट हुवा है उसे प्रकट करनेवाले

> कर्ता-नियन्ता भी भगवान् ही हैं. अतः ब्रह्मादि देवताओंके साथ भगवान्का अभेद या साम्य हो ही नहीं सकता है. अतएव ऐसे भगवान्के वाचक शास्त्र प्रमाणतम शास्त्र होते हैं. स्वयं श्रीविष्णुने सर्वशास्त्रीय तत्त्वके विनिर्णयार्थ श्रीवेदव्यासके रूपमें प्रकट हो कर जो ब्रह्मसूत्र लिखे हैं, उन ब्रह्मसूत्रोंमें दिये गये निर्णयोंको ही यथार्थवचन मान कर चलना चाहिये. क्योंकि मोहजनक अर्थोंके कारण पनपे संशयोंको दूर करनेकेलिये ही तो भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्र रचे हैं. अतः ब्रह्मसूत्रार्थके अनुसार ही सारे शास्त्रनिर्णय करने चाहिये. क्योंकि इन्हीं ब्रह्मसूत्रोंमें १.विष्णुकी सर्वदोषरहितता, २.सर्वगुणपूर्णता, ३.अपने दिव्य सभी रूपोंसे विष्णुका अभेद, ४.जीवात्माओंके साथ सदा ही भेद, ५.सर्ववेदवचनोंके वाच्य होनेका तथ्य, ६.मुक्तात्माओंमें भी तारतम्य; और ७.विद्याके कारण विमुक्ति निरूपित हुयी हैं. अतः इनसे विरुद्ध जहां-कहीं जो-कुछ कहा गया है उसे मोहार्थ कहा गया है, ऐसे स्वीकार कर चलना चाहिये

इसमें वेदान्त और वेदान्तमीमांसा की न केवल सर्वश्रेष्ठताका माध्ववेदान्ताभिमत निकष अपितु अन्य भी सभी शास्त्रोंमें उभरते संशयोंकी निवारणक्षमताके [१-७] निकषोंके रूपमें एकवाक्यताके स्वरूपके बारेमें भी भेदवादी माध्ववेदान्तका अभिप्राय अतीव सुस्पष्ट हो जाता है.

इन सात निकषोंको शुद्धाद्वैतवादकी दृष्टिसे निहार लेना उपयोगी होगा :—

[१]विष्णुकी सर्वदोषरहितताके बारेमें तो कोई

प्रश्न ही नहीं उठता!

[२]सर्वगुणपूर्णताके बारेमें भी, इसी तरह, किसी तरहकी विप्रतिपत्तिका कोई अवकाश ही नहीं है.

[३]अपने दिव्य सभी रूपोंसे विष्णुके अभेदके बारेमें शुद्धाद्वैतवेदान्त यह कहना चाहेगा कि पूर्णावतार अंशावतार कलावतार तथा आवेशावतार प्रभेदोंको दृष्टिगत रखनेपर भेदसहिष्णु-अभेदरूप तादात्म्य तो मान्य हो सकता है परन्तु सर्वथा अभेद तो नहीं.

[४]जीवात्माओंके साथ सदा ही भेदके बारेमें शुद्धाद्वैतवेदान्त यह कहना चाहेगा कि सच्चिदानन्द अंशी परमात्मामेंसे उसके चिदंशरूपेण सभी जीवात्मायें प्रकट हुयी होनेसे स्वरूपेण अभिन्न होनेपर भी अंशांशिभावप्रयुक्त ऐच्छिक भेद भी दोनोंके बीच मान्य होता ही है.

[५]सर्ववेदवचनोंके वाच्य होनेकी धारणा तो वाल्लभवेदान्तकेलिये भी सर्वथा प्राणभूत धारणा ही है.

[६]मुक्तात्माओंमें भी तारतम्यके बारेमें तो वाल्लभवेदान्त अनेकानेक कल्पोंको स्वीकारता ही है.

उदाहरणतया :—

क. निष्कामकर्म, साङ्ख्य एवं योग द्वारा आत्मसुखरूप मोक्ष होता है.

ख. तत्तद् देवताओंकी ब्रह्मबुद्ध्या निष्काम शरणागति और/अथवा भक्ति के द्वारा तत्तद्देवलोकमें सायुज्यादिरूपा मुक्ति मिलती है. ऐसा वाल्लभवेदान्तको मान्य है ही.

ग. ब्रह्मके श्रौत स्वरूपके कर्मसमुच्चित

या केवल ज्ञानसे भी अक्षरब्रह्ममें सायुज्यरूपा मुक्ति मिलती है.

घ. मर्यादामार्गीय शरणागति और/अथवा भक्ति द्वारा अन्तर्यामी नारायणमें सायुज्यादिरूपा अनेकविध मुक्ति मिलती है ऐसा वाल्लभवेदान्तमें सर्वथा मान्य है ही.

ङ. पुष्टिमार्गीय शरणागति और/अथवा भक्ति द्वारा परब्रह्म श्रीकृष्णके लीलात्मकस्वरूपानन्द अथवा भजनानन्द की अनुभूति इहलोकमें मिले या परलोकमें वाल्लभवेदान्तमें परमफलानुभूतितया स्वीकार्य है.

इन अनेकविध मुक्तिके प्रकारोंके अनुरूप मुक्तात्माओंको मिलती आनन्दनुभूतिके प्रकारोंमें भी तारतम्य वाल्लभवेदान्त स्वीकारता ही है.

[७]विद्याके कारण विमुक्तिके बारेमें यह अवधेय है कि उल्लिखित अनेकविध मुक्तिके प्रकारोंको मान्य रखनेके कारण साधनमर्यादाके विचारवश विद्यासे भी मुक्ति तो सर्वथा मान्य है परन्तु विद्यासे ही मुक्तिकी धारणा वाल्लभवेदान्तको मान्य नहीं है.

इसके बावजूद जहां तक आत्यन्तिक भेदवादका प्रश्न है तो वह तो महाप्रभुको अमान्य ही है. अतएव महाप्रभु कहते हैं:—

भिन्नत्वं नैव युज्येत ब्रह्मोपादानतः क्वचित्।
वाचारम्भणमात्रत्वाद् भेदः केनोपजायते!॥

कटककुण्डलयोः भेदो न सर्वथा भवति, उपादानस्य एकत्वात्. धर्मरूपत्वे एकस्यैव उभयं धर्मः; तयोः

च उपादानाभेदाद्, भेदो न युक्तिसहः. प्रत्यक्षं तु अभेदेऽपि भेदं गृह्णाति, द्विचन्द्रवत् — महतां तु प्रत्यक्षं तदपि न गृह्णाति. अतः प्रमाणानुरोधाद् वाचारम्भणमात्रत्वं पदार्थानाम् अवगत्य सर्वत्र ब्रह्मभावावगतौ केन भेदः उपजायते इति अर्थः. तस्माद् भेदानुरोधेनापि ब्रह्मवादो न निराकर्तव्यः (त.दी.नि.१।९२).

भावार्थ: एक ही उपादानरूप सोनेसे बने कड़े और कर्णाभूषणों के बीच आत्यन्तिक भेद कैसे हो सकता है! यदि इन्हें दो भिन्न धर्म माने जायें तो भी दोनोंका धर्मी तो एक ही स्वीकारना पड़ता होनेसे; और दोनोंका अपने उपादानसे तो अभेद ही सिद्ध होता होनेसे, भेदको युक्तिसह नहीं माना जा सकता है. जहां तक प्रत्यक्षभासका प्रश्न है तो वह तो एक ही चन्द्रमाके बारेमें दो होनेके भेदका भासक भी होता ही है. उपनिषदोंमें, परन्तु, ब्रह्मज्ञानी महापुरुषोंको अभेदकी प्रत्यक्षानुभूतिके निरूपण भी उपलब्ध तो होते ही हैं. अतः ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्'' श्रुतिवचनके अनुरोधवश देशकृत कालकृत एवं वस्तुकृत परिच्छेदयुक्त विकारको 'वाचारम्भण' कहा गया होनेसे सर्वत्र ब्रह्मभावकी स्फूर्ति होनेपर ये त्रिविध परिच्छेद गृहीत नहीं हो पाते हैं. अतः प्रत्यक्षतः प्रतीयमान भेदके भी अनुरोधवश ब्रह्मवादका निराकरण सम्भव नहीं है.

अतएव पत्रावलम्बनमें भी इसी तथ्यको धर्मभेदके सन्दर्भके बजाय अंशभेदके सन्दर्भमें प्रस्तुत करते हुवे महाप्रभु कहते हैं:—

नच स्वरूपतः सतो भिन्नाः प्रत्यक्षतः स्वीकर्तव्याः

इति वाच्यं, कारणीभूतस्य सतः एकत्वात् कार्ये कुतो भेदः समायाति ?

मृद इव अंशभेदाद् इति चेद्, अस्तु!
तर्हि अंशेन भेदो अस्ति!
कः सन्देहः ?
कार्यकारणयोः भेदः!

इति चेत्, न, कार्ये समवेतत्वात् कारणमपि अस्ति इति मन्तव्यम्. तथाच कार्ये द्विगुणगुरुत्वापत्तिः; नवा भेदः प्रतीयते—"पिण्डावस्था गता घटावस्था जाता" इत्येव प्रतीतिः. तथाच आकृतिरेव भिन्नेति धर्मभेदएव जातः इति वक्तव्यम्. सतोऽपि अंशेन धर्मभेदएव जगद् जातमिति सद् एकमेव. नच अंशांशिनो भेदः सिध्यति, पूर्ववदेव द्विगुणभारापत्तेः.

भावार्थ : जागतिक नाम रूप तथा कर्मों के वाचक पदोंद्वारा अभिहित होते सत्को पारमात्मिक सत्से स्वरूपतः भिन्न नहीं स्वीकारा जा सकता है. क्योंकि कारणीभूत सत्के एकमेवाद्वितीय होनेके कारण कार्योंमे भेद आ ही नहीं सकता है! यदि कहा जाये कि अंशीभूत मृत्तिकाके साथ जैसे अंशभूत घटका कुछ भेद तो स्वीकारना ही पड़ेगा, तो वैसा भेद तो मान्य है ही! यदि कहा जाये कि अन्तमें किसी न किसी रूपमें तो भेद स्वीकारना ही पड़ा न! तो इस विषयमें हमारा उत्तर यह है कि किसी न किसी रूपमें तो भेदस्वीकृति आवश्यक है ही, इसमें तो हमें भी सन्देह नहीं है. एतावता कार्य और कारण के बीच आत्यन्तिक भेद तो स्वीकारा नहीं जा सकता है. इसमें हेतु यही है कि कार्य-कारणके बीच आत्यन्तिक भेद

> स्वीकारनेपर कार्यमें कारणके भी विद्यमान होनेसे, कार्यका अपना भार और कारणका भी यों, द्विगुण भार स्वीकारना पड़ेगा! इसके अलावा प्रत्यक्ष प्रतीतिका विचार करनेपर भी ''मृत्तिकाकी पिण्डावस्था निवृत्त हुयी और घटावस्था प्रकट हुयी'' ऐसी ही प्रतीति होती है. अतः एकमेवाद्वितीय सद्वस्तुमेंसे अनेकविध आकृतियोंका प्रादुर्भाव केवल धर्मभेदका ही नियामक बन पाता है, ऐसा स्वीकारना पड़ेगा. फलतः सद्वस्तुरूप धर्मीके भीतर अनेकविध धर्मोंके भेदोंको ले कर ही यह जगत् प्रकट हुवा है, ऐसा स्वीकार लेना भी उचित ही होगा. अंश और अंशी के बीच कभी आत्यन्तिक भेद तो हो ही नहीं सकता; अन्यथा, जैसे कि हम कह ही चुके हैं कि अंशोंमें द्विगुणभार स्वीकारना पड़ेगा!

यहां अवधारणीय है कि शुद्धाद्वैतवादमें आत्यन्तिक अद्वैतवाद और आत्यन्तिक द्वैतवाद का अस्वीकार तो सुस्पष्टतया समझमें आ पानेवाली बात है. इस शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादका, परन्तु, श्रीभास्कराचार्याभिप्रेत द्वैताद्वैतवाद, या श्रीपतिभगवत्पादाचार्याभिप्रेत विशेषाद्वैतवाद, या श्रीरामानुजाचार्याभिप्रेत विशिष्टाद्वैतवाद; अथवा श्रीविज्ञान भिक्षुको अभिप्रेत अविभागाद्वैतवाद से पार्थक्य किस रूपमें जानना? इस प्रश्नका उत्तर खोजना न केवल आवश्यक है परन्तु थोड़ी सी धीरजकी भी इसमें अपेक्षा है. क्योंकि वाल्लभवेदान्तके अनुसार भी 'शुद्धाद्वैत' पदगत 'अद्वैत' का अर्थ न तो द्वित्वात्यन्ताभावके रूपमें स्वीकारा जा सकता है; और न इस शुद्धाद्वैतके अन्तर्गत जो ऐच्छिक द्वैत स्वीकारा गया है, उसे एकत्वात्यन्ताभावरूप ही स्वीकारा जा सकता है. परिणामतः कथञ्चिद् एकत्व और कथञ्चिद् द्वित्व या अनेकत्व भी स्वीकारने ही पड़ते हैं.

द्वैत और अद्वैत दोनोंकी स्वीकृतिपर जैनोंके अनेकान्तवादकी शरण लेनेका आरोप बहुधा केवलाद्वैतियोंद्वारा लगाया जाता रहा है.

उदाहरणतया —

> अहो माहात्म्यं प्रज्ञायाः! नमोऽस्तु ब्रह्मवादिभ्यः क्षपणकशिष्येभ्यः!!
>
> (नै.सि.च.१।७८)
>
> इदानीं दिगम्बरपादपातिनां सर्वत्र भिन्नाभिन्नत्वम् इच्छतां मतं प्रत्याख्याति.
> (इष्ट.सि.वि.५।५८)

वास्तविकता जबकि यह है कि वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंको, किसी न किसी विशेषणके साथ द्वैत तथा अद्वैत, दोनों ही स्वीकारने पड़ते ही हैं. 'व्यावहारिक' या 'प्रातिभासिक' विशेषण जोड़कर द्वैतको स्थान दिये बिना केवलाद्वैतियोंके मतमें भी कुछ श्रुति वचनोंकी सार्थकता सिद्ध नहीं हो पायेगी. इसी तरह केवलद्वैतवादियोंको भी कुछ श्रुतिवचनोंकी सार्थकता 'अद्वैत' के साथ 'औपचारिक' विशेषण जोड़कर ही सिद्ध करनी पड़ती है. फलतः द्वैत या अद्वैत का प्रश्न उतना गम्भीर नहीं रह जाता है किन्तु द्वैत या अद्वैत के साथ जोड़े जानेवाले विशेषणोंका ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन जाता है. स्पष्ट है कि तत्तद् वेदान्तसम्प्रदाय अपने सद्वादी सदसद्वादी अथवा सदसद्वैलक्षण्यवादी पूर्वाग्रहोंके अधीन हो कर ही द्वैत या अद्वैत के साथ जोड़े जानेवाले अनेकविध स्वाभाविक/औपाधिक, पारमार्थिक/मायिक, ऐच्छिक/औपचारिक या विशिष्ट/विशेष आदि विशेषणोंके बारेमें विवादशील बनते हैं. वैसे द्वैत और अद्वैत दोनोंको स्वीकारते ही सप्तभङ्गीन्यायकी शरणागतिका जहां तक प्रश्न है तो यह ज्ञातव्य है कि सप्तविध भङ्गिमाओंमेंसे

किसी भी एक भङ्गिमाकी भाषाको अनुसरनेपर तो—

[१]स्याद् द्वैतम्
[२]स्याद् अद्वैतम्
[३]स्याद् द्वैताद्वैतम्
[४]स्याद् अवक्तव्यम्
[५]स्याद् द्वैतं च अवक्तव्यं च
[६]स्याद् अद्वैतं च अवक्तव्यं च
[७]स्याद् द्वैतं च अद्वैतं च अवक्तव्यं च

यों सप्तविध भङ्गिमाओंमेंसे प्रथममें केवलद्वैत और इसी तरह द्वितीयमें केवलाद्वैत अन्तर्भूत हो ही सकते हैं. अतः उन्हें स्वीकारनेवालोंको भी सप्तभङ्गीन्यायकी शरणागति लेनेवाले क्यों नहीं मान लेने चाहिंये? केवल तृतीय भङ्गिमाने ही ऐसा कौन सा महान् अपराध किया है कि उसे स्वीकारनेवाला ही सप्तभङ्गीके अनुसरणका दोषी बन जाता है और अन्य नहीं!

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्, आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्" निरूपणद्वारा असदत्यन्ताभावोपलक्षित जड़ात्यन्ताभावोपलक्षित एवं दुःखात्यन्ताभावोपलक्षित ब्रह्माद्वैतके साथ नामरूप[कर्म]के द्वैतको मायिक माननेवाले शाङ्करवेदान्तमें जो बृहदारण्यकोपनिषद्के "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" वचनके भाष्यमें मायाके बारेमें विधान मिलता है वह इस सन्दर्भमें अतीव मननीय है:—

> नहि चतुष्पदो द्विपाद् जायते द्विपदो वा चतुष्पाद्. सएव हि परमेश्वरो नामरूपे व्याकुर्वाणो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव. किमर्थं पुनः प्रतिरूपम् आगमनं तस्य इति उच्यते? 'तदस्य'=आत्मनो 'रूपं

प्रतिचक्षणाय'=प्रतिख्यापनाय. यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते तदा अस्य आत्मनो निरुपाधिकं रूपं=प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत. यदा पुनः कार्यकरणात्मना नामरूपे व्याकृते भवतः तदा अस्य रूपं प्रतिख्यायेत. 'इन्द्रः'=परमेश्वरो 'मायाभिः'=प्रज्ञाभिः नामरूपभूतकृतमिथ्याभिमानैः वा नतु परमार्थतः 'पुरुरूपो'=बहुरूपः 'ईयते'=गम्यते; एकरूपएव प्रज्ञानघनः सन् अविद्याप्रज्ञाभिः. कस्मात् पुनः कारणात्? 'युक्ताः', रथे इव वाजिनः, स्वविषयप्रकाशनाय 'हि'=यस्माद् 'अस्य हरयो'=हरणाद् इन्द्रियाणि... प्राणिभेदबाहुल्यात् 'शतानि दश च' भवन्ति. तस्माद् इन्द्रियविषयबाहुल्यात् तत्प्रकाशनायैव च युक्तानि, तानि न आत्मप्रकाशनाय. "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः" इति काठके, तस्मात् तैरेव विषयस्वरूपैः ईयते न प्रज्ञानघनैकरसेन स्वरूपे. एवं तर्हि अयम् अन्यः परमेश्वरो अन्ये हरयः इत्येवं प्राप्ते, उच्यते—'अयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च', प्राणिभेदस्य आनन्त्यात् (बृ.उ.भा.२।५।१९).

भावार्थ: किसी द्विपाद्से चतुष्पाद् पैदा नहीं हो सकता है इसी तरह चतुष्पाद्से द्विपाद्. तब उस परमेश्वरका प्रतिरूप होना कैसे सङ्गत होगा? इस आत्माके रूपको प्रतिख्यापित करनेकेलिये! यदि नामरूपका व्याकरण न हुवा होता तो इस प्रज्ञानघन आत्माका निरुपाधिक रूप प्रकट नहीं हो पाता. जब कार्य-करणात्मना नामरूपोंका व्याकरण=विस्तार हो जाता है तब इसका रूप भी प्रकट हो जाता है. यह इन्द्र=परमेश्वर अपनी माया अर्थात् प्रज्ञाओंके

> कारण, या नामरूपभूतकृत मिथ्याभिमानोंके कारण, अनेकरूपोंमें अवगत होता है. प्रज्ञानघन एकरूप होनेपर भी अविद्याप्रज्ञाओंके कारण ऐसा क्यों हो जाता है? क्योंकि जैसे रथके साथ अश्वोंको जोड़ा जाता है ऐसे ही अपने विषयोंके प्रकाशनार्थ इसे भी इन्द्रियोंके साथ जोड़ा जाता है. ये इन्द्रियां प्राणियोंके भेदप्रभेदके कारण एकसौ-दस प्रकारकी हो सकती हैं. इन्द्रियोंके विषय अनेक प्रकारके हो सकते हैं अतः इन्द्रियां भी अनेक प्रकारकी होती हैं. आत्मप्रकाशनार्थ इन अनेक प्रकारोंकी अपेक्षा नहीं रहती. ''परमेश्वरने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया है अतः वे बाहरकी ओर ही ताक पाती हैं भीतरकी ओर नहीं'' ऐसा काठकमें कहा गया होनेसे इन्हीं इन्द्रियोंके विषयोंके कारण नकि स्वयं अपने प्रज्ञानघनरूपके कारण परमेश्वर बहुरूप होता है. तब ''क्या यह परमेश्वर और ये इन्द्रियां परस्पर भिन्न-भिन्न होती हैं?'' ऐसी शङ्काके समाधानार्थ कहते हैं: यही परमेश्वर इन्द्रिय है. यही दस हज़ार बहोत सारे रूप बल्कि अनन्त रूपोंको धारण करता है, क्योंकि प्राणियोंके भेद-प्रभेदोंका कोई अन्त नहीं होता!.

हम देख सकते हैं कि श्रीशङ्कराचार्य भी एकमेवाद्वितीय प्रज्ञानघन परमेश्वर और अनेकविध विषयभेदबाहुल्यवाली इन्द्रियोंद्वारा प्रकट होते सङ्कीर्ण ज्ञान को कथञ्चित् एकात्मक और कथञ्चित् अनेकात्मक भी स्वीकारते हैं ही. फिरभी इसे यदि 'क्षपणकशिष्यता' अथवा 'दिगम्बरपादपतन' नहीं माना जाता, तो भेदाभेद स्वीकारनेपर ही ऐसा अपराध क्यों हो जाता है, इसका खुलासा देना पड़ेगा!

अब श्रीभास्कराचार्यको अभिप्रेत द्वैताद्वैतवाद तथा तत्सादृश्येन श्रीपतिभगवत्पादाचार्यको अभिप्रेत विशेषाद्वैतवाद से भी शुद्धाद्वैतवादका पार्थक्य अवसरप्राप्ततया विचारणीय बनता है.

यहां श्रीभास्कराचार्यके द्वैताद्वैतवादके विचारसे श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके विशेषाद्वैतवादको गतार्थ माना जा सकता है इस तथ्यके उपपादनकेलिये उनके दो वचन उद्धरणीय लगते हैं:—

> अत्र केचिद्... विशिष्टाद्वैतमेव मुख्यम् इति जल्पन्ति, तद् अवैदिकत्वात् न मुमुक्षुग्राह्यं, वैदिकमीमांसाकर्तृभिः भट्टभास्करादिपूर्वाचार्यैः स्वसिद्धान्तस्थापनावसरे पूर्वपक्षस्यापि अयोग्यत्वेन उपेक्षितत्वात्..." (ब्र.सू.भा.१।१।१९).
>
> ब्रह्मशक्त्युपादानस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वम् उपदिष्टम्. एतेन १.रज्जुसर्पवत् प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि अध्यस्तत्वात् मिथ्यात्वम् इति अद्वैतवादं दुर्वादं, २.घटपटवत् प्रपञ्चब्रह्मणोः भेदाङ्गीकारे द्वैतमतं, ३.शरीरिशरीरयोः इव संयुक्तभेदाङ्गीकारविशिष्टमतं च निरस्तम् इति सूत्रसूचितार्थो वेदितव्यः... "अथात आदेशो नेति-नेति" — "विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः" इत्यादिषु ब्रह्मणः मूर्तामूर्तजगद्विलक्षणत्वं, "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" — "ब्रह्मैवेदं जगत् सर्वम्" इत्यादिना तस्य चिदचिदात्मकजगदात्मकत्वं च श्रुतम् (ब्र.सू.-भा.२।१।१४).
>
> भावार्थ: कुछ लोग विशिष्टाद्वैत ही मुख्य है ऐसा कहते हैं परन्तु वह मत वैदिक नहीं है. अतः मुमुक्षुओंकेलिये ग्राह्य भी नहीं है, वैदिकमीमांसाकार भट्टभास्करादि पूर्वाचार्योंद्वारा स्वमतस्थापनके समय पूर्वपक्षतया भी उसे विचारणीय

> नहीं माना गया होनेसे.
>
> ब्रह्मशक्त्युपादानक प्रपञ्चकी ब्रह्मात्मकता यहां दिखलायी गयी है. इस निरूपणके कारण १.''रज्जुपर सर्पकी तरह ब्रह्मपर अध्यस्ततया भासित होनेके कारण यह प्रपञ्च मिथ्या है'' कहनेवाला जो अद्वैतवाद वह तो दुर्वाद है सो उसे, २.घटपटकी तरह प्रपञ्च और ब्रह्म के बीच भेद अङ्गीकार करनेवाले द्वैतमतको, ३.शरीरिशरीरकी तरह संयुक्तोंके बीच भेद स्वीकार करनेवाले विशिष्टाद्वैतमतको भी निरस्त हो गया मान लेना चाहिये, ऐसा इस सूत्रद्वारा सूचित होता है... ''अथात आदेशो नेति-नेति'' — ''विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः'' इत्यादि वचनोंके आधारपर ब्रह्मको जैसे मूर्तामूर्त जगत्से विलक्षण माना गया है वैसे ही ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' — ''ब्रह्मैव इदं सर्वम्'' इत्यादि वचनोंके आधारपर चिदचिदात्मक जगद्रूप भी ब्रह्मको स्वीकारा गया है.

इन उद्धरणोंका विश्लेषण करनेपर द्वैताद्वैतके अंशमें इन दोनों भाष्यकारोंकी धारणामें समानता झलकती है ही. अतः द्वैताद्वैतचर्चा सम्बन्धी भास्करीय वेदान्तसे विशेषाद्वैतके गतार्थ होनेसे भास्करीयवेदान्तका अभिप्राय ही आवश्यकतया अवलोकनीय हो जाता है:—

> इतश्च ''तदात्मानं स्वयम् अकुरुत'' इति आत्मनः ...करणं, कर्तृत्वेन कार्यत्वेन आत्मा निर्दिश्यते. कथं पुनः आत्मनः करणं सम्भवति इति आह 'परिणामाद्' इति. परमात्मा स्वयम् आत्मानं कार्यत्वेन परिणमयामास इति अर्थः. शक्तिविक्षेपं कृतवान्,

अनन्ता हि तस्य शक्तयो अचिन्त्याः च, तासां विक्षेपं करोति सृष्टिस्थितिकाले, यथा सूर्यो रश्मीनां, तद्वदेव संहरति (ब्र.सू.भा. १।४।२५).

अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत्॥
(ब्र.सू.भा.२।१।१४)

शक्तिशक्तिमतोश्च अनन्यत्वम् अन्यत्वं च उपलक्ष्यते, यथा अग्नेः दहनप्रकाशनादि-शक्तयो भेदाः. यथाच वायोः प्राणादि-वृत्तिभेदेन भेदः. तस्मात् सर्वम् एकानेकात्मकं न अत्यन्तम् अभिन्नं भिन्नं वा (ब्र.सू.भा.२।१।१८).

भावार्थ: "तदात्मानं स्वयम् अकुरुत" वचनमें ऐसा आत्मकरण निरूपित हुवा है कि जिसमें कर्ता और कार्य दोनों ही रूपोंमें आत्माका ही निर्देश है. आत्मकरण कैसे सम्भव हो सकता है, यह बात 'परिणामात्' शब्दसे सूचित की जाती है. परमात्माने स्वयम् अपने-आपको कार्यतया परिणत किया. अर्थात् अपनी शक्तियोंका बहि:विक्षेप किया. परमात्माकी असङ्खुच्य और अचिन्त्य शक्तियां होती हैं. सूर्य जैसे अपनी रश्मियोंका स्वरूपतः बाह्यविक्षेप करता है उसी तरह सृष्टिस्थितिकालमें परमात्मा भी अपनी शक्तियोंका बाह्यविक्षेप करता है, और सूर्यकी ही तरह संहरण भी.

अपने स्वरूपसे च्युत हुवे बिना अपनी शक्तियोंका बाह्यविक्षेप 'परिणाम' कहलाता है, जैसे मकड़ी अपनेमेंसे जाला उगलती है और बुनती है.

शक्ति और शक्तिमान् के बीच अभेद भी होता है और भेद भी. जैसे अग्निके एक ही

> होनेपर भी उसकी दहनशक्ति और प्रकाशनशक्ति भिन्न-भिन्न होती हैं. जैसे एक ही वायु प्राणापानादि वृत्तियोंके भेदसे भिन्न होता ही है. अतः सब कुछ एकात्मक भी होता है और अनेकात्मक भी—अभिन्न भी होता है और भिन्न भी.

यहां हम देख सकते हैं कि श्रीभास्कराचार्यके अनुसार यह जगत् ब्रह्मकी शक्तियोंका परिणाम है और यही मत श्रीपतिभगत्पादाचार्यने भी स्वीकारा है.

महाप्रभु, इसके विपरीत, जड़जगत्को सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशका स्वरूपपरिणाम, जीवात्माओंको चिदंशत्वेन व्युच्चरित तथा अन्तर्यामिओंको आनन्दांशत्वेन व्युच्चरित स्वीकारते हैं. इस तरहके बहुभवनमें ब्रह्म अपनी बहुभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिका करणत्वेन ही उपयोग करता है उपादानत्वेन नहीं [द्र.त.दी.नि.१।२७-३० तथा "एषा माया जगत्कर्त्री नतु व्यामोहिका ... सा हि तच्छक्तिः सर्वरूपभगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा सा जगत्करणे करणरूपा. अतः करणांशस्य तदीयत्वात्..." सुबो.२।५।१९]. श्रीभास्कराचार्य शक्ति और शक्तिमान् के बीच स्वाभाविक भेदाभेद स्वीकारते हैं; और अतएव शक्तिपरिणामरूप जगत्का भी ब्रह्मके साथ जो भेदाभेद होता है उसे भी स्वाभाविक ही स्वीकारते हैं. महाप्रभुके अनुसार, जबकि, भेद स्वाभाविक हो नहीं सकता, जगत्कारणरूप सच्चिदानन्दके एकमेवाद्वितीय होनेके कारण. अतएव महाप्रभु "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" सूत्रके भाष्यमें इसे सुस्पष्ट शब्दोंमें निरूपित करते हैं:—

> कार्यकारणयोः भेदाभेदमतनिराकरणाय 'पिण्ड-मणि-नखनिकृन्तन'ग्रहणम्. तथा सति यत्र क्वचिद् भगवान् ज्ञातः सर्वत्र ज्ञातो भवति सर्वञ्च ज्ञातं भवतीति सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिनिराकरणाय च

"'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति. अलीकत्वनिराकरणाय च "'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्" इति ब्रह्मत्वेनैव जगतः सत्यत्वं न अन्यथा... अतो ब्रह्मरूपेण सत्यस्य जगतो ब्रह्मैव समवायिकारणम्... (ब्र.सू.-भा.१।४।२३).

भावार्थ: कार्यरूप जड़जीवेश्वरात्मक जगत् और परब्रह्मके बीच स्वाभाविक भेदाभेदकी अस्वीकृतिकेलिये छान्दोग्योपनिषद् (६।१।४-६) में मृत्पिण्ड लोहमणि तथा नहन्नी के उदाहरण दिये गये हैं. इसके कारण "अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि" या "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" जैस किसी भी एक रूपमें ब्रह्मज्ञान प्रकट होनेपर सर्वत्र ही ब्रह्मज्ञान प्रकट हो जाता है. नैयायिकोंको अभिमत सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिके रूपमें इस एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानको खपा नहीं देना चाहिये, क्योंकि यह एक व्यक्तिके प्रत्यक्षीकरणमें तज्जातीय सर्वगत सामान्यधर्मके बोधकी कथा नहीं हैं. यह तो मृत्पिण्डसदृश किसी भी एक उपादानकारणको भलीभांति जान लेनेपर सकल मृण्मयकार्योकी जानकारी प्रकट होनेकी कथा है. न केवल उपादान कारणके ज्ञानसे उसके सकल कार्योंका ही ज्ञान अपितु एक भी कार्यको उसके उपादान कारणके रूपमें जान लेनेपर भी "एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानके प्राकट्य"के तथ्यमें कार्य-कारणके भिन्न होनेकी या कारणमात्रके सत्यत्व और कार्यके मिथ्यात्व होनेकी यों दोनों धारणाओंके निराकरणार्थ श्रुतिवचनमें "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्" वाक्यांश प्रयुक्त हुवा है. जगत्की सत्यता ब्रह्मत्वेन ही है ब्रह्मसे पृथक्त्वेन नहीं... अतः ब्रह्मरूपेण

सत्य जगत्का उपादानकारण ब्रह्म ही हो सकता
है.

कार्य-कारणके बीच अत्यन्त अभेद होनेपर सारा व्यवहार ही उच्छिन्न हो जायेगा. अत्यन्त भेद होनेपर प्रतिज्ञात एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानका सिद्धान्त बाधित हो जायेगा. केवल इसी हेतुवश भेदाभेदको स्वाभाविक मान लेना आवश्यक नहीं. क्योंकि यदि भेदाभेद मान कर चलते हैं तो, जिस रूपमें भेद होता है उस रूपको तो कारणतया जाना नहीं जा सकेगा; और जान भी लिया तो ऐसी जानकारीके कारण सर्वज्ञान नहीं हो पायेगा, कारणसे भिन्न होनेके हेतुवश ही. फिरभी किसी अन्य हेतुवश यदि सर्वज्ञान होनेकी बात स्वीकार लेते हैं, तो वह रूप भिन्न नहीं सिद्ध हो पायेगा. अतः पुनः अभेद ही स्वीकारना पड़ेगा! इस अभेदको स्वीकारनेसे व्यवहारसाङ्कर्यके दोष उत्पन्न होनेकी जो बात थी, वह भी अप्रामाणिक ही है. क्योंकि भेदव्यवहारका निर्वाह तो अवस्थाभेदवशात् भी उपपन्न हो सकता है (द्र. : ब्र.सू.भा.प्रका.१।४।-२३). लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यहां यह है कि शुद्धाद्वैतवादमें भेद और अभेद का समुच्चय नहीं स्वीकारा गया है. क्योंकि तब तो भेद और अभेद के बीच, भेद ही स्वीकारना पड़ेगा! अतः शुद्धाद्वैतवादका कहना तो यही है कि एकमें अनेकत्वका प्राकट्य ब्रह्मके सर्वभवनसमर्थ तथा सत्यसङ्कल्प होनेके कारण हुवा है. अर्थात् स्वभावतः एकमेवाद्वितीय ही सामर्थ्यवशात् अनेकात्मक हुवा है; और अतएव, उस स्वाभाविक एकत्वको जान लेनेपर प्रकट हुयी ऐच्छिक अनेकतामें अन्तर्निहित स्वाभाविक एकताकी जानकारी मिल जाती है. अतः स्वभावसिद्ध न होनेके कारण भेदके साथ अभेदके स्वाभाविक समुच्चयका तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता. अतः शुद्धाद्वैतवाद भेद और अभेदके स्वाभाविक समुच्चयको नहीं स्वीकारता है; किन्तु वस्तुदृष्ट्या

[objectively] स्वाभाविक अभेदमें ऐच्छिक भेदके वस्तुतः प्रकट होनेके सिद्धान्तको मान्य करता है. ज्ञानदृष्ट्या [subjectively] एक ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतको जान लेनेपर प्रकट वास्तविक ऐच्छिक द्वैतमें अन्तर्निगूढ़ एकत्वकी अनुभूतिका सिद्धान्त शुद्धाद्वैतसिद्धान्त है.

अतएव महाप्रभु प्रस्तुत पत्रावलम्बन ग्रन्थमें इसी विषयकी चर्चा कुछ इस तरह उठाते हैं:—

> अंशानाम् इव परस्परं भेदो नाम नानात्वं चेत्? 'ओम्!' इति केचित्, "बहुस्याम्" इति श्रुतेः.
>
> वस्तुतस्तु "पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते" इति श्रुतेः न अंशेन नानात्वं, कार्यावस्थायां व्यापकत्वस्य तिरोभावएव.
>
> भावार्थ: "उसने चाहा कि बहोत बन जाऊं" इस श्रुतिवचनके आधारपर कार्यांशोंमें जैसे परस्पर भेदरूप नानात्व होता है ऐसा ही भेद कार्य-कारणके वीच भी कुछ लोग मानते हैं.
>
> वस्तुतः तो "पूर्णमेंसे पूर्णका ही प्रादुर्भाव होता है" श्रुतिवचनके आधारपर अंशात्मना भी नानात्व उपपन्न नहीं होता; प्रत्युत कार्यावस्थामें व्यापकताका केवल तिरोभाव ही होता है.

यहां 'तिरोभाव'का अर्थ अत्यन्ताभाव नहीं समझ लेना चाहिये. किसी वस्तुका तिरोभाव उसके विद्यमान होनेपर भी निज अर्थक्रियाको न करना अथवा विद्यमानतया अनुभूतिगोचर न होना होता है. अतः वाल्लभवेदान्तकी दार्शनिक धारणाको व्यक्त करना हो तो "सद्वाद + द्वैताद्वैतविलक्षणतादात्म्यवाद = शुद्धाद्वैतवाद" समीकरण सोचा जा सकता है. यहां 'सद्वाद'का अर्थ होता है: प्रत्यक्षगोचर

पदार्थोंमें प्रतीत होते देशकृत कालकृत एवं स्वरूपकृत परिच्छेदोंको भ्रान्तिरूप मानना. 'द्वैताद्वैतविलक्षण-तादात्म्यवाद'का अर्थ होता है : देशकृत अत्यन्ताभाव, कालकृत प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव और स्वरूपकृत अन्योन्याभाव यों त्रिविध परिच्छेद या चतुर्विध अभावोंसे रहित वस्तुका ब्रह्मके साथ तादात्म्य. यह न तो द्वैतरूप होता है, न अद्वैतरूप और न स्वाभाविक द्वैताद्वैतका समुच्चय ही. भास्करीयवेदान्तमें भेदको स्वाभाविक मान कर प्रतीयमान वस्तुओंमें परस्पर अन्योन्याभावरूप भेदको मान्य रखा गया है. अतः "सद्वाद + द्वैताद्वैतवाद = भास्करीयवेदान्त / विशेषाद्वैत" समीकरण प्रस्तावित किया जा सकता है.

कथञ्चिद् द्वैत और कथञ्चिद् अद्वैत की स्वीकृतिके बारेमें शाङ्करोंकी तरह रामानुजवेदान्तने भी जैनोंके सप्तभङ्गीन्यायके अनुसरणका आक्षेप जो लगाया है. यथा :—

ब्रह्मोपात्तान्विकारान् कतिचिदभिदधुश्चेतनाचेतनेशान्
नैतद्युक्तं यदीशादनधिकमनघं निर्विकारं श्रुतं यत्।
भिन्नायाः ब्रह्मशक्तेर्विकृतय इति चेद् ब्रह्मजन्यत्वभङ्गो
भेदाभेदोपपाद्यं सकलमिति मते सप्तभङ्गी न दूष्या॥
(त.मु.क.३।२८)

कुछ विचारक ब्रह्मके विकाररूपेण चेतनाचेतनात्मक ईशीतव्य और ईश्वर रूपा सृष्टि प्रकट हुयी है ऐसा स्वीकारते हैं. यह परन्तु युक्तियुक्त नहीं लगता क्योंकि ईश्वरसे अतिरिक्त किसी अन्यका निष्पाप या निर्विकार होना श्रुतिगोचर नहीं है. यदि ब्रह्मभिन्न शक्तिसे उत्पत्ति स्वीकार कर उपपत्ति खोजनी चाही तो सृष्टिके ब्रह्मोपादानक होनेका सिद्धान्त छोड़ना पड़ेगा और उस शक्तिको ब्रह्मसे भिन्नाभिन्न स्वीकारनेपर जैनोंके सप्तभङ्गीन्यायसे

मतभेद नहीं रह जायेगा!

इस आरोपके सन्दर्भमें सर्वप्रथम तो स्वयं श्रीवेदान्तदेशिककी ही यह उक्ति अतीव मननीय है: ''अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वम्. तत्र प्रकारप्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथो अत्यन्तभेदेऽपि विशिष्टैक्यादिविवक्षया एकत्वव्यपदेशः'' (न्या.सि. : जड़.परि.). यहां अत्यन्त भेदके साथ ही साथ विशिष्टैक्यको भी विवक्षित माना गया है. इस स्थितिमें सप्तभङ्गीन्याय विशिष्टाद्वैतमतमें दूष्य रह जाता है कि नहीं यह तो विचारणीय है ही, साथ ही साथ, श्रीवेदान्तदेशिकने एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह भी स्वयं ही प्रस्तुत कर रखा है:—

साविद्यं केऽपि सोपाधिकमथ कतिचिच्छक्तिभिर्जुष्टमन्ये
स्वीकृत्यैकाद्वितीयश्रुतिमपि जगदुस्तद्विशिष्टैक्यनिष्ठाम्।
नित्यत्वं विग्रहत्वं प्रकृतिपुरुषयोर्हेतुतां विश्वकर्तुः
तद्वैशिष्ट्यं च शास्त्रप्रथितमजहतां कोऽपराधोऽतिरिक्तः!।।

''को अपराधो अतिरिक्तः'' इत्यनेन विशेषणपरिग्रहमात्रम् अपराधः चेत् सर्वेषामपि समानदोषत्वम्...''(त.मु.क.३।२७)

भावार्थ: कोई अविद्याविशिष्ट ब्रह्मको, तो कोई उपाधिविशिष्ट ब्रह्मको, तो कोई शक्तिविशिष्ट ब्रह्मको स्वीकारता है. इस स्वीकृतिके बावजूद तत्तद्वैशिष्ट्ययुक्त ऐक्यको सिद्ध करनेवाली ''एकमेवाद्वितीयम्'' श्रुतिको भी वे उद्धृत करते ही हैं.

[१]जड़जीवरूप प्रकृतिपुरुषकी नित्यता.

[२]परमेश्वरके ये दोनों शरीररूप होते हैं.

[३]ये दोनों जगत्के उपादान कारणरूप भी बनते हैं.

[४]विश्वकर्ताके साथ विशेषणविशेष्यभावसे ये जुड़े हुवे रहते हैं.

> ये चारों बातें तो शास्त्रप्रथित ही हैं जिन्हें हम भी त्यागना नहीं चाहते! इसमें हमारा कौन सा अतिरिक्त अपराध हो गया? तत्तद् विशेषणोंको जोड़कर जिस ऐक्यको सभीने स्वीकारा है उसे तो हमने भी स्वीकारा ही है, 'विशिष्ट' विशेषणके साथ. इसमें यदि कोई दोष हो जाता हो तब तो सभी दोषी हो जायेंगे!

हम देख सकते हैं कि विशिष्टाद्वैतवादके अनुसार श्रौत आवश्यकतया प्रस्तुत [१—४] चारोंमेंसे एक भी निकषके बारेमें शुद्धाद्वैतवादको किसी भी तरहकी विप्रतिपत्ति नहीं है और न प्रकृतिपुरुषविशिष्ट परमात्माके विशिष्टैकत्वमें ही कोई विप्रतिपत्ति है. शुद्धाद्वैतवादको विप्रतिपत्ति है उल्लिखित—"तत्र प्रकारप्रकारिणोः प्रकाराणां मिथो अत्यन्तभेदे" वाक्यांशके साथ. इस अत्यन्तभेदके स्थानपर वाल्लभवेदान्त ऐच्छिकभेदकी धारणा प्रस्तुत करना चाहता है. विशिष्टाद्वैतवादको "एकमेवाद्वितीयं" और "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" सदृश दो विरोधाभारी श्रुतिवचनोंके बीच "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं..." सदृश घटकश्रुति खोजनी पड़ती है. शुद्धाद्वैतवादको इस घटकश्रुतिके किसी तरह के अन्वेषणपरिश्रमके बिना ही "सत्त्वेव सोम्य इदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयं तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति" (छा.उ.६।२।१-३) जैसे अनेक वचनोंके आधारपर एकमेवाद्वितीय सर्वभवनसमर्थ सत्यसङ्कल्प ब्रह्मके अनेक नामरूपकर्मोंको प्रकट करनेकी धारणाके कारण ऐच्छिक भेद सहज ही उपलब्ध रहता है. इसमें एकमेवाद्वितीय ब्रह्मका सृष्टिकालिक अनेकत्व ऐच्छिक माना गया है और अनेकविध नामरूपकर्मोंका ब्रह्मत्वेन तात्त्विक एकत्व स्वाभाविक माना गया है.

अन्तमें भास्करीय द्वैताद्वैतवाद हो या वाल्लभ शुद्धाद्वैतवाद दोनोंका ही "विशेषणपरिग्रहमात्रम् अपराधः" हो तो ये दोनों

वाद भी विशिष्टाद्वैतवादकी ही तरह ''सर्वेषामपि समानदोषत्वम्'' प्रत्युत्तर क्यों नहीं दे पायेंगे!

इस विवादके मूलमें एक वैचारिकभीति द्वैतवादियोंके मनमें अक्सर काम करती होती है. वह यह कि जड़जीवरूप जगत् प्रत्यक्षतः उत्पत्तिविनाश-शोकमोहात्मक दोषोंसे ग्रस्त ही होता है; अतः ऐसे जगत्से परमेश्वरका अद्वैत स्वीकारनेपर परमेश्वर भी इन दोषोंसे कहीं ग्रस्त न हो जाये! इसे भी श्रीवेदान्तदेशिकने निरतिशय सुन्दर शब्दावलीमें अभिव्यक्त किया है:—

> दृश्यन्ते च जगति कतिचिद् आत्मपीडावहां क्रीडां सादरम् अनुतिष्ठन्तः. अन्यथा कथम् अवतारेषु तादृशाः विहाराः; कथञ्च स्वेच्छया कर्मफलानि अनुभवेद् इति एतद् अनुभाषते:—
>
> अव्यक्तं त्वन्मतेऽपि ह्यनवयवमथाप्येतदंशा विकाराः
> ते चान्योन्यं विचित्राः पुनरपि विलयं तत्र तत्त्वेन यान्ति।
> इत्थं ब्रह्मापि जीवः परिणमति विहृत्यर्थमित्यप्यसारं
> स्वानर्थैकप्रवृत्तेः प्रसजति च तदा सर्वशास्त्रोपरोधः॥
>
> 'अव्यक्तम्' इति. तदिदम् असमञ्जसवृत्तान्तादपि अधिकं जुगुप्सनीयम् इति आह 'असारम्' इति... ''भ्रान्तिज्ञानवतां पुंसां प्रहारोपि सुखायते'' इत्यादिन्यायेन बालिशैः ताडनादिभिः क्रीडारस उपादीयते. तथापि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वदुःखलवोत्पादनमपि न युक्तं; किम्पुनः अनन्तजीवात्मभावेन दुर्विषहदुःखोत्पादनम्! अतः क्रीडारसकाकणिका सत्यपि निरवधिकस्वानर्थनिमित्तनिर्मिता इत्यत्र स्वानर्थैकप्रवृत्तः ईश्वरः स्यात्. अवतारवृत्तान्ताः शैलूषन्यायेन निरूढाइति अस्मन्मते तु विशेषणगताः दोषाः न विशेष्यं स्पृशन्ति, ऐक्यभेदाभेदानङ्गीकाराद् अकर्मवश्ये संसर्गजदोषाणाम्

असम्भवात् चेति (त.मु.क.३।३०).

भावार्थ: इस जगत्‌में आत्मपीड़ाकारिणी क्रीड़ाओंको सोत्साह करनेवाले कुछ लोग होते ही हैं. अन्यथा भगवान् अवतारकालमें ऐसे विहार कैसे कर सकते हैं या स्वेच्छया कर्मोंके फल भुगतने क्यों उद्यत हो जाते हैं! यही बात उठायी जा रही है 'अव्यक्त' आदि शब्दोंद्वारा :—

अव्यक्त भी निरवयव होता है फिरभी उसके विकाररूप अन्योन्य विचित्र अंश, जो अन्तमें पुनः उसी अव्यक्तमें लीन हो जाते हैं, उन्हें स्वीकारा ही गया है. इसी तरह ब्रह्म भी लीलाविहारकेलिये जीवात्मना परिणत हो जाता है, ऐसा मत तो सर्वथा सारहीन मत ही है. क्योंकि तब तो ब्रह्म अपने ही लिये स्वयं अनर्थोंका निर्माण करता है ऐसा स्वीकारना पड़ेगा, न केवल इतना ही अपितु यह तो सारे शास्त्रवचनोंके साथ खिलवाड़ करने जैसी बात हो जायेगी.

यह तो सर्वथा विसङ्गत विधानोंसे भी अधिक निन्दनीय कल्पना है अतः इसे 'असार' [सारहीन] कह कर सूचित किया गया है.

"भ्रान्तिज्ञानमें जीनेवाले पुरुषको कभी प्रहार भी सुखरूप लग सकता है" इस कहनावतके अनुसार बालिश व्यक्तिको कभी मार खानेमें भी खेलनेका आनन्द मिल सकता है. सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वर, परन्तु, स्वेच्छया इस तरहसे थोड़ा सा भी दुःखी होना पसन्द करे यह तो समझमें आनेवाली बात नहीं है. ऐसी स्थितिमें जीवोंके असङ्ख्य रूपोंको धारण करके दुर्विषह दुःखोंसे परब्रह्म

> अपने-आपको ग्रस्त क्यों बनाना चाहेगा? क्रीड़ारसका कोई क्षुद्र प्रयोजन विचार भी लें तब भी स्वयं अपने-आपकेलिये निरवधिक अनर्थोंका निर्माण आखिर परमेश्वर क्यों करना चाहेगा? जहां तक अवतारोंके वृत्तान्तमें ऐसे प्रसङ्ग मिलनेका प्रश्न है तो वे तो केवल नटोंकी तरह दुःखके अभिनयमात्र होते हैं—यह दुःखिता वास्तविक नहीं होती. इसलिये विशेषणरूप जीवात्माओंके दोष, हमारे मतमें तो, विशेष्यरूप परमेश्वरको कभी छू भी नहीं सकते, क्योंकि हमने परमेश्वरके ऐक्यके साथ विशेषणोंका भेदाभेद थोड़े ही स्वीकारा है! और परमेश्वर तो कर्मोंके अधीन नहीं होता अतः वह विशेषणोंके संसर्गके भी दोषसे दूषित नहीं हो सकता है.

यहां विचारणीय बात, परन्तु, यह है कि स्वयं विशिष्टाद्वैतवेदान्त भी भगवान्‌के भूतलपर केवल अवतारात्मना प्राकट्यको ही नहीं अपितु इस सृष्टिके प्राकट्यको भी भगवल्लीला तो स्वीकारता ही है. अतः ब्रह्मके जीवात्मना प्रकट हो कर दुःखी होनेकी लीलाको भी क्यों 'शैलूषन्याय' स्वीकारा नहीं जा सकता? इस सृष्टिको भगवल्लीलाके रूपमें निरूपित करनेवाले श्रीभाष्यकारके अधोनिर्दिष्ट वचन इस सन्दर्भमें विमर्शोपकारक हो सकते हैं:—

> नहि परस्य ब्रह्मणः स्वभावतएव अवाप्तसमस्तकामस्य जगत्सर्गेण किञ्चन प्रयोजनम् अनवाप्तम् अवाप्यते. नापि परार्थः, अवाप्तकामस्य परार्थता हि परानुग्रहेण भवति; नच ईदृशगर्भजन्मजरामरणनरकादि-नानाविधानन्तदुःखबहुलं जगत् करुणया सृजति; प्रत्युत सुखैकतानमेव जनयेद् जगत् करुणया सृजन्.

अतः प्रयोजनाभावाद् ब्रह्मणः कारणत्वं न उपपद्यते इति एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे :—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्

अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसङ्कल्पविकार्यविविधविचित्रचिदचिन्मिश्रजगत्सर्गे लीलैव केवला प्रयोजनम्, लोकवत्. यथा लोके सप्तद्वीपां मेदिनीम् अधितिष्ठतः सम्पूर्णशौर्यवीर्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य केवललीलैकप्रयोजनाः कन्तुकाद्यारम्भाः दृश्यन्ते. तथैव परस्यापि ब्रह्मणः स्वसङ्कल्पमात्रावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिध्वंसादेः लीलैव प्रयोजनम् इति निरवद्यम् (ब्र.सू.भा.२।१।३२-३३).

भावार्थ: जिसे स्वाभाविक रूपमें सभी तरहसे पूर्णकाम माना गया है ऐसे परब्रह्मका जगत्के निर्माण द्वारा कौन सा काम या प्रयोजन पूर्ण होता माना जा सकता है! उसने यह जगत् दूसरोंकेलिये बनाया ऐसा भी कहा नहीं जा सकता. क्योंकि जिसे स्वयं कोई कामना न हो वह दूसरेका काम केवल अनुग्रहवशात् ही कर सकता है. यह जगत् यदि परमात्माने दूसरोंपर करुणा करके सिरजा होता तो इस जगत्में गर्भवास जन्म वार्धक्य मरण नरक आदि नानाविध अनन्त दुःखोंका बाहुल्य होना नहीं चाहिये था प्रत्युत करुणावश सिरजे गये जगत्को तो सुखैकतान ही होना चाहिये था. अतः किसी प्रयोजनके न होनेसे ब्रह्मको जगत्का कारण मानना उपपन्न नहीं होता. इस आशङ्काका समाधान करते हैं: यह तो लोकवत् केवल लीलाके प्रयोजनवश ही बनाया गया है. जो परमात्मा अवाप्तसमस्तकाम

> एवं परिपूर्ण है तथा वह केवल अपने सङ्कल्पसे ही विविध विचित्र जड़जीवके मिश्रणवाले जगत्को जब सिरजता है तो लीला ही केवल उसका प्रयोजन होता है, लोककी तरह. जैसे लोकमें पृथ्वीके सातों द्वीपोंपर अपने शौर्य वीर्य एवं पराक्रमसे शासन करनेवाला महाराजा भी कभी-कहीं कन्तुकव्यापार(!) करता दीखे तो वह उसकी लीला ही माननी पड़ेगी. इसी तरह परब्रह्म जो अपने सङ्कल्पमात्रसे जगत्के जन्म स्थिति और ध्वंसादि करता है, उसका प्रयोजन तो लीला ही केवल हो सकती है. अतः ब्रह्ममें कोई भी दोष सोचा नहीं जा सकता है.

यहां श्रीरामानुजाचार्य स्पष्टतम शब्दोंमें जगत्के उत्पत्ति स्थिति और लय को भगवान्की लीला ही स्वीकार रहे हैं. जब इस ‘अनन्तदुःखबहुल’ जगत्का परब्रह्मके द्वारा उत्पादन पालन एवं उपसंहरण उस ‘अनन्तकरुणाशील’ परब्रह्मकी केवल लीला ही हो तो इन गर्भवास जन्म वार्धक्य मरण नरक आदि दुःखों को भी उस करुणाशीलकी लीला ही माननी पड़ेगी. यदि अवतारलीलाके समय दुःखबहुल जगत्में प्रकट होकर ‘अकर्मवश्य’ भगवान् अपनी कर्मवश्यता कर्मप्रत्यवाय और तज्जनित् दुःखिताका भी अभिनय कर सकते हों तो, क्या कारण है कि असङ्ख्य जीवात्माओंके रूपोंको धारण करके भी कर्मवश्यता और गर्भवासादि नरकान्त दुःखिताका अभिनय नहीं कर सकते?

स्वयं श्रीवेदान्तदेशिकने भी: “धर्माणां स्थापनार्थं स्वयमपि भजते शासिता शासनं स्वं स्वस्यापि प्रत्यवायान् अभिनयति...” (त.मु.क.३।१०) स्वीकारा तो है ही.

न केवल रामानुजमतमें ही अपितु श्रीमध्वाचार्य आदि अन्य

भक्तिमार्गीय आचार्योंने भी परब्रह्म श्रीहरिकी इस तरहकी लीलासामर्थ्य तो स्वीकारी ही है:—

अमुग्धैव तु मुग्धेव त्वदुःखा दुःखितेव च।
श्रीर्दर्शयेद् हरिश्चैव नैवैतौ मोहदुःखिनौ॥
मिथोपि तादृग्वचनम् आकारं चैव लीलया।
दर्शयन्तौ नृणां मोहं कुर्यास्तां शास्त्रदर्शनात्॥
(भाग.ता.नि. १०।७५।५१-५२)

भावार्थ: अमुग्ध होनेपर भी मुग्धकी तरह, अदुःख होनेपर भी दुःखीकी तरह, कभी-कभी श्री=लक्ष्मी तथा श्रीहरि दोनों ही अपने-आपको ऐसा दरसाते हैं. ऐसा अपना स्वरूप एवम् वचन भी कभी-कभी प्रकट कर सकते हैं. साधारण मनुष्योंको इससे मोह उत्पन्न हो जाता है परन्तु श्री-विष्णुको कभी मोहग्रस्त या शोकग्रस्त मानना नहीं चाहिये.

महाप्रभु भी, अतएव, इसी परम्पराका अनुसरण करते हुवे न केवल अवतीर्ण रूपोंको प्रत्युत समग्र जड़चेतनरूपोंको भी परमानन्दरूप भगवान्‌की लीला ही मानते हैं. महाप्रभु जगत्‌में दिखलायी देते अनन्तविधदुःखोंके दर्शनसे कभी क्षुब्ध या मोहित होना नहीं चाहते हैं. इन तथ्योंको भलीभांति लक्ष्यमें रखनेपर श्रीरामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैतवादसे, श्रीमध्वाचार्यके द्वैतवादसे और श्रीविज्ञानभिक्षुके अविभागाद्वैतवादसे भी महाप्रभुके शुद्धाद्वैतवादका न केवल पार्थक्य अपितु समन्वय भी समझमें आ सकता है.

किसी विशेष्यरूप पुरुष या स्त्री कि जिसने अपने केशपाशोंको किसी पुष्पकी कलीसे सजाया हो, और वह कली खिल कर पुष्प बन जाय; और बादमें मुरझा भी जाये तो उस विशेषणरूप कलीके खिलने या मुरझाने से विशेष्यरूप पुरुष या स्त्री का

खिलना-मुरझाना माना नहीं जा सकता है. श्रीरामानुजाचार्यके मतमें इसी तरह विशेषणरूप सूक्ष्म चिदचिद् विशेष्यरूप ब्रह्ममें स्थूलभावापन्न हो कर प्रकट हो जाते हैं और बादमें पुनः सूक्ष्मभावापन्न होनेके रूपमें ब्रह्ममें लीन भी. अतएव विशेषणके गुणदोषोंसे विशेष्य असंसृष्ट ही रहता है. यद्यपि, श्रीविज्ञानभिक्षुको अभिप्रेत ब्रह्मका स्वरूप विशेष्यरूप न हो कर आकाशके जैसा आधारकारणरूप होता है. अतः मिट्टीके घड़ा बननेकी या घड़ाके रूपमें नष्ट होनेकी प्रक्रियामें आधारभूत आकाशकी ही तरह श्रीविज्ञानभिक्षुका ब्रह्म भी असंसृष्ट ही रहता है, बिलकुल रामानुजीय ब्रह्मकी तरह ही. इस सादृश्यके सन्दर्भविशेषवशात् रामानुजमतके विमर्श कर लेनेसे श्रीमध्वाचार्यके तथा श्रीविज्ञानभिक्षुके मतोंके पृथक् विचारकी अपेक्षा रह नहीं जाती है. अतः स्पष्ट अत्यन्तभेद अर्थात् ब्रह्म और जड़जीवात्मक जगत् के बीच अन्योन्याभाव स्वीकारनेवाले भेदवादी रामानुजादि वेदान्तोंका इस विषयमें जो मत है उसे स्पष्टनामनिर्देश किये बिना महाप्रभु प्रस्तुत करते हैं:—

> अथ अन्योन्याभावः. सच 'प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद'लक्षणः. तथाच ''घटत्वं पटत्वं च एकत्र नास्ति'' इति उक्तं भवति.
>
> न एतत् सारं, सति द्रव्ये पार्थिवे च द्वयोः विद्यमानत्वात्. सर्वगुणप्रसिद्ध्यै तथा प्रकटस्य धर्मवैलक्षण्यनिबन्धना प्रतीतिः—नटस्य इव नानारूपेण प्रकटस्य रूपद्वये भेदप्रतीतिवत्— श्रुतिस्मृतिविद्वत्प्रतीत्या वस्तुनः एकत्वे सिद्धे प्रतीतिः तन्निबन्धनैव.
>
> तर्हि धर्माः स्वतो धर्मिणश्च भिन्नाः इति सिद्धम्!
>
> न एतदपि अस्ति, तस्यैव प्रथमं धर्मरूपेण आविर्भावात्, न अब्रह्मैव अर्थः प्रतीयते. अतो

वेदान्तवाक्यान्याप्रसिद्धिः. वैदिकानामपि तथैव प्रसिद्धेः इति चेत्.

भावार्थ : अपरोक्ष नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् और परोक्ष ब्रह्मके बीच अन्योन्याभावरूप भेद क्या सम्भव है? इस तरहके भेदको "घड़ा कपड़ा नहीं होता" शब्दोंद्वारा अभिव्यक्त किया जाता है. अप्रसक्तका प्रतिषेध तो कभी हो नहीं सकता. अतः पहले "घड़ा कपड़ा ही है / हो सकता है" अर्थात् घड़े और कपड़े के बीच तादात्म्य है, ऐसे आरोपको लगा कर ही उसका अपवाद करनेसे घड़े और कपड़े के बीच अन्योन्याभाव सिद्ध हो पाता है. कुल मिला कर इसका आशय यही होता है कि 'घटत्व' और 'पटत्व' रूप दो धर्म किसी एक धर्मीमें समानाधिकरणतया न रह सकते हों तो दोनों अन्योन्याभावरूप कहलायेंगे.

ऐसा अन्योन्याभाव, परन्तु, कहीं सिद्ध नहीं हो पाता है. क्योंकि धर्मीको सत् या द्रव्य अथवा पार्थिव वस्तु भी मान कर चलें, तो भी 'घटत्व' और 'पटत्व' दोनों ही वहां एकसाथ रह तो सकते ही हैं! इसी तरह अपने सभी गुणधर्मोंको प्रकट करनेलिये, जैसे, एक नट [तुलनीय : "अवतारवृत्तान्ताः शैलूषन्यायेन निरूढाः." . त.मु.क.स.सि. ३।३०] नाना रूपोंको धारण कर अपने ही दो रूपोंमें भेदप्रतीति भी करा देता है, वैसे ही घट-पटादि अनेक आकृतियोंके साथ प्रकट होनेवाले अभिन्ननिमित्तोपादान कारणभूत ब्रह्ममें भी स्वप्रतियोगिसमानाधिकरण घटपटादिके भेद अनुभूतिगोचर क्यों नहीं हो सकते हैं? श्रुति स्मृति तथा ब्रह्मज्ञानियोंकी स्वानुभूति

के कारण भी परमार्थ वस्तुके एकमेवाद्वितीय होनेपर जो भी भेदप्रतीति होती है, उसे धर्मभेदमूलक ही स्वीकारना पड़ता है.

तब तो सकल धर्मोंको परस्पर भी और धर्मीसे भी भिन्न [तुलनीय : तत्र प्रकारप्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथो अत्यन्तभेदेऽपि ..." न्या.सि.कार श्रीवेदान्तदेशिकोक्ति] तो स्वीकारने ही पड़ेंगे!

शुद्धाद्वैतवादके दृष्टिकोणसे यह समाधान यहां दिया जा सकता है कि ब्रह्म ही सर्वप्रथम धर्मरूपेण आविर्भूत होता है. अतः अपरोक्ष ज्ञानके विषयीभूत घटादि पदार्थ ब्रह्मसे भिन्न ही होते हैं ऐसा माना नहीं जा सकता है. अतः वेदान्तवाक्योंका ब्रह्मके अलावा अन्य कोई अर्थ हो ही नहीं सकता [या "वेदार्थसे भिन्न कोई अर्थ वेदान्तवचनोंका हो नहीं सकता है" और या फिर "वेदान्तवाक्य वेदवाक्यसे भिन्न कभी हो नहीं सकते हैं"], वैदिकोंमें भी ऐसी ही प्रसिद्धि वेदान्तके बारेमें यदि मान्य हो तो.

इस विषयकी सम्पूर्ण प्रक्रिया महाप्रभुने द्वितीयस्कन्धकी सुबोधिनीमें तत्तत् स्थलोंपर प्रतिपादित की है. इन्हें देख लेना इस प्रसङ्गमें अतीव उपकारक हो सकता है:—

इदं हि तत्त्वं न नाना किन्तु सर्वेषाम् एकमेव तत्त्वम्. तत्र सर्वं पञ्चाङ्गं, तेषां पञ्चानां यदि भगवानेव तत्त्वं तदा तत्कार्याणां सुतरामेव तदेव तत्त्वं भवति. तानि पञ्च...

[१]द्रव्यम् अधिभूतं समवायिकारणं महाभूतादि.

[२]कर्म जगतो जन्मनिमित्तं साधारणं...

भूतसंस्काररूपं च.

[३]कालो गुणक्षोभकः... निमित्तभूतः च यस्तु आधारत्वेन सर्वत्र प्रतीयमानः.

[४]स्वभावः परिणामहेतुः.

[५]जीवो भोक्ता भगवदंशः... तदभिमानिनी देवता च...

एते सर्वे वासुदेवाद् अन्ये न भवन्ति... प्रतीयमानतया अन्यत्वेपि परमार्थतो न अन्यत्वं, यतो अस्तित्वं तस्यैव... धर्मभेदोपि नास्ति इत्यर्थः... स्वरूपभेदो निराक्रियते... अधिष्ठातृभेदो [अपि निराक्रियते]... नित्यो हि शब्दार्थसम्बन्धः. तत्र शब्दाः अर्थाः च नित्याः, ते यदि भगवद्रूपाएव भवन्ति तदैव सदेकरूपं नित्यत्वं सिद्ध्यति इति (सुबो.२।५।१४).

भावार्थ: इस तत्त्वको नाना नहीं माना जा सकता है किन्तु यही सभीका एकमेव तत्त्व है. सभी कुछ पांच अङ्गवाले होते हैं. इन पांच अङ्गवाली सभी वस्तुओंके तत्त्व यदि भगवान् ही हों तो इनसे जो भी कोई कार्य पैदा होते हों तो उनके भी तत्त्व भगवान् ही होंगे. इन पांचोंको गिन लेना चाहिये...

[१]द्रव्य, अधिभूत समवायी कारण महाभूतादि होते हैं.

[२]कर्म, जगत्के जन्मका साधारण निमित्त होता है और भूतसंस्काररूप भी होता है.

[३]काल, गुणोंको क्षुब्ध करनेवाला... और निमित्तभूत भी होता है जो आधारके

रूपमें सर्वत्र प्रतीत होता है.

[४]स्वभाव, परिणामका हेतु होता है.

[५]जीव, भगवान्का अंशभूत भोक्ता होता है, इसमें जीवाभिमानी देवताओंको भी गिन लेना चाहिये.

इन पांचोंमेंसे एकभी वासुदेवसे भिन्न नहीं हो सकते हैं. भिन्नतया प्रतीत होते भी हों परन्तु परमार्थतः भिन्न नहीं हो सकते. क्योंकि यदि किसी भी वस्तुका अस्तित्व स्वीकारा जा सकता है तो उसका परमात्मा वासुदेव होना अपरिहार्य है... इन द्रव्य आदिके पञ्चकको न तो भिन्न-भिन्न धर्म माना जा सकता है... न इनका स्वरूप ही भिन्न माना जा सकता है; और न ही इनका अधिष्ठान ही भिन्न माना जा सकता है. शब्द और अर्थ के सम्बन्धकी तरह ही स्वयं शब्द और अर्थ भी नित्य ही होते हैं. इन्हें यदि भगवद्रूप माना जाये तभी तो ये सदेकरूप नित्य हो पायेंगे.

ननु सर्वाधारत्वेन वस्तुतत्त्वरूपेण च मतान्तरस्थैरपि अङ्गीक्रियते, ततो अस्मिन् मार्गे को विशेषः?... यत्र हि क्रिया व्यापृता भवति तद् भगवान् इति अर्थः. 'सद्'-'असद्' व्यवहारयोग्यं घटादिकं शशशृङ्गादिकमपि भ्रमविषयः च. तस्माद् यत्रापि मिथ्याप्रत्ययः तद्विषयोपि भगवान्, अन्यथा तस्य भानं ज्ञानं च न उत्पद्येत अनुव्यवसायः च न भवेत् (सुबो.२।६।३२).

भावार्थ: अन्य मतवाले भी भगवान्को सर्वाधार होनेके रूपमें या वस्तुतत्त्वके रूपमें सर्वरूप तो

मानते ही हैं तो इस मतकी क्या विशेषता?... जो कुछ क्रियाके व्यापारसे निष्पन्न होता है वह सभी कुछ भगवान् ही हैं... 'सद्'-'असद्' व्यवहारके योग्य घटादि, शशशृंगादि या भ्रान्तिविषय भी. अतः जहां-कहीं मिथ्याप्रत्यय होता है उसका भी विषय तो भगवान् ही होते हैं. अन्यथा न तो ऐसे विषयोंका भान, न ज्ञान और न अनुव्यवसाय ही हो पायेगा.

तत्र सदानन्दो भगवान् एककोटिनिविष्टः, चिद्रूपः च अपरः... तस्य माया द्विविधा... तत्र चिद्रूपस्य माया व्यामोहिका. सा स्वपुरुषं व्यामोहयित्वा जीवताम् आपादयति... स हि मायया व्यामोहितो व्याकुलः सन् सदानन्दकृतसृष्टौ यः आसन्यो दशविधप्राणरूपः तम् अवलम्ब्य तिष्ठति तदा 'जीवः' इति उच्यते... बोधरूपोपि अयम्, आनन्दरूपस्य पृथग्भूतत्वाद्, आनन्दार्थं तया व्यामोहितः तत्सम्बन्धाद् "आनन्दो भविष्यति" इति बुद्ध्या तया सम्बध्यते. अयं च विभागो "बहु स्यां प्रजायेय" इति इच्छया. इच्छापि सर्वभवनसमर्थं स्वरूपमेव, धर्मरूपेण भवद् इच्छारूपेणापि भवति. तत्र सदंशस्य क्रियारूपा शक्तिः, चिदंशस्य व्यामोहिका माया, आनन्दरूपस्य जगत्कारणभूता, एतत्त्रितयरूपा शक्तिः, सच्चिदानन्दरूपस्य भावः, 'त्वतला'दि-वाच्या. भगवतः तथाभावस्तु स्वरूपादेव निर्मितात्, नच सर्वदा भवति इति शङ्कनीयम्, आपादकहेतुभूतस्य कालस्य अभावात्. जाते पुनः काले तस्यैव नियामकत्वात् न सर्वदा भविष्यति. पूर्वमेव जातत्वात् तत्सङ्गे इच्छादीनामपि

जातत्वाद् इच्छादयः तदंशभूताः तान् सदैकरूपान् स्थापयन्ति. तथाच तस्याः अंशं परिगृह्णाति भगवान् इच्छारूपम्. सएव कामः ‘‘सोऽकामयत’’ इति श्रुत्युक्तः. तया कृत्वा भेदरूपया सच्चिदानन्दाः धर्माः स्वयं भिद्यमानाः स्वाश्रयमपि भिन्दन्ति. तदा स भगवान् सर्वतः पाणिपादान्तो भवति साकारतां च आपद्यते. भिन्नोपि तया मिलितः अभिन्न इव अखण्डो भवति, तदपेक्षया कार्यरूपस्य अल्पत्वात्. तानि त्रीण्यपि रूपाणि ‘पूर्ण’शब्देन उच्यन्ते. अतएव सद्रूपस्य कार्ये प्रत्येकपर्यवसायित्वम्. ‘प्रजायेय’ इति उत्कर्षापकर्षरूपेण जाताः. तत्र आनन्दः उत्कृष्टः तदितरौ तं सेवमानौ जातौ. ततश्च तयोः धर्मौ ज्ञानक्रिये भगवच्छक्तिरूपे जाते. तदा स आनन्दो ज्ञानक्रियाशक्तिमान् जातः. तदा ज्ञानधर्मस्य चिदंशस्य शक्तिः, आनन्दे गतत्वात्, तं व्यामोहयति तदा तस्य जीवत्वम्. सदंशस्तु, क्रियाशक्तेः गतत्वात्, अव्यक्तताम् आपद्यते. पश्चात् मूलभूतक्रियांशाभिः यथायथम् अभिव्यज्यते. पश्चात् तस्यां तत्कृतधर्मे वा तिरोभूते स्वयमपि तिरोभवति. तदा तस्यां मूलेच्छया जातः शब्दो अभिव्यक्तएव तिष्ठति जीवभगवद्बुद्धिषु; जीवे भगवति वा. एवं चिद्रूपोपि ज्ञानशक्त्यंशभूतैः ज्ञानैः अभिव्यज्यते तिरोभवति च. स चेद् भगवान् तस्मै तां पूर्णां ज्ञानशक्तिं प्रयच्छेत् तदा तां मोहिकां मायां त्यजति, स्वरूपेच अवतिष्ठते; अपराधीनः च भवति. जगत्कर्तृत्वं तु न भवति, तस्य सा माया शक्तिः न भवति. उत्कर्षोपि न भवति, आनन्दस्यैव उत्कृष्टत्वात्. हीनता तु आपाततो वर्तते. आनन्देन सह मिलित्वा आनन्दोपि भवति; स चेत् स्वधर्मेण सङ्गलीयात्. इयं प्रक्रिया

सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धा सर्वत्रैव उपयुज्यते. अन्यथाप्रक्रिया तु वाक्यानि बाधते (सुबो.२।९।१).

भावार्थ: यहां सदानन्द भगवान् एक कोटी हैं तथा भगवान्का चिद्रूप दूसरी कोटी है. भगवान्की मायाके दो भेद होते है... इनमें चिद्रूपकी माया व्यामोहिका होती है. वह अपने चिद्रूप पुरुषको व्यामोहित करके जीव बना देती है. वह मायासे व्यामोहित हुवा व्याकुल हो कर, जब सदानन्दद्वारा रची हुयी सृष्टिमें सूत्रात्मक आसन्य दशविध प्राणरूपका अवलम्बन करके रहता है, तब उसे 'जीव' कहा जाता है... वैसे तो यह बोधरूप होता है परन्तु आनन्दरूपसे पृथक् हो जानेके कारण आनन्दके आकर्षणवश मायाद्वारा व्यामोहित होकर मायाके सम्बन्धवशात् ''आनन्द मुझे मिलेगा'' ऐसी आशामें मायाके साथ जुड़ जाता है. यह विभाग ''बहु स्यां प्रजायेय'' श्रुतिमें निरूपित इच्छाके कारण हुवा जानना चाहिये. यह इच्छा भी सर्वभवनसमर्थ भगवान्का स्वरूप ही है. क्योंकि वह सर्वभवनसमर्थ धर्मी धर्मरूप धारण करता हुवा इच्छाका रूप भी धारण कर लेता है. सच्चिदानन्द भगवान्के सदंशमेंसे क्रियारूपा शक्ति प्रकट होती है, चिदंशमेंसे व्यामोहिका माया शक्ति प्रकट होती है, आनन्दरूपमेंसे जगत्की कारणभूता शक्ति प्रकट होती है; और अंशिरूप सच्चिदानन्दकी शक्ति इन तीनों रूपोंवाली होती है. 'सच्चिदानन्द' पदके साथ भावार्थक 'त्व'-'तला'दि प्रत्ययोंको जोड़नेपर इस स्वरूपभूता शक्तिका ही निर्देश प्रकट होता है. सच्चिदानन्द

भगवान्‌मेंसे सच्चिदानन्दत्वरूप धर्म स्वरूपनिर्मित ही पृथक् होते हैं, अतएव ये "सर्वदा ही पृथक् होने चाहिंये" ऐसी आशङ्का भी उठ नहीं सकती. क्योंकि आपादक हेतुभूत कालके पहले न होनेसे ये धर्म पृथक् नहीं हो पाते हैं. और एक बार कालके प्रकट हो जानेपर तो वह काल ही नियामक बन जाता होनेसे इच्छाके नित्यस्वरूपभूता होनेके बावजूद धर्मोंके पार्थक्यकी आपत्ति सर्वदा नहीं उठ सकती है. भगवच्चेष्टारूप काल तो पहले ही प्रकट हो जाता होनेसे और उसके अंशभूत इच्छा-कृति भी साथ ही साथ प्रकट हो जाते होनेसे प्रकट हुवे धर्मोंकी एकरूपता भी सदा ही निभ पाती है. यों कालशक्तिकी अंशरूपा इच्छाका भगवान् परिग्रह करते हैं. इसे ही 'काम' कहा जाता है, जिसका निरूपण "सोऽकामयत" श्रुतिवचनमें किया गया है. इस भेदरूपा इच्छाके कारण सच्चिदानन्दरूप धर्म स्वयं भेदभावापन्न हो कर अपने आश्रयको भी क्रियावान् ज्ञानवान् और आनन्दमात्र करपादमुखोदरादिरूप त्रिविध भेदभावापन्न बना देते हैं. तब वे भगवान् सर्वतः पाणिपादान्त भी बन जाते हैं और साकार भी. यों भगवान् भिन्न बन जानेके बावजूद अभिन्न जैसे अखण्ड ही रहते हैं. क्योंकि भगवान्‌के मूल स्वरूपकी तुलनामें भगवान्‌का कार्यरूप तो अत्यल्पतया ही प्रकट होता है. अतएव क्रियावान् ज्ञानवान् और आनन्दात्मक तीनों ही रूपोंके बारेमें 'पूर्ण'शब्दका प्रयोग उपपन्न हो जाता है. अतएव भगवान्‌का सद्रूप कार्यके प्रत्येक उदाहरणमें अनुगत रहता है.

'प्रजायेय' शब्दप्रयोगके कारण भगवान् अनेकविध उत्कृष्टापकृष्ट रूपोंमें प्रकट हो जाते हैं. जैसे कि आनन्दांश उत्कृष्ट बन जाता होनेसे सदंश और चिदंश अपकृष्ट हो कर उसे अपने अस्तित्व या अर्थक्रियाकारिता का प्रयोजन बना लेते हैं. इसीलिये सदंशकी क्रियाशक्ति और चिदंशकी ज्ञानशक्ति भी आनन्दात्मक भगवान्की ओर अभिमुख हो कर उन्हींमें प्रतिसंक्रान्त हो जाती हैं. अतएव आनन्दरूप भगवान् ज्ञानक्रियाशक्तिमान् बन जाते हैं. तब चिदंशकी शक्ति, आनन्दमें संक्रान्त हो गयी होनेसे, ज्ञानधर्मा जीवात्माको व्यामोहित कर उसे जीव बना देती है. सदंश तो, क्रियाशक्तिके निष्क्रान्त हो जानेसे, अव्यक्त बन जानेके बावजूद मूलभूत क्रियांशोंके कारण यथायथ [नाम-रूप-कर्मात्मना] अभिव्यक्त हो पाता है. मूलभूत क्रियांशोंके तिरोहित होनेपर अथवा तत्कृतधर्मोंके तिरोहित होनेपर सदंश स्वयं तिरोहित भी हो जाता है. मूलतत्त्व भगवान्की इच्छाके वश, रूप और कर्मों के तिरोहित होनेपर भी, नाम या शब्द अभिव्यक्त रह पाता है. यह जीवमें या जीवकी बुद्धिमें अथवा भगवान्में या भगवान्की बुद्धिमें रह पाता है. इसी तरह चिद्रूप जीव भी मूल भगवद्रूपमें रही ज्ञानशक्तिके अंशभूत ज्ञानोंसे अभिव्यक्त तथा तिरोहित होते रहते हैं. भगवान् जीवको, यदि कभी, पूर्ण ज्ञानशक्ति प्रदान करते हैं, तब ही वह जीव व्यामोहिका मायाको छोड़ कर अपने स्वरूपमें अवस्थित होकर अपराधीन बन पाता है. जीव अपराधीन भले बन जाये परन्तु कभी जगत्कर्ता नहीं बन पाता.

> क्योंकि अपराधीन होनेके बावजूद किसी जीवमें उस आनन्दशक्ति [= सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया]को भगवान् प्रतिसंक्रान्त नहीं होने देते हैं. अतएव ऐसा उत्कर्ष भी जीवका लीलामें प्रकट नहीं हो पाता है. क्योंकि उत्कृष्ट तो आनन्द ही होता है. अतः आनन्दके तिरोधानवश आपाततः प्रतीत होती हीनता निभ जाती है. आनन्दके साथ, परन्तु, मिलन होनेपर आनन्दोपलब्धि भी हो पाती है, यदि आनन्दरूप भगवान् जीवको अपने धर्मके साथ योजित करना चाहते हों तो. यह वह प्रक्रिया है जो सभी तरहके श्रुतिवाक्योंके अनुरोधवश श्रुतार्थापत्तिके आधारपर सिद्ध होती है और सर्वत्र ही उपयोगी सिद्ध होती है. इसके विपरीत अन्यान्य प्रक्रियाओंके कारण तो श्रुतिवाक्य बाधित ही हो जाते हैं.

अवधारणीय है कि यह वही प्रक्रिया है कि जिसे इस भूमिकाके प्रारम्भमें ही अनन्तविध नाम रूप और कर्मों की ब्रह्माद्वैतात्मकता और एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी अनन्तविध नाम-रूप-कर्मरूप द्वैतात्मकताके रूपमें हम प्रस्तुत कर ही चुके हैं. इसे अपनानेपर वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंमेंसे किसी भी एक काण्डका न तो महत्त्व खण्डित होता है और न इन पूर्व या उत्तर काण्डोंमें उपलब्ध होते किसी भी श्रुतिवचनके अर्थको बाधितार्थ ही मानना पड़ता है.

::स्वबुद्धिकल्पित तात्पर्यबाधशङ्कामूलक श्रुत्यर्थनिरूपण या अबाधितवाच्यार्थमूलक श्रुतितात्पर्यनिरूपण !::

श्रौताभिप्रायनिर्धारणके सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि लौकिक

नाम-रूप-कर्म प्रत्यक्षसिद्ध ही होते हैं, अतः इन नामादिके निरूपण करनेमें श्रुतिवचनोंका 'अनधिगताबाधितार्थज्ञापक' अभिप्राय या प्रामाण्य तो स्वीकारा नहीं जा सकता. इन लौकिक नाम-रूप-कर्मोंकी ब्रह्मात्मकता, परन्तु, न तो श्रुतीतर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य होती है और न श्रुतीतर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही मानी जा सकती है. अतएव, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, भेदवादपर अवलम्बित सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिवाली प्रक्रिया न स्वीकारनी हो तो सभी श्रुतिप्रामाण्यवादियोंको ''एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान''के श्रौत सिद्धान्तको अनधिगतार्थविषयक एवं अबाधितार्थविषयक स्वीकारना ही पड़ेगा. इसी सिद्धान्तके उपक्रमके सन्दर्भमें छान्दोग्योपनिषद्के छठ्ठे अध्यायमें न केवल चिदंशरूप द्रष्टा जीवात्माका ही अपितु सदंशरूप बाह्य जड़जगत्का भी ब्रह्मके साथ तादात्म्य उपदिष्ट हुवा है: ''स य एषो अणिमा, ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि...''. इस वचनमें, महाप्रभुका कहना है जैसे कि ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' अंशद्वारा सम्पूर्ण जड़जगत्की ब्रह्मात्मकता निरूपित हुयी है, वैसे ही जीवात्माकी ब्रह्मात्मकता ''तत्त्वमसि'' अंशद्वारा निरूपित हुयी है. उदाहरणके सादृश्यका विचार करनेपर जैसे किसी भी एक सुवर्णनिर्मित आभूषणगत सुवर्णके तत्त्वपरिज्ञान हो जानेपर सुवर्णनिर्मित सकल आभूषणोंमें रही सुवर्णरूपताको या सुवर्णको पहचाना जा सकता है. ठीक इसी तरह किसी भी एक जड़विषयगत या एक जीवगत ब्रह्मोपादानकता या ब्रह्मांशता को ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' अथवा ''तत्त्वमसि [=अहं ब्रह्मास्मि]'' वाक्यार्थतया अभिज्ञात कर लेनेपर सकल जड़जीवात्मगत ब्रह्मात्मकताको भी परोक्षतया तो पहचाना ही जा सकता है. यों एकवाक्यप्रतिपादित ब्रह्मात्मकताके कारण चेतनाचेतन सभी कुछ ब्रह्मात्मक सिद्ध हो ही जाते हैं. फिरभी केवल जीवात्माको ही ब्रह्मरूप माननेकेलिये शाङ्करवेदान्तने ''तत्त्वमसि'' वाक्यांशमें भागत्यागात्मिका लक्षणाकी प्रक्रियाका अवलम्बन करके अखण्डार्थबोध

मान लिया है. जबकि "यः चौरः स स्थाणुः"के दृष्टान्तके आधारपर बाधितार्थसामानाधिकरण्यरूप प्रक्रियान्तरके अवलम्बनद्वारा "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" वाक्यांशमें इदंकारास्पद प्रपञ्चको ब्रह्मज्ञानबाध्य मान लिया है (द्र.: त.दी.नि.१।६१-६२). ऐसी इस असमञ्जस व्याख्यानशैलीका औचित्य कोई कैसे स्वीकार सकता है!

यहां यह विशेषतः उल्लेखनीय हो जाता है कि शाङ्करवेदान्तमें स्वसिद्धान्तके प्राणभूत श्रुतिवचनों— "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" आदि, का अर्थ भी गौणी या लक्षणा वृत्तिके बिना निरूपणीय नहीं हो पाता है. जबकि स्वयं श्रीशङ्कराचार्य भी यह तो स्वीकारते ही हैं:—

> यत्तु उक्तं "परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयुः" इति तदपि मनोरथमात्रं, रूपाद्यभावाद् हि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः, लिङ्गाद्यभावात् च न अनुमानादीनाम्; आगममात्रसमधिगम्यएव तु अयम् अर्थो धर्मवत् (ब्र.सू.भा.२।१।६).
>
> भावार्थ: यह जो कहा कि सिद्ध वस्तु होनेके कारण ब्रह्मके बारेमें प्रत्यक्षादि प्रमाण सम्भव हैं, वह तो केवल मनोरथमात्र ही लगता है. क्योंकि रूपादि न होनेके कारण ब्रह्म प्रत्यक्षप्रमाणका विषय तो हो ही नहीं सकता और लिङ्गादिके अभावके कारण न ही अनुमान आदि प्रमाणोंका विषय ही. यह ब्रह्म तो धर्मकी तरह केवल आगमप्रमाणका ही विषय बन सकता है.

> भृत्ये तु स्वामिभृत्यभेदस्य प्रत्यक्षत्वाद् उपपन्नो गौणः 'आत्म'शब्दो—"ममात्मायं भद्रसेनः" इति. अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टइति न एतावता

> शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्र अनाश्वासप्रसङ्गात् (ब्र.सू.भा.१।१।७).
>
> भावार्थ: स्वामी और सेवक का भेद तो प्रत्यक्षसिद्ध होता है अतः कोई स्वामी अपने सेवककेलिये कहे—"यह भद्रसेन तो मेरी आत्मा है" तो ऐसी शब्दावलीमें 'आत्मा' शब्दको गौणार्थक माना जा सकता है. ऐसे इन उदाहरणोंमें कहीं किसी शब्दको गौणार्थक स्वीकारना ही पड़ता है, उससे यह तो निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि जो केवल शब्दैकप्रमाणगम्य विषय हो उसके बोधक शब्दोंका भी गौणार्थ निकाला जा सकता है. क्योंकि ऐसा करनेपर तो सभी शब्दोंके अर्थोके बारेमें अविश्वास ही हो जायेगा.

न केवल केवलाद्वैतवादी श्रीशङ्कराचार्य ही अपितु केवलद्वैतवादी श्रीमध्वाचार्य भी यह तो स्वीकारते ही हैं कि—

> एकस्यापि हि शब्दस्य गौणार्थस्वीकृतौ सताम्।
> महती जायते लज्जा यत्र तत्राखिला रवाः।।
> अमुख्यार्था इति वदन् यस्तन्मार्गानुवर्तिनाम्।
> कथं न जायते लज्जा वक्तुं शाब्दत्वमात्मनः।।
> (अनुव्या.१।१।५).
>
> भावार्थ: वेदव्याख्यान करते समय एक भी शब्दका अर्थ गौण माननेको विवश होनेपर सत्पुरुषोंकेलिये तो बड़ी लज्जाजनक बात हो जाती है, वहां सारेके सारे शब्दोंकी व्याख्या अमुख्यार्थोकी कल्पनाद्वारा करनेपर भी अपने-आपको वेदमार्गानुयायी माननेवालोंको लज्जा क्यों नहीं आती, अपने-आपको 'शाब्द' कहते समय!

इससे यह सिद्ध होता है कि वेदोपनिषद्के व्याख्यानमें श्रौत शब्दोंको बाधितार्थ माननेसे पहले सभी सम्प्रदायोंकेलिये यह निश्चित कर लेना अत्यन्त आवश्यक है कि सन्दर्भोपात्त शब्दोंद्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य विषयके बारेमें कोई बात कही जा रही है या प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्य विषयोंके बारेमें? यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्य विषयके बारेमें, तो मुख्यार्थको अनुपपन्न क्या प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण माना जा रहा है, या तात्पर्यानुपपत्ति; अथवा अन्वयानुपपत्ति जैसे अन्य किसी कारणवश? श्रौत वचनोंका तात्पर्य या अन्वय भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण अनुपपन्न माननेपर तो वदतोव्याघात ही होगा, क्योंकि तब तो ब्रह्मको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य और अगम्य दोनों मानना पड़ेगा. अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधितार्थ माने बिना श्रौतार्थको गौणवृत्तिका विषय माननेकी कोई तुक ही नहीं रह जाती है. श्रुत्येकगोचर अर्थको श्रुतीतर प्रमाणगोचर माने बिना श्रुत्यर्थबाध शक्य नहीं. अतएव श्रुत्यर्थव्याख्यानकी रीतिकी अभिमत प्रक्रियाका निरूपण करते हुवे महाप्रभु कहते हैं:—

प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः।
परस्परं विरुद्धास्ते नैकशेषं भजन्ति हि॥
उभयोर्वैदिकत्वेन कः स्यादत्र नियामकः।
विचारकानां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा॥
क्रियाविद्यापरत्वे तु विकल्पेनैकवाक्यता।
दुष्टोऽप्याश्रीयते पक्षो विकल्पाख्यः श्रुतेर्बलात्॥
तथैव भगवद्रूपं यथा हस्तादयः पृथक्।
यथा सर्वाविरोधः स्यात्तथैवात्र विचारणम्॥
सर्वरूपसमर्थत्वमतो ब्रह्मणि गीयते।
अन्यथा प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदतः॥
तद्भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः।

यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यञ्चापि हरिः स्वयम्॥
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते।
"योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम्" इति॥

(सुबो.२।९।३२).

भावार्थ: प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर न होनेवाले पदार्थोंके बारेमें श्रुतिनिरूपणमें यदि परस्पर विरोधाभास भी कहीं प्रतीत होता हो तो दोमेंसे किसी भी एक वचनको गौणार्थक नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि जब दोनों तथ्य वेदनिरूपित हों तो किस एक तथ्यका पक्ष लेकर किस दूसरे तथ्यको उपेक्ष्य मानना! श्रौत तथ्यका विचार तो सदा श्रुतिके ही आधारपर करना पड़ेगा. कर्मानुष्ठान या ज्ञानानुष्ठान की मीमांसामें, दोषतया माने जाते भी विकल्पके शास्त्रोपदिष्ट होनेपर, उभयविध कर्तव्योंके बोधार्थ प्रवृत्त परस्परविरुद्ध श्रुतिवचनोंमें एकवाक्यता यथाकथञ्चित् साधनी ही पड़ती है. ऐसे ही परस्पर विरुद्ध वर्णन मिलनेपर भगवद्रूपकी भी उभयविधता स्वीकार करके विरोधका उपशमन करना चाहिये. अतएव ब्रह्मको सर्वरूपसमर्थ स्वीकार कर विरुद्धधर्माश्रय मान लेना उचित होगा. इस बारेमें जो कुछ उच्चनीचादिके भेदवशात् अन्यथा प्रतिभान होता हो, वह भान, उसके कर्ता हरि ही स्वयं वैसे हैं; और ऐसा सोचनेपर जो कुछ तार्किक दूषण या दोषपूर्ण प्रतीति स्फुरित होती हों वे भी स्वयं हरिरूप ही हैं. सारे विरुद्धपक्ष, क्योंकि, हरिमें ही शोभा पाते हैं!(सुबो.२।९।३२).

अतएव जड़-विषय या जीव-चैतन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके विषय

हो सकते है परन्तु इन दोनोंकी ब्रह्मात्मकता तो श्रुत्यादि-शास्त्रैकगोचर ही है. ऐसी स्थितिमें "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं... तत्त्वमसि"रूप वाक्यांशोद्वारा बोधित दोनोंकी ब्रह्मात्मकता न तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके विरोधवशात् कभी बाधित मानी जा सकती है और न अतएव इन वचनोंमें बाधार्थसामानाधिकरण्य या भागत्यागलक्षणा को स्वीकारनेकी ही कोई आवश्यकता दृष्टिगत होती है. अतएव ब्रह्मसूत्र (४।१।१-५)के भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यने कुछ निकष सूचित किये हैं कि कब वाक्याभिहित अभेदको वास्तविक मानना चाहिये और कब उसे उपासनार्थ कल्पित केवल मानसिकप्रत्ययरूप ही :—

> तैः['आदित्या'दिशब्दैः] स्वार्थवृत्तिभिः अवरुद्धायां बुद्धौ पश्चाद् अवतरतो 'ब्रह्म'शब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यासम्भवाद् ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैव अवतिष्ठते. 'इति'परत्वादपि 'ब्रह्म'शब्दस्य...ततश्च यथा "शुक्तिकां रजतम् इति प्रत्येति" इत्यत्र शुक्तिवचनएव 'शुक्तिका'शब्दो 'रजत'शब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः, प्रत्येत्येव हि केवलं 'रजतम्'इति नतु तत्र रजतम् अस्ति (ब्र.सू.भा.४।१।५)
>
> भावार्थ : 'आदित्य' आदि शब्दोंके मुख्यार्थोंसे जब बुद्धि अवरुद्ध हो तब उसमें 'ब्रह्म'शब्द अपने मुख्यार्थकी वृत्तिको ले कर तो समानाधिकरणतया सङ्गत हो नहीं पायेगा. इसके अलावा 'ब्रह्म'शब्दके बाद 'इति(=के रूपमें)'शब्द भी जुड़ा हुवा है ही... अतः जैसे "शुक्तिकाको रजतके रूपमें समझ रहा है" विधानमें 'शुक्तिका'शब्द तो शुक्तिकाका वाचक मुख्यवृत्तिके साथ हो सकता है परन्तु 'रजत'शब्द रजतकी प्रतीतिका या प्रातीतिक रजतका ही वाचक बनता है, अर्थात् वस्तुतः रजतके वहां

न होनेपर भी कोई रजत है ऐसे मान रहा है.

'आत्मा'-इत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः. तथाहि परमेश्वरप्रक्रियायां जाबालाः आत्मत्वेनैव एतम् उपगच्छन्ति—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति. तथा अन्येऽपि आत्मत्वोपगमाः द्रष्टव्याः. ग्राहयन्तिच आत्मत्वेनैव ईश्वरं वेदान्तवाक्यानि— "एष त आत्मा सर्वान्तरः", "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः", "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इत्येवमादीनि. यद् उक्तं "प्रतीकदर्शनम् इदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यति" इति तद् अयुक्तं, गौणत्वप्रसङ्गात् वाक्यवैरूप्यात् च. यत्रहि प्रतीकदृष्टिः अभिप्रेयते सकृदेव तत्र वचनं भवति यथा— "मनो ब्रह्म", "आदित्यो ब्रह्म"इत्यादि. इह पुनः "त्वम् अहम् अस्मि अहं च त्वम् असि" इति आह. अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्याद् अभेदप्रतिपत्तिः.

भावार्थ: परमेश्वरको आत्माके रूपमें ही जानना चाहिये. परमेश्वरप्रक्रियामें जाबाल आत्माके रूपमें इस परमेश्वरका वर्णन करते हैं— "हे भगवान्! हे देवता! मैं तुम हुं—हे भगवान्! हे देवता! तुम मैं हो". वेदान्तवाक्योंमें भी— " यह तुम्हारी सर्वान्तर आत्मा है", "यह तुम्हारी अमृत अन्तर्यामी आत्मा है" एवं "वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तुम हो" ऐसा कहा गया मिलता है. प्रतिमाको जैसे विष्णु मान लिया जाता है वैसे ही ऐसे विधानोंमें भी आत्माको ब्रह्म मान लिया गया है ऐसा मान लेना अयुक्त है, क्योंकि एक तो वाक्यका गौण अर्थ स्वीकारना पड़ेगा और दूसरी बात यह है कि विष्णुप्रतिमाको विष्णु माना जा

> सकता है परन्तु विष्णुको प्रतिमा नहीं माना जा सकता है. जहां प्रतीकदृष्टि अभिप्रेत होती है वहां इकतरफा निरूपण किया है जैसे— "मन ब्रह्म है" या "आदित्य ब्रह्म है". यहां तो जबकि "तुम मैं हो और मैं तुम हुं" कहा जा रहा है. अतः प्रतीकश्रुतिकी निरूपणशैलीसे भिन्न इन वेदान्तश्रुतियोंकी निरूपणशैली दुतरफा होनेसे यहां जीवात्मा और परमात्मा के बीच अभेद स्वीकारना पड़ता है.

यदि इन्हीं दो निकषोंके आधारपर वेदान्ताभिमत अद्वैत क्या जड़-जीवके मिथ्या होनेके कारण केवल ब्रह्मका अद्वैत है या जड़जीवके ब्रह्मात्मक ही होनेके कारण कमसे कम श्रीशङ्कराचार्यद्वारा स्वीकृत— "नहि रुचकस्वस्तिकयोः इतरेतरात्मकत्वम् अस्ति, सुवर्णात्मत्वेन इवतु ब्रह्मात्मत्वेन एकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गम् अवोचाम" (ब्र.सू.भा.४।१।४) प्रकारानुसार; अथवा वस्तुतः तो नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद्द्वारा घोषित "सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः" (नृ.उ.उ.९) प्रकारके अनुसार सकलेतरेतरात्मक अद्वैत है? इसका समाधान हमें शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है जैसे ही हम इन श्रुतिवचनोंपर एक बार भी दृष्टिपात करते हैं:—

> ब्रह्मैव इदं विश्वम् (मु.उ.२।२।११).
> सर्वं खलु इदं ब्रह्म (छा.उ.३।१४।१).
> ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् (छा.उ.६।१२।७).
> अहमेव इदं सर्वं... सएव इदं सर्वम्... आत्मैव इदं सर्वम् (छा.उ.७।२५।१-२).
> तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम् (बृ. उ.१।६।३).

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च...त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्
(श्वे.उ.१।१२).

तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तदु चन्द्रमाः
तदेव शुक्रम् अमृतं तद् ब्रह्म तद् आपः तत्
प्रजापतिः (म.ना.उ.१।७).

स्पष्टतया देखा जा सकता है कि श्रीशङ्कराचार्यको स्वयंको अभिमत अभेदप्रकारकी निरूपिका विभिन्न शैलियोंमें श्रुत्यभिमतशैली जड़जीव और ब्रह्म के बीच आत्यन्तिक भेदाभाववाली न हो कर परस्परतादात्म्यरूप ब्रह्मके स्वाभाविक एकत्वकी अनिरासक अनेकताका निरूपण करनेवाली ही लगती है.

ऐसी स्थितिमें "तत्त्वमसि" सदृश श्रुतिवचनोंमें ब्रह्मका जीव होना विवक्षित है कि जीवका ब्रह्म होना ?

श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि "...एतद् वाक्यं 'त्वं'पदार्थस्य 'तत्'पदार्थभावम् आचष्टे" (ब्र.सू.४।१।१). यदि 'त्वं'पदवाच्यार्थका 'तत्'पदवाच्यार्थ होना ही विवक्षित माना जाये तो उसे स्वाभिप्रेत निकषके आधारपर प्रतीकबुद्धिमें खपाना पड़ेगा. परन्तु महाप्रभुको अभिप्रेत जीवब्रह्मतादात्म्यवादका सहारा लेनेपर ब्रह्मत्वेन स्वाभाविक अभेद होनेके बावजूद ऐच्छिक भेद सहज ही उपपन्न हो जाता है.

::लौकिक एवं वैदिक वाक्योंका प्रामाण्यतारतम्य::

ब्रह्मके स्वाभाविक अद्वैतमें इसी ऐच्छिक द्वैतकी स्वीकृतिके कारण महाप्रभु वैदिक एवं लौकिक वर्ण-पद-वाक्योंके बीच भी भगवदिच्छानियत स्वरूपनित्यता एवं लीलात्मक-अनित्यता का भेद स्वीकारते हैं:—

वाक्यमेकं हरिश्चैको वेदवाक्यार्थरूपधृक् ।।

अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च।
त्रयोपि वैदिका भिन्ना नानाधर्मयुतास्तथा॥
सादृश्येपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः।
.................................॥
प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये शाखाभेदेषु सर्वतः।
दर्शादिषु तदङ्गेषु मन्त्रमात्रे तथैव च।
हरिस्तत्तत्स्वरूपेण तस्मात् सर्वत्र वाचकः॥
पुराणेच ततोऽन्यत्र वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितः।
पदानामानुपूर्वी तु तत्र कल्प्या ह्यनेकधा॥
सर्वप्रतीतिनाशे तु तन्नाश उपचर्यते।
तथा वाक्यत्वनिष्पत्तेर्न दूषणमिहाण्वपि॥
अद्यापि तानि जायन्ते घटवज्ज्ञानतः स्थितिः।
विप्रलिप्सादिमूलत्वादप्रामाण्यं च लौकिके॥
अप्रामाण्येऽपि प्रामाण्यं कर्तृविश्वासतः क्वचिद्।
अतो वेदाद्यसम्वादी नार्थो ग्राह्यः कथञ्चन॥
वेदे सर्वत्र नाधिक्यं वाक्ये न न्यूनतापि वा।
अतो न वाक्यभेदस्स्यात् लोके तन्नैव दूषणम्॥

(त.दी.नि.२।१५८-१६६).

भावार्थ: महावाक्यमें अवान्तरवाक्य केवल स्मारकतया अवाचक हो जाते होनेसे सम्पूर्ण वेद एक ऐसा महावाक्य है कि जिसके वाच्यार्थ एकमात्र श्रीहरि हैं. श्रीहरिके वाच्यार्थ होनेकी यह बात वेदवचनोंके केवल निष्कृष्ट तात्पर्यतया कही जाती न समझ लेनी चाहिये, क्योंकि वेदके प्रत्येक वचनके अर्थतया प्रकट होनेवाले एकमात्र श्रीहरि ही हैं. इसलिये वेदके प्रत्येक वचनको जोड़कर एक महावाक्य बनानेपर उस महावाक्यके परम वाच्यार्थ भी श्रीहरिको ही स्वीकारना पड़ता है.

वेदके अवान्तरवाक्य पद और वर्णों के अर्थरूपतया भी श्रीहरि ही प्रकट हुवे हैं. अतएव उदात्त अनुदात्त या स्वरित आदि स्वरोंके उच्चारणरूप नानाधर्मोंके सहित बोले जाते वैदिक वर्ण पद और वाक्य लौकिक वर्ण पद और वाक्यों से कुछ अंशोंमें समान भी होनेपर भिन्न ही होते हैं. लौकिक वर्ण-पद-वाक्योंकी ध्वनि वैदिक वर्ण-पद-वाक्योंके सदृश होनेपर भी उन्हे वेदरूप नहीं माना जा सकता है.

उपर्युक्त प्रतिपादनके आधारपर श्रीहरि केवल महावाक्यार्थरूप ही होते हैं, अर्थात् अवान्तरवाक्यार्थरूप नहीं, ऐसा विचारना भी युक्त नहीं है, क्योंकि "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" वचनके अवलोकन करनेपर महावाक्यार्थरूप श्रीहरि ही तत्तद् अवान्तरवाक्यार्थोंके रूपोंको भी धारण करनेको स्वयं ही प्रकट हुवे हैं. अतः अवान्तरवाक्यार्थतया भी श्रीहरिकी पूर्णता कहीं निरस्त नहीं होती. उदाहरणतया वेदकी तत्तद् शाखाओंमें विहित दर्शपूर्णमासादि कर्म और उनके प्रयाजादि अङ्ग या मन्त्रादि भी शाखाभेदके बावजूद जैसे एक ही माने जाते हैं, वैसे ही वेदके अनेक वचनोंमें अनेकधा प्रतिपाद्य तत्तत्स्वरूपोंको धारण करनेवाले श्रीहरि एकमेवाद्वितीय ही होते हैं. अतः इस अर्थमें सकल वैदिक वर्ण-पद-वाक्य श्रीहरिके वाचक होते हैं.

इसी तरह पुराणोंके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. इनके अलावा जो वाक्यार्थ लोकमें घड़े जाते हैं वे बुद्धिकल्पित ही होते हैं. अर्थात् वे साक्षात् भगवद्रूप नहीं होते. वैदिक-पौराणिकेतर

वाक्योंके अर्थोंमें, पद-पदार्थोंके अपूर्व संसर्गसे निर्मित अनित्य होनेके कारण पद-पदार्थसंसर्गमें, जिन्हें विश्वास होता है उन्हें ही उस प्रामाण्यविश्वासवश वहां शाब्दबोध होता है अन्यथा नहीं.

कालिदासादि जैसे रचनाकारोंके वाक्य नित्य न भी होते हों परन्तु बहुकालस्थायी तो होते ही हैं, ऐसी स्थितिमें इन ऐसे उदाहरणोंमें केवल प्रामाण्यविश्वासमूलक शाब्दबोधकी व्यवस्था कैसे सङ्गत हो पायेगी? रूपसृष्टिमें ऐसे वाक्योंके पठन-पाठनकी क्रिया जबतक चलती रहती है, तबतक इस क्रियाके कारण वे विद्यमान रहते हैं और नामसृष्टिमें ज्ञानके कारण. यद्यपि न्यायमतकी तरह ब्रह्मवादमें वर्ण-पद-वाक्योंको क्षणमात्रस्थायी नहीं माना गया है, फिरभी अल्पकालिक या बहुकालिक स्थितिके तारतम्यवश नित्यता या अनित्यता का औपचारिक भेद तो कहा-माना जा सकता है ही.

यहां लौकिक वाक्योंकी अनित्यताके उल्लेखका हेतु न तो रूपसृष्टिमें उनकी क्षणिकताकी विवक्षाके वश हुवा है; और न प्रामाण्यके सर्वथा निराकरणार्थ ही. फिरभी इसका उल्लेख जो हुवा है उसका एकमात्र हेतु यही है कि लौकिक वाक्योंका प्रामाण्य निःसन्दिग्ध नहीं होता. कभी उच्चारणकर्ता पुरुषके विप्रलिप्सा आदि स्वभावगत दोषोंके कारण वह अस्वीकार्य हो जाता है, तो कभी दोषोंके उपशमनके कारण; अथवा उच्चारणकर्तापर श्रोताके हृदयमें रहे विश्वासके कारण भी स्वीकार्य हो पाता है. इस अनियमकी ओर केवल दृष्ट्याकर्षणार्थ ही यह

निरूपण किया जा रहा है. कुल मिला कर कहनेका तात्पर्य यही है कि वेदादि शास्त्रोंसे विसम्वादी वचनोंका प्रामाण्य ब्रह्मवादमें मान्य नहीं हो सकता है.

अज्ञान भ्रम विप्रलिप्सा न्यूनपदता या अधिकपदता आदि मानवस्वभावसुलभ दोष वेदमें नहीं मानें जा सकते. अतएव वेदमें न तो सृष्टिनिरूपक वचनोंको अधिकपदतारूप अर्थवाद माना जा सकता है और न ब्रह्मभिन्न जगदुपादानरूपा मायाका अनिरूपण[१] न्यूनपदतारूप दोष ही माना जा सकता है. ऐसे कोई भी दोष वेदमें स्वीकारे नहीं जा सकते. अतः वेदके वचनमेंसे किसीभी पदको छोड़ कर वाक्यार्थ करना या उसमें कोई पद अपनी ओरसे जोड़कर वाक्यार्थ करना वेदव्याख्यानकी प्रामाणिक रीति नहीं हो सकती है. लोकमें तो इस तरह वाक्यार्थ करना इसलिये दोषरूप नहीं माना जाता, क्योंकि लौकिक वक्ताओंके वचनोंमें ऐसे दोष सहजतया प्रकट होते ही रहते हैं.

यहां एक आशङ्का यह उठ सकती है कि चार्वाक जैन

---

[१] जैसे न्यूनपदतारूप दोषकी सम्भावनाको प्रकट करनेवाले उत्सूत्र अध्यासभाष्यको लिख कर श्रीशङ्कराचार्यको उपसंहारमें कहना पड़ा "एवम् अयम् अनादिः अनन्तो नैसर्गिको अध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः. अस्य अनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते. यथाच अयम् अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः" अर्थात् यह अध्यास सर्वलोकप्रत्यक्ष होनेके कारण श्रौत प्रमेय तो हो नहीं सकता है; और यही यदि जगत्कारणरूप हो तो जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षणतया जगत्के जन्मादिका निरूपण असङ्गत हो जायेगा. लक्षणसूत्रमें मायोपहित ब्रह्मका जगत्कारणत्वेन निरूपण स्वीकारनेपर उसे ही जिज्ञास्य भी मानना पड़ेगा. परिणामतः ब्रह्मजिज्ञासा शुद्धब्रह्मके ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर पायेगी.

या बौद्ध आदि तो वेदवचनोंमें भी अज्ञान भ्रम या विप्रलिप्सा जैसे दोषोंको असम्भव नहीं मानते तो वैदिक वचनोंकी भी तो वही गति दिखलायी दे रही है जैसी लौकिक वचनोंकी निरूपित की जा रही है! इस सन्दर्भमें धैर्यपूर्वक विचारणीय यही है कि इन चार्वाकादि विचारकोंको तत्त्वनिर्णयार्थ वेद या वेदान्त के वचनोंकी मीमांसामें उलझनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी! प्रस्तुत मीमांसा जिस विचारगोष्ठिमें चल रही है, उसमें प्रत्यक्ष अनुमिति आदि प्रमाणोंकी तरह शब्द, अर्थात् वेदादि शास्त्रोंके शब्द, को प्रमाण मान कर ही विचारगोष्ठिमें प्रविष्ट हुवा माना जाता है. अन्यथा इस मीमांसागोष्ठिमें प्रवेश ही न केवल वर्जित प्रत्युत अनावश्यक निष्प्रयोजन कालक्षेप ही मानना पड़ेगा. अतएव श्रीशङ्कराचार्य अतीव सुन्दर शब्दावलीमें इस तथ्यको अभिव्यक्त करते हैं:—

> एतदेव अनुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वरकारणिनः. ननु इहापि तदेव उपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे? न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्. वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते—वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः न अनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवद् न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपेतत्वात् (ब्र.सू.भा.१।१।२)
>
> भावार्थ: महर्षि बादरायणद्वारा दिये गये इस लक्षणको ही कुछ ईश्वरवादी चिन्तक संसारिव्यतिरिक्त ईश्वरको जगत्के कारणतया सिद्ध करनेको अनुमानके रूपमें प्रस्तुत करना चाहते हैं. इस सूत्रके द्वारा सूत्रकार भी वैसा ही अनुमान प्रस्तुत करना चाहते

> हैं, ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता ? ऐसा इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि सूत्रोंकी रचना तो सूत्रकारने वेदान्तवचनोंके पुष्पोंकी माला गूंथनेकेलिये की है. वेदान्तवाक्योंको ही उद्धृत करके उनके अर्थोंका विचार यहां किया रहा है. वेदान्तके वाक्यार्थकी मीमांसाके द्वारा किसी निर्णयको प्राप्त करनेपर ब्रह्मज्ञानकी उपलब्धि होती है न कि अनुमानादि प्रमाणोंके आधारपर किये गये विचारद्वारा. जगत्कारणतया ब्रह्मका निरूपण करनेवाले वेदान्तवाक्योंको सामने रख कर उनके अर्थको भलीभांति समझनेकेलिये यदि वेदान्तवचनोंसे अविरुद्ध किसी तरहके अनुमानादि भी किये जाते हों तो कोई आपत्ति नहीं उठती. क्योंकि स्वयं श्रुति भी अपने सहायकके रूपमें तर्कको भी स्वीकारती है ही.

अतएव ब्रह्मसूत्रभाष्यके प्रारम्भमें ही महाप्रभुने इस विषयमें अपने अभिप्रायको इन शब्दोंमें सुस्पष्ट कर दिया है :—

सन्देहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात्तदुद्भवः।
विरुद्धशास्त्रसम्भेदाद् अङ्गैश्चाशक्यनिश्चयः।।
तस्मात्सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थान्मध्यमश्च तथादिमः।।

> परम्परया पाठवद् अर्थस्यापि गुरुमुखादेव श्रवणेपि मन्दमध्यमयोः सन्देहो भवेत्, समानधर्मदर्शनात् पदादिपाठवत्. तत्र यथा लक्षणानाम् उपयोगः एवमेव मीमांसायाअपि...केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म न शास्त्रान्तरवेद्यम्. तद्यदि मीमांसा स्वतन्त्रा स्यात् तज्जनितं ज्ञानं न ब्रह्मज्ञानं भवेत्... तत्र एतत् स्यात्—स्वतन्त्रता

इति. तत्र प्रतिविधास्यामः—वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचारइति. किम् अत्र युक्तम्? व्याख्यानम् इति. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः (ब्र.सू.भा.१।१।१).

भावार्थ : हमारे बुद्धिदोषके कारण, विरुद्धशास्त्रोंकी वासनाओंके कारण तथा वेदोंके केवल छह अङ्गोंके अध्ययनसे निवृत्त न हो पानेवाले सन्देहोंका निवारण इस मीमांसाशास्त्रद्वारा होता है. इसलिये निर्णय सारेके सारे ब्रह्मसूत्रोंके अनुसार ही करने चाहिये. अन्यथा इन सूत्रोंके न होनेपर मन्द और मध्यम कक्षाके अधिकारियोंको निःसन्दिग्ध वेदार्थ कभी समझमें ही नहीं आ पायेगा. परम्परासे जैसे शब्दका निश्चित स्वरूप पढ़ लेनेपर भी मन्दमध्यमाधिकारियोंको कभी न कभी सन्देह उत्पन्न हो ही सकता है, वैसे ही गुरुमुखसे वेदवेदान्तार्थका श्रवण कर लेनेपर भी मन्दमध्यमाधिकारियोंको कभी न कभी श्रुतार्थोंमें सन्देह उत्पन्न हो सकता है. अतः श्रौत कर्मोंके अनुष्ठानकी इतिकर्तव्यतामें जैसे श्रौतादि सूत्र उपयोगी होते हैं, ऐसे ही वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंकी मीमांसा भी उपयोगी होती है... ब्रह्मको तो केवल उपनिषदोंके अध्ययनद्वारा ही जाना जा सकता है—शास्त्रान्तरोंके अध्ययनद्वारा नहीं—अतः ब्रह्ममीमांसा यदि कोई स्वतन्त्र शास्त्र हो तो इसके कारण मिलता ज्ञान 'ब्रह्मज्ञान' नहीं कहलायेगा... परन्तु इसका स्पष्टीकरण हम ऐसे करना चाहेंगे कि इस मीमांसामें वेदार्थरूप ब्रह्म वेदानुकूल विचार कर्तव्यतया अभिलषित है. यदि प्रश्न उठता हो कि ऐसी विचारप्रक्रियाको युक्त कैसे मानना? तो समझ लेना चाहिये कि वेदवाक्योंके अर्थोंके व्याख्यानद्वारा

वेदार्थको भलीभांति समझा जा सकता है.

शारीरकभाष्य और अणुभाष्य में, सुस्पष्ट शब्दोंमें स्वीकारी गयी, श्रौत वचनोंके व्याख्याकी इन आधारभूत धारणाओंको भलीभांति हृद्गत करना आवश्यक है. जड़जीवात्मक जगत्के ब्रह्मके साथ तादात्म्यकी स्वीकृतिका आग्रह महाप्रभुको क्यों इतना अधिक है? अथवा श्रुतिवचनोंके गौणार्थकी कल्पना करे बिना मुख्यार्थका ही अवलम्बन करनेका आग्रह उन्हें क्यों इतना अधिक है? इन प्रश्नोंका समाधानकारी निगूढ़ रहस्य भी तभी सरलतासे समझमें आ सकता है. पत्रावलम्बनके प्रारम्भमें भी, अतएव, इसी प्रक्रियाके निर्वाह करनेके आग्रहको महाप्रभु भारपूर्वक प्रकट करते हैं. अतएव लौकिक व्यवहार और वैदिक व्यवहार के ब्रह्मेच्छानियत पार्थक्यका भी निरूपण महाप्रभुने यहां किया है. वैसे लौकिक व्यवहारमें प्रयुक्त होते शब्द और उनके अर्थों के विचारकी प्रकृत सन्दर्भमें कोई खास उपयोगिता नहीं है. फिरभी वैदिक व्यवहारमें प्रयुक्त होते शब्द और उनके अर्थों के विचारमें वैदिक शब्दोंको ही प्रमुख मान करके विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये, यही वेदार्थके व्याख्यानकी उचित रीति है. अतः यह एक अपरिहार्य शर्त है महाप्रभुके अनुसार:—

लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः।
लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते यथा॥
लोके शब्दार्थसम्बन्धो रूपं तेषां च यादृशम्।
न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तथा भवेत्॥
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित्।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः॥
ये धातुशब्दाः यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित्॥
(पत्रा.कारि.१-४).

भावार्थ : दो तरहके व्यवहार माने जाते हैं १.लौकिक और २.वैदिक. लोकसिद्ध व्यवहारके आधारपर वैदिक व्यवहारका भी बोध दिया जा सकता है. लोकमें शब्द और उनके अर्थोंका जो सम्बन्ध रहता है; अथवा जैसा उनका रूप होता है, उस बारेमें कोई विवाद नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा करनेपर लोकोच्छेद ही हो जायेगा. इसी तरह ब्रह्मवादको अपना कर चलें तो भी किसी भी विषयके बारेमें किसी तरहकी निरुक्तिके विवादको कोई अवकाश नहीं मिलता, क्योंकि निरुक्तिके घटक व्यावर्तक और व्यावर्त्य दोनोंके ही ब्रह्मात्मक होनेसे [विवादविषयीभूत कोई भी पदार्थ अनिरुक्त या इदमित्थन्तया अनिर्वाच्य ही सिद्ध होता है. अतएव निर्वाच्यतया विवक्षित पदार्थके इत्थं या अनित्थं के विवादका अवसर ही उपस्थित नहीं हो पाता है]. ब्रह्मवादका सिद्धान्त तो यही है कि सभी कुछ ब्रह्म ही है. इस तरह, परन्तु, बरता तो नहीं जा सकता है. यह हमारी असामर्थ्य है और इसे लोकव्यवहारकी मर्यादाप्रयुक्त विवशताके रूपमें स्वीकारना पड़ता है. वैदिक शब्दोंके अर्थ करते समय [अतएव इस लोकव्यवहारके वैपरीत्यकी भीति या तार्किक अनुपपत्तियोंका सङ्कोच रखे बिना] जिन धातुशब्दोंका जो भी अर्थ वेदाङ्गोंके अनुसार माना गया हो तदनुसार ही अर्थ करना चाहिये, अन्यथा नहीं.

यद्यपि श्रीशङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्रभाष्यके प्रारम्भमें ही यह एक स्पष्टीकरण दिया है कि लौकिक और वैदिक व्यवहारोंमें परस्पर बहुत अन्तर नहीं होता है :—

तमेतम् 'अविद्या'ख्यम् आत्मानात्मनोः इतरेतराध्यासं

पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहाराः लौकिकाः वैदिकाः च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि...तस्माद् अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च, पश्वादिभिः च अविशेषात्...अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः. पश्वादीनाञ्च प्रसिद्धो अविवेकपुरस्सरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः, तत्सामान्यदर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारः तत्कालः समानः इति निश्चीयते. शास्त्रीयेतु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी न अविदित्वा आत्मनः परलोकसम्बन्धम् अधिक्रियते; तथापि न वेदान्तवेद्यम् अशनायाद्यतीतम्, अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेदम् असंसार्यात्मतत्त्वम् अधिकारे अपेक्ष्यते, अनुपयोगाद् अधिकारविरोधात् च. प्राक्च तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रम् अविद्यावद्विषयत्वं न अतिवर्तते. तथाहि "ब्राह्मणो यजेद्" इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनो वर्णाश्रमवयोवस्थादिविशेषाध्यासम् आश्रित्य प्रवर्तन्ते (ब्र.सू.भा.१।१।१).

भावार्थ: ऐसे इस 'अविद्या' नामक आत्मा और अनात्मा के इतरेतराध्यासको आगे रखकर ही सभी प्रमाणप्रमेयसम्बन्धी व्यवहार, चाहे वे लौकिक हों या वैदिक प्रवृत्त होते हैं, सभी शास्त्र चाहे वे विधिरूप हों या निषेधरूप हों अथवा मोक्षके उपदेश देनेवाले भी क्यों न हों!...अतः सारेके सारे प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र भी अविद्यावान्‌केलिये ही हैं, क्योंकि पशुओंसे कोई विशेषता भी मनुष्यकी दिखलायी नहीं देती!...अतः पुरुषोंका प्रमाणप्रमेयसम्बन्धी व्यवहार पशुओंके समान ही रहता है. यह तो ठीक ही है कि पशुओंका प्रत्यक्षादि प्रमाणप्रयुक्त व्यवहार विवेकरहित होता है; परन्तु बुद्धिमान् पुरुषोंका भी प्रत्यक्षादि प्रमाणप्रयुक्त व्यवहार, कमसे कम व्यवहारकालमें तो पशुओं जैसा ही होता है इतना

> तो निश्चित ही है. शास्त्रीय व्यवहारमें वैसे तो, यद्यपि, अपनी आत्माका परलोकके साथ सम्बन्ध जाने बिना कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति प्रवृत्त होना नहीं चाहेगा; फिर भी खान-पानके लौकिक गुणधर्मोंसे रहित, ब्रह्मक्षत्रादिके शास्त्रीय भेदभावोंसे रहित; ऐसे असंसारी वेदान्तवेद्य आत्मतत्त्वकी जानकारीका शास्त्रविहित कर्मोंको निभानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, अनुपयोगी होनेसे और अधिकारसे विरुद्ध होनेके कारण भी. ऐसे आत्मविज्ञानके सिद्ध होनेसे पहले प्रवृत्त होनेवाले शास्त्र अविद्यावान्के बारेमें ही होते हैं. जैसाकि “ब्राह्मण यज्ञ करे” ऐसे शास्त्रवचन आत्माके साथ वर्ण आश्रम वयोवस्था आदिके तत्तद् अध्यासोंके सहारे ही प्रवृत्त होते हैं.

लौकिक और वैदिक व्यवहारोंकी यह समानता दिखलाते समय श्रीशङ्कराचार्यने जिस एक महत्त्वपूर्ण तथ्यकी उपेक्षा की है वह यह है कि पूर्वकाण्डीय विधि-निषेध पशुओंके सदृश अज्ञानमूलक देहाध्यासवाले मनुष्यके बारेमें जैसे प्रवृत्त हुवे हैं, ऐसे ही और स्वयंकी स्वीकृतिके अनुसार भी, मोक्षशास्त्रीय वेदान्तोपदेश भी बन्ध-मोक्ष या बद्ध-मुक्त के अज्ञानमूलक भेदका अवलम्बन करके ही ‘अशनायाद्यतीत-अपेतब्रह्मक्षत्रादिभेद-असंसार्यात्मतत्त्व’के श्रवण-मनन-निदिध्यासनका उपदेश करते हैं. क्योंकि जैसे बिना अज्ञानके आत्मामें सांसारिक बन्धन शक्य नहीं, ऐसे ही उस आविद्यक बन्धनके बिना मुक्ति भी शक्य नहीं है. निर्विशेष आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे बद्धावस्थाकी तरह मुक्तावस्था भी अविद्याकल्पित भ्रान्ति ही होती है. स्वयं श्रीशङ्कराचार्यने अपशूद्राधिकरण (ब्र.सू.१।३।३४-३८)के भाष्यमें—वेदान्तके श्रवणमें अद्विजोंको जो अनधिकारी माना है, वह भी तो वेदान्तवेद्य आत्मतत्त्वोपदेशके अधिकारीका ब्रह्मक्षत्रादिदेहाध्यासोंवाला होना ही सिद्ध करता है. इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्वकाण्डीय “ब्राह्मणो यजेत्”आदि उपदेशोंकी

तरह "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" आदि उत्तरकाण्डीय उपदेश भी द्विजत्वाध्यास और संन्यासाश्रमाध्यास रूपी देहाध्यासमूलक ही स्वीकारने पड़ेंगे! पूर्वकाण्डीय वचनोंके अधिकारीको "पश्वादिभिश्चाविशेषात्" स्वीकारनेपर उत्तरकाण्डीय वचनोंके अधिकारीको भी बचा पाना मुश्किल हो जायेगा. यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि स्वयं श्रीशङ्कराचार्यने कठोपनिषद्के भाष्यमें यह तो स्वीकारा ही है:—

> 'अन्यत्'=पृथगेव 'श्रेयो'=निःश्रेयसं तथा अन्यद् 'उत'=अपि एव 'प्रेयः'=प्रियतरमपि. 'ते'=प्रेयःश्रेयसी 'उभे नानार्थे'=भिन्नप्रयोजने सती 'पुरुषम्'=अधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं 'सिनीतो'=बध्नीतः, ताभ्याम् आत्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः. श्रेयःप्रेयसोर्हि अभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते. अतः श्रेयःप्रेयःप्रयोजनकर्तव्यतया "ताभ्यां बद्धः" इति उच्यते सर्वपुरुषः...अतः हंसः इव अम्भसः पयः 'तौ'=श्रेयःप्रेयःपदार्थौ 'सम्परीत्य'=सम्यक् परिगम्य, मनसा आलोच्य गुरु-लाघवं 'विविनक्ति'=पृथक्करोति 'धीरः'=धीमान्. विविच्यच श्रेयोहि श्रेयएव अभिवृणीते, प्रेयसो अभ्यर्हितत्वात्...यस्तु 'मन्दो'=अल्पबुद्धिः स विवेकासामर्थ्याद् 'योगक्षेमाद्'=योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमिति एतत् प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते (क.उ.भा.१।२।१-२)
>
> भावार्थ: 'श्रेयः'=निःश्रेयस कुछ और होता है तथा 'प्रेयः'=प्रियतर कुछ और ही होता है. ये प्रेयः और श्रेयः दोनों भिन्न-भिन्न प्रयोजन होते हैं. ये वर्णाश्रमादिविशिष्ट पुरुषको बांध लेते हैं, अर्थात् उन्हें अपने कर्तव्यतया सभी पुरुष प्रयोगमें लाते हैं. श्रेयस्में अमृतत्वार्थी और प्रेयस्में अभ्युदयार्थी

> पुरुष प्रवृत्त होते हैं. अतः श्रेयस् और प्रेयस् के प्रयोजनवश सभी पुरुष अनुरूप कर्तव्योंमें उनसे बंध से जाते हैं, ऐसा कहा जाता है...अतः हंस जैसे जलसे दुग्धको पृथक् कर लेता है ऐसे ही श्रेयस् और प्रेयस् पदार्थोंको भलीभांति समझ कर, मनोमन उनकी आलोचना करके क्या महत्त्वपूर्ण और क्या महत्त्वहीन? इसका विवेचन करके बुद्धिमान् श्रेयस्का ही वरण करता है, क्योंकि प्रेयस्की तुलनामें श्रेयस् बहुत अभ्यर्हित होता है!...परन्तु जो मन्द अल्पबुद्धि होता है वह तो विवेककी असामर्थ्यके कारण योगक्षेमके निमित्तरूप अर्थात् शरीरादिके उपचय और रक्षण के निमित्तरूप पशुपुत्रादिरूप प्रेयस्को ही चुनता है.

यहां हम देख सकते हैं कि प्रेयस् और श्रेयस् में विवेक कर पानेकी अक्षमता या क्षमता पशुतुल्य और हंसतुल्य पुरुषोंके भेदक गुणोंके रूपमें स्वीकारी गयी हैं. अतः श्रुत्यादि शास्त्रोंके वचन श्रेयोर्थीको ही अधिकारी मान कर प्रवृत्त हुवे हैं नकि प्रेयस् और श्रेयस् में विवेक कर पानेमें असमर्थ पशुतुल्य मनुष्यको अधिकारी मान कर. यह तो ठीक है कि सकाम कर्मोके उपदेशपरक वचनोंमें आपाततः प्रेयस् और श्रेयस् के बीच विवेक न कर पानेवाला ही अधिकारी प्रतीत होता है. यह, परन्तु, भूलना नहीं चाहिये कि इसी तरह तो शास्त्र प्रेयोभिरत पुरुषको श्रेयोभिमुख बनाना चाहते हैं. अपनी कामनाओंको पूर्ण करनेकेलिये विहिताविहित उपायोंके बीच किसी तरहका विवेक किये बिना अथवा शास्त्रनिषिद्ध भी उपायोंका स्वच्छन्दतया अवलम्बन करनेवाले पुरुषको सकामकर्मोपदेशपरक वचन पहले शास्त्रविधिके अनुसरणार्थ सक्षम बनाते हैं. वह सिद्ध होनेपर ही निष्काम कर्म, जिसे स्वयं श्रीशङ्कराचार्य

भी चित्तशुद्ध्यर्थ आवश्यक मानते ही हैं, में पुरुष प्रवृत्त हो पाता है. जिसका चित्त शुद्ध हो पाता है वही तो अन्तमें मुक्त्युपायोंमें प्रवृत्त हो पाता है. अतएव भागवतमें ‘‘कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा’’(भाग.११।४।४३) तथा ‘‘लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा’’(भाग.११।५।११) कहा ही है. अतः लौकिक व्यवहारकी तरह शास्त्रीय व्यवहारमें भी केवल देहाध्यासवाले पुरुषकी व्यापृतिको देख कर शास्त्रवचन भी देहाध्यासको ही अधिकारिलक्षण मान कर प्रवृत्त हुवे हैं यह स्वीकारा नहीं जा सकता. अन्यथा श्रेयःप्रतिपादक मुक्तिशास्त्रोंको भी इस गर्हासे बचाना सर्वथा दुष्कर हो जायेगा!

अतः वेदवचनोंके प्रामाण्यको, चाहे पूर्वकाण्डीय हों या उत्तरकाण्डीय, लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके निम्नस्तरपर गिराया नहीं जा सकता है. मुक्त्युपदेश जैसे पशुतुल्य पुरुषको नहीं दिया जा सकता, उसी तरह सकामकर्मोंका भी उपदेश भी सर्वथा पशुतुल्य पुरुषको दिया नहीं जा सकता है. अतः निष्कामकर्मोंके उपदेशका तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता! जिस तात्पर्यवश सकामकर्मोंका उपदेश श्रुतिने दिया है उस तात्पर्यानुसन्धानके बिना केवल वाच्यार्थानुसन्धानवश काम्यकर्मोपदेशपरक श्रुतिका अर्थ करनेपर तो ‘‘तत्त्वमसि’’ सदृश वचनोंका भी तात्पर्यानुसन्धानरहित अर्थघटन केवलाद्वैतके बजाय शुद्धाद्वैतकी सिद्धिमें ही पर्यवसित हो जायेगा! फलतः वेदार्थव्याख्यानमें वैदिक शब्दोंकी प्रधानताको स्वीकारना ही पड़ता है.

इतने आग्रहिलतया शास्त्रवचनोंका प्रामाण्य स्वीकारनेपर ‘‘वेदम् अनूच्य आचार्यो अन्तेवासिनम् अनुशास्ति... एषा वेदोपनिषद्’’ (तै.उ.१।११।१-४) जैसे वचनोंमें वेद और उपनिषद् को यदि पृथक् माना गया हो तो दोनोंको पृथक् ही मानना पड़ेगा. फिर इस शब्दराशिको श्रुति मानना या नहीं? शाङ्करवेदान्ताभिमत दिशामें यदि अग्रसर होना हो तो, यह भी कहा जा सकता है कि

श्रौत शब्दोंका केवल शब्दत्वेन प्रामाण्य स्वीकारनेके बजाय तात्पर्यविशिष्टशब्दत्वेन प्रामाण्य स्वीकारना चाहिये. अतएव कर्मकाण्डमें श्रुतिका यदि प्रमुख तात्पर्य न हो अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणसे पूर्वसिद्ध द्वैत या द्वैतघटित नाम-रूप-कर्मोंमें श्रुतिका यदि तात्पर्य न हो तो, ऐसी सारी श्रौत शब्दराशिके श्रुति होनेपर भी उसका मुख्यप्रामाण्य उस बारेमें सिद्ध नहीं हो पायेगा. एतदर्थ वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंकी एकवाक्यता न स्वीकारनेकी धारणाको पुनः प्रस्तुत करते हुवे महाप्रभु शङ्कोत्थापन कर रहे हैं:—

> अथ वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्ये वेदान्ताध्ययनं च संन्यास इति तद्विचारः पृथगेव. समाप्तिश्च श्रूयते शिक्षायां—‘‘वेदमनूच्याचार्यो अन्तेवासिनम् अनुशास्ति’’ इत्यादिना; उपनिषद् अनन्तरं पठिता. आचार्यान्तरेऽपि गुणोपसंहारन्यायेन पूर्वकाण्डाध्ययनमेव ब्रह्मचर्ये, न उत्तरकाण्डस्य. सौकर्यार्थमेव पाठान्तरम् इदानीम्. विचारस्तु पश्चादेवेति न एकवाक्यता. अतएव विचारोऽपि पृथगेव. ‘‘साङ्गोपनिषदः’’ इति पृथक् पुराणेषु निर्देशः इति.
>
> अथवा कुत्रापि आश्रमे विचारो अस्तु, न एकवाक्यता. न वेदत्वम् उपनिषदाम्. स्वरादिनियमः तदन्तानामपि आचारपरम्परया. वाक्येन तु उपयोगः ‘‘यदेव विद्यया करोति’’–इति. तथापि कथम् उपयोगः इति चेद्, उच्यते—लौकिकेषु पदार्थेषु साङ्गो यज्ञो अध्यस्यते, वैदिके तत्र अर्थे वैदिकतासम्पद्यतइति; ब्रह्मवादेन सर्वस्यापि ब्रह्मत्वे अवगते ब्रह्मण्येव यज्ञः प्रतिष्ठितोऽपि भवति, अयज्ञकालेऽपि ब्रह्मात्मत्वं सिध्यति.

भावार्थ: वेदाध्ययन तो ब्रह्मचर्याश्रममें किया जाता

है जबकि वेदान्ताध्ययन तो संन्यासाश्रममें. अतएव वेदान्तार्थका विचार भी पृथक् ही किया जाता है. तैत्तिरीयोपनिषद्के प्रारम्भमें ही, अतएव, "वेदको पढ़ा कर आचार्य अन्तेवासीको ऐसा उपदेश करे..." यों वेदके बाद उपनिषद् पढ़ानेकी बात कही गयी है. अतः चाहे एक ही आचार्य वेद पढ़ाये या गुणोपसंहार (ब्र.सू.३।३।१-६६) न्यायेन दूसरा, हर स्थितिमें वेद पढ़ा कर बादमें ही उपनिषद् पढ़ायी जाती होनेसे उपनिषद्के केवल शब्दोंका ही अध्यापन यहां अभिप्रेत है विचारसहित उपनिषदर्थका अध्यापन नहीं ऐसा सिद्ध होता है. वह विचारपूर्वक अध्ययन तो बादमें संन्यासाश्रममें ही होना है. अतः वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंके बीच एकवाक्यताकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है. अतएव वेदान्तविचार पृथक् ही करणीय होता है. अतएव, "साङ्गोपनिषदः" कह कर पुराणोंमें इसकी परिगणना पृथक् ही की गयी है.

[यह वेदान्तकी शब्दराशिको प्रधान मान कर प्रस्तुत किया गया पक्ष है. वैदिक शब्दराशिमें इस तरह तत्तत् काण्डोंके प्रति पक्षपाती दृष्टिकोण अपना कर वेदव्याख्यान करना हो तो वेदके पूर्वकाण्डमें स्थित शब्दराशिकी प्रधानता स्वीकार कर एक दूसरा यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है:—]

अथवा दूसरा कल्प यह भी हो सकता है कि किसी भी आश्रममें विचार क्यों न किया जाये न तो वेद और वेदान्त के बीच एकवाक्यता स्वीकारनेकी कोई आवश्यकता है और न वेदान्तको वेदके रूपमें मान्य रखनेकी ही. वैदिक स्वरादिके

> नियम वेदान्तोंके बारेमें भी आचारपरम्पराके आधारपर स्वीकारे जा सकते हैं. वैदिक कर्मोंमें उनका विनियोग भी ''यदेव विद्यया करोति'' वचनके आधारपर किया जा सकेगा. फिरभी उपनिषदोंका उपयोग क्यों करना क्यों चाहिये? इसके उत्तररूपेण यह कहा जा सकता है कि लौकिक पदार्थोंके बारेमें भी उनके साङ्गोपाङ्ग यज्ञरूप होनेकी उदात्त दृष्टिवाला अध्यास उपनिषदोंके कारण पनप पाता है. जो वैदिक पदार्थ होते हैं उनकी तो वैदिकता निभ ही जाती है; परन्तु जो लौकिक पदार्थ होते हैं, उनके बारेमें भी ब्रह्मवादके ही कारण ''सभी कुछ ब्रह्मात्मक है'' ऐसी आहार्यबुद्धि जगनेपर लौकिक पदार्थोंसे सम्पन्न होते यज्ञयागादिक भी ब्रह्म ही में प्रतिष्ठित हैं ऐसी उदात्त दृष्टि पनप पाती है. जब कोई यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान कर न रहा हो तब भी हर लौकिक पदार्थको ब्रह्मदृष्टिसे निहार पानेकी एक उदात्त मनोवृत्ति पनप पाती है.

महाप्रभुका अभिप्राय यहां यह प्रतीत होता है कि वेद या वेदान्त के वचनोंका क्या तात्पर्य है यह स्वयं अपनी बुद्धिसे ही निर्धारित करके श्रुतिवचनोंपर स्वबुद्धिपरिकल्पित अर्थ थोप देना यदि वाक्यार्थमीमांसा हो तो उल्लिखित तात्पर्य मान कर सारेके सारे श्रुतिवचनोंका अर्थ क्यों नहीं खोजा जा सकता?

मौलिक प्रश्न यहां यह है कि वाक्यार्थमीमांसाकी रीति क्या वाक्यार्थमूलक तात्पर्यनिर्धारण करना उचित होती है अथवा स्वमनःकल्पित तात्पर्यमूलक वाक्यार्थनिर्धारण कर लेनेकी रीति वाक्यार्थमीमांसाकी उचित रीति है?

यदि प्रथम रीतिको अपनाते हैं तो नाम रूप एवं कर्म तीनों ही को ब्रह्मात्मक माननेमें कोई आपत्ति आ नहीं सकती.

यदि द्वितीय रीतिको ही अपनाना हो तो ''आदित्यो यूपः'' या ''यजमानः प्रस्तरः'' अथवा ''उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः'' जैसे आर्थवादिक वचनोंमें कर्माङ्गभूत लौकिक पदार्थोंके बारेमें कर्मकर्ताकी दृष्टिका उदात्तीकरण अर्थात् प्राशस्त्य ही केवल विवक्षित होता है—वस्तुतः काष्ठयूपका आदित्यरूप होना, प्रस्तरका यजमान होना; अथवा उषाका अश्वमेधीय अश्वशिर होना विवक्षित नहीं होता. इसी तरह जड़जगत् या जीवजगत् मेंसे किसीके भी ब्रह्मरूप न होनेपर भी दोनोंको ब्रह्मरूप मान कर चलनेपर हमारी मानसिकताका उदात्तीकरण हो जाता है. ऐसा भी तात्पर्य उपनिषदोंका क्यों नहीं स्वीकारा जा सकता? क्यों ऐसे तात्पर्यकी कल्पना करके सभी श्रुतिवचनोंका मुख्य/अमुख्य अर्थ खोजा नहीं जा सकता?

इन्हीं प्रश्नोंका उत्तर अणुभाष्यमें महाप्रभुने इस तरह दिया है:—

> ननु पुरुषार्थार्थानि शास्त्राणि; इदञ्च शास्त्रं मोक्षरूपपुरुषार्थसाधकम्. मोक्षश्च अविद्यानिवृत्तिरूपः इति युक्तम्. अविद्याच अज्ञानं ज्ञानेनैव नश्यति. ततो ज्ञानोपयोगित्वेन व्याख्यातव्ये वेदान्ते अध्यारोपापवादव्यतिरेकेण व्याख्यानम् अयुक्तम्. अतो यथाकथञ्चिद् व्याख्यानेपि पुरुषार्थसिद्धेः न कोऽपि दोषः इति चेत्, न, पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य वा स्वरूपं शास्त्रैकसमधिगम्यं न स्वबुद्धिपरिकल्पितम्. अतः स्वबुद्ध्या शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयन्तो महासाहसिकाः सद्भिः उपेक्ष्याः. पुरुषार्थः पुनः यथा वेदान्तेषु अवगतः—
>
> ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति.
> ब्रह्मविदाप्नोति परम्.
> न स पुनरावर्तते.
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्.
> अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्.

इति एवमादिभिः श्रुतिस्मृतिन्यायैः ब्रह्मप्राप्तेरेव पुरुषार्थत्वम्. ब्रह्मच पुनः न जीवस्य आत्ममात्रम् अज्ञानवद् वा.

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥

इति भगवता जीवस्यैव अविद्यावत्त्वप्रतिपादनात्. तस्मात् न्यायोपबृंहितसर्ववेदान्तप्रतिपादितसर्वधर्मवद् ब्रह्म. तस्य श्रवणमननिदिध्यासनैः अन्तरङ्गैः, शमदमादिभिः च बहिरङ्गैः, अतिशुद्धे चित्ते स्वयमेव आविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं परमपुरुषार्थः. तस्मात् सर्वे वेदान्ताः स्वार्थएव युक्तार्थाः इति न्यायैः वक्तव्यत्वाद् ब्रह्मणः समवायित्वाय समन्वयसूत्रं वक्तव्यम् (ब्र.सू.भा.१।१।३).

भावार्थ: यहां यह शङ्का उठ सकती है कि सभी शास्त्र तो पुरुषार्थोंके निरूपणार्थ ही प्रवृत्त हुवे हैं. उन शास्त्रोंमें यह शास्त्र मोक्षरूप पुरुषार्थका साधक है. मोक्ष अविद्यानिवृत्तिरूप होता है; और 'अविद्या' उस अज्ञानको कहते हैं कि जो ज्ञानसे ही निवृत्त हो पाता है. अतः वेदान्तकी ज्ञानोपयोगिता दिखानेकेलिये अध्यारोप और अपवाद करनेकी व्याख्यानरीति अपनाये बिना काम नहीं चल सकता है. अतः अन्ततः अपवादार्थ ही पुरस्कृत की जानेवाली अध्यारोपात्मिका व्याख्यायें [तुलनीय : ''प्राचीनैः व्यवहारसिद्धविषयेषु आत्मैक्यसिद्धौ परां संनह्यद्भिः अनादरात् सरणयो नानाविधाः दर्शिताः''. सि.ले.सं. : मङ्ग.कारि.२] सारीकी सारी काम-चलाउ ही तो होती हैं, फिरभी उनसे पुरुषार्थ तो सिद्ध हो ही सकता है अतएव उन प्रक्रियाओंको प्रस्तुत किया जाता है.

श्रुत्यर्थविचारकी यह रीति उचित नहीं है, क्योंकि पुरुषार्थ या शास्त्रार्थ का स्वरूप स्वबुद्धिपरिकल्पित नहीं स्वीकारा जा सकता है, वह तो शास्त्रैकसमधिगम्य होता है. अतः अपनी बुद्धिसे शास्त्रके तात्पर्यविषयीभूत अर्थकी परिकल्पना करके तदनुसार वेदादि शास्त्रोंका अर्थ करनेवाले तो महासाहसिक होते हैं और अतएव सत्पुरुषोंद्वारा उपेक्षणीय भी! पुरुषार्थका स्वरूप तो हमें वही स्वीकारना चाहिये जो वेदान्तोंमें दिखलाया गया है, जैसा कि :—

ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही बन जाता है.
ब्रह्मको जाननेवाला परम तत्त्वको पा लेता है.
वह पुनः लौट कर संसारमें नहीं आता.
तब वह मुझे तत्त्वतः जान लेनेके कारण
मेरे भीतर प्रविष्ट हो जाता है.
फिर वह कभी लौट कर संसारमें नहीं
आता — कभी भी लौट कर नहीं आता!

ऐसे अनेक श्रुति स्मृति और सूत्रों के आधारपर ब्रह्मप्राप्ति पुरुषार्थरूपा होती है. ब्रह्म केवल जीवात्मरूप या अज्ञानविषयीभूत अज्ञानाश्रय ही केवल नहीं होता [अर्थात् वह तो सर्वरूप होता है.] भगवान् स्वयं, क्योंकि, जीवके ही अविद्यासे ग्रस्त होनेकी बात कहते हैं– "मेरा चिदंशरूप एकमात्र जीव ही अविद्याके कारण अनादि बन्धनमें फंसता है या विद्याके कारण मुक्त हो पाता है". अतः महर्षिबादरायणोक्त न्यायोंके अनुसार ब्रह्ममें वे सारे गुणधर्म और सामर्थ्य स्वीकारने ही चाहिंये जो तत्तद् वेदान्तोंमें प्रतिपादित हुवे हैं. कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग; और मर्यादामार्गीय या पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति या भक्ति, इनमेंसे तत्तन्मार्गीय

> श्रवण मनन और निदिध्यासन रूपी अन्तरङ्ग उपायोंद्वारा तथा तत्तन्मार्गीय शमदमादिरूप बहिरङ्ग उपायोंद्वारा जिस कर्मी ज्ञानी मर्यादामार्गीय या पुष्टिमार्गीय भक्त या प्रपन्न जीवका चित्त अतिशुद्ध हो पाता है, तब उस चित्तमें स्वयंप्रकाशरूप ब्रह्म स्वयं ही आविर्भूत हो जाता है. ऐसे जीवको यथायथ भगवत्स्वरूप या भगवल्लीला में सायुज्यका लाभ मिल जाता है. यही स्वरूप परमपुरुषार्थका माना गया है. अतः सारेके सारे वेदान्तके वचनोंको अपने-अपने मुख्य स्वारसिक अर्थोंमें ही प्रमाणतया स्वीकारना उचित होनेसे ब्रह्मको सकल नाम रूप एवं कर्मों का समवायी=उपादान कारणतया दिखलानेको समन्वयसूत्र कहा गया है.

::वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंमें प्रतिपाद्य चतुर्विध पुरुषार्थोंका स्वरूप::

स्वयं श्रीशङ्कराचार्य भी वेद-वेदान्तरूप श्रुतियोंका उभयकाण्डसाधारण स्वरूप यह तो स्वीकारते ही हैं कि साराका सारा वेद प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणोंसे अनवगत इष्टकी प्राप्तिके और अनिष्टके परिहारके उपायोंका उपदेश करनेवाली शब्दराशि है (द्र. : बृ.उ.भा.१।३-।१). साथ ही साथ भगवद्गीताभाष्यमें यह भी वे कहते हैं कि वेदके पूर्वकाण्डमें विहित कर्मोंमें रखी जाती निष्ठा तथा वेदके उत्तरकाण्डमें निरूपित ज्ञानमें रखी जाती निष्ठा यों इन दोनों निष्ठाओंके स्वभाव परस्पर इतने विरुद्ध हैं कि कोई भी एक पुरुष इन दोनों निष्ठाओंका निर्वाह एकसाथ नहीं कर सकता है. अतः ये दोनों निष्ठा स्वस्वफलदानमें परस्परनिरपेक्ष हैं ऐसे स्वीकारना चाहिये (द्र. : भ.गी.भा.३।४). इस तरह परस्परनिरपेक्ष माननेके बावजूद यह विधान भी करते हैं कि ‘‘कर्मनिष्ठायाः ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वं न स्वातन्त्र्येण’’(भ.गी.भा.३।४) अर्थात् कर्मनिष्ठा

ज्ञाननिष्ठाको पानेका हेतु बनती होनेके कारण ही पुरुषार्थतया मान्य होती है न कि स्वातन्त्र्येण. अतएव ज्ञानयोग, यद्यपि, नैष्कर्म्यरूप होता है फिरभी इस नैष्कर्म्यकी सिद्धि कर्मोंके अनारम्भसे — अर्थात् प्रारम्भिक अवस्थाओंमें ही कर्मोंके त्याग कर देनेके कारण — नहीं हो जाती परन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके निष्काम निर्वाहसे ही ज्ञाननिष्ठोपयोगी चित्तकी शुद्धि होनेपर ज्ञाननिष्ठा उपलब्ध होती है (द्र. : भ.गी.भा.३।४). ऐसी स्थितिमें तात्पर्यविशिष्टशब्दको प्रमाणतया मान्य रखनेकी स्वीकृत नीतिके अनुरूप कर्मोपदेशक विधिवचनोंको भी अभिधा वृत्तिसे न सही गौणी वृत्तिसे ही ‘‘तत्त्वमसि’’ वचनकी तरह ‘श्रेयोभिप्रायक हंसाधिकारक’ क्यों नहीं माना जाता है? क्यों ‘प्रेयोभिप्रायक पशुतुल्यपुरुषाधिकारक’ मान लिया गया है! यदि पशुतुल्य पुरुषको हंसतुल्य पुरुष बनानेके तात्पर्यवश ही यह हो, तो उसी तात्पर्यानुरोधवश कर्मविधियोंके भी वाच्यार्थका अर्थोन्नियन क्यों नहीं किया जाता? पूर्वकाण्डीय वचनोंका केवल शब्दत्वेन और उत्तरकाण्डीय वचनोंका तात्पर्यविशिष्टशब्दत्वेन यों श्रुतिप्रामाण्यमें भी दो तरहके निकष क्यों स्वीकार लिये हैं?

वेद और वेदान्त की इस केवलाद्वैतवादाभिमत परस्परनिरपेक्षताको उसकी अन्तिम तार्किक परिणतितक पहुंचानेकेलिये ही महाप्रभुने दोनोंके बीच एकवाक्यताको अनावश्यक सिद्ध करनेवाली शङ्का उठा कर प्रतिशङ्काके रूपमें तब ‘‘वेदान्तको वेद भी माननेकी आवश्यकता रह नहीं जायेगी’’ ऐसे निष्कर्ष तक पहुंचा दिया! एतदर्थ औपनिषदिक ज्ञानोचित चित्तकी शुद्धिकेलिये नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके निर्वाहकी धारणाके आधारपर यदि एकवाक्यता कथञ्चित् प्रस्तुत करनी हो तो, पूर्वकाण्डविहित कर्मोंके प्राधान्यकी धारणाके आधारपर, कर्मोचित चित्तशुद्धिकी तरह; या कर्मोचित देश काल द्रव्य कर्ता मन्त्र या कर्म के शुद्ध्यर्थ ही उत्तरकाण्डनिरूपित ज्ञानको क्यों स्वीकारा नहीं जा सकता?

अतएव महाप्रभु ‘‘ब्रह्मवादेन सर्वस्यापि ब्रह्मत्वे अवगते ब्रह्मण्येव

यज्ञः प्रतिष्ठितो भवति, अयज्ञकालेऽपि ब्रह्मात्मत्वं सिद्ध्यति'' विधान करते हैं. ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'', ''तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा एकः सन् एतत् त्रयम्'' या ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि'' सदृश औपनिषदिक उपदेशोंके आधारपर अयज्ञकालमें भी प्रत्येक जागतिक नाम रूप एवं कर्मों की ब्रह्मात्मकता और तन्मूलक वैदिकता=वेदोक्तकर्मोपयोगार्हता भी सिद्ध हो जाती है.

इतना तो सुस्पष्ट ही है कि यहां महाप्रभु सिद्धान्तमुखसे ब्रह्मवादका उपपादन करनेके बजाय प्रत्याशङ्कामुखसे निरूपण कर रहे हैं. अस्तु.

वैसे केवल निष्कामता और निष्कर्मता को ही वेदके पूर्वोत्तर काण्डोंके श्रीशङ्कराचार्याभिप्रेत भेदका निकष मान कर चलें तो कुछ और ही चित्र उभर कर सामने आता है, जिसे महाप्रभु अग्रिम ग्रन्थभागमें निरूपित कर रहे हैं:—

अतः कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम् ॥३०॥
अनारभ्याधीतगार्ह्यस्मार्ता इव भवेद् यदि।
प्रक्रिया महतां वृत्तिः स्वातन्त्र्यं चात्र तेन न॥३१॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं श्रेयः स्मार्तं न वैदिकम्।
पुरुषेक्षावशेनैते साध्यसाधनतां गताः॥३२॥
अलौकिको हि वेदार्थः प्रमाणान्तरगो नहि।
परमात्मविचारेण ते चत्वारो ह्यलौकिकाः॥३३॥
धर्मे ब्रह्मणि च प्रोक्ताः फलत्वेन तथैव ते।

''विराजमभिसम्पद्यते'' (तै.सं.७।१।१।१).
''वसीयान् भवति'' (तै.सं.३।१।७।४).
''कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति'' (तै.सं.६।१।६।६).
''प्रजापतैरेव सायुज्यमुपैति'' (श.ब्रा.१२।१।३।२ !).

“न स पुनरावर्तते” (छां.उ.८।१५।१).
“य एवं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवानन्नादो भवति. महान्
भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन” (तै.उ.३।६) इत्यादि.

भावार्थ : वेद और वेदान्त, यदि एक ही ग्रन्थ हों, दोनोंका विषय और प्रयोजन भी एक ही हो; और वेदोक्त नित्य नैमित्तिक या काम्य कर्मोंमेंसे किसी भी कर्मके अङ्गतया, अङ्गितया, विकल्पतया या अनुकल्पतया इन वेदान्तोक्त अनेकविध विद्याओंका समायोजन भी शक्य न हो पाता हो तो गृह्यसूत्रोक्त कर्मों या अन्यान्यस्मृत्युक्त कर्मो की तरह ही इन विद्याओंकी प्रक्रियाको भी अनारभ्याधीत=स्वतन्त्र साधनतया स्वीकारना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें स्मार्त कर्मोंके बारेमें महर्षि जैमिनिने, जो निर्णय पूर्वमीमांसासूत्र (१।३।१।१) के अधिकरणमें दिया है, उसे ही वेदान्तोक्त साधनाओंपर भी लागू कर लेनेपर, अलगसे वेदान्तमीमांसा करनेका भी कोई प्रयोजन नहीं बच जायेगा. अतः या तो औपनिषदिक साधनाओंकी वैदिकी अवश्यकर्तव्यता कुण्ठित हो जायेगी या फिर धर्मजिज्ञासार्थ प्रवृत्त होनेके बावजूद श्रुतिविहित समग्र कर्मोंका विचार महर्षिजैमिनि कर नहीं पाये ऐसी न्यूनता उनकी मीमांसामें स्वीकारनी पड़ेगी. ऐसी स्थितिमें वेदके इन पूर्वोत्तर काण्डोंमे निरूपित धर्मार्थकाममोक्षसाधक उपायोंको अपनानेकी न तो महापुरुषोंकी वृत्ति[=वर्तन/व्यवहार/आचरण]की और न पूर्वकाण्डीय अन्यान्य कर्मोंसे इन औपनिषदिक साधनाओंके स्वातन्त्र्यकी भी कोई उपपत्ति रह जायेगी. श्रौत=वैदिक धर्मार्थकाममोक्ष, चाहे वह वेदके पूर्वकाण्डस्थ हों

या उत्तरकाण्डस्थ हों, स्मार्त हो ही नहीं सकते. मन्द-मध्यमकक्षाके तत्तद् अधिकारी पुरुषोंके दृष्टिकोणवश इनमें साध्य-साधनभाव भले लगता हो परन्तु वेदार्थके अलौकिक होनेके कारण वह अन्य किसी प्रमाणका विषय तो हो नहीं सकता है. अतएव वेदके, पूर्वोत्तर काण्डोंमें निरूपित, धर्मार्थकाममोक्षरूप चारों ही पुरुषार्थ परमात्मविचारसे तो अलौकिक ही होते हैं. अतः धर्म या अर्थ या काम अथवा मोक्ष, चाहे धर्ममीमांसामें निरूपित हों या ब्रह्ममीमांसामें निरूपित हों, सभीके सभी फलरूप ही होते हैं.

"[अनुष्ठित होनेपर]यह सोमयाग विराट्के रूपमें अभिसम्पन्न हो जाता है"(तै.सं.७।१।१।१).

"[देवताको उद्देश्य बना कर द्रव्यत्यागरूप याग जब साङ्गोपाङ्ग क्रतुरूप बन जाता है तब कर्मकर्ता] वसीयान्=धनवत्तम बन जाता है" (तै.सं.३।१।७।३).

"[सोमक्रय करते समय जो पुरुष वेदगान करता है] उसके बारेमें स्त्रियां कामनाशील बन जाती हैं" (तै.सं.६।१।६।६).

"[जो प्रजापतिका देवतया यजन करता है उसके यागमें प्रजापति देवता बन जाता है और वह] प्रजापतिमें सायुज्य [या] प्रजापतिके लोकमें सालोक्यको प्राप्त कर लेता है" (श.ब्रा.१२।१।३।२१).

"[आचार्यकुलमें वेदाध्ययन सम्पन्न करके,

> स्मृत्युक्त विधानोंके अनुसार गुरुके प्रति अपने कर्तव्योंको पूर्ण करके, स्वकुटुम्बमें समावर्तनके बाद, पवित्र स्थानमें स्वाध्यायको निभाते हुवे, धार्मिक कर्तव्योंको निभाते हुवे, इन्द्रियोंको स्वहृदयस्थित ब्रह्ममें एकाग्र बनाते हुवे, शास्त्रविहित अवसरके अलावा कभी हिंसा न करते हुवे, आजीवन इन नियमोंको अपने कुटुम्बमें निभानेवाला ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है] वह लौट कर कभी संसारमें नहीं आता — कभी नहीं लौटता है'' (छा.उ.८।१५।१).
>
> ''[भृगुकी खोजी हुयी और वरुणकी कही हुयी यह वह विद्या है कि जो अन्नमय कोशसे प्रारम्भ हो कर हृदयगुहामें स्थित आनन्दाद्वैतमें पर्यवसित होती है. जो भी कोई तपआदि साधनप्रणालीद्वारा अन्नादि कोशोंके भीतर अनुप्रविष्ट हो कर आनन्दरूप ब्रह्मको पा लेता है वह स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है.] वह न केवल अन्नवान् प्रत्युत अन्नोपभोगमें सक्षम, पुत्रादि प्रजासन्तति और पश्वादि धन से सम्पन्न तथा ब्रह्मवर्चस्=शम-दमादिके तेजसे युक्त महान् बन जाता है'' (तै.उ.३।६)[१].

यहां हम देख सकते हैं कि महाप्रभुद्वारा उद्धृत पूर्वकाण्डीय प्रथम चार श्रुतियोंमें क्रमशः धर्म अर्थ या काम की तरह ही मोक्षकी भी सिद्धि कर्मलभ्यतया निरूपित हुयी ही है.

---

[१] उल्लिखित वचनोंमें पत्रावलम्बनके तृतीय संस्करणके सम्पादकद्वारा शतपथब्राह्मणके वचनतया प्रस्तावित उद्धृत वचन — ''प्रजापतेरेव सायुज्यमुपैति'' वस्तुतः यथाश्रुत रूपमें शतपथमें उपलब्ध नहीं होता है. वहां उपलब्ध पाठ इस तरह है — ''प्रजापतेः सायुज्यं सलोकतां जयन्ति'' (श.ब्रा.१२।१।३।२१).

इसी तरह उत्तरकाण्डीय अन्तिम दो श्रुतियोंमेंसे प्रथममें ब्रह्मप्राप्तिके अधिकारीकेलिये संन्यासाश्रमकी अनिवार्यता स्वीकारे बिना गार्हस्थ्य भी अनुज्ञात ही है; तथा द्वितीय वचनमें औपनिषदब्रह्मकी ज्ञानोपासनाके फलतया केवल मोक्ष ही नहीं अपितु अन्न प्रजा धन तथा ब्रह्मवर्चस्

इसके अलावा दो और श्रुतिवचन—"इदं सर्वं प्रजापतिः" तथा "अमृतीभवति" भी मातृकाओंमें उपलब्ध होते हैं ऐसा पूर्वमुद्रित तीनों संस्करणोंमेंसे आद्य दो संस्करणोंके सम्पादक श्रीमोहनलाल और श्रीतेलीवाला स्वीकारते हैं. तृतीय संस्करणके सम्पादक श्रीगोविन्दलाल 'अमृती'के स्थानपर "अमृतो भवति" पाठसम्भावनाके आधारपर प्रश्नोपनिषद् (३।११।६।५)के वचनतया उसे प्रस्तावित करते हैं. पत्रावलम्बनके प्राचीनतम व्याख्याकार श्रीगिरिधरजीकी 'तत्त्वविवेक' विवृतिके आधारपर यह निर्णय ले पाना कठिन है कि उनको उपलब्ध मूलपाठमें ये आठों श्रुतियां थी कि नहीं. श्रीपुरुषोत्तमजीके विवरणके अनुसार यह प्रतीत होता है कि महाप्रभुने सर्वप्रथम यहां कमसे कम तीन पूर्वकाण्डीय श्रुतियां "विराज..." इत्यादि अवश्य उद्धृत की हैं; और बादमें दो उत्तरकाण्डीय वचन "न स पुनरावर्तते" (छा.उ.८।१५।१) तथा "यएवं वेद... ब्रह्मवर्चसेन" (तै.उ.३।६) उद्धृत किये हैं. अतः तृतीय संस्करणके सम्पादकके सूचनके अनुसार द्वितीय क्रमावस्थित "अमृती भवति" वचनको प्रश्नोपनिषद्गत "अमृतो भवति" वचनका प्रामादिक पाठ तो स्वीकारा नहीं जा सकता है. इसी तरह मुद्रित पत्रावलम्बनके प्रथम संस्करणकी मातृकाओंमें अनुपलब्ध परन्तु द्वितीय तथा तृतीय संस्करणोंके सम्पादकोंको उपलब्ध मातृकाओंमें जो दो पूर्वकाण्डीय वचन अधिक मिले हैं, इनका श्रुत्युपलब्ध सदृशपाठ तृतीय संस्करणके सम्पादकने "वसीयान् भवति" (तै.सं.३।१।७।४) तथा "कामुकाः एनं स्त्रियो भवन्ति" (तै.सं.६।१।६।६) सूचित किया है, इन शुद्धपाठोंके स्थानपर "वशीयान् भवति" तथा "सनिमेषान् कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति" पाठोंको प्रामादिकपाठ भी माना है. तब भी इन दोनों वचनोंका उत्तरकाण्डीय दो वचनोंके मध्यपाती होना श्रीपुरुषोत्तमजीको प्राप्त मूलपाठसे सङ्गत नहीं लगता है. अतः मैंने इन्हें ऊपर योजित कर दिया है. अन्यथा यथाश्रुत रूपमें ये दो वचन— "अमृती भवति" तथा "इदं सर्वं प्रजापतिः" कहांसे उद्धृत हैं यह पता लगाना कठिन काम है. हां तृतीयसंस्करणके सम्पादकके अनुमानके अनुसार प्रश्नोपनिषद् (३।३।११) में उपलब्ध होते "अमृतो भवति" के स्थानपर यदि किसी अनुलिपिकारके प्रमादवश "अमृतीभवति" अशुद्ध

अर्थात् व्युत्क्रमशः धर्म अर्थ तथा काम भी मोक्षके साथ ही साथ सिद्ध होते दिखलाये गये हैं.

महाप्रभुद्वारा उद्धृत इन श्रुतिवचनोंमेंसे पूर्वकाण्डीय वचनोंका भावार्थ हमने श्रीसायणाचार्यके भाष्य अनुसार तथा उत्तरकाण्डीय वचनोंका भावार्थ श्रीशङ्कराचार्यके भाष्य के अनुसार देनेका प्रयास किया है, ताकि मायावादके बारेमें महाप्रभुको विवक्षित अनुपपत्ति स्फुट हो पाये.

इस तरह हम देख सकते हैं कि उत्तरकाण्डमें निरूपित फलोंके जैसे ही फल पूर्वकाण्डमें भी निरूपित हुवे हैं; और इसी तरह उत्तरकाण्डमें निरूपित अमृतत्व या सायुज्यादिरूप मोक्ष पूर्वकाण्डीय कर्मोके फलतया उपदिष्ट ही न हुवे हों ऐसा भी तो नहीं है. दोनों ही काण्डोंमें धर्म अर्थ काम और मोक्ष रूपी चतुर्विध फल निरूपित हुवे ही हैं. अतः पूर्वमीमांसकोंद्वारा उपनिषदोंका गौण प्रामाण्य स्वीकारना या शाङ्करवेदान्तियोंद्वारा संहिता-ब्राह्मण-आरण्यकोंका गौण प्रामाण्य स्वीकारना कथमपि उपपन्न

पाठका प्रचलित होना स्वीकार लें तो, इसे भी आवश्यक न होनेपर भी यथाकथञ्चित् सन्दर्भोपात्त वचनतया स्वीकारा जा सकता है. इन सारे तथ्योंको दृष्टिगत रखते हुवे कुछ वचन मैंने छोड़ ही दिये हैं तथा अवशिष्ट वचनोंको स्वबुद्ध्या योजित करनेका प्रयास किया है. वैसे श्रीगिरिधरजी श्रीलालुभट्टजी तथा श्रीपुरुषोत्तमजी तीनों ही व्याख्याकार अलग-अलग पाठ पत्रावलम्बनके दिखलाते हैं. मुझे इस विषयमें यह लगता है कि मूल पत्रावलम्बन पद्यात्मक ही रहा होगा परन्तु विषयकाठिन्यके विचारवश, सेवाफलपर जैसे महाप्रभुका स्वोपज्ञ टिप्पण्यात्मक विवरण है, ऐसा ही यहां भी आपश्रीने लिखा होगा. परवर्ती कालमें अनिबद्ध पन्नोंके कारण पंक्तिव्यत्यास हो जानेके कारण यह पाठभेदकी समस्या विकराल रूप ले गयी होगी. इस धारणाके आधारपर पद्यभागको मूलतया तथा गद्यभागको टिप्पणीतया योजित करके पढ़नेके प्रयासमें जहां जो गद्यांश जुड़ता लगा तदनुसार जोड़नेका प्रयास मैंने किया है. इस कारणसे निजवाणीमें कुछ अन्यथात्व हो गया हो तो मुझे स्वकीय जान कर मेरी इस मूढ़ताको महाकारुणिक महाप्रभु अवश्य क्षमा करेंगे ही! गो.श्या.म.

हो पाये ऐसी कथा नहीं है.

मूलमें जो अतीव सावधानीके साथ ध्यानमें रखने लायक बात है वह यह है कि स्वयं श्रीशङ्कराचार्यने भी शब्दप्रमाणैकगम्य अर्थके निरूपण करते समय श्रुतियोंके गौणार्थकी कल्पनाको अनुचित माना है [पूर्वोदाहृत : ब्र.सू.१।१।७ शा.भा.गत "अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टो नच एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणीकल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसङ्गात्"] यह तो हम देख ही गये हैं. फिरभी उभयलिङ्गाधिकरण (ब्र.सू.३।२।११-२१) तथा प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण (ब्र.सू.३।२।२२-३०) में स्वाभ्युपगत उपपत्तिको विस्मृत करके निर्विशेष ब्रह्मके बारेमें श्रुतियोंका मुख्य तात्पर्य तथा सविशेष ब्रह्मके बारेमें गौण तात्पर्य स्वीकारा है. यह तो विस्मयजनक बात ही है कि ऐसा स्वीकारते समय श्रीशङ्कराचार्य अपनी इस निम्नोद्धृत धारणाको पूर्णतया पकड़ना नहीं चाहते हैं:—

> कथञ्च "नेति-नेति" इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषायाः देवतायाः सर्वशक्तियोगः सम्भवेद् इति चेद्... श्रुत्यवगाह्यमेव इदम् अतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्. नच "यथा एकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा अन्यस्यापि सामर्थ्येन भवितव्यम्" इति नियमो अस्ति, इति प्रतिषिद्धसर्वविशेषस्यापि ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगः सम्भवति इति एतदपि अविद्याकल्पितरूपभेदोपन्यासेन उक्तमेव. तथाच शास्त्रम्— "अपाणिपादो जवनो ग्रहिता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" इति अकरणस्यापि ब्रह्मणः सर्वसामर्थ्ययोगं दर्शयति (ब्र.सू.भा.२।२।३१).
>
> भावार्थ: "नेति-नेति" श्रुतिवचन जबकि ब्रह्ममें किसी भी तरहके विशेषकी सम्भावनाका निषेध करता है, तब ऐसे ब्रह्ममें सृष्ट्युत्पादक सर्वशक्तियोग

> कैसे सम्भव हो सकता है? कैसे, परन्तु, ऐसा होता है उसकी प्रक्रिया तो पहले ही निरूपित की जा चुकी है. इसके अलावा श्रुतिमात्रावगम्य ब्रह्म जैसे अतिगम्भीर विषयको तर्कके आधारपर समझा भी तो नहीं जा सकता है. और ऐसा भी कोई नियम स्वीकारा तो नहीं जा सकता कि जैसी सामर्थ्य एक किसी वस्तु या व्यक्ति की हम देख-जान पाये हों, वैसी ही सामर्थ्य अन्य सभी वस्तुओं या व्यक्तियों की भी हमें अवश्य स्वीकारनी ही चाहिये. अतः निर्विशेष होनेपर भी सृष्टिके उत्पत्ति-स्थिति-लय करनेमें समर्थ हो पाये, ऐसी सारी शक्तियोंसे संयुक्त ब्रह्म क्यों नहीं हो सकता है! अविद्याकल्पित रूप ब्रह्मका कुछ अन्यथा भी हो ही सकता है, यह तो कहा ही जा चुका है. ''वह, हाथ-पैरके बिना ही तेज दौड़ कर चाहे जिसको पकड़ सकता है, आंखोंके बिना सब कुछ देख सकता है; और कानोंके बिना सुन भी सकता है'' ऐसे वचनोंमें करणरहित ब्रह्ममें सर्वविध सामर्थ्योंका निरूपण उपलब्ध होता ही है.

यदि सचमुचमें ब्रह्म निर्विशेष ही हो और जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-लयकी ब्रह्मसामर्थ्य अविद्याकल्पित ही हों तो किसी दरिद्रके चक्रवर्ती सम्राट् होनेकी मोहकल्पित धारणासे अधिक गाम्भीर्य ब्रह्मका सिद्ध नहीं हो पाता! क्योंकि तब तो ऐसा कोई दरिद्र भी कोश-दुर्ग-सेना-अमात्य-भूमि-प्रजा आदि साम्राज्यघटक कलापोंके बिना भी सम्राट्के सारे कर्तव्योंको निभा ही सकता है! साधारण राजा इन साम्राज्यघटक कलापोंके बिना चक्रवर्ती न भी बन

पाता हो, एतावता मोहग्रस्त दरिद्रमें भी ऐसी सामर्थ्य नहीं होती, ऐसा सोचना अनुचित हो जायेगा!

इस सन्दर्भमें प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणमें श्रीशङ्कराचार्यने जो शङ्का-समाधान किये हैं वे भी अवलोकनीय हैं:—

> तत्र को अस्य प्रतिषेधस्य विषयः इति जिज्ञासामहे. नहि अत्र 'इदं'-'तद्' इति विशेषितं किञ्चित् प्रतिषेध्यम् उपलभ्यते. 'इति' शब्देनतु अत्र प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते, "न-इति न-इति" 'इति' परत्वात् 'नञ्' प्रयोगस्य. 'इति' शब्दश्च अयं संनिहितालम्बनः 'एवं' शब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते— "इति ह स्म उपाध्यायः कथयति" इत्येवमादिषु. संनिहितञ्च अत्र प्रकरणसामर्थ्याद् रूपद्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणः; तच्च ब्रह्म यस्य एते द्वे रूपे. तत्र नः संशयः उपजायते— किम् अयं प्रतिषेधो रूपे रूपवत् च, उभयमपि प्रतिषेधति आहोस्विद् एकतरम्?...
>
> [१]न तावद् उभयप्रतिषेधः उपपद्यते, शून्यवादप्रसङ्गात्. किञ्चिद्धि परमार्थम् अवलम्ब्य अपारमार्थः प्रतिषिध्यते... नापि ब्रह्मप्रतिषेधः उपपद्यते... सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गात् च...
>
> [२]नहि महता परिकरबन्धेन "ब्रह्मविदाप्नोति परम्... सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनः अभावो अभिलप्येत... प्रकृतं यद् एतावद् इयत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तद् एषः शब्दः प्रतिषेधति...
>
> [३]नच अत्र इयम् आशङ्का कर्तव्या— कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति? "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन

वरम्''! यतो न इदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति लोकप्रसिद्धन्तु इदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मप्रतिपादनाय च इति निरवद्यम् (ब्र.सू.भा.३।२।२२).

भावार्थ: ''नेति-नेति''वचनमें किस वस्तुका निषेध किया जा रहा है, यह जिज्ञासा होती है. यहां ''यह-नहीं है'' या ''वह-नहीं है'' ऐसा कोई विशेष उल्लेख तो मिलता नहीं है. 'इति' शब्दद्वारा यहां किसी न किसी का निषेध हो रहा है, इतना ही केवल स्पष्ट हो पाता है, ''न-इति न-इति'' शब्दावलीमें 'इति' के साथ 'न' का प्रयोग किया गया होनेसे. अतः यह 'इति' शब्द जो भी उसके समीपमें है, उसके साथ इस तरह जुड़ा होना चाहिये कि जिसके कारण ''ऐसा नहीं है'' यह अर्थ निकल पाये. उदाहरणतया— ''इति ह स्म उपाध्यायः कथयति=ऐसा उपाध्याय कहते थे'' वचनमें 'इति'का अर्थ दिखलायी देता है. यहां 'इति' शब्दके समीपमें प्रकरणोपात्त ब्रह्मके दो प्रापञ्चिक रूप हैं; और दूसरा स्वयं ब्रह्म कि जिसके ये दो रूप कहे गये हैं. ऐसी स्थितिमें हमें यह संशय होता है कि क्या इस निषेधद्वारा ब्रह्मके दोनों रूपोंका भी और इन दो रूपोंवाले ब्रह्मका भी निषेध हो रहा है या किसी एकतरका ही?...

[१]दोनोंका निषेध एकसाथ तो हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा करनेपर शून्यवाद ही सिद्ध हो जायेगा. किसी एक परमार्थ वस्तुको आलम्बन बना कर अपारमार्थिक वस्तुका निषेध किया जा सकता

> है... इसमें भी ब्रह्मका तो निषेध किया ही नहीं जा सकता... क्योंकि वह तो सभी वेदान्तोंसे विरुद्ध जानेवाली बात हो जायेगी...
>
> [२]पहले तो अनेक वेदान्तद्वारा इतने संरम्भके साथ उद्घोष करना कि "ब्रह्मको जाननेवाला परम तत्त्वको पा लेता है... वह परम तत्त्व ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप होता है" और फिर ऐसे उस ब्रह्मका ही पुनः अभाव भी सिद्ध करना!... प्रकृतमें यहां मूर्त और अमूर्त होनेके निरूपणमें जितना ब्रह्मको बताया गया है वह उतना ही नहीं होता है, ऐसा निषेध 'इति'शब्दद्वारा अभिप्रेत लगता है...
>
> [३]यहां यह आशङ्का भी करनी उचित नहीं है कि शास्त्र स्वयमेव ब्रह्मके दो रूपोंका निरूपण करके स्वयमेव पुनः उन रूपोंका निषेध क्यों करना चाहेगा? स्वतः ही चरणोंको पहले पङ्कमें डाल कर मलिन बनाना और फिर उन्हें धोने भी जाना, इसके बजाय पङ्कमें पग न डालना ही अधिक उचित लगता है! यह वेदान्तशास्त्र, किन्तु, ब्रह्मके रूपप्रतिपादनार्थ दो रूप प्रस्तुत नहीं करना चाहता है; प्रत्युत लोकप्रसिद्ध इन रूपोंको ब्रह्ममें कल्पित मान कर, निषेधार्थ ही उनका परामर्श करना चाहता है. अन्यथा प्रतिपादन तो शुद्धब्रह्मका ही करना चाहता है. अतः कोई दोष नहीं है.

[१]यहां सबसे पहले तो शङ्काके उपस्थापनमें ही श्रीशङ्कराचार्यने मूर्तामूर्त दोनों रूप और इन दोनों रूपोंवाले ब्रह्म के निषेधकी जो बात उठायी है, वही अतीव क्लिष्टकल्पना लगती है. क्योंकि

''नेति-नेति''की पुनरावृत्तिके कारण यह भी शङ्का उठायी जा सकती थी कि ब्रह्ममें मूर्तामूर्तादि दोनों रूपोंमेंसे एक भी रूप नहीं है या केवल मूर्त अथवा केवल अमूर्त ही ब्रह्म नहीं है अर्थात् और भी कुछ है ही. स्वयं श्रीशङ्कराचार्य भी ''प्रकृतं यद् एतावद् इयत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तद् एषः शब्दः प्रतिषेधति...'' कहते हैं तो यही शङ्का उठनी स्वाभाविक लगती है. वस्तुतः ''नेति-नेति'' वचनका, इस स्वीकृत व्याख्याके आधारपर तो, ''न-एवं–न-एवं'' अर्थके बजाय ''न-इयत्–न-इयत्'' अर्थ ही लेना उचिततर लगता है. परिणामतः स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मको निषेधद्वयके अन्तर्गत निषेध्यतया प्रसक्त माननेपर ही परिशेषतया उभयविध रूपोंके निषेधमें ''नेति-नेति'' वचन पर्यवसित हो जाता है. यदि यह निषेध उभयविध रूपोंकी इयत्ताका ही निषेध हो तो, अर्थात् स्वरूपके निषेधमें पर्यवसित न होता हो तो, मूर्तामूर्तादि रूपोंका निषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व सिद्ध ही नहीं हो पायेगा. यदि मिथ्यात्व सिद्ध न हो पाता हो तो कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा में आत्यन्तिक निरपेक्षता निष्प्रयोजन सिद्ध होगी. ऐसी स्थितिमें महाप्रभुद्वारा उद्धृत उभयकाण्डीय वचनोंद्वारा प्रतिपाद्य धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थोंके स्वरूपमें अपारमार्थिक या पारमार्थिक होनेका तारतम्य भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. अतः वेदके पूर्वोत्तरकाण्डोंमें एकका पारमार्थिक प्रामाण्य और दूसरेका व्यावहारिक प्रामाण्य यों प्रामाण्यतारतम्यकी भी अपेक्षा रह नहीं जायेगी.

[२]जितने संरम्भसे उपनिषद् ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं, उससे कहीं अधिक संरम्भसे संहिता-ब्राह्मण-आरण्यकादि यज्ञयागादि कर्मका भी प्रतिपादन करते ही हैं. जैसे 'महापरिकरबन्ध'के साथ उपनिषदोंमें निरूपित होनेके कारण ब्रह्मका अभाव नहीं स्वीकारा जा सकता, वैसे ही 'महापरिकरबन्ध'के साथ कर्म भी जो निरूपित

हुवे हैं, उनका भी अभाव स्वीकार्य कैसे हो पायेगा? यदि उनका आत्यन्तिक अभाव नहीं किन्तु व्यावहारिक सत्त्व मान्य होनेसे केवल पारमार्थिक दृष्टिसे ही अभाव स्वीकारनेकी बात कही जाये तो ऐसी ही गति ब्रह्मकी भी कहीं घटित न हो जाये, उससे ब्रह्मको बचाया कैसे जा सकेगा? वेदान्तको भी शास्त्रीय यज्ञोपकरण एवं लोकव्यवहारोपकरण में ब्रह्मदृष्टिके उपदेशद्वारा हमारे भावों और व्यवहार का केवल उदात्तीकरण चाहनेवाला एक शास्त्र क्यों नहीं मान लेना? जैसे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदद्वारा उपदिष्ट कर्मोंको चित्तशुद्ध्यर्थ स्वीकारा गया है, वैसे ही वेदतया मान्य रखे बिना भी, अधोनिर्दिष्ट तैत्तिरीयब्राह्मणोक्त प्रकारसे कर्मसाफल्यमें ब्रह्मको उपयोगी; और ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्तको भी भगवद्गीतोक्त प्रकारसे सर्वत्र यज्ञबुद्धि रख पानेमें सहायक अर्थात् आध्यासिक उपासनाके उपदेशार्थ प्रवृत्त शास्त्र क्यों नहीं मान लेना?

ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो ब्रह्म वाचः।
ब्रह्म यज्ञानां हविषामाज्यस्य॥
अतिरिक्तं कर्मणो यच्च हीनम्।
यज्ञः पर्वाणि प्रतिरन्नेति कल्पयन्।
स्वाहाकृताऽऽहुतिरेतु देवान्॥
(तै.ब्रा.३।७।११।१).

भावार्थ: सर्वजगदुपादान "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" श्रुत्युक्त ब्रह्म ही मनकी प्रतिष्ठा है और वाणीकी भी. सृष्टि-स्थिति-लयकारी होनेके कारण यज्ञकी, हविकी और आज्यकी भी प्रतिष्ठा = निर्वाहहेतु ब्रह्म ही है. अतः यज्ञानुष्ठानमें जो कुछ अविहित अधिक हो गया हो या विहित होनेपर भी न्यून रह गया हो, उसे परमयष्टव्य परब्रह्म फलप्रद बनाता

है. वही ब्रह्म पर्वात्मक यज्ञकालकी वृद्धि करता है, अर्थात् हमसे निरन्तर यज्ञानुष्ठान कराता है. अतः उसीके कारण यह स्वाहाकृत आहुति देवताओंतक पहुंचे! (सायणभाष्यानुसारी).

इसी तरह भगवद्गीताके इन श्लोकोंके अवलोकन करनेपर भी पूर्वोक्त सम्भावना स्फुट होती ही है:—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
....।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥
....।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥
(भ.गी.४।२३-३१)

भावार्थ: विषयोंके सङ्गको छोड़ कर केवल ज्ञानमें अपने चित्तको स्थिर कर लेनेवाले मुक्त अधिकारीद्वारा यज्ञार्थ किया जाता कर्माचरण स्वयं ही लीन हो जाता है. अर्पणकी क्रिया ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है और हवन करनेवाला भी यदि ब्रह्म ही हो तो ऐसी ब्रह्मकर्मकी समाधिद्वारा वह पहुंचेगा भी ब्रह्मके पास ही.

अन्य कुछ योगी दैव यज्ञकी उपासना करते

> हैं. दूसरे जबकि ब्रह्माग्निमें यज्ञोंकी ही आहुती दे देते हैं. कुछ ऐसे भी होते हैं कि जो श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी आहुती संयमाग्निमें देते हैं जबकि अन्य कुछ शब्दादि विषयोंकी आहुती इन्द्रियाग्निमें देते हैं. ...यज्ञोंके इन विविध प्रकारोंको जाननेवाले तत्तत् प्रकारके यज्ञोंद्वारा अपने कल्मषोंको दूर कर लेते हैं... किसी न किसी तरहके यज्ञके अनुष्ठानके बिना तो यह लोक भी निभ नहीं पाता तो दूसरे लोकोंकी तो चर्चा ही क्या?

[३]"श्रुतियोंमें ब्रह्मके प्रापञ्चिक मूर्तामूर्तादि रूपोंका निरूपण प्रतिपादनार्थ नहीं किन्तु ब्रह्ममें कल्पित लोकसिद्ध रूपोंका आरोप लगा कर केवल प्रतिषेधार्थ ही है" ऐसी धारणाका जहां तक सवाल है, तो यह तो स्वीकारा जा सकता है कि मूर्तामूर्तादि रूप लोकसिद्ध होते हैं. अधिष्ठान, परन्तु, स्वयं जब लोकसिद्ध न हो तो आरोप लगाया ही कैसे जा सकेगा? साक्षिचैतन्यको स्वतःसिद्ध मान लेनेपर भी उसका ब्रह्मत्व तो स्वतःसिद्ध नहीं हो जाता. ऐसी स्थितिमें स्वयं स्वैकवेद्य ब्रह्मको अधिष्ठानतया स्वीकार कर स्वयं वेदान्त ही उसपर जगत्कर्तृत्वादि धर्मोंका आरोप भी लगाये और बादमें अपवाद भी करे तो पुनः 'पङ्कप्रक्षालन'न्यायका ही अनुसरण वेदान्त भी कर रहा है यह स्वीकारना पड़ेगा! इसके अलावा "द्वैतप्रपञ्चके आरोपका अधिष्ठान निर्विशेष ब्रह्म है" यह तथ्य लोकसिद्ध है कि वेदसिद्ध? यदि लोकसिद्ध मानते हैं तो अधिगतार्थका ज्ञापन किये जानेके कारण इसमें भी श्रुतिका तात्पर्य स्वीकारा नहीं जा सकेगा. तब तो ब्रह्म निर्विशेष भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. यदि मूर्तामूर्तादि रूपोंके अधिष्ठानतया ब्रह्मका प्रतिपादन श्रुत्यभिप्रेत ही स्वीकारते हैं तो पुनः 'पङ्कप्रक्षालन' न्यायकी सावधानी श्रुति क्यों बरतना नहीं चाहती?

इससे यह सिद्ध होता है कि महाप्रभुद्वारा उद्धृत [क]छान्दोग्योपनिषद् और [ख]तैत्तिरीयोपनिषद् के वचनोंका स्वारसिक अभिप्राय विचारनेपर औपनिषदिक ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है इसमें तो सन्देहको कोई अवकाश नहीं है. ब्रह्मज्ञानके कारण, परन्तु, सारा द्वैतप्रपञ्च बाधित हो जाता है, अतः वेदके पूर्वोत्तर काण्डगत ऐसा कोई भी निरूपण कि जिससे द्वैत सिद्ध हो पाता हो उसे मिथ्या या व्यवहारमात्रसत्य अर्थात् अध्यारोपपूर्वक अपवादार्थ श्रुतिवर्णित मानना चाहिये, ऐसी शाङ्करवेदान्तकी धारणा वाल्लभवेदान्तको सर्वथा अमान्य है, धन-धान्य-सन्तति और धर्म यों चतुर्विधपुरुषार्थोंकि ब्रह्मज्ञानसे भी सिद्ध होनेके उल्लेखके कारण! अतएव इन दोनों वचनोंके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यके ही व्याख्यानोंपर भी थोड़ा-बहुत दृष्टिक्षेप आवश्यक हो जाता है:—

> [क]यथा इह... प्रकाशिता आत्मविद्या सफला अवगम्यते तथा कर्मणां न कश्चन अर्थः इति प्राप्ते, तदानर्थक्यप्राप्तिपरिजिहीर्षया इदं कर्मणो विद्वद्भिः अनुष्ठीयमानस्य विशिष्टफलवत्त्वेन अर्थवत्त्वम् उच्यते. ''आचार्यकुलाद् वेदम् अधीत्य''=सह अर्थतो अध्ययनं कृत्वा... एवं हि नियमवता अधीतो वेदः कर्मज्ञानफलप्राप्तये भवति न अन्यथा इति अभिप्रायः. 'अभिसमावृत्य'=धर्मजिज्ञासां समापयित्वा... न्यायतो दारान् आहृत्य 'कुटुम्बे'=स्थित्वा गार्हस्थ्ये विहिते कर्मणि तिष्ठन् इति अर्थः... ''स्वाध्यायम् अधीयानो''=नैत्यकम् अधिकं च यथाशक्ति... कुर्वन् पुत्रान् शिष्यान् च धर्मयुक्तान् 'विदधद्'=धार्मिकत्वेन तान् नियमयन्, स्वहृदये हार्दे ब्रह्मणि ''सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य''=... कुटुम्बएव एतत् सर्वं कुर्वन्... देहान्ते ''नच पुनरावर्तते''= शरीरग्रहणाय... पुनरावृत्तेः

प्राप्तायाः प्रतिषेधाद् अर्चिरादिना मार्गेण कार्यब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्य यावद् ब्रह्मलोकस्थितिः तावत् तत्रैव तिष्ठति प्राक् ततो न आवर्तते (छा.उ.८।१५।१).

भावार्थ : यहां प्रकट की गयी आत्मविद्याका जैसा साफल्य लगता है वैसा कोई अर्थ कर्मोंसे भी सिद्ध होता हो ऐसा लगता नहीं है. अतः उस आनर्थक्यके परिहारकेलिये ज्ञानियोंद्वारा अनुष्ठित कर्मोंका विशिष्ट फल दिखलानेको यहां कर्मसार्थकता कही जा रही है. आचार्यकुलमें रह कर अर्थसहित वेदका अध्ययन करके... अर्थात् इस तरह नियमपूर्वक वेद पढ़नेपर ही कर्म और ज्ञान रूपी फलकी प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं ऐसा अभिप्राय है. 'अभिसमावृत्य'का अर्थ होता है : धर्मजिज्ञासाद्वारा पूर्वकाण्डका पूर्ण अध्ययन करना. ...किसी स्त्रीको न्यायपूर्वक पत्नी बना कर कुटुम्बमें रहते हुवे, गार्हस्थ्योचित विहित कर्मोंको निभाते हुवे, ...स्वाध्यायका अध्ययन करते हुवे, अर्थात् नित्यकर्मोंको यथाशक्ति या कुछ अधिक ही निभाते हुवे, ...पुत्रों और शिष्यों को धर्मयुक्त बनाते हुवे, स्वयं भी धार्मिक रहते हुवे, स्वहृदयमें अर्थात् ब्रह्ममें अपनी सभी इन्द्रियोंको सम्प्रतिष्ठित करते हुवे, ...कुटुम्बमें रहते हुवे ही ऐसा सब कुछ निभाते हुवे, ...देहके छूटनेपर फिर लौट कर शरीरग्रहणद्वारा जन्म-मरणके चक्रमें कभी फंसता नहीं है... पुनरावृत्तिका प्रसङ्ग उठ खड़ा हुवा होनेपर उसके प्रतिषेधके कारण अर्चिरादिके मार्गसे कार्यरूप ब्रह्मलोकको प्राप्त करके जब तक ब्रह्मलोककी स्थिति है तब तक वहीं रहते हुवे उससे पहले कभी लौटता नहीं है.

[ख]अधुना आख्यायिकातो अपसृत्य श्रुतिः स्वेन वचनेन आख्यायिकानिर्वृत्तम् अर्थम् आचष्टे. सैषा...विद्या 'परमे व्योमन्'=हृदयाकाशगुहायां परमे आनन्दे अद्वैते 'प्रतिष्ठिता'=... ''यः एवम्''=अन्योऽपि तपसैव साधनेन अनेनैव क्रमेण अनुप्रविश्य आनन्दं ब्रह्म 'वेद'=स एवं विद्याप्रतिष्ठानात् 'प्रतितिष्ठति'=आनन्दे परमे ब्रह्मणि, ब्रह्मैव भवति इति अर्थः. दृष्टञ्च फलं तस्य उच्यते: अन्नवान् अन्नादो भवति प्रजया पशुभिः ब्रह्मवचर्सेन महान् कीर्त्या. 'अन्नवान्'=प्रभूतम् अन्नम् अस्य विद्यतइति अन्नवान्, सत्तामात्रेणतु सर्वो हि अन्नवानिति विद्यायाः विशेषो न स्यात्. एवम् अन्नम् अत्तीति, 'अन्नादो'=दीप्ताग्निः भवति इति अर्थः. ''महान् भवति'' केन महत्त्वम्? इत्यतः आह — 'प्रजया'=पुत्रादिना 'पशुभिः'=गवाश्वादिभिः 'ब्रह्मवर्चसेन'= शमदमज्ञानादिनिमित्तेन तेजसा. ''महान् भवति कीर्त्या''=ख्यात्या शुभप्रचारनिमित्तया (तै.-उ.भा.३।६).

भावार्थ: आख्यायिकासे आगे बढ़ कर अब स्वयं श्रुति उसके फलितार्थका निरूपण कर रही है. यह वह... ब्रह्मविद्या है कि जो परम व्योमरूप अर्थात् हृदयाकाशकी गुहामें स्थित परम आनन्द अद्वैतमें प्रतिष्ठित है... अन्य जो भी कोई इस तरह तपके ही साधनसे इसी क्रमसे अनुप्रविष्ट होता है, अर्थात् आनन्दरूप ब्रह्मको जान लेता है, वह इस विद्यामें प्रतिष्ठित हो जानेके कारण परमानन्दरूप ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित हो जाता है, ''स्वयमेव ब्रह्म बन जाता है'' ऐसा अर्थ है. इसका कुछ दृष्टफल भी श्रुति कहना चाहती है: ऐसा

> ब्रह्मज्ञानी अन्नवान् अन्नभोक्ता बन जाता है, वह प्रजा-सन्ततिवाला पशुआदिसे सम्पन्न ब्रह्मवर्चस्वी और महान् यशस्वी बन जाता है. 'अन्नवान्'=प्रचुर अन्न जिसके पास हो ऐसा अन्नवान्, क्योंकि अन्यथा अन्नमय शरीरकी सत्ता मात्रसे तो प्रत्येक प्राणी अन्नवान् होता ही हो तो ब्रह्मज्ञानीका क्या वैशिष्ट्य सिद्ध होगा! इसी तरह अन्नका उपभोग करनेसे, 'अन्नादो'=सुदीप्त जठराग्निवाला बन जाता है, ऐसा अर्थ जानना चाहिये. "महान् भवति" किस बातका महत्त्व? इसका स्पष्टीकरण है — 'प्रजया'=पुत्रपौत्रादि सन्तति, 'पशुभिः'=गाय-घोड़ा आदि; और 'ब्रह्मवर्चसेन'=शम दम ज्ञान आदि हेतुवश पनपी तेजस्विता. इनके कारण "महान् भवति कीर्त्या"=सर्वत्र शुभ प्रचाररूपा ख्यातिके द्वारा वह महान् बन जाता है.

तैत्तिरीयोपनिषद्के भाष्यके व्याख्याकार श्रीआनन्दज्ञानको यहां स्पष्टीकरण देना पड़ा है कि "ऐसा यह दृष्टफल ब्रह्मवेत्ताको भी जीवन्मुक्त होनेके कारण ही अविद्याके साथ जो कुछ सम्बन्धलेश बचा रहता है और अतएव द्वैतावभासकी अनुवृत्तिके कारण सम्भव हो सकता है. अतः इस निरूपणमें कुछ भी अनुपपन्न नहीं है" (वहीं). यह तो ठीक है कि ब्रह्मज्ञानके कारण, अज्ञानके आवरणांशकी निवृत्तिके बाद भी, विक्षेपांशकी अनुवृत्तिके वश जीवन्मुक्ति क्रममुक्ति और सद्योविदेहमुक्ति के द्वैत केवलाद्वैतवादियोंने जो मान्य कर रखे हैं, सो तदनुसार जीवन्मुक्तको ये फल मिल ही सकते हैं. ब्रह्मज्ञानमें, परन्तु, फिर संन्यासाश्रमकी अनिवार्यता तथा ब्रह्मज्ञानके सकलद्वैतोपद्रवके निवारक होनेकी कथापर बहोत बड़ा प्रश्नचिह्न तो लग ही जाता है. यही बात महाप्रभु भी कहना चाहते

हैं कि ब्रह्मज्ञानसे द्वैतघटित विकल्पोंका अवगाहन करनेवाली बुद्धि निवृत्त होती है—द्वैतघटित विकल्प नहीं. क्योंकि वह तो जीवकी अविद्याग्रस्तबुद्धिसे कल्पित नहीं हो सकता है. वैसा, क्योंकि, होता तो अविद्याकी "नासीद्-नास्ति-न भविष्यति" रूपा निवृत्ति या बाध करनेवाले ब्रह्मज्ञानके बाद सम्बन्धलेश भी रहना नहीं चाहिये. यह कहा जाता है कि सञ्चित और प्रारिप्सित कर्मोंका बाध हो जानेपर भी प्रारब्धकर्म फलोपभोगद्वारा ही निवृत्त होते हैं, यह तो न केवल प्रारब्धकर्मोंके ज्ञानसे भी अनिवर्त्य होनेकी स्वीकृति है प्रत्युत आवरणरहित मुक्तिके ज्ञानलभ्य होनेपर भी विक्षेपरहित मुक्तिके कर्मफलोपभोगसे लभ्य होनेकी स्वीकृतिके भी गलेपतित होनेकी कथा है. वैसे पैदा हो गये पुत्र-पौत्रादि ब्रह्मज्ञानसे बाधित न हों, यह तो किसी तरह समझमें आ पाये ऐसी कथा है परन्तु ब्रह्मज्ञानीद्वारा पुत्र-पौत्रादि संततिको पैदा करना तो प्रारब्ध कर्मकी कथा मानी नहीं जा सकती है! "अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया..." वचनके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यने यह तो स्वीकार ही लिया है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिके द्वैतप्रपञ्चको भस्मसात् करनेवाली ज्ञानाग्नि जीवन्मुक्तमें निर्विशेष परमानन्दकी अभिव्यक्ति करते समय ज्ञानाग्निके साथ ही साथ जठराग्निको भी उद्दीप्त करती है और पुत्र-पौत्रादिको भी प्रकट करवा सकती है! इससे सिद्ध हो जाता है कि विकल्पबुद्धिका ही बाध ब्रह्मज्ञानमें होता है अन्न गवाश्वादि पशु पुत्रपौत्रादि सन्तति या कीर्तिरूप विकल्पोंका नहीं. ज्ञाननिवर्त्यता ही वस्तुके सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या होनेकी कसौटी मानी गयी है. जीवन्मुक्ति और क्रममुक्ति पानेवाले ब्रह्मज्ञानियोंमें यदि ज्ञानको प्रकट हुवा नहीं मानते तो मुक्ति सिद्ध नहीं हो पायेगी और मुक्तिको स्वीकारनेपर द्वैतावभासके मूल अज्ञानको निवृत्त मानना ही पड़ेगा. अज्ञानावरणके निवृत्त होनेपर भी दग्धपटन्यायेन कर्तृत्व-भोक्तृत्वमूलक अन्न-पशु-पुत्र-पौत्र-कीर्तिरूप द्वैतविक्षेपकी अनुवृत्ति अर्थात् उसकी प्रारब्धकर्मोंकी निवृत्तिसे

निवर्त्यता ज्ञानानिवर्त्यताका प्रमाण मानी जा सकती है! स्पष्ट है कि ज्ञानानिवृत्र्य होनेपर मिथ्यात्व भी असिद्ध हो जायेगा!! इसके अलावा किसी भी जीवको इतनी उच्चकोटीका सर्वज्ञ मानना कि यह साराका सारा द्वैतप्रपञ्च उसकी कल्पना हो यह तो कथमपि कल्पनामें आनेवाली बात नहीं लगती है!

अतः सिद्ध हो जाता है कि यह जगत् सर्वभवनसमर्थ ब्रह्मके सत्यसङ्कल्पवशात् प्रकट हुवा सन्मूल सदायतन और सदात्मक (द्र. : छा.उ.६।८।४) ही है. अतएव नाम रूप और कर्म तीनों ही ब्रह्माद्वैतात्मक हैं, इसी तरह एकमेवाद्वितीय ब्रह्म स्वयं ही नाम-रूप-कर्मद्वैतात्मक हुवा है. न तो नाम-रूप-कर्म अविद्याकल्पित हो सकते हैं और न अविद्या ही ब्रह्मकी शक्तिके अलावा और कुछ हो सकती है. "सर्वं खलु इदं ब्रह्म!" (छा.उ.३।१४।१).

:: उपसंहारः ::

यह वह यौक्तिक सन्दर्भ है कि जिसकी विवक्षावश महाप्रभु मायावादका निराकरण परिपूर्ण हुवा मानते हैं:—

श्रीकृष्णस्य प्रसादेन मायावादो निराकृतः।।३४।।
अवैदिको, महादेवः तत्र साक्षी न संशयः।
ये वैदिकाः महात्मानः तेषां चानुमतिस्तथा।।३५।।
अवेदविद् न मनुते मया चोपेक्षितः पुनः।
स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः।।३६।।
काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु।
कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा।।३७।।
न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः।
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि।।३८।।
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः।।
।।इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं पत्रावलम्बनम्।।

भावार्थ: इस तरह श्रीकृष्णके कृपाप्रसादके कारण वेदसे सिद्ध न हो पानेवाले मायावादका निराकरण हो जाता है कि जिसके साक्षी स्वयं श्रीमहादेव हैं. जो वैदिक महापुरुष हैं उनकी भी इस बारेमें सहमति है ही. जिन्हें वेदोंके अर्थकी भलीभांति जानकारी नहीं, वे यह मेरी बात न भी मानते हों तो कुछ अन्तर नहीं पड़ता. क्योंकि उनकी तो मैं भी उपेक्षा ही करना चाहूंगा. सभी उपनिषदोंके आधारपर यह ब्रह्मवाद जो स्थापित हुवा है, उससे काशीपति त्रिलोकपति महादेव तो अवश्य ही सन्तुष्ट होंगे ही, फिरभी यदि किसीको कुछ इस बारेमें संशय हो तो वह अवश्य मुझसे पूछ ही सकता है. इस बारेमें भीति रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है. वेदादि शास्त्रोंका वास्तविक अभिप्राय क्या है इसका चिन्तन-मनन-विचार करते रहना—यही तो हम ब्राह्मणोंके ब्राह्मण होनेकी नियति है! यह श्रीविश्वनाथके मन्दिरके द्वारपर मेरा डिंडिमघोष है, जिसे विद्वानोंको तो सुनना ही चाहिये, क्योंकि वे ही तो सन्मार्गके सच्चे रक्षक होते हैं!!

इस तरह श्रीमद्वल्लभाचार्यद्वारा विरचित पत्रावलम्बन सम्पूर्ण हुवा.

::ग्रन्थैतिह्य::

स्वयं महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणद्वारा प्रदत्त कुछ थोड़ा-बहोत सङ्केत तो पत्रावलम्बन ग्रन्थकी उपसंहारकारिकाओंमें अन्त:साक्ष्यके रूपमें उपलब्ध होता ही है. इस सन्दर्भके साथ जुड़े अन्य विवरण बहि:साक्ष्यतया भी साम्प्रदायिक अनेक ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते ही हैं. इनके अवलोकन करनेपर पत्रावलम्बन ग्रन्थसे सम्बद्ध अन्य

ऐतिहासिक तथ्योंके चित्रकी तरह ही इस समग्र प्रकरणके बारेमें परवर्ती लेखकोंकी भावना क्या थी उसका भी चित्र उभर कर सामने आता ही है.

एतदर्थ प्रभुचरण गो.श्रीविट्ठलनाथजीद्वारा दीक्षित श्रीगोपालदास-कृत वल्लभाख्यानके ''दिग्विजय दशदिशाए कीधो परिक्रमाने व्याज...पत्रावलंबे पण्डित जीत्या मायिक मत...''(व.आ.२।९-१०) के सर्वप्रसिद्ध उल्लेखके अलावा अन्य भी उल्लेखोंको अब कालक्रमशः देख लेना उचित होगा :—

> ततः श्रीवल्लभः काश्याम् आजगाम. एतस्मिन् अन्तरे श्रीकृष्णस्य आज्ञा जाता ''त्वं गृहस्थो भव'' इति. श्रीवल्लभो न तत् मेने. तदा महान् उपद्रवो धूर्तेभ्यः कण्ठपाशलक्षणः समजनि. ततः तैः विचारितं ''पूर्वं तीर्थाटनं कुर्वतो मम किमपि उपद्रवो न जातः, सम्प्रति अत्र स्थानेऽपि जातः. एवं तत्क्लेशमुक्तिं विचार्य सुप्तम्. पुनः स्वप्ने श्रीकृष्णेन उक्तं ''विवाहं कुरु!'' इति. श्रीवल्लभो भगवन्तं प्रति आह ''किं गृहाश्रमेण? अहं त्वयैव कृतार्थो अस्मि न विषयेषु मे मनः''. भगवान् आह ''तव गृहे अहम् अवतितीर्षुः अस्मि, रूपद्वयेन.'' तयोः नाम्नी 'गोपीनाथ'-'विट्ठलेश्वरौ'-इति भगवद्वाक्यात् स्वप्नान्ते क्रमेण काश्यां गतम्. तत्र गत्वा विवाहम् अकार्षीत्. अग्निपरिग्रहश्च कृतः. ततो अग्निहोत्रादिविधिना यथादेशं यथाकालं भगवन्तं नानायज्ञैः इयाज. ततःपुनः एकदा श्रीकृष्णस्य आज्ञा समजनि ''मायावादिभिः सार्द्धं विवादं कृत्वा मायावादम् अपनय''. ततः सुदिनम् अवलोक्य भगवतो मृडानीपतेः विश्वेश्वरस्य द्वारि पत्रावलम्बनं कर्तुम् आरेभे. तद् यथा लिखितम् :—
>
> श्रीकृष्णस्य प्रसादेन मायावादो निराकृतः।

अवैदिको, महादेवस्तत्र साक्षी न संशयः ।।
ये वैदिका महात्मानस्तेषाञ्चानुमतिस्तथा ।
अवेदविन्न मनुते माया चोपेक्षितः पुनः ।।
स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः ।
काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु ।।
कस्यचित्तत्र सन्देहः स मां प्रच्छतु सर्वथा ।
न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः ।।
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि ।
विद्वद्भिः श्रवणं कार्यं तेहि सन्मार्गरक्षकाः ।।

तत्र... एवं षण्मासं यावद् विवादः समजनि. तदा 'उपेन्द्राश्रम' नामा संन्यासी सर्वश्रेष्ठः तदग्रे मध्यसस्थैः उक्तम् ''अयं कोपि अमानुषो विवादे जेतुम् अशक्यो अतो अलं विवादेन''. ततः कैश्चिद् दुरात्मभिः मारणोद्यमः कृतः. तदा श्रीमहादेवेन आज्ञा दत्ता ''अत्र न स्थातव्यं, यत्र भागवती सृष्टिः तत्र गन्तव्यम्. सर्वोपनिषदुपगीतं श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म उपदेष्टव्यम्, अत्र यादृशी भगवदिच्छा तादृशम् अस्ति''. ततो दूरे च्यवनाश्रमे 'चरणाद्रिः' इति नगरं तत्र वसतिः कृता. (सं.प्र. : कांक.संस्क.पृ.६९-७४).

भावार्थ: तब श्रीवल्लभ काशीकी ओर पधारे. इस बीच श्रीकृष्णकी आज्ञा हुयी ''तुम गृहस्थ बन जाओ''. जब श्रीवल्लभने इस आज्ञापर ध्यान नहीं दिया तब काशीमें एक महान् उपद्रव हुवा कि कुछ धूर्तोंने मिल कर श्रीमहाप्रभुके कण्ठमें फंदा बांध कर आपको कष्ट दिया. तब महाप्रभुने विचारा कि पहले तीर्थयात्रा करते समय ऐसा उपद्रव कभी नहीं हुवा पर अब नगरके समीप

पहुंचनेपर भी ऐसा उपद्रव क्यों-कैसे हुवा! इस आपत्तिसे छुटकारा पानेका उपाय क्या हो सकता है!! ऐसा सोच-विचार करते-करते जब आप पोढ़े तब स्वप्नमें श्रीकृष्णने विवाह करनेकी आज्ञा पुनः दी. श्रीवल्लभने भगवान्‌के प्रति अपना भाव प्रकट किया— "गृहस्थाश्रममें मैं क्यों फंसूं? मैं तो आपको पा कर कृतार्थ ही हूं! मुझे सांसारिक विषयोंमें किसी तरहका लगाव भी तो नहीं है". इसपर भगवान्‌ने कहा "आपके घरमें मुझे दो रूपोंमें जनमना है". भगवान्‌के इन दो रूपोंके नाम यों हैं— 'गोपीनाथ' और 'विट्ठलनाथ'. भगवान्‌द्वारा स्वप्नमें दी गयी इस आज्ञाको पा कर महाप्रभु काशीमें प्रविष्ट हुवे. वहां विवाह किया, अग्निहोत्रका परिग्रह किया और अग्निहोत्रादिकी विधिसे यथादेश यथाकाल नाना यज्ञोंसे भगवान्‌का यजन किया.

तब पुनः एक दिन श्रीकृष्णने आज्ञा दी "मायावादियोंके साथ वाद करके मायावादका निरसन करो". तब शुभ दिन देख कर भगवान् पार्वतीपति विश्वेश्वरके द्वारपर पत्रावलम्बन करना शरु किया. उसके उपसंहारमें ये श्लोक लिखे गये—

> श्रीकृष्णकी कृपा=प्रसादसे वेदके आधारपर सिद्ध न होनेवाले मायावादका निरसन मैंने किया है, इसमें श्रीमहादेव स्वयं साक्षी हैं, इसमें कोई संशय नहीं है. जो वैदिक महापुरुष हैं उनकी भी इस विषयमें सहानुमति है ही परन्तु जो वेदविद् नहीं वे इसे स्वीकारते न हों हों तो उनकी मुझे भी

> कोई चिन्ता नहीं है. यों सर्ववेदान्तगोचर ब्रह्मवादके स्थापित हो जानेसे काशीपति त्रिलोकपति महादेव तो तुष्ट होंगे ही; फिरभी यदि इस विषयमें किसीको कुछ सन्दिग्ध लगता हो तो वह मुझसे इस विषयमें जो कुछ पूछना चाहे अवश्य पूछ सकता है. इस विषयमें किसी तरहके भय या सङ्कोच रखनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम ब्राह्मणोंकी गति ही यही है. श्रीविश्वेश्वरमन्दिरके द्वारपर मैं अपनी ओरसे यह डिंडिमघोषणा कर रहा हूं पर इसे सुनना तो विद्वानोंका भी कर्तव्य है. क्योंकि सन्मार्गके सच्चे रक्षक वे ही हो सकते हैं.

वहां... इस तरह छह महीनोंतक विवाद चलता रहा. तब 'उपेन्द्राश्रम' नामक एक सर्वश्रेष्ठ संन्यासीके समक्ष ही मध्यस्थोंने यह कहा ''यह कोई अलौकिक पुरुष है कि जिसे जीतना अशक्य ही है, अतः अब इस विवादको यहीं स्थगित कर देना उचित होगा''. इसके बाद कुछ दुरात्माओंने मिल कर महाप्रभुकी हत्याका षड़यन्त्र रचाया. तब स्वयं श्रीमहादेवजीने आज्ञा दी ''आप इस स्थानको छोड़ दें, जहां भागवती सृष्टि हो वहां जायें और उस सृष्टिको सारे उपनिषदोंमें निरूपित 'श्रीकृष्ण' नामक परम ब्रह्मका उपदेश दीजिये. भगवान्‌की इच्छाके अनुसार यहां तो ऐसा चलता ही रहेगा''. तब वहांसे दूर च्यवनाश्रममें 'चरणाद्रिः' नामक नगरमें रहना शुरु किया.

यह ग्रन्थ कांकरोलीके विद्याविभागद्वारा प्राचीन-अर्वाचीन १५ हस्तलिखित प्रतियोंके तुलनात्मक तथा गवेषणापूर्ण अध्ययनके बाद प्रकाशित हुवा है. इसका सम्पादन पोतकूर्ची श्रीकण्ठमणि शास्त्रीजीने किया था. विद्वान् सम्पादकने वि.सं.१६१०में लिखे गये इस 'सम्प्रदायप्रदीप' नामक ग्रन्थके लेखक श्रीगदाधरदास द्विवेदीको प्रभुचरण श्रीविठ्ठलनाथजीका शिष्य माना है. पुष्टिसम्प्रदायकी अद्वितीय ग्रन्थसेवा करनेवाले गो. श्रीपुरुषोत्तमजी (तृतीय/२ गृह : सूरत)के आवेशावतार श्रीमूलचन्द तेलीवालाको इस सम्प्रदायप्रदीपकी स्वयं श्रीगोकुलनाथजी (चतुर्थात्मज)के हस्ताक्षरवाली एक प्रति उपलब्ध हुयी थी. इसका उल्लेख उन्होंने वि.सं.१९७९के भाद्रपदमासमें प्रकाशित 'वेणुनाद' (वर्ष : २ अङ्क : १०-११-१२ पृष्ठ : २०) पत्रिकामें किया है. इसके आधारपर इतना तो निश्चित होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थकार श्रीगोकुलनाथजीसे ज्येष्ठ या कनिष्ठ समकालीन तो थे ही. साथ ही साथ प्रदत्त विवरणके आधारपर ऐसा भी सोचा जा सकता है कि पत्रावलम्बन ग्रन्थका प्रणयन महाप्रभुने अपने विवाहके आसपास अर्थात् तीस-बत्तीस वर्षकी वयमें ही कभी किया होगा. आपके प्रतिवादीके रूपमें 'उपेन्द्राश्रम' नामका उल्लेख भी न केवल यहां अपितु अन्यभी कई ग्रन्थोंमें मिलता है. परन्तु वे कौन थे यह पता नहीं चलता है. श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीद्वारा प्रकाशित Bibliography of Advaita Vedānta::Author Indexमें लघुयोगवासिष्ठव्याख्याकार श्रीरामब्रह्मेन्द्र सरस्वतीके किन्हीं गुरुका नाम 'उपेन्द्रब्रह्म योगिवर्य' उपलब्ध होता है परन्तु देशकालादिकी सूचना इसमें भी दी नहीं गयी है. इस नामोल्लेखसे अधिक कोई सूचना स्वमार्गीय ग्रन्थोंमें तो उपलब्ध नहीं होती है. स्वयं श्रीगोकुलनाथजीद्वारा विरचित वार्ता-साहित्यमें तो इस विषयमें कुछ भी स्पष्टीकरण दिया नहीं गया है :—

> और श्रीआचार्यजीके पास वादी बहोत आवें.
> सो वाद करत संज्ञा ह्वै जाय. सो आपुके भोजन

> बिना किये वैष्णव महाप्रसाद लेइ नाहिं. तब श्रीआचार्यजी पत्रावलम्बन ग्रन्थ करिके एक कागदपर लिखे, एक वैष्णवकों दिये, जो विश्वेश्वर महादेवजीके देवालयमें लगाय भींतीसों, यह कहियो "जितने पण्डित शैव ब्राह्मण वादी आवें सो सन्देह होइ सो यामें देख लेउ. जो उत्तर न पावो तो श्रीआचार्यजी पास आइयो!". तब वैष्णव 'पत्रावलम्बन' ग्रन्थ ले जाइ महादेवके पास भींतीमें लगाइ. सगरे मायावादी तो तहां आवें ही, तिनसों वैष्णवने कही "जो सन्देह श्रीआचार्यजीसों पूछनो होइ सो याको बांचि लेउ!" सो सबनकों उत्तर मिल्यो सब चुप ह्वै रहे ओर कहे "जो श्रीआचार्यजी ईश्वर हें! इतने छोटे ग्रन्थमें हजारन मायावादीन्कों निरुत्तर किये!!" (चौ.वै.वा. : सेठ पुरुषोत्तमदासकी वार्ताप्रसङ्ग : १).

'श्रीकल्याण भट्ट' नामक श्रीगोकुलनाथजीके ही शिष्यके द्वारा लिखे माने जाते 'कल्लोल' नामक ग्रन्थमें भी प्रतिवादी केवल संन्यासी उपेन्द्राश्रम ही नहीं थे अपितु अन्य भी कई थे ऐसा उल्लेख मिलता है:—

अथ काश्यां समागत्य तत्र पत्रावलम्बनम्।
विदधौ सर्वविदुषां स्मयाम्भोधिविशोषकम्॥
तत्रोपेन्द्राश्रमादीन् स मायावादविचक्षणान्।
अशेषानेव निर्जित्य सप्तविंशतिवासरैः॥
युक्तिभिः श्रुतिभिर्मानैः साकारं पुरूषोत्तमम्।
व्यवातिष्ठिपद् उद्धूततद्युक्तिनिकरः प्रभुः॥
एवमर्जितसत्कीर्तिधर्मादिः दक्षिणां दिशम्।

(कल्लो. : श्रीवल्ल.चरि.तरं.२.श्लो.४७-४९).

भावार्थ : सभीके गर्वको हरनेवाला 'पत्रावलम्बन' नामक ग्रन्थ आपश्रीने काशी आ कर प्रकट किया. वहां उपेन्द्राश्रम आदि सभी मायावादके विचक्षण विद्वानोंके तर्कजालको श्रुति एवं युक्ति के प्रमाणोंसे सत्ताईस दिनोंके भीतर तितर-बितर करके साकार पुरुषोत्तमका प्रतिपादन किया. इस तरह सत्कीर्ति एवं धर्मादि को अर्जित करके आप दक्षिण दिशाकी ओर पधारे.

यहां यह विवाद, छह मास पर्यन्त चला कि सत्ताईस दिनोंतक, इस विषयमें एकवाक्यता न होनेपर भी अन्य विषय, यथा, स्थल और प्रतिवादी के बारेमें समान ही इतिवृत्त मिलता है. कालक्रममें श्रीगोकुलनाथजीके बाद श्रीहरिरायजी आते हैं. इन्होंने भी पत्रावलम्बन ग्रन्थपर जैसे व्याख्या लिखी थी, जो हमें पूर्णतया उपलब्ध न हो पानेसे इस संस्करणमें यावदुपलब्ध ही प्रकाशित की गयी है, वैसे ही ''श्रीवल्लभनामावली' नामक ग्रन्थमें भी इस पत्रावलम्बनका कुछ इतिवृत्त दिया है. वह इस तरह है:—

जैमिनीयसूत्रभाष्यवक्त्रे नमः
वेदार्थदर्शकाय नमः
वैय्यासजैमिनीयोक्तप्रमेयैकार्थवित्तमाय नमः
पत्रावलम्बनकृतये नमः
वादिसन्देहवारकाय नमः
काशीस्थलालङ्करणाय नमः
विश्वेशप्रीतिकारकाय नमः
(श्रीव.ना. : १००-१०६)

इसके बाद बेठकवार्तामें इस कुछ और उल्लेख इस विषयमें

इस तरह उपलब्ध होता है :—

> अब श्रीकाशीमें शेठ पुरुषोत्तमदासके घर श्रीआचार्यजी महाप्रभून्की बेठक हे... पत्रावलम्बन ग्रन्थ श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप यहां ही प्रगट कियो हे, ओर तहां श्रीकृष्ण पूर्णपुरुषोत्तम स्थापन किये; ओर मायामतखण्डन कियो. सो काशीमें मत्तमातङ्ग पण्डित हते, तिन सबनकों निरुत्तर किये. वे कहत हते जो "भाष्य तो तीन हें. चोथो भाष्यविवेचन नांहि हे". सो उनकों जीतिकें श्रीआचार्यजी महाप्रभु अणुभाष्य निरूपण किये. शङ्करको विरुद्ध मत हतो सो ताको खण्डन किये. सो वा पत्रावलम्बनके तीस श्लोकनमें मायावादी पण्डिनकों निरुत्तर करि दिये (चौ.बे.वा. : २७।श्री-काशी.बेठ.चरि.).

इसके अवलोकन करनेसे यह और अधिक स्पष्ट होता है कि तब लोकमान्य तीन शाङ्कर रामानुज और माध्व सम्प्रदायोंके भाष्योंके समान चतुर्थ कोई भाष्य लिखा जा सकता है कि नहीं इससे विवाद प्रारम्भ हो कर अन्तमें मूल मुद्देपर आया होगा. इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि महाप्रभुने अपने पूर्वोत्तर मीमांसाओंके जो स्वतन्त्र भाष्य प्रकट किये थे, उसीके कारण विवादकी चिनगारी भड़क उठी होगी. अतएव पत्रावलम्बन ग्रन्थपर विवरण लिखते समय श्रीपुरुषोत्तमजी भी (तृतीय/२ : गृह : सूरत) कहते हैं—"श्रीमदाचार्यचरणैः चरणाद्रौ वसद्भिः भक्तिमार्गप्रचारोपयोगितया उत्तरमीमांसाभाष्येण ब्रह्मवादे, ज्ञानकर्मसमुच्चयोपयोगितया पूर्वमीमांसाभाष्येण धर्मस्थैर्यादिके च विचारिते... स्वयं चरणाद्रितः काश्याम् आगत्य विश्वेशदेवालयद्वारि पत्रावलम्बनं कृत्वा..." (पत्रा.वि. : उत्थानिका). इस विवरणमें घटनाक्रममें जो एक उल्लेखनीय

अन्तर आ गया है वह यही कि पूर्वोद्धृत विवरणोंमें, महाप्रभु काशीसे चरणाद्रि पधारे थे, ऐसा उल्लेख मिलता है; जबकि यहां चरणाद्रिसे काशी पधारनेका उल्लेख है. हर सूरतमें आपकी तीसेक वर्षकी अवस्थामें यह ग्रन्थ आपने प्रकट किया था इतना तो सभी स्रोतोंके अवलोकनसे सुस्पष्ट ही है. साथ ही साथ मूलमें पत्रावलम्बन श्लोकात्मक ही था मेरी इस धारणाको भी थोड़ा-बहोत आधार तो इन विवरणोंसे मिल ही रहा है. अलबत् श्लोकोंकी संख्याके बारेमें तीस होनेका उल्लेख या तो ३८+१/२ श्लोकसंख्याके कारण करीब-करीब तीसके अर्थमें समझना चाहिये अथवा यह प्रामादिक पाठ भी हो सकता है. जिस भवनमें इस ग्रन्थराजके लिखे जानेकी सूचना वार्तासाहित्यसे हमें मिल रही है, वह स्थल आज भी काशीमें दर्शन देती श्रीमहाप्रभुजीकी तीन बेठकोंमें एक बेठकके रूपमें प्रसिद्ध है. निजवार्ताके अनुसार महाप्रभु दूसरी प्रदक्षिणाके बाद काशी पधारे थे. गृहस्थाश्रममें भी तब ही आपने प्रवेश किया था और पत्रावलम्बनका प्रणयन भी इसी समय हुवा. निजवार्ताके अनुसार, श्रीमहालक्ष्मीजीके द्विरागमनकी अवधितक पितृगृहमें रहनेकी रीति होनेसे सम्भवतः, आप तृतीय प्रदक्षिणार्थ दक्षिणकी ओर नहीं परन्तु पूर्वदिशामें जगन्नाथपुरीकी ओर पधारे थे (नि.वा. : प्र.१५). बादमें जब अड़ैलमें स्थिरनिवासकी इच्छासे तीसरी प्रदक्षिणा पूर्ण करके जब पुनः काशी पधारे तब, निजवार्ताके अनुसार, शास्त्रार्थके आमन्त्राणार्थ एक ध्वजा फहरायी गयी थी. इससे उत्तेजित हो कर कतिपय विद्वान् चर्चा करने उद्यत हुवे थे. इनमेंके प्रमुख नाम ये गिनाये गये हैं: दिनकर भट्ट, लक्ष्मण भट्ट, नित्यान्द महाशय, चन्द्रशेखर तथा नीलकण्ठ. ऐसे ही कुछ नाम Bibliography of Advaita Vedānta::Author Index में भी निर्दिष्ट हैं:—

बोधसुधाकार दिनकर भट्ट
अद्वैततत्त्वदीपकार नित्यानन्द
मिथ्यापवादविध्वंसकार चन्द्रशेखर सूरी

ये नाम उन्हीं विद्वानोंके हैं या अन्य किन्हीं विद्वानोंके यह कह पाना मेरेलिये कठिन कार्य है. ये महाप्रभुके समकालिक विद्वान् थे कि नहीं यह जैसे गवेषणीय विषय है, वैसे ही इन विद्वानोंका विस्तृत परिचय भी ऐतिहासिक गवेषणाका विषय है. निजवार्ताके अनुसार जब इन विद्वानोंके साथ चर्चा परिपूर्ण होने जा रही थी तभी एकंदण्डी उपेन्द्राश्रम और मठधारी प्रकाशानन्द सरस्वती आये थे जिनके साथ किसीके अनुसार दो मुहूर्ततक और किसी के अनुसार सत्ताईस दिनोंतक शास्त्रचर्चा चली थी (द्र. : नि.वा.प्र.२८-३३). इनमेंसे 'प्रकाशानन्द' नामक काशीवासी एक मायावादी संन्यासी श्रीचैतन्य महाप्रभुके समकालिक थे, ऐसा उल्लेख श्रीचैतन्यभागवत (श्रीचै.भाग. : म.ख.२०।३३-३४)में भी मिलता है. इस तरहके अनेकविध इतिवृत्तोंमें एकवाक्यता या तथ्यातथ्यता का निर्णय तो ऐतिहासिक गवेषणाका विषय बन जाता है. मुझे तो एतद्विषयक इतिहासकी भलीभांति जानकारी नहीं है!

एक अन्य ग्रन्थ प्रभुचरणके षष्ठात्मज श्रीयदुनाथजीद्वारा विरचित माना जाता है. इसमें दिये गये विवरणोंकी बारीकियोंको देखनेपर तो यह ग्रन्थ सहसा अविश्वसनीय नहीं लगता है. वैसे हो सकता है कि इसकी आधारभूत सामग्री किसी और रूपमें वस्तुतः उपलब्ध रही होगी परन्तु प्रामाण्योत्पादनार्थ उसका संस्कृतभाषामें अनुवाद करके प्रकाशित करवा दिया गया हो! इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेका आह्वान प्रकाशनके समय ही श्रीमूलचन्द तेलीवालाने सुस्पष्ट शब्दोंमें दिया था. वैसे अपने देशमें विद्यमान अनेक हस्तलिखित ग्रन्थागारोंके सूचिपत्रोंमें कहीं मुझे भी इस ग्रन्थका नाम आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुवा है. श्रीतेलीवालाद्वारा दी गयी चेलेंज— "आ त्रणमां यदुनाथविजय श्रीनाथद्वारामां शास्त्री नन्दकिशोरजीए प्रसिद्ध कर्यो छे परन्तु प्राचीन कोई प्रामाणिक लेख के ग्रन्थ मां तदुपन्यास नहि होवाथी तदुपन्यास अत्र अनावश्यक लागे छे." ('वे.ना.'पत्रिका : - पृ.२० : वर्ष २, अङ्क १०-११-१२, वि.सं.१९७९)का आजतक किसीने

जवाब भी नहीं दिया है! फिरभी इसमें मिलता विवरण इतना सहज प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ श्रीयदुनाथजीद्वारा प्रणीत हो या न हो इसे सर्वांशमें अप्रामाणिक मान लेना बुद्धिग्राह्य नहीं हो पाता. इसीलिये इस ग्रन्थमें उपलब्ध विवरणको भी एक बार दृष्टिगोचर कर लेना उपयुक्त ही होगा—

> अथ मातुः आज्ञया श्रेष्ठिपुरुषोत्तमदाससहायेन त्रिंशत्सहस्रविप्रभोजनकृते केशवोक्त्या सङ्केतध्वजम् आरोपितम्. तत्र कैश्चिद् मात्सर्यग्रस्तैः विद्वद्भिः "काशीविद्वज्जयध्वजो अयम्" इति उद्घुष्य विवादं कर्तुं समागमनम् आरब्धम्. तत्र विद्यार्थिभिः खलैः विवादे क्रियमाणे सत्रकार्यं सेवाकार्यं गृहकार्यं च विच्छिन्नं भवति इति आचार्यैः श्रेष्ठिपुरुषोत्तमगृहे स्थित्वा पञ्चगङ्गाघट्टे सभा कारिता. ततः सप्तविंशे दिने उपेन्द्रमुख्या यतयो अन्ये च विद्वांसः पराजिता बभूवुः. ततः पुनः खलैः विद्वद्भिः श्रेष्ठिगृहे स्थितान् आचार्यान् प्रति पत्रिकाप्रेषणम् आरब्धम्. तत आचार्यैरपि पत्रिका विलिख्य विश्वेश्वरद्वारि समारोपिता. तां विलोक्य विद्वांसः तूष्णीम्बभूवुः. सा खलैः विदारिता. ततः श्रेष्ठिना राजाज्ञातः ते भर्त्सिताः अभिचारं समारेभिरे... ततो महेशाज्ञया आर्यैः काश्याः प्रचलितं... चरणाद्रौ... ततो अलर्कपुरे समागताः (श्रीव.दि.वि. : पूर्वचरित्रावच्छेदः).
>
> भावार्थ : इसके बाद माताकी आज्ञा पाकर सेठ पुरुषोत्तमदासके सहयोगसे तीस हज़ार विप्रोंको भोजन कराया. केशवके कहनेपर एतदर्थ विप्रोंको स्थलसङ्केतार्थ एक ध्वजा फहराई गयी. इसे कुछ मात्सर्यग्रस्त विद्वानोंने "काशीके विद्वानोंपर विजयकी

घोषणाके रूपमें फहराई गई ध्वजा''के रूपमें दुष्प्रचारित कर दिया! और एतदर्थ शास्त्रार्थ करनेको आने लगे. तब आचार्यचरणके विद्यार्थिओंके साथ उन खल पुरुषोंने विवाद करना शुरु किया. इससे ब्राह्मणभोजके सत्रके कामकी तरह भगवत्सेवा और गृहकार्य में भी अन्तराय पड़ना शुरु हुवा. अतः आचार्यचरणने सेठ पुरुषोत्तमदासके घरमें रहते हुवे पञ्चगङ्गाघाटपर एक सभा आयोजित की. तब सत्ताईसवें दिन उपेन्द्रकी अध्यक्षतामें आये हुवे संन्यासी तथा अन्य भी विद्वान् पराजित हो गये. इसके बाद तो उन दुष्ट विद्वानोंने सेठ पुरुषोत्तमदासके घरमे विराजे आचार्यचरणको पत्रिकायें भेजनी शुरु कर दी. इसपर जवाबी कार्यवाहीके रूपमें आचार्यचरणने भी पत्रिकाके रूपमें पत्रावलम्बन लिख कर श्रीविश्वेश्वरमन्दिरके द्वारपर लगवा दिया. इसे पढ़ कर बादमें कोई प्रत्युत्तर दे नहीं पाया सो दुष्ट पुरुषोंने उसे फड़वा ही दी. तब सेठ पुरुषोत्तमदासने वहांके राजाके पास फरियाद करके पत्रावलम्बनकी पत्रिकाको फाड़नेवालोंको डांट लगवायी. इससे नाराज़ हो कर वे दुष्ट पुरुष आचार्यचरणकी हत्याके षड़यन्त्र रचने लगे... बादमें श्रीमहादेवजीकी आज्ञासे आपने काशीसे प्रस्थान किया और चरणाद्रिमें... बादमें अड़ैल पधारे.

मूलपुरूषकार श्रीद्वारकेशजीकी :—

हसि कह्यो सकुटुम्ब आवो
निकट रही सेवा करो।

मानि वचन प्रमाण कीनों
सासरे दिश पग धर्यो॥
कछुक दिन रही संग ले आये
बसे अड़ैलमें निज हरखाये।
संवत् पंद्रह सड़सठ आयो
आसो वदी द्वादशी शुभ गायो॥
(मू.पु. : १६)

इन पंक्तिओंके आधारपर भी इतना क्रम तो सूचित हो ही रहा है कि तीन प्रदक्षिणाओंकी समाप्तिके बाद महाप्रभुने काशी होते हुवे पहले चरणाद्रि और बादमें अड़ैल पधार कर स्थायी निवास किया. तबसे 'मायावादनिराकर्ता सर्ववादिनिरासकृत्' महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण 'भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृद्' होनेके कारण 'भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड'के रूपमें निजगृहमें भगवत्सेवारूप पुष्टिभक्तिकमलके मकरन्दोंके 'अदेयदानदक्ष-महोदारचरित्रवान्' बन कर बिराजमान हो गये!

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा॥
पदवाक्यप्रमाणपथिषु पदविन्यासविवेकवर्जितं माम्।
अनयत सकरावलम्बं तस्मै नतिरस्तु धर्मदेवाय॥
वागर्थाविव सम्पृक्तौ ग्रन्थकृष्णौ हि यन्मुखे।
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये॥

आश्विन कृष्णा अष्टमी
वि.सं. २०५२

गोस्वामी श्याम मनोहर.
पार्ले (मुंबई) - किशनगढ़

उद्धृतग्रन्थसङ्केततालिका

शास्त्रीयग्रन्थ

ग्रन्थसङ्केत	ग्रन्थनाम	ग्रन्थकार
अथर्व.शौ.सं.	अथर्ववेदशौनकसंहिता	श्रुति
ऋ.सं.	ऋग्वेदसंहिता	श्रुति
क.उ.	कठोपनिषद्	श्रुति
कौ.उ.	कौषितक्युपनिषद्	श्रुति
छा.उ.	छान्दोग्योपनिषद्	श्रुति
तै.आ.	तैत्तिरीयारण्यक	श्रुति
तै.उ.	तैत्तिरीयोपनिषद्	श्रुति
तै.सं.	तैत्तिरीयसंहिता	श्रुति
नृ.उ.उ.	नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्	श्रुति
बृ.उ.	बृहदारण्यकोपनिषद्	श्रुति
म.ना.उ.	महानारायणोपनिषद्	श्रुति
मु.उ.	मुण्डकोपनिषद्	श्रुति
शा.आ.	शाङ्खायनारण्यक	श्रुति
श्वे.उ.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	श्रुति
कू.पु.	कूर्मपुराण	महर्षि वेदव्यास
द.स्मृ.	दक्षस्मृति	दक्ष
ना.स्मृ.	नारदस्मृति	देवर्षि नारद
निरु.	निघन्टुनिरुक्त	महर्षि यास्क
भ.गी.	भगवद्गीता	भगवान् श्रीकृष्ण
भाग.	श्रीमद्भागवतपुराण	महर्षि वेदव्यास
म.स्मृ.	मनुस्मृति	स्वायम्भुव मनु
लघुव्या.स्मृ.	लघुव्यासस्मृति	महर्षि व्यास
व.स्मृ.	वसिष्ठस्मृति	महर्षि वसिष्ठ
आ.गृ.सू.	आपस्तम्बगृह्यसूत्र	महर्षि आपस्तम्ब
आप.श्रौ.सू.	आपस्तम्बश्रौतसूत्र	महर्षि आपस्तम्ब

गौ.ध.सू.	गौतमधर्मसूत्र	महर्षि गौतम
जै.सू.	जैमिनिमीमांसासूत्र	महर्षि जैमिनि
बो.गृ.सू.	बोधायनगृह्यसूत्र	महर्षि बोधायन
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्र	महर्षि वेदव्यास बादरायण
शा.गृ.सू.	शाङ्खायनगृह्यसूत्र	महर्षि शाङ्खायन

कोष-व्याकरणादिशास्त्रीयग्रन्थ

पाणि.सू.	पाणिनिसूत्र	श्रीपाणिनि
पा.म.भा.	पातञ्जलमहाभाष्य	श्रीपतञ्जलि
पाणि.सू.काशि.	पाणिनिसूत्रकाशिकावृत्ति	श्रीवामनजयादित्य
पाणि.सू.न्यास.	पाणिनिसूत्रन्यासवृत्ति	श्रीजिनेन्द्रबुद्धिपाद
प्रदीप.	पातञ्जलमहाभाष्यप्रदीप	श्रीकैयट
वा.प.	वाक्यपदीय	श्रीभर्तृहरि
विश्व	विश्वकोष	
स्मृ.च.	स्मृतिचन्द्रिका	श्रीदेवणभट्टोपाध्याय

साम्प्रदायिकग्रन्थ

अ.त.सु.	अद्वैततत्त्वसुधा(द्वि.भा.)	श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्री
अधि.सारा.	अधिकरणसारावली	श्रीवेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक
अणुभा.	अणुभाष्य	श्रीमध्वाचार्य
अनुव्या.	अनुव्याख्यान	श्रीमध्वाचार्य
इष्ट.सि.वि.	इष्टसिद्धिविवरण	श्रीज्ञानोत्तम
ऐकशा.मी.	ऐकशास्त्र्यमीमांसा	प्र.भ.श्रीअनन्ताचार्य
क.उ.भा.	कठोपनिषद्भाष्य	श्रीशङ्कराचार्य
कल्लो.	कल्लोल	श्रीकल्याण भट्ट
चौ.वै.वा.	चौरासी वैष्णवनकी वार्ता	श्रीगोकुलनाथजी
चौ.बे.वा.	चौरासी बेठकनकी वार्ता	(?)
त.दी.नि.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धः	महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य
त.दी.नि.प्र.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश	महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य
त.मु.क.	तत्त्वमुक्ताकलाप	श्रीवेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक
त.मु.क.स.सि.	तत्त्वमुक्ताकलापसर्वार्थसिद्धि	श्रीवेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक

तै.आ.भा.	तैत्तिरीयारण्यकभाष्य	श्रीभास्कराचार्य
तै.उ.भा.	तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य	श्रीशङ्कराचार्य
तै.सं.भा.	तैत्तिरीयसंहिताभाष्य	श्रीसायणाचार्य
नि.वा.	निजवार्ता	(?)
नै.सि.च.	नैष्कर्म्यसिद्धिचन्द्रिका	श्रीज्ञानोत्तम
न्या.र.मा.	न्यायरत्नमाला	श्रीपार्थसारथि मिश्र
न्या.सि.जड़.परि.	न्यायसिद्धि-जड़परिच्छेद	श्रीवेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक.
पत्रा.	पत्रावलम्बन	महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य
पत्रा.कारि.	पत्रावलम्बनकारिका	महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य
पत्रा.वि.	पत्रावलम्बनविवरण	श्रीपुरुषोत्तमजी
प.पा.	पञ्चपादिका	श्रीपद्मपादाचार्य
प.पा.वि.	पञ्चपादिकाविवरण	श्रीस्वयंप्रकाशात्मा
प.भू.	परमार्थभूषण	श्रीउत्तमूरवीरराघवाचार्य
पातं.यो.सू.	पातञ्जलयोगसूत्र	श्रीपतञ्जलि
प्र.प.	प्रकरणपञ्चिका	श्रीशालिकनाथ मिश्र
प्र.र.	प्रस्थानरत्नाकर	श्रीपुरुषोत्तमजी
प्र.वि.	प्रभाकरविजय	श्रीनन्दीश्वर
बृ.उ.भा.	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य	श्रीशङ्कराचार्य
ब्र.सि.	ब्रह्मसिद्धि	श्रीमण्डन मिश्र
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्य	श्रीशङ्कराचार्य
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्य	श्रीभास्कराचार्य
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्य	श्रीरामानुजाचार्य
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्य	श्रीमध्वाचार्य
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्य	श्रीपतिभगवत्पादाचार्य
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्य	श्रीविज्ञान भिक्षु
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्य	महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य
ब्र.सू.भा.त.दी.	ब्रह्मसूत्रभाष्यतत्त्वदीपिका	श्रीत्रिविक्रमपण्डिताचार्य
ब्र.सू.भा.प्रका.	ब्रह्मसूत्रभाष्यप्रकाश	श्रीपुरुषोत्तमजी
भ.गी.भा.	भगवद्गीताभाष्य	श्रीशङ्कराचार्य
भाग.ता.नि.	भागवततात्पर्यनिरूपण	श्रीमध्वाचार्य
म.भा.ता.नि.	महाभारततात्पर्यनिरूपण	श्रीमध्वाचार्य
मू.पु.	मूलपुरुष	श्रीद्वारकेशजी

व.आ.	वल्लभाख्यान	श्रीगोपालदासजी
वि.वि.	विधिविवेक	श्रीमण्डन मिश्र
वे.सा.	वेदान्तसार	श्रीरामानुजाचार्य
वे.ना.पत्रिका	'वेणुनाद'पत्रिका	श्रीमूलचन्द तेलीवाला(सम्पा.)
शा.दी.	शास्त्रदीपिका	श्रीपार्थसारथि मिश्र
शा.भा.	शाबरभाष्य	श्रीशबराचार्य
श्लो.वा.	श्लोकवार्तिक	श्रीकुमारिल भट्ट
श्रीचै.भा.	श्रीचैतन्यभागवत	श्रीवृन्दावनदास ठाकुर
श्रीव.ना.	श्रीवल्लभनामावली	श्रीहरिरायजी
श्रीव.दि.वि.	श्रीवल्लभदिग्विजय	'श्रीयदुनाथजी'(नाम्ना प्रकाशित)
सं.प्र.	संप्रदायप्रदीप्	श्रीगदाधरदास द्विवेदी
सि.मु.	सिद्धान्तमुक्तावली	महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य
सि.ले.सं.	सिद्धान्तलेशसंग्रह	श्रीअप्पयदीक्षित
सुबो.	भागवतसुबोधिनी	महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य
ऑथर इंडेक्स	बिब्लिओग्राफी ऑफ अद्वैतवेदान्त	श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्री

पाश्चात्य ग्रन्थ

द लॉजिक एन्ड नॉलेज	बर्ट्रेन्ड रसेल
दी.एथिक्स.	बारुक़ स्पिनोज़ा

* * *

INTRODUCTION [1]

Patravalambana P Literally meaning 'the hanging Folios' – is a small but important work of Vallabhacarya (1479 A.D - 1531 A.D), refuting the view-points of the mimamsakas and Sankaracarya and establishing the doctrine of the Suddhadvaita Vedanta. There runs a tradition recorded by Sri Purusottamaji (1688 A.D - 1764 A.D) in the begining of his commentry on the P that Sri Vallabhacarya, When he was living in Caranadri near Banaras, was very much disturbed by the Pandits of Banaras belonging to the rival schools of Kumarila and Sankaracarya. In order to avoid the trouble for ever the Acarya prepared a statement as a permanent reply to his opponents and attached the Folios to the door of the temple of, Sri Visvanatha. As the Folios were hanging from the door of the Temple the work was called 'Patravalambana', hanging folios Probably the work is one of the last productions of Vallabhacarya.

The text of the P Consists of $39\frac{1}{2}$ stanzas and some portion in prose. There might have been many commentaries on the P as it is somewhat difficult, We, however could secure only three commenteries of Sri Giridharji (born 1597 V.S), Sri Harirayaji (1647 V.S. - 1767 V.S) and Sri Purusottamaji (1724 V.S - 1820 V.S) during our search for mss. They are published here, the first two commentaries for the first time. The third commentary of Sri Purusottamaji was first published at Palanpur by Sri Ranchoddas Vrindavanadas Patvari in V.S. 1967 with the Gujarati translation by the editor, Sri Mohanlal Kashiram Shastri; It was again edited by Sri M.T.Telivala and published by Sri Ranchhoddas Varajivandas Shroff Bombay in V.S. 1982.

The P as it is published here and elsewhere unfortunately contains some lacuna to which our attention is drawn by the commentator Sri Purusottamaji (p.32) who supplies the missing portion, from the original ms. Written by the Acarya himself according to the opinion of Sri Balakrishna Bhatta (of his Nirnayarnava, p.7 — the relevant portion is published here as an Appendix). We also feel that some portion before the concluding verses is missing. It is absolutely necessary to examine all the mss. Libraries in the Vallabhacaryan temples all over India.

---

[1] Editorial introduction of the 3rd edition of patravlambana. (શ્રી પુષ્ટિસિદ્ધાન્ત કસુમાવલિ પુષ્પ ૩૧ મું, ગ્રન્થાંક ૧૨).

Sri Balakrishna Bhatta has discussed in his Nirnayarnava the order of the verses and the passages in the text of the P as follows:-

Verses 1–30, 31, 32.

ननु वेदान्ततत्वम्, एवम्, लोकसिद्धस्य...एवं पटत्वादिष्वपि, तथा च प्रकृत्यर्थः, सन् व्यापको वा,

the portion supplied by Sri Purusottamaji, and the five concluding verses.

The P deals with the refutation of the mimamsakas and the mayavadins. The dualism of the system of Kumarila and the Absolutism of Sanakara have no support from the vedas works. Vallabhacarya follows the teaching of the upanisads that everything is Brahman and evolves a system which is known as Suddhadvaita. He first of all discusses the important problem of educating children and follows Prabhakara in throwing the responsibility of teaching on teachers. The Upanayana and the Adhyapana are the duties of teachers. The view of Prabhakara, accepted by Vallabhacarya, has wonderfully adumbrated the theory of modern educationists.

The vedas are the source of Dharma which has been fully discussed by Jaimini in the Purvamimamsa Sutras. The problem of Jnana and the topics of the Upanisada Philosophy are discussed by Badrayana, the teacher of Jaimini, in the

Brahmasutras. The vedic literature, like any literature in the world, consists of words, and the relation of words with their meaning is eternal as stated by Jaimini. (1.1.5).

The Upanisads tell us that the brahman is the Highest Reality and He Becomes everything. The world is real and not illusionary. The reality of the world is proved by Vallabhacarya even on grammatical considerations. The word घट for instance expresses the generic sense of घटत्व where the termination त्व devotes भाव. The word भाव is again derived from the root भू which has the sense of existence (सत्ता) and omnipresence (व्यापकता). This shows that the world is an expression of Brahman and has a real existence. The world is therefore not an illusion, nor is it different from Brahman. Vallabhacarya thus advocates the Suddhadvaita Brahmavada.

As the Isopanisad states Brahman is complete, perfect (पूर्ण) and does not suffer any change even after He developes into the world. Vallabhacarya takes up this suggestion of the Upanisad and developes it into the doctrine of changeless evolution (अविकृत परिणाम). Souls also are parts (अंश) of Brahman and are non-different from Brahman. When Brahman wants to fulfil a particular purpose he suppresses the quality of omnipresence in the souls and gets the work done through them.

The philosophy of Brahman is Solely based on the Sruti, the Vedic literature, and not on pure Logic. Human life has a fixed plan in the form of the system of the Ashramas. Study, Action and Knowledge are the three stages of life. Brahman has got infinite powers, the sacrifice and the knowledge being prominent. The Purvakanda treats of one divine Quality (Karma), while the Uttarkanda treats of another (knowledge). Thus the two Kandas are independent of each other and do not constitute one Discipline (एकशास्त्र) as desired by Sri Ramanujacarya. Of course the two kandas have to fulfill a common mission of Liberation, and as such they form one unit.

It has been rightly remarked by Vallabhacarya in the concluding line of P that Scholars should study the work and correctly understand the mutual relation of the different systems of Philosophy. Scholars are in fact the Guardians of the Philosophical and Religious Schools. In the absence of regular study of the works of a religious school the noble teaching of the founder looses all its vitality with the result that the followers of the school gradually fall from the high position which their predecessors happend to enjoy. The traditional accounts of the spiritual life of the devotees of Sri Vallabhacaryaji and Sri Vitthalnathji give a fair idea of the strength of mysticism in the Pustimarga. Unfortunately the ideal position began to decline slowly, and by the time of Sri Purusottamji the grandem of the Pustimarga has passed away, as stated by Sri Purusottamji himself (सम्प्रदाये निवृत्ते, Anubhasya Prakasa, concluding verse 1, p.1441, Banaras edition). Sri Purusottamji tried his best to infuse life into the pustimarga by writing very profusely learned commenteries and original works to the extent of nine lacs of verses, and he wonderfully succeded. Purusottamji's contribution can be favourably compared with that of Vacaspati Misra, Madhusudan Saraswati and Appaya Dixit.

In the modern period the late Prof. M.G.Shastri (1873 A.D - 1935 A.D) of the Deccan college, Poona, devoted his whole life to the publication of the sanskrit texts of Vallabhacaryan School, to the translation of important works and to the spread of the doctrines of the school by regular discourses at home and in public places. He started his mission in the begining of present century. In 1925 A.D. he founded in Bombay an Association of Vaisnavas, called Sri Purusottama Mandala, and taught the Patravlambana, Anubhasya, Subodhini and other dialectical works by coming to Bombay from Poona every week-end at his own expense. The lectures on Patravlambana commenced on 24-11-1925. On 19-9-1926 the members of the Association who regularly attended Prof. Shastri's lectures expressed their feeling of gratitude by presenting an Address and a gold medal to Prof. Shastri.

The two old editions of P have been out of print long since. The present edition is based on the following mss. and the two old editions.

(A) Patravlambana Text.:—

(1) Ms. 'ब' - No. 786 of the Oriental Institute, M.S.University of Baroda. Undated, but seems to be about 200 years old. Written on paper size 7.5x6 inches; Folios 30; 12 lines to a page and about 32 letters to a line. It contains the commentary of Sri Purusottamaji also, above and below the text of P. Devanagri script, handwriting of North India. The ms. is correct.

(2) The Edition of Sri R.V.Patvari, Palanpur, V.S. 1967. It contains the P and Purusottamji's commentry, and their Gujarati translation by Sri Mohanlal Kashiram Shastri.

(3) The Edition of Sri M.T.Telivala, Bombay. T.S.1982. It contains the commentary of Purusottamji also.

(B) Sri Purusottamji's commentary called Vivrana:—

(1)Ms. 'ग' It belongs to the Library of Pandit Gattulalji, Bombay.

Folios 28 10.5x4.5 inches, 9 lines to a page and 35 letters to a line. Devanagri Script, of North India. Dated V.S.1824. The Colophon runs as follows:—

संवत् १८२४ मिति माघ सुदि १४ चन्द्रवासरे. लिखितं ब्राह्मण महारामेण. स्वार्थे परार्थे. शुभमस्तु.

On the first folio of the Ms. (observe) there is the following statement:—

वेदान्त भटाचार्य पंचनद्युपाह्व गटुलाल शर्मण (:)

(2)Ms. 'म'. It belongs to the library of Prof.M.G.Shastri. It is written by Ganapati Vyas, the father of Prof. M.G.Shastri in V.S.1921. The colophon runs as follows:—

संवत् १९२१ आषाढ शुद्ध १ इन्दौ व्यासात्मजगणपतिना व्यलेखि.

Folios 21, 8.5x4.5 inches. 10 to 13 lines to a page, 30 to 32 letters to a line. The Ms. is correct.

(3) Patvari Edition Palanpur, V.S. 1967.

(4) Telivala Edition, Bombay, V.S. 1982.

(C) Sri Giridharaji's Commentary called 'तत्त्वविवेक'.

(1) Ms. 'ग' It belongs to Library of Pandit Gattulalji, Bombay.

Folios 15, 12x5.75 inches. 13 to 14 lines to a page, 38 letters to a line. Devanagri script, Of North India.

Undated. It appears to be modern. Accurate.

(D) Sri Harirayaji's Commentary, called 'विवरण'.

(1) Ms. 'ग' as above.

Folios2, 12x5.75 inches. 13 to 14 lines to a page, 50 letters to a line. Undated. The commentry is upto the 9th Karika and has regular colophon. The hand writing is the same as that of the above.

The present work was undertaken as No.12 in the Prof. M.G.Shastri memorial series and when the printing was almost over it drew the attention of His Holiness Goswamy Sri Dixitji Maharaja of Bombay who takes keen interst in the publication of the important texts of Suddhadvaita Vedanta and who lives the life of a saint scholar. He was pleased to include the present work as No.31 in the पुष्टिसिद्धान्त कुसुमावली series for which I am most thankful to His Holiness. I am also grateful to पुष्टिमार्गीय युवक परिषद् of Bombay, to Sri Vadilal N. Shah., advocate, Bombay and to Sri Girdharlal J. Shah for taking interest in the publication of 'Patravlambana'. I must also thank Sri R.K.Joshi, Vyakarnacarya, for reading proofs, and Manager of the Press, चेतन प्रकाशन मंदिर for special care and promptness.

Shakuntala,
Kharivav Road,
Baroda.
11-12-1960

G.H.Bhatt

Vallabhacarya And Purvamimamsa +

By G.H.Bhatt.

1. the biographical literature[1] of the Suddhadvaita School of Vedanta shows that the predecessors of Vallabhacarya V were great Scholars, devotees of GopalaKrsna, and Performers of Srauta Sacrifices. It is said that the number of Soma Sacrifices performed before the birth of V. reached one Hundered, and as a result of that God Krsna had to appear in the family in the form of V. The members of the family enjoyed the titles of 'Bhatta' and 'Diksita' which appear even in the colophons of V's works. V. has been described by his son as Karmamarga pravartaka.[2] V. thus came in possession of the spiritual legacy which reconciled action, Knowledge and Devotion, and which serves the purpose of a key to his Philosophy.

2. The Veda consisting of the two sections, generally known as Purvakanda PK and Uttara Kanda UK, discusses according to V., only one topic, and it is the topic of God.[3] quotes several passages in support of his view. God posseses innumerable divine qualities of which Kriya and Jnana are prominent. The PK, describes God in the form of Kriya, Sacrifice, while the UK. describes Him in the form of Jnana, Known as Brahman. God together with all his Attributes is, however, described in the 'Gita' and the 'Bhagavata'.[4] The PK thus represents one aspect of God, While the UK represents another aspect, and consequently the two Kandas can maintain their independence. The rewards that are promised by the two sections are, also different, and the study of the one is followed by that of the other. This naturally justifies the theory that the Purvamimamsa PM and Uttara Mimamsa UM are independent branches.[5]

3. The two mimamsas have been, however, shown by V as forming one science on the ground that both of them are treat of one topic—God, and have the sole purpose of giving liberation to mankind.[6] From this point of view, V like Ramanujacarya follows the theory of the Vrttikara that

the two Systems of Jaimini and Badarayana constitute one Sastra.

4. The views of Kumarila and Sankaracarya regarding the relation between the two mimamsas could not find favour with V.[6] The Purvamimamsakas, for example, rejected the claims of the Vedanta.[7] Kumarila, however, assigned a subordinate position to the Vedanta, remarking that it was helpful for strengthening the conception of soul.[8] Sankaracarya, on the other hand, expressed the opinion that the Vedic ritual, the monopoly of the ignorant, had no meaning for one who had realized Brahman. There was thus a great gulf between the two mimamsas, a position which V could not accept. He clearly pointed out the flaws in the theories of the Mimamsakas and Sankaracarya, and remarked that the true spirit of the Vedic literature was not understood by the advocates of these theories.[9]

5. V. looks upon Jaimini as the disciple of Badarayana and argues that it was not possible for the pupil to teach a doctrine that came into conflict with the theory of the teacher.[10] Badarayana according to V Composed the PM sutras also.[11] Accordingly, Jaimini's own views are not at variance with those of badarayana. The teacher and the pupil, however, differ in their method of treatment. Badarayana takes into consideration the force of word, while Jaimini keeps in view the force of word and sense.[12] Jaimini is described by V as one who knows the essence of Karma.[13] Evidently, Jaimini discussed Dharma, and persuaded people to take to the path of righteousness and ultimately enjoy liberation.[14] Jaimini's treatment of Dharma is, therefore, from the popular point of view, and the purpose has been very well served.

6. V, however, feels that the Sutras of Jaimini have not been correctly interpreted by Sabaraswami and that Kumarila and others advocated views which were never held by Jaimini. He therefore, thought it proper to write a commentary on the PM. Sutras.[15] Unfortunately, the whole work is not available at present, and was not available even in the times of Purusottamaji (first part of the 18th century).[16] The fragments

found uptill now consist of forty two introductry verses and the commentry on the Bhavarthapada (II.1), and have been commented upon by Purusottamaji.[17] The remarks offered by V in his other works throw more light on the subject.

7. The PK describes God in His five forms viz: (1) Agnihotra, (2) Darsapurnamasa, (3) Nirudha Pasu, (4) Caturmasya, and (5) Soma.[18] These sacrifices represent the different parts of God. The Agnihotra and the Darsapurnamasa represent the two hands, the Pasu and the caturmasya represent the two legs, and the Soma represents the middle part. The head of God is, however, described in the UK.[19] The different implements employed in the sacrifices are also the parts of God, in one form or another.[20] The sacrifices are again of two types, Nitya and Kamya. The Nitya Karma is that which has got a definite reward and which has to be done according to the procedure laid down in the Veda. If one fails to perform it, one incurs Sin. The Nitya Karma again, should not be without a reward.[21]

8. The performance of sacrifices is calculated to, please God who gives the reward according to the qualifications of the performers. It should be noted that it is God Krsna and not Dharma, that can give the reward.[22] If the performer of the sacrifice happens to posses the knowledge of Brahman, God appears in person and gives gradual liberation. If God choses to show His Grace to the man, He gives him liberation immidiately. In the absence of knowledge, the God in the form of the five sacrifices gives the happiness of soul, or the world of heaven.[23] Thus there are three types of sacrifice, viz: (1) Adhidaivika, (2) Adhyatmika and (3) Adhibhautika In the first case, the performer of sacrifice is Sattvika and possesses Sattvika Jnana; in the second case, he is Sattvika but possess Rajasa Jnana. The man of the first catagory gets liberation, immediate or gradual, from God who manifests Himself in the Sacrifice. God's grace in this case is the intermediate stage (dvara). The man of the second catagory, who performs sacrifices without any desire, enjoys, like Yogins, the hapiness of soul. in this case the satisfaction on the part of the diety,

or the diety pleased with the offerings, represents the intermediate stage (Vyapara).The man of the last category goes to the world of heaven through Apurva which represents the Vyapara in this case.[24]

9. God Himself created the institution of sacrifice and asked people to follow it.[25] Brahma at the time of creating the world got all the necessary materials for sacrifice from God Himself, and performed a sacrifice in His honour, and was followed by Marici and others.[26] Different sacrifices came out of the eastern mouth of Brahma.[27] The sacrifice which is God is performed in honour of God. The significance of the Vedas, gods, worlds and sacrifices lies, in fact, in God.[28] The Vedic accounts clearly show that all the divine sacrificial materials are first actually seen by the performers full of devotion, and are then brought from the divine body for performing sacrifices. If this view is not accepted, the Vedic expressions like 'Apasyat', 'Aharat', 'Ayajata' will be meaningless.[29] THe Adhidaivika sacrifice can be performed only by one who possesses the Knowledge of Brahman. Great philosophers like Janaka performed this Adhidaivika sacrifice throughout the whole life.[30] V thus accepts the old theory of action-cum-knowledge in the path of Maryada. The position in the path of Pusti is, however, different, as one has to completely rely upon God's grace for liberation. The harmony between Action and Knowledge reestablished by V, is a sufficient criticism of the Mimamsakas and the Advaitins of Sankara School.

10. THe introductory verses of V's PM. Bhasya and the the Patravlambana another work of V, give us a fair idea of V's views on Karma and his method of treatment. There are two Margas: Laukika and Vaidika, opposed to one another. The Vedic texts should not, therefore, be interpreted from the worldly point of view, but should be explained in the most natural way. The Tavya termination in the passage Svadhyayah adhyetavyah expresses the sense of necessity (Avasyakata), and not injunction (Vidhi) as desired by Kumarila. The passage "Astavarsam Brahmanam Upanayita, tam adhyapayita"

shows the Niyoga even for an Acarya. The use of the word 'Niyoga' indicates that V follows, in this case, Prabhakara and not Kumarila. The acceptance of Niyoga in the above passage does not leave any scope for the Adhyayana Vidhi as desired by Kumarila.

11. V's interpretation of the first Sutra of Jaimini differs from that of Sabaraswami. The word Atha according to V is used in the sense of commencement (Adhikara), and not in the sense of sequence (Anantarya) as desired by Sabara. The word Atah shows reason that the knowledge of Dharma gives the reward upto liberation, and hence the inquiry into the nature of Dharma, an explanation which differs from that of Sabara according to whom Atah expresses the reason that the result of Vedic study is the knowledge of the meaning (Vicara), and here both Sabara and V agree.

12. In the commentary on PM.S.II.1.V. offers in some cases different interpretations. The word in Bhava in Bhavarthah (II.1.1) expresses the idea of action in general, Kriyasamanya, which is denoted by all roots, and not Bhavana. The fifth Sutra (Codana Punararambhah) also is differntly explained. It means that the Vedic passages containing Codana are responsible for the activity of human beings. Sabara here tries to prove the existence of Apurva as action is enjoined. Regarding the nature of Mantra, V criticises the view of Kumarila who defines Mantra, on the strength of popular meaning. The Sutra-text of V differs in some cases from that of Sabara. There are 16 Adhikaranas as against 17 Adhikaranas of Sabara. A detailed comparison of V and Sabara is reserved for a seperate paper.

13. There is, again, another interesting point regarding the efficacy of Vidhi. Vidhi according to Sabara is a prompter (Pravartaka) V does not accept this view. He says that the force of Vidhi lies in merely indicating the nature and means of a sacrifice, and not in urging a person to perform a sacrifice. The real prompter is God. This view is based on the Vedic texts and the actual experience in the world. There are persons who study the Vidhi passages and still do not perform a

sacrifice. This clearly shows that the Vidhi by itself has no capacity to goad a person. It is the urge from God that is solely responsible for the performance of a sacrifice. If this view is not accepted, all people who happen to see a Vidhi will go to heaven, and nobody will go to hell.

14. V's attitude towards the PM. is thus quite peculiar. He has revived the old Vedic tradition, and brought about wonderful harmony between the two Mimamsas.*

Foot Notes:—

+ Read at the 15th Session of thr All India Oriental Conferene, Bombay, November, 1949.
1. Gadadhara's 'Sampradayapradipa', Muralidhara's 'Vallabhacarya carita', Kalyana Bhatt's 'Kallola' etc. and the rich literature in Vraja and Gujarati Languages.
2. Sarvottamastotra,18.
3. Tattvadipanibandha, (TD) I.12 and Prakasa thereon. Subodhini on Bhagavata (SU), X. 87.41
4. TD.I.12
5. Patravalambana (PL) with Purusottama's Com, ed. by Mr. M.T.Telivala, Bombay, 1925 A.D.,pp. 12, 14-23. Anubhasya (AB), I.1.3
6. PL., pp.24-25; AB.I.1.2.3
7. PL. pp.6-11; AB.I. 1.1.2
8. Slokavartika, Atmavada, v.148, p.727 (Benaras. ed.)
9. PL. pp 19-20, 24-25; AB.I. 1.3
10. SU. I. 5.4 and Prakasa thereon; AB.I. 1.3
11. SU. I. 5.4 and Prakasa thereon.
12. AB. I. 2.28
13. TD. II.30
14. PL. pp. 10-11
15. TD. I.5 and Prakasa thereon. SU. II. 1.5.Purusottamaji's Com. on PL. p.1
16. Prakasa on SU. II. 1.5
17. A critical edition of Vallabhacarya's Bhasya on the PM. Sutras and Purusottamaji's commentary thereon is under preparation.
18. TD. II.2 and Prakasa thereon.
19. TD. II. 32 and Prakasa and Avaranabhanga thereon.
20. SU. II. 6.22-26; III. 12.39 (=40 of the Vulgate)
21. TD. II. 1-3 and Prakasa thereon.

22. AB. III. 2. 38-40.
23. TD. II. 4,5 and Prakasa thereon.
24. Avaranabhanga on TD.II.32; TD.II.4,5 and Prakasa thereon.
25. Gita III.10; Bhagavata (BH.) III.12.35
26. BH. II.6. 23-28; SU. II.6.27
27. BH.III. 12.39
28. BH. II. 5.15
29. SU. II. 6.27
30. AB. I. 1.1

* No diacritical marks could be put in this article.

पत्रावलम्बनादिग्रन्थोद्धृतवचनानुक्रमणिका

ग्रन्थेषूद्धृतवचनानाम् आकरस्थलनिर्देशः	उद्धृतवचनानां ग्रन्थपृष्ठाङ्कसूची
ॐ इति प्रतिपद्यते ( )	१४५
ॐ इत्येकाक्षरम् (भगवद्गीता : ८।१३)	८४
‘ॐ’ इत्येतदक्षरमिदं...व्याख्यानम् (माण्डूक्योपनिषद् : १)	५२
अक्ताः शर्करा उप[दध्याद्]दधाति (तैतिरीयब्राह्मणं : ३।१२।५)	९४
अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावतु (तैत्तिरीयसंहिता : ३।४।५।१)	१५५,१५८
अग्निषोमीयं पशुमालभेत (तैत्तिरीयसंहिता : ६।१।११।६)	११४
अग्निहोत्रं जुहोति (तैत्तिरीयसंहिता : १।५।९।१)	१२१,१२७
अग्नीनादधीत (द्र. : शतपथब्राह्मणं : २।१।३।४)	२९
‘अङ्गोच्चल’ शब्देन ककुद् उच्यते (तैत्तिरीयसंहितासायणभाष्यं : १।३।८।७-९)	१५८
अजिज्ञासितमद्धर्मो (भागवतपुराणं : ११।१८।३८)	९५
अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुयात् (तैत्तिरीयसंहिता : ३।३।८।४-आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १३।२४।१६)	१२६
अञ्चु गतिपूजनयोः (धात्वर्थपाठः : भ्वादिगणे१८८)	४२

अतिच्छन्दसर्चा मिमीते १४५
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।१।९।५)

अथ कर्माण्याचारादीनि गृह्यन्ते ४६
(आपस्तम्बगृह्यसूत्रं : १।१।१)

अथ गार्ह्याणि वक्ष्यामः ४६
(   )

अथ लौकिकम् १४४
(   )

अथ शब्दानुशासनम् ९५
(पातञ्जलमहाभाष्यं : १।१।१)

अथातो गृह्यस्थालिपाकानां कर्म ४६
(   )

अथातो धर्मजिज्ञासा ९४,१०२
(जैमिनिसूत्रं : १।१।१)

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ७८
(ब्रह्मसूत्रं : १।१।१)

अथातो हिमशैलाग्रे देवदानवसंकुले[‘देवदारुवनाश्रमे’
इति पाठभेदेन] ४६
(बृहत्पराशरसंहिता : १।२)

अथातः कृत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ५१
(जैमिनिसूत्रं : ४।१।१)

अथातः शेषलक्षणम् ५१
(जैमिनिसूत्रं : ३।१।१)

अथातः सामायिकाचार्यकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः ४६
(   )

अधीहि भगव...ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि ४९
(छान्दोग्योपनिषद् : ७।१।१)

अध्यापनप्रयुक्तं हि तस्मादध्यापनं ६८
(पत्रावलम्बनकारिका : १८)

[तम्]अध्यापयेद् २०
(प्रभाकरविजयः : प्रयुक्तिनिर्णयप्रकरणम्)

अनधीयानाः व्रात्याःभवन्ति २२
( )

अनुबन्ध्यामालभेत १३९
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १८।२०।४)

अन्तरीक्षं दीक्षा द्यौर्दीक्षा १५५
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।७।७।५)

अपश्यन् पुरोडाशं कूर्मं भूतं सर्पन्तम् १११
(तैत्तिरीयसंहिता : २।६।३।३)

अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रम् २२
(तैत्तिरीयारण्यकं : २।१५)

अपितु वाक्यशेषः स्याद् २२
(जैमिनिसूत्रं : १०।८।४)

अभि त्यम् १४६
(तैत्तिरीयसंहिता : १।२।६।२)

अभि त्यं देव सवितारम् १४५
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।१।९।४)

अमृती(तो) भवति १३
(प्रश्नोपनिषद् : ३।११।६।५)

अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वाद् १०६
(जैमिनिसूत्रं : १।४।३०)

अर्थोभिधेयरैवस्तु १५१
(अमरकोष : ३।३।८६)

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत २,१०,२०,२३, ६०, ६५,६६
(द्र. : या.स्मृ.बालक्रीडा : १।२।२४)

अशनयापिपासे ह वा १५७
(   )

अंशुना ते अंशुः पृच्यताम् १४६
(वाजसनेयी संहिता : १।२।६।१)

अस्ति भाति प्रियं...द्वयं मायिकमुच्यते ४५
(सिद्धान्तलेशसंग्रहः : २।१।७)

अस्मिन् ब्रह्मन्... क्षत्रे १५९
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।४।५।१)

अहमेवासमेवाग्रे ५३
(भागवतपुराणं : २।९।३२)

अहेबुध्निय १५०
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : १।१।१०।३)

आकृत्यधिकरणम् ३८
(जैमिनिसूत्रं : १।३।१०।३० - ३५)

आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते १०५
(   )

आग्नेयाः ग्रहाः भवन्ति १३७
(   )

आग्नेयीषु शंसन्ति १३७
(   )

आग्नेयीषु स्तुवते १३७
(   )

आचार्यवान् पुरुषो वेद ३,११,२४,२५,६८
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।१४।२)

आचार्यं मां विजानीयाद् ३,११,२४,२५,६९
(भागवतपुराणं : ११।१७।२७)

आज्यैः स्तुवते १२८
(   )

आददे १५१,१५२
(तैत्तिरीयीसंहिता : १।१।९।१)

आनर्थक्ये प्रमाणानां[आनर्थक्यप्रतिहतानां] ३६
(लौकिकन्यायसाहस्री : ७४४)

आन्महतः समानाधिकरण... १३२
(पाणिनिसूत्रं : ६।३।४६)

आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः २८
(पाणिनिसूत्रं : ३।३।१७०)

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ४२
(कठोपनिषद् : २।२१)

आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति [यज्ञपात्रैश्च] ३६
(द्र. : मीमांसाकोषः : पृ.१०२१)

इति सम्भृतसम्भारः १११
(भागवतपुराणं : २।६।२७)

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुः ३३
(श्लोकवार्तिकं : १।१।५।१४८)

इदं सर्वं प्रजापतिः १३
(   )

इदं सर्वं यदयमात्मा ५१,५३
(बृहदारण्यकोपनिषद् : २।४।६)

इध्माबर्हिरुपसादय १४७
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : २।३।११)

इन्द्र आगच्छ... १४७
(तैत्तिरीयारण्यक : १।१२।३)

इन्द्रस्य नु वीर्याणि १२९
(ऋग्वेदसंहिता : १।३२।१-१५)

इन्द्रस्येव विदः इन्द्रो यात १२९
( )

इन्द्रेण देवेन पृतना १३०
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।५।३।१)

इन्द्रं निगमेपूपलक्षयेद् १३२
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १।२।७)

इषे त्वा १५२
(तैत्तिरीयसंहिता : १।१।१।१)

'इषे त्वे'ति बर्हिषि आदत्ते १५३
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : ७।१२।१।५-७।प.४)

'इषे त्वे'ति [शाखां छिनत्ति] १०५
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १।१।१०।प.१)

इषे त्वोपवीरसि १५३
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : ७।१२।१।५)

'इषेत्वोर्जेत्वे'ति तामाच्छिनत्त्यपि १५२
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १।१।१०-११)

'इषेत्वोर्जेत्वे'त्याह १५२
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।२।१।३)

उच्चैर्ऋक्सामभ्यां क्रियते १४७
( )

उद्भिदा यजेत १०६
(ताण्ड्यब्राह्मणं : १९।७।२।३)

उपदेशः आद्योच्चारणम् ५८
(सिद्धान्तकौमुदी : संज्ञाप्रकरणम्)

उपनीय तु यः शिष्यम् ३, ११, २४, २५, ६८
(मनुस्मृतिः : २।१४०)

उपनीय ददद् वेदमाचार्यः २४
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः : २।३३)

उपसंहारोऽर्थभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ५०
(ब्रह्मसूत्रं : ३।३।५)

उपांशूपसदाचरन्ति १४८
(   )

उभौ कुरुतो यश्चैनद् एवम् १०५
(छान्दोग्योपनिषद् : १।१।१०)

उभौ हि देवानां शमितारौ ११४
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।६।६।४)

उर्जे त्वा १५३
(तैत्तिरीयसंहिता : १।१।१।१)

ऋचः सामानि यजूंषि सा हि १४३
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : १।२।१।२६)

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो २१
(   )

एकार्थप्रतिपादकत्वे सति साकाङ्क्षं वाक्यम् एकवाक्यम् १५३
(द्र : जैमिनीयन्यायमाला : २।१।१४।४६)

एकादश रुद्राः द्वादशादित्याः ६७
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२)

एतदनुशासनं...सैषा वेदोपनिषद् ४९
(तैत्तिरीयोपनिषद् : १।११।४)

एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रति १४५
(सहवै. १५)

एतस्यैव आनन्दस्य ९०
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।३।५२)

एतान्यपितु कर्माणि ९०,१२२
(भगवद्गीता : १८।६)

एतेन शिष्टापरिग्रहाः व्याख्याताः ५३
(ब्रह्मसूत्रं : २।१।१२)

एष उ एव साधु कर्म कारयति १२२
(कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् : ३।८)

एष तेऽभिहितः कृत्स्नोः ५३
(भागवतपुराणं : ११।२९।२३)

एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्त २३
(तैत्तिरीयसंहिता : १।६।११)

ऐन्द्रसानसिं...प्रससाहिषे १३३
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।५।७।३-४)

ऐन्द्रिया गार्हपत्यमुपतिष्ठते १२९
(मैत्रायणीसंहिता : १।५।११)

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः १०३
(जैमिनिसूत्रं : १।१।५)

कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः ९१
( )

कर्मणैव हि संसिद्धिम् ९१
(भगवद्गीता : ३।२०)

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वाद् ३४
(जैमिनिसूत्रं : ३।१।४)

कर्मैकि तत्र दर्शनात् १०३
(जैमिनिसूत्रं : १।१।६)

कवतीषु स्तुवते १३६
( )

कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति ८,१३,४७
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।१।६।६)

कालं कर्म स्वभावं च ११५
(भागवतपुराणं : २।५।२१)

कृत्याश्च २८
(पाणिनिसूत्रं : ३।३।१७१)

केशिनीदीक्षां जपति १५४
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १०।१०।६)

क्वचिद्[एक!]देशान्वयस्यापि ७६
(   )

गच्छेदाचार्यसंसदि ३,११,२४,६९
(   )

गन्धवती पृथिवी ५७
(तर्कसंग्रहः : द्रव्यलक्षणप्रकरणम्)

ग्रहं गृह्णाति १३८
(माध्यन्दिनशाखीयशतपथब्राह्मणं : ४।६।५।५)

ग्रीष्माय कलविङ्कान् १४२
(वाजसनेयमाध्यन्दिनसंहिता : २४।२०)

घञ्... ३८
(पाणिनिसूत्रं : ३।३।११-१८)

चातुर्होत्रं च सत्तम ११२
(भागवतपुराणं : २।६।२४)

चोदनालक्षणोर्थो धर्मः १०२,१२१
(जैमिनिसूत्रं : १।१।२)

छन्दास्येनं प्रजहन्ति काले २२
(महाभारतम् : ५।३५।३५)

छागस्य वपाया मेदसो १३०
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।६।८।१)

जायमानो वै ब्राह्मणः २१
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।३।१०)

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यानि ४,१२,३३,५१,७३
(भागवतपुराणं : ७।१५।२)

तण्डुलान पिनष्टि १२३
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १।२१।५-७)

ततोऽधिकामं यजेत १३२
(तैत्तिरीयसंहिता : २।५।४।११)

तदर्थशास्त्राद् १०३
(जैमिनिसूत्रं : १।२।३१)

तदेजति तन्नैजति ४२
(ईशावास्योपनिषद् : ५)

तं त्वौपनिषदं पुरुषम् ७८,७९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ३।९।२६)

तनूर्वर्षिष्ठा १५६
(मैत्रायणी संहिता : १।२।७)

तमध्यापयीत ६५,६६,६८,७०
(द्र. : याज्ञवल्क्यस्मृतिबालक्रीडा : १।२।२४)

तमेतं वेदानुवचनेन...श्रद्धयानाशकेन ३७,४९,९९
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।२२)

तया त्वा दीक्षया दीक्षयामि १५४,१५५
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।७।७।५)

तस्माद् यज्ञोपवीत्येव अधीयीत ६६
(तैत्तिरीयारण्यकं : २।१।)

तस्मात् स्वाध्यायोध्येतव्यो २२
(तैत्तिरीयारण्यकं : २।१५)

तस्य निमित्तपरीष्टिः १०३
(जैमिनिसूत्रं : १।१।३)

तस्य भावः त्वतलौ ५,१४,३७,७६
(पाणिनिसूत्रं : ५।१।११९)

तस्यानुमृश्य योनिमाच्छिनत्...जन्म १११
( )

तेजो वै घृतम् १११
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।१२।५।१२)

त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः १४२
(शौनकचरणव्यूहपरिशिष्टं : २)

त्रिभिरक्षैरैर्गार्हपत्यमादधाति १४६
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : १।१।५।३)

त्रिवृतायूपं परिवीय आग्नेयं... ३०
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १२।१८।१२)

त्वष्टारं यजति १२७
(तैत्तिरीयसंहिता : २।६।१०।३)

दक्षिणाग्नौ पत्न्याः ९६-९७
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : ८।१०।१०)

दशान्नानि जुहोति १२६
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।८।१४।६)

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनो १५१,१५२, १५५,१५८,१५९
(तैत्तिरीयसंहिता : १।१।४।१)

देवान् भावयतानेन ११०
(भगवद्गीता : ३।११)

देवेषु त्रयः केशिनः...च १५४
(द्र. : तैत्तिरीयब्राह्मणसायणभाष्य : २।७।१७।१)

देवो वः...रश्मिभिः १४६
(तैत्तिरीयसंहिता : १।१।५।१)

देशे काले गुरौ स्वस्मिन् ६९
(पत्रावलम्बनकारिका : ७)

द्वादशशतं ददाति १३९
( )

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः २५
(भागवतपुराणं : ११।१७।२२)

धर्ममात्रेतु कर्म स्याद्... १२९
(जैमिनिसूत्रं : २।१।९)

धर्मः क्षरति कीर्तनाद् ११३
(   )

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम् ११३
(भागवतपुराणं : १।२।८)

धर्मो यस्यां मदात्मकः ४,१२,३१
(भागवतपुराणं : ११।१४।३)

धर्मं जिज्ञासितुम् इच्छेद् ९६
(शाबरभाष्यं : १।१।१)

धात्वर्थव्यतिरेकेण १०९
(तन्त्रवार्तिकं : २।१।१/२९)

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो १३८-१३९
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : २।४।६।९)

[नन्द्यादित्वात्] ल्युः २३
(द्र. : पाणिनिसूत्रं : ३।१।१३४)

न प्रकृतावूहो विद्यते १५८
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : २४।३।४९)

न स पुनरावर्तते ९,१३,४७
(छान्दोग्योपनिषद् : ८।१५।१)

नहि विरोध उभयं भगवति ४२
(भागवतपुराणं : ६।९।३६)

नागतश्रीः महेन्द्रं यजेत १३२
(तैत्तिरीयसंहिता : २।५।४।८)

नानुयाजेषु २२
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : २४।१३।६)

नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च ११६
(निघन्टुनिरुक्त : १।१।१)

निष्कैवल्यं शंसति १२८,१२९,१३०,
(द्र. : आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १४।१९।१०) १३८

पञ्चकृत्वो यजुषा मिमीते १४५
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।१।९।५)

पञ्चदशोक्थ्यः १३६
(   )

पञ्चभिः आवहनीयम् १४५,१४६
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : १।१।५।२)

पत्नि कति ते जाराः १४२
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : ८।९।२०)

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे ८९
(भागवतपुराणं : ३।६।३३)

परस्परं भावयन्तः ११२
(भगवद्गीता : ३।११)

परिधीन्त्सम्मार्ष्टि १२५,१२७
(तैत्तिरीयसंहिता :२।६।९।१)

पुराणन्यायमीमांसा ९१
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः : १।१।३)

पुरुष एवेदं सर्वम् ४३
(ऋग्वेदसंहिता : १०।९०।२)

पुरोनुवाक्याम् अनूच्य याज्यया जुहोति १३३
(   )

पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ६,१५,४२
(ईशावास्योपनिषद् : शान्तिपाठः)

पूर्वप्रमाणरूपाभ्यां पादेन १०७
(श्लोकवार्तिकं : सू. १।१।१।१२६)

पूषा वां विभजतु १५३
(मानवश्रौतसूत्रं : १।२।६।९)

पृथिवी दीक्षा...दीक्षमाणम् १५४,१५५
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।७।७।४-७)

पृष्ठैः स्तुवते १२८
(   )

प्रउंग शंसति १२८,१३८
(शाङ्खायनब्राह्मणं : १।४।४)

प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयनयद् १११
(तैत्तिरीयसंहिता : २।३।१२।१)

प्रजापते रक्ष्यश्व यत्तत्परापत्तदश्वोऽभवद् १११
(तैत्तिरीयसंहिता : ५।३।१२।१)

प्रजापतेरेव सायुज्यमुपैति ८,१३,४७
(माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणं : १२।१।३।२)

प्रजायेय १९
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६।१)

प्रतिवेशं पचेयुः तस्याश्नीयाद् ९७
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : १।६।७।१)

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा ४७
(ऐतरेयब्राह्मणसायणभाष्यं : १।१।१)

प्रत्यगाशिषो मन्त्रान्... १४१
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : ४।१।३)

प्रयाजान् यजति १२७
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : ७।१४।४।प.५)

प्राङासीनः स्वाध्यायमधीयीत २२
(तैत्तिरीयारण्यकं : २।११)

प्रैयङ्गवं चरुं निर्वपेद् १२५
(तैत्तिरीयसंहिता : २।२।११।४)

प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च २६
(पाणिनिसूत्रं : ३।३।१६२)

प्रोक्षणीरासादय १४६
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : २।३।११)

फलश्रुतिरियं नृणां ५२
(भागवतपुराणं : ११।२१।२३)

बहुस्याम् ६,१५,४२
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।३)

ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यः ६३
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।३।१०)

ब्रह्मविद् ब्रह्म[ब्रह्म वेद ब्रह्मैव] भवति ५,१२,३४,७३
(मुण्डकोपनिषद् : ३।२।९)

ब्रह्मविदाप्नोति परम् ५,१२,३४,७३
(तैत्तिरीयोपनिषद् : .२।१।१)

ब्रह्माननः क्षत्रभुजः ८९
(भागवतपुराणं : २।१।३७)

ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ ४,१२,७३
(ऐतेरेयारण्यकं : ३।९।६,आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १।१८।९)

ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दशपूर्णमासयोः ३३
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : ३।१८।१)

ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च २,२०
(द्र. : पातञ्जलमहाभाष्यं : १।१।१)

भगो वां विभजतु... १५३
(मानवश्रौतसूत्रं : १।२।३।१७)

भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः...विप्रवर्य ४३
(विष्णुपुराणं : २।१२।३८)

भूमिर्भूम्ना १३५
(तैत्तिरीयसंहिता : १।५।४।१)

भूयो व्यवायेऽप्याददे १५८
(   )

भृगुर्वै वारुणिः...एतत्प्रोवाच ४९
(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३।१)

मनोग्रहे शिपिविष्टवतीं स्तुवन्ति १३५
(   )

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदस्त्रिगुणं यत्र १४२
(शौनकचरणव्यूहपरिशिष्टं : २)

मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम् १०३,१०४
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : २४।१।३०)

मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः ९६
(तैत्तिरीयसंहिता : १।८।४।१)

महान् इन्द्रो...नृवदाचर्षणिप्रा १३३
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।५।७।४)

मानाधीना मेयसिद्धिः १०२
(   )

मायावादो निराकृतः ४४
(पत्रावलम्बनम् : कारि. ३४)

य एवास्मि स सन् यज १९
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।७।४-५)

य एवं वेद प्रतितिष्ठति ९,१३,४७
(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३।६)

यजति चोदना द्रव्यदेवताक्रियम् ११०
(जैमिनिसूत्रं : ४।२।२७)

यजतिषु 'ये-यजामहं'करोति २२
(   )

यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ५९
(तत्त्वार्थदीपनिबन्धः : १।११)

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ९४,१११
(ऋग्वेदसंहिता : १०।९०।१६)

यज्ञो वा वै यज्ञपतिं दुह १३८
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।२।७।२-३)

[यत्]पुरोडाश...पर्यग्नि करोती १२५
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।२।८।५)

यत् स्वाध्यायम् अधीयीत २२
(तैत्तिरीयारण्यकं : २।१०)

यदास्य नाभ्यान्नलिनाद्...सुसमाहिताः ११२
(भागवतपुराणं : २।६।२२-२८)

यदेव विद्यया करोति ४,७,१२,१३,३३,३४,४८,५१,७३,८०,१०५,१०६
(छान्दोग्योपनिषद् : १।१।१०)

यद्वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम् ४६
(तैत्तिरीयसंहिता : २।२।१०।२)

यन्निविद्भिः न्यवेदयन् तन्निविदां १४७
( )

यस्य सर्वाणि हवींषि १११
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : ९।१५।१४)

यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो १३५-१३६
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १४।२४।१-२)

यस्याहिताग्नेः अग्निः १०१
(तैत्तिरीयसंहिता : २।२।२।५)

यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत् १११
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।७।१)

या ते अग्नेऽयाशया...तनूर्वर्षिष्ठा १५६
(तैत्तिरीयसंहिता : १।२।११।५)

या ते अग्नेऽयाशया तनूर्वर्षिष्ठा... १५६
(मैत्रायणीसंहिता : १।२।७)

याम्याः शंसन्ति १३५
(   )

यावज्जीवमग्निहोत्रम् जुहोति १०१
(वाराहाश्रौतसूत्रं : १।१।१।८६)

युक्तयः सन्ति सर्वत्र १९
(भागवतपुराणं : ११।२२।४-५)

येन यस्यार्थसम्बन्धो २३
(भट्टवार्तिकं :   )

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य ४६
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः : १।१।१)

राष्ट्रभृन्मन्त्रेषु १५२
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।४।७।१-२२)

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ८४
(ब्रह्मसूत्रं : २।१।३३)

वत्समालभेत २९
(तैत्तिरीयसंहिता : २।१।४।७)

वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत १४२, १४३
(मै.सं.३।१४।१।१७२।८वा.मा.सं.२४।२०)

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत २६
(आपस्तम्बधर्मसूत्रं : १।१।२०)

वसीयान् भवति ८, १३, ४७
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।१।७।४)

वासिष्ठो ह सात्यहव्यो...यजमानस्यापराभवाय ५२
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।६।२।६)

विद्यया करोति १०५
(छान्दोग्योपनिषद् : १।१।१०)

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः ३५
(कैवल्योपनिषद् : ५)

...विविदिषन्ति ५०,९९,१०१
(बृहदारण्यकोपनिषद् : ४।४।२२)

विराजमभिसम्पद्यते ८,१३,४७
(तैत्तिरीयसंहिता : ७।१।१।१)

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं ४३
(भागवतपुराणं : ३।१०।१२)

वेदएव द्विजातीनाम् ९४,९९
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः : १।२।४०)

वेदप्रणिहितो धर्मः ९४
(भागवतपुराणं : ६।१।४०)

वेदमधीत्य स्नायाद् २७,५०,९६
(द्र. : मनुस्मृतिः : ३।१-४)

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति ५,७,१२, १३,३-४,३५, ४८,४९, ७३, ७४, ७९
(तैत्तिरीयोपनिषद् : १।११।१)

वेदस्याध्ययनं सर्वं ३०
(श्लोकवार्तिकं : वाक्याधि.३६६)

वेदाध्यायी सदाशिवः ५३
(...पुराणं :)

वेदास्त्रिकाण्डविषया...परोक्षञ्च मम प्रियम् ५२,५३
(भागवतपुराणं : ११।२१।३५)

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ५२,५३
(भगवद्गीता : १५।१५)

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ४,५,१२,३१, ३४, ७२,७४,९४
(मनुस्मृतिः : २।६)

वेदः शिवः शिवो वेदः ५३
(...पुराणं :)

वैतानं प्रक्षिपेदप्सु ३६
(भविष्यपुराणं :)

व्यवहारः संनिपातो १८
(भागवतपुराणं : ११।२।५६)

व्रीहीनवहन्ति ११३, १२३, १२६
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १।१९।११)

व्रीहीन् प्रोक्षति ५१
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १।१९।१, शतपथब्राह्मणं : १।३।१।१०)

शिपिविष्टवतीषु स्तुवते १३६
( )

शुश्रूषणं द्विजगवाम् ८९
(भागवतपुराणं : ११।१७।१९)

शेषाद् व्यवदानानाशे ११२
(जैमिनिसूत्रं : ६।४।१)

स एको ब्रह्मण आनन्दः ९०
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।८)

सकल्पं सरहस्यं २५
(मनुस्मृतिः : २।१४०)

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः १५१, १५२
(तैत्तिरीयसंहिता : ४।३।४।६-१०)

सजूर्देवैर्वयोनाधैः १५२, १५५
(तैत्तिरीयसंहिता : ४।३।४।६-१०)

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ९०
(तैत्तिरीयोपनिषद् : २।१।१)

सत्संप्रयोगे १०३
(जैमिनिसूत्रं : १।१।४)

सदेव सोम्येदमग्र आसीद् ४३, ४४
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।२।१)

सनिमेषान् कामुका एनं स्त्रियो ८
(तैत्तिरीयसंहिता : ६।१।६।६)

सं ते प्राणो वायुना गच्छतां १५७,१५८
(तैत्तिरीयसंहिता : १।३।८।१)

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् १०६
(जैमिनिसूत्रं : १।४।२९)

संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः १९
(भागवतपुराणं : ११।२५।६)

संनियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः १३२
(द्र. : परिभाषापाठः-१७. लौकिकन्यायसाहस्री-४४४)

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः १३२
(पाणिनिसूत्रं : २।१।६१)

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः ४३,५१
(छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।४)

स मावतु १५५,१५९
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।४।५।१)

सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरण... २४
(पाणिनिसूत्रं : १।३।३६)

सर्पराज्ञिया ऋग्भिः गार्हयपत्यम् १०५
(तैत्तिरीयसंहिता : १।५।४।१)

सर्पराज्ञिया ऋग्भिः स्तुवन्ति १०५,१३५
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : २।२।६।१ तैत्तिरीयसंहिता : ७।३।१।२)

सर्वा ऋचः समाः सर्वाणि सामानि... १३५
(द्र. : आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : २२।५।३)

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति ५२,५३,५८
(कठोपनिषद् : १।२।१५)

साङ्गोपनिषदः ७,१३,४८,८०
(...पुराणं :)

साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च २,१०,२०,६०
(द्र. : पातञ्जलमहाभाष्यं : १।१।१) ६७,६८,७०

सा च अम च १४४
(छान्दोग्योपनिषद् : १।६-७)

साधकतमं करणम् १२३
(पाणिनिसूत्रं : १।४।४२)

सामानि यो वेद स वेद सर्वम् १४४
(इतिहासोपनिषद् : ९)

सा वा एषा सर्वदेवत्या १३०
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।४।३।२)

सावित्र्या ऋचा १४६
( )

सिद्धसाध्यस्वभावाभ्याम् ११२
( )

सैषा वेदोपनिषद् ४९
(तैत्तिरीयोपनिषद् : १।११।४)

सोऽकामयत...स तपोऽतप्यत ४४
(तैत्तिरीयोपनिषद् : ३।२।६)

सोम औषधीनाम् १५८
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।४।५।१२)

सोमं यजति १२६
(तैत्तिरीयसंहिता : २।६।१०।५)

सं...यज्ञपतिराशिषा १५८
(तैत्तिरीयसंहिता : १।३।८।१)

संहितो विश्वसामा १५१,१५२
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।४।७।३-४)

स्तुतस्य स्तुतमसि शस्त्रस्य १३८
(तैत्तिरीयसंहिता : ३।२।७।१-२)

स्योनन्ते सदनं कृणोमि १५३
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।७।५।२-३. मानवश्रौतसूत्रं : १।२।६।१९)

स्रुवं सम्मार्ष्टि १२५, १२६
(तैत्तिरीयब्राह्मणं : ३।३।१)

स्वर्गकामो यजेत ९०, ९९, १०१
(आपस्तम्बश्रौतसूत्रं : १०।२।१)

स्वस्यासाधारणत्वेन पितृ... २३
(तैत्तिरीयारण्यकसायणभाष्यं : २।१०)

स्वाध्यायब्राह्मण १४५
(   )

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः २, १०, २०, ५९, ६०, ६१, ६३, ६५, ६६, ६७, ६९, ७०, ७१
(तैत्तिरीयारण्यकं : २।१५)

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ११५
(श्वेताश्वतरोपनिषद् : ६।८)

स्वार्थबोधे समाप्तानाम् ३३
(तन्त्रवार्तिकं : १।४।२८)

हविष्कृदेहि ११४
(मैत्रायणीसंहिता : १।४।१०।४३)

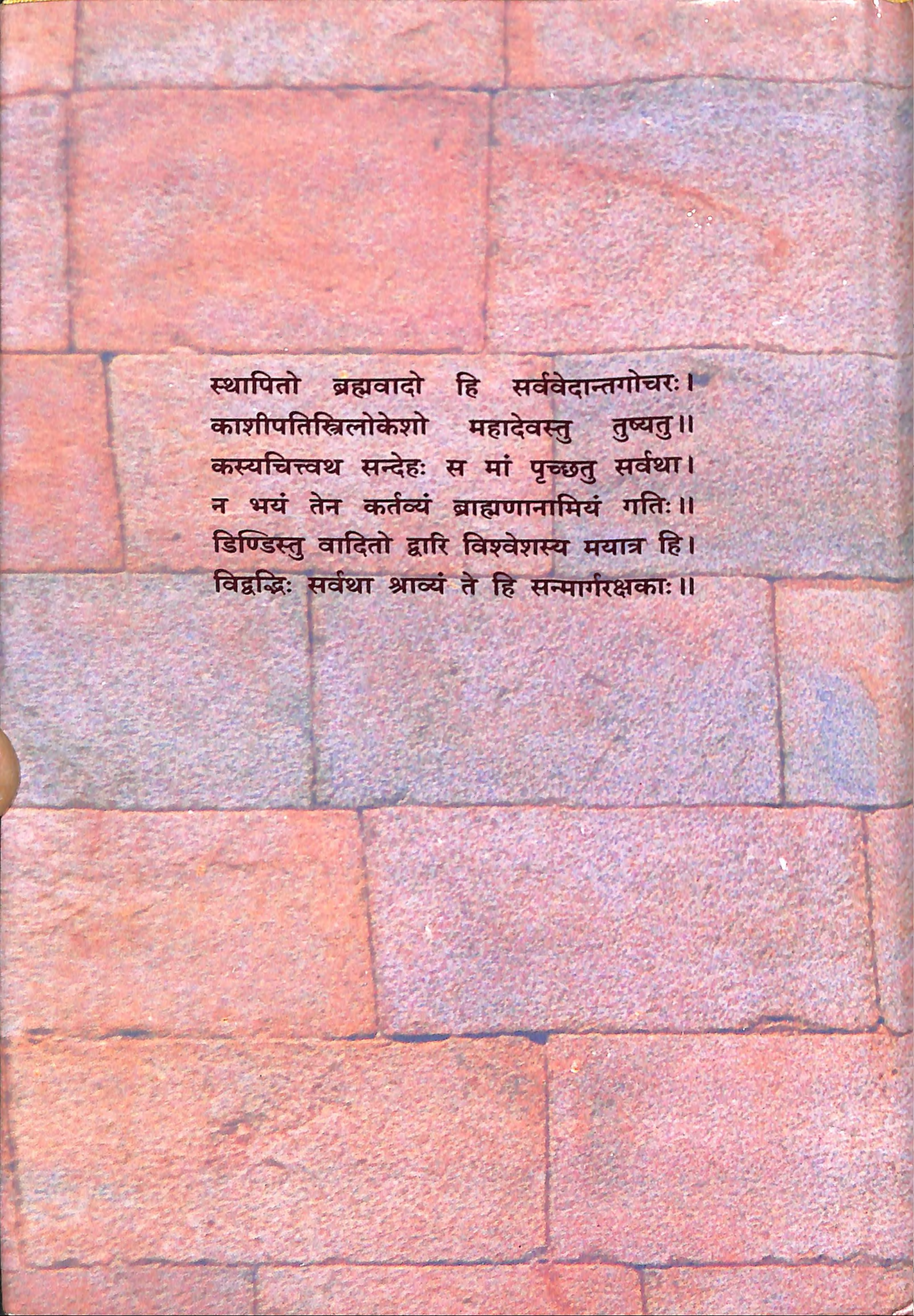

स्थापितो ब्रह्मवादो हि सर्ववेदान्तगोचरः।
काशीपतिस्त्रिलोकेशो महादेवस्तु तुष्यतु॥
कस्यचित्त्वथ सन्देहः स मां पृच्छतु सर्वथा।
न भयं तेन कर्तव्यं ब्राह्मणानामियं गतिः॥
डिण्डिस्तु वादितो द्वारि विश्वेशस्य मयात्र हि।
विद्वद्भिः सर्वथा श्राव्यं ते हि सन्मार्गरक्षकाः॥